जनवाणी
1948

Contributed by: Prabhat Kumar

Benipuri is supposed to join the editorial board.

...ent types of article
...ile ... culture
...s and India's enslavement & resistance
...s of the enslavement of caste system
...es of ... of caste & its solutions
...cism ... state of society and its criticism of
...ent ... caste-system / communal problem

जनवाणी

समाजवादी मासिक पत्रिका
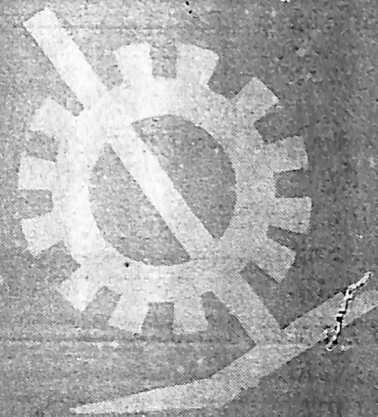
सम्पादक मण्डल

आचार्य नरेन्द्र देव
रामवृक्ष बेनीपुरी
बैजनाथ सिंह 'विनोद'

ज न वा णी

जनवरी १९४८

विषय-सूची

व्यवस्थापक "जनवाणी",
जनवाणी प्रेस एन्ड पब्लिकेशंस लिमिटेड,
गोदौलिया, बनारस।

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग एक प्रति का ।॥)
काशी विद्यापीठ/बनारस

वर्ष २, भाग १] जनवरी १९४८ [अङ्क १, पूर्णाङ्क १३

मैं मनुष्य के भविष्य से नहीं निराश

श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'

(१)

चिर-अनादि चिर-अनंत की परंपरा,
मेघ घिर रहे हैं क्योंकि उर्वरा धरा,
आज पूर्ण चंद्र-बिम्ब राहु-ग्रस्त है—
थर-थरा रहा है किन्तु नभ घिरा-घिरा।
जिन्दगी कहीं महान डाह-दाह से,
चिर-विकासशील जन्मजात अश्रु-हास।

(२)

आज आसुरी बनी समस्त सभ्यता,
गिर पड़ा तुषार, लुट गई लता-लता,
छिन्न-भिन्न-सी ममत्त्व-सत्त्व-शृंखला—
खो गई कहीं, मनुष्य की मनुष्यता।
मरु-प्रसार-सी हरी-भरी वसुंधरा,
बीजशेष किन्तु, विश्ववट नहीं उदास।

(३)

एक बीज में निहित असंख्य बन-वितान,
एक बिंदु में विहित असंख्य सिंधु-गान,
देश-जाति-धर्म-वर्ग बाँध लाँघ कर—
एक ही हृदय विराट में प्रकम्पमान।
रूप-गंध-भेद मृत्तिका नहीं मलीन,
एक स्नेहबिंदु कोटि दीप का प्रकाश।

(४)

व्योम क्षुब्ध, धरणि त्रस्त, भीत चल अचल,
सुर-असुर-मथित-जलधि उगल रहा गरल,
चाहिए नवीन नीलकंठ अवतरण—
पी सके, पचा सके, विषम तरल-अनल।
हे सुधाचयी, कहाँ विराम, फिर मथो,
द्वार द्वार कामधेनु, तृषा भूख-प्यास।

भारतीय वर्ण—व्यवस्था अथवा अभिशाप

श्री भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय वर्णों का आरम्भ कब और किन कारणों से हुआ यह बताना कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं इनके कारण भी संभवतः प्रायः वे ही रहे होंगे जो अन्य देशों में वर्गों के उदय और विकास के रहे हैं। इन कारणों में मुख्य आर्थिक रहे हैं, इसे स्वीकार करने में शायद किसी को आपत्ति न होगी। आज अस्पष्ट किन्तु सुदूर अतीत में स्पष्ट आर्थिक कारण ही सामाजिक व्यवस्था के जनक रहे हैं इसमें सन्देह नहीं। इतना अवश्य है कि शोषक और शोषित वर्गों की स्पष्ट तत्कालीन विभिन्नता हमें आज पूरी पूरी दृष्टिगोचर नहीं हो पाती, परन्तु, चूंकि, उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में तब वर्तमान था। यह सिद्ध है कि उत्पादन की शक्तियाँ और उनके परिणाम समाज के आधार-स्तरों में सक्रिय थे। प्रगति चूंकि संघर्ष का परिणाम है और हम भारतीय इतिहास में प्रगति के दर्शन करते हैं यह तर्कसिद्ध है कि संघर्ष हुआ है और चूंकि धनराशि के अभाव और पूंजी के अल्पमात्रिक विकास के कारण आर्थिक वर्गों की अभिसृष्टि प्रत्यक्ष नहीं हो पाती। हमें उस संघर्ष को जीवन के अन्य क्षेत्रों में ढूंढना होगा।

इन अन्य क्षेत्रों में प्रमुख और स्पष्ट क्षेत्र सामाजिक व्यवस्था का रहा है। संसार की सारी प्राचीन सभ्यताओं में आर्थिक कारणों से पहले एक कृत्रिम वर्गीय समाज की व्यवस्था हुई है। इसका रूप पहले धर्मकी छाया और उसकी आड़ में खड़ा हुआ और उसी की संरक्षा में धार्मिक गुरुओं के दांव-पेंच में विकसित हुआ। प्राचीन सभ्यताओं में सर्वत्र पहले पुरोहिताई का बोलबाला हुआ। मिस्र में, सुमेर में, असीरिया और बेबिलन में, अक्काद और अवाम में, भारत और चीन में, ब्रिटेन और बर्मा में सर्वत्र पशु-बल के साथ साथ धर्म-बल का उदय हुआ। पशुबल वास्तव में जनता का क्षत्रिय-बल था जिसकी कभी संरक्षता कभी विरोध में धर्मबल का प्रसार हुआ। समाज में कुछ तो प्रमादी चिन्तक थे, कुछ सक्रिय समर्थ। सक्रिय समर्थ आक्रमण से अन्य दलों पर अपनी प्रभुता स्थापित करते थे, प्रमादी चिन्तक उनकी लूटी सम्पत्ति पर अपना स्वत्व स्थापित कर लेते थे। किस किस रूप में कहां कहां इस प्रच्छन्न नीति ने शोषण किया, इसका अध्ययन अत्यन्त रुचिकर होता हुआ भी इस लेख के लिए कुछ अप्रासंगिक ही होगा, यद्यपि सर्वथा अप्रासंगिक नहीं। इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि वर्गों का आरम्भ सदा किसी न किसी रूप में आर्थिक रहा है और जातियों का संक्रमण और पारस्परिक द्वन्द्व भी अर्थ जन्य ही रहे हैं। विभिन्न जातियों के पारस्परिक द्वन्द्व से भी सम्मिलित सामाजिक व्यवस्था में वर्गों का सृजन हुआ है। आरंभ में जहां धार्मिक दांव-पेचों ने व्यवस्था में अपना प्रभुत्व स्थापित किया है, वहाँ समाज के शेष सारे स्तर निस्सन्देह पुजारियों के आक्रोश से स्तंभित हो गए हैं और उनके आदेश सिर आँखों पर रखे हैं। ब्रिटेन के 'ड्रूइड' और बाबुल के पुजारियों के शिकंजे अपनी जनता को एक लंबे कालतक इस प्रकार जकड़े रहे कि उसे अपनी स्वतंत्र स्थिति का गुमान ही कभी न होता था। बाबुल का व्यभिचार उसका इतना बड़ा प्रमाण है जिसके सामने भारत की देवदासी प्रथा अपना मुँह छिपा लेती है। बाबुल के मन्दिरों का उस बाबुली सभ्यता पर इस मात्रा में आतंक था कि वहाँ नारी व्यभिचार से परे कोई वस्तु नहीं समझी जाती थी। प्रत्येक नारी प्रथमतः देवता की भोग्य थी—जड़ देवता भोग में स्वयं अशक्त होने के कारण अपना वह कार्यांश चेतन देवता अर्थात् अपने पुजारी को सौंपता है। इस प्रकार का आचरण भारत के धार्मिक इतिहास में भी अनजाना नहीं है। इस आचरण में आपत्ति का परिणाम पुरोहित का आक्रोश था जो रौरव से कहीं भयंकर था।

वास्तव में स्वयं धर्म का उत्थान ही भय और पाखण्ड की छाया में हुआ। यहाँ केवल एक काल्पनिक उदाहरण दिया जा सकता है। सभ्यता के आरम्भ में एक व्यक्ति रात के अंधेरे में दौड़ता चला जाता है। उसे सहसा पत्थर की ठोकर लगती है, वह गिर जाता है। धीरे धीरे उसे होश आता है और वह तर्क करने लगता है। यह क्या है? इसने मुझे मारा क्यों? रात्रि का अन्धकार जंगल की सघनता, गाँव में 'जनों' के बीच वयोवृद्धों से सुनी पितरों की कथा की स्मृति सब एक-साथ उसपर आक्रमण करती हैं। चोट से कहीं अधिक वेदना उसे उस डर के परिणामस्वरूप होती है जो धीरे धीरे उसके मानस को भर रही है। उसके चिन्तन का आधार छोटा है पर चिन्तन का बोझ भारी। रात्रि की साँय साँय उसे अपकारी भयंकर स्थिति का बोध कराती है और गरीब उठकर गाँव को बेसुध भागता है। सिंह पर सम्मुख आक्रमण करने में जिसे आह्लाद होता है, हाथी के मस्तक को जो अपने भाले के फलक पर तोल देता है, अज्ञात भय से वह सपद भाग रहा है। गाँव में पिता की गोद में वह दम तोड़ देता है पर दम तोड़ने के पहले वह अपनी मृत्यु का कारण भी बताता जाता है—पत्थर का आक्रमण।

प्रातः 'जन' का जन-जन उसके शव को देखता है, अप्रत्यक्ष शक्ति को सिर झुकाता है। 'जन' का प्रमादी चिन्तक सक्रिय हो उठता है। 'ले चलो इसके शव को शक्ति के पास'—वह कहता है। शव पत्थर के पास पहुंचाया जाता है। मृत व्यक्ति का नाम लेकर वह पूछता है—'कहाँ है वह, कहाँ गया?' कोई उत्तर नहीं देता। आकाश और धरा से, सरित और निर्झर से, जन-जन से वह यही प्रश्न करता है। आकाश धरा चुप हैं, सरित-निर्झर चुप हैं, जन-जन चुप है। वह बोलता है—'यह कहीं है, पर कहाँ है यह तुम नहीं जानते 'मैं' जानता हूं।' सामने की शक्ति का यह भोज्य है; शक्ति कितनी कठोर है बाण मार कर देखो। पत्थर पर बाण मारे जाते हैं, उनके फलक टूट जाते हैं, भाले फेंके जाते हैं, उनकी नोंक मुड़ जाती है। चोटकी प्रतिध्वनि पत्थरका अट्टहास सा लगता है। चिन्तक कहता है—'शक्ति अन्नाद है, शव अन्न—उसका भाज्य, शव को उसपर रखो। समय समय पर जीवित मनुष्य का इस शक्ति के प्रति बलि दो वरन इसी भाँति वह स्वयं जन-जनको मारकर खा जाएगी। किसकी कब बलि होगी यह 'मैं' बताऊँगा।' यह अन्तिम आदेश उस चिन्तक को प्रभूत शक्ति प्रदान करता है—वह अपने 'जन' के व्यक्तियों के धन और शरीर का स्वामी बन बैठता है। वह तर्क करता है—यदि नदी में जीवन नहीं वह बहती कैसे है? समय-असमय जीवों को उदरस्थ कैसे कर लेती है? वृक्ष में जान नहीं वह बढ़ता कैसे है! निर्झर में प्राण नहीं वह नीचे गिर कर अनवरत ध्वनि क्योंकर उपजाता है? चिन्तक प्रथम पुजारी है, पत्थर प्रथम देव है (उसी प्रकार नदी, वृक्ष, निर्झर आदि भी), शव प्रथम पितर है। धर्म की भाव परम्परा का इस प्रकार आरम्भ होता है। वही चिन्तक ब्रिटनों का 'ड्रूइड' है, बाबुल वासियों का पुरोहित है, आर्यों का ब्राह्मण है।

प्रारम्भिक काल में सतर्क चिन्तक एक परम्परा का आरम्भ करता है, उसके उत्तराधिकारी लोभ और भय-वश उसका पोषण और विकास करते हैं। भारत में इस परम्परा का उद्गम और विकास ऐतिहासिक है। उसकी नींव प्रबल आधार पर रखी गई है। आर्यों के भारत-प्रवेश से कहीं पूर्व द्रविड़ों के वृक्षों और नाग-पूजा में ही पुरोहिताई के पाए रखे जा चुके थे। बलि प्रथा ने मानव को सशक्त और निर्बल दोनों बना दिया था—पुरोहित को सशक्त, बलि को निर्बल। मोहन-जो-देड़ो और हड़प्पा की सैन्धव सभ्यता में कभी का इस पौरोहित्य का विकास हो चुका था, कभी से उसमें पुजारी सतर्क था। यह सम्भव नहीं कि जहाँ इतने पूजा के आँकड़े मिलें, पशुपति का कुल मिले, रेखांकित मुहरें मिलें वहाँ पुरोहित की सत्ता का अभाव रहा हो। अनेक आकृतियाँ वहाँ के भग्नावशेषों में ऐसी मिली हैं जिनका पुरोहितों का होना सर्वथा सिद्ध माना गया है। सर जान मार्शल, मैके, दीक्षित आदि अनेक विद्वानों ने सैन्धव सभ्यता के इन भग्नावशेषों में धर्म के ये आँकड़े अनेक रूप से प्रचुर राशि में प्रस्तुत किए हैं।

'ऋग्वेद' की आर्य परम्परा ने इस पौरोहित्य को केवल जीवित ही न रखा, उसे सँवारा, प्रश्रय दिया और पराकाष्ठा तक विकसित किया। और ऋग्वैदिक आर्यों का यह आचरण स्थानीय धर्म व्यञ्जना का किसी प्रकार स्वीकरण भी न था। उनकी प्रथा अपनी थी, स्वतन्त्र

और लौकिक, सयुक्त और व्यापक था और उसका विकास भी उन्होंने नितान्त मौलिक रूप से किया यद्यपि उसमें आर्यों से प्राचीन भारतीय द्रविड़ व्यवस्था का प्रचुर पुट मिला। आर्य भारत में, उत्तरी ध्रुव, तिब्बत, मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया, रूसी मैदानों, कार्पेथियन शृङ्खला, बोहेमिया, लिथुएनिया, चाहे जहाँ से आए निस्सन्देह उनके पास पौरोहित्य की परम्परा सजग थी और वर्ण की संस्था किसी न किसी रूप में जन्म पा चुकी थी। वास्तव में सक्रिय समर्थ (क्षत्रिय) और प्रमादी चिन्तक (ब्राह्मण) की कल्पना कर लेने के बाद अन्य वर्णों का उदय एक 'स्वयं-सिद्ध' विषय हो जाता है। आखिर आंगिरसों, काण्वायनों, आदि की जो गोत्र-कुलों की शृङ्खला ऋग्वेद में मिलती है वह एक दिन में प्रस्तुत न हुई होगी, नहीं हो सकती। जिस पूजन-परम्परा का रूप हमें ऋग्वेद में मिलता है यद्यपि उसका अधिकांश भारत में ही सार्थक था तथापि वह सारा का सारा भारतीय नहीं माना जा सकता। भारत की अपनी भूमि और अपनी देशीयता ने निस्सन्देह उसमें अपना असाधारण योग दिया और कालान्तर में उसे सर्वथा अपना बना डाला। ऋग्वेद की ऋचाओं के सामूहिक अथवा एकैकिक आलोचना से भी यह बात आसानी से स्पष्ट हो जाती है कि आर्यों की पौरोहित्य-परम्परा सर्वथा भारतीय नहीं है।

स्पष्टतः सारे जनों ने, आगन्तुक सारे आर्यों ने, भारत पर आक्रमण किया परन्तु यह आक्रमण निश्चय केवल शाक्तिक नहीं था, बौद्धिक भी था और इस बौद्धिक आक्रमण की रूपरेखा कुछ परिश्रम से ऋग्वेद के अध्ययन से खड़ी की जा सकती है। प्रतिपाद्य विषय के दर्शन में व्यभिचार हो जाने के भय से ही हम उस पर यहाँ विचार नहीं करते। बस इतना कहना यहाँ पर्याप्त होगा कि जहाँ आर्य सेना के इतर व्यक्ति शस्त्रास्त्रीय मार करते थे वहाँ इनके ऋषि पुरोहित उनकी विजयों के लिए सत्कामना और देवताओं से प्रार्थना करते थे, साथ ही अपने देवताओं की क्रुद्ध आकृतियों का सृजन कर आर्यों में आशा और शक्ति का सञ्चार करते थे, शत्रुओं में त्रास भरते थे। जो विद्वान् ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' से भारतीय आर्यों के 'चतुर्वर्ण' का आरम्भ मानते हैं वे साधारण भ्रान्ति में नहीं हैं क्योंकि वे इस सत्य को भूलते हैं कि 'पुरुष-सूक्त' चतुर्वर्णों की व्यवस्था नहीं करता उस संस्था की अवस्था-विशेष का उल्लेख और परिगणन मात्र करता है। जिन चार वर्णों के सम्बन्ध में वह सूक्त कहता है कि वे ब्रह्मा के मुखादि से निकले उनका प्रादुर्भाव वह समकालीन न मानकर केवल अतीत-परक मानता है। चारों की अभिसृष्टि इस सूक्त की रचना के पूर्व हो चुकी थी—कितनी पूर्व ?—यह नहीं कहा जा सकता। यद्यपि कितने पूर्व वाले प्रश्न के उत्तर में दो प्रश्नों के उत्तर के अनुमान लगाए जा सकते हैं। प्रश्न केवल एक—चतुर्वर्ण कब बने ?—नहीं है। प्रश्न दो हैं—१ चतुर्वर्ण कब बने? और २—चतुर्वर्ण—ब्रह्मा के पद से प्रजनित शूद्र—के प्रजनन से पूर्व प्रारंभिक तीन वर्ण कब बने ? और उत्तर में शायद तृतीय वर्ण—वैश्य—के ऐतिहासिक निर्माण पर भी प्रकाश डालना होगा यद्यपि वह केवल एक टेक्निकल उत्तर होगा क्योंकि वास्तव में प्रथम दोनों वर्णों—ब्राह्मण और क्षत्रिय—के उदय के बाद शेष जनता का वैश्य बन जाना स्वाभाविक ही है। हाँ शूद्रवर्ण का निर्माण निश्चय एक कालिक प्रश्न है और उसके संबंध का उत्तर उस संघर्ष पर भी विचार करेगा जो आर्यों और इहदेशिक अनार्यों में दीर्घकाल तक होता रहा था और जिसके परिणामस्वरूप विजित अनार्य आर्य सामाजिक-व्यवस्था के निम्नपदीय शूद्र बन गए। फिर यह भी याद रखने की बात है कि इस शूद्र स्तर का निर्माण सर्वथा भारतीय अनार्यों की भरती से ही संपन्न न हुआ होगा। उस संक्रमण काल में जब आर्य देशान्तरों को लाँघते हुए भारत पहुँचे तो निस्सन्देह उन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी होंगी, जिनमें से अनेक में वे विजयी भी हुए होंगे। उस समय के युद्धों की एक परम्परा थी—विजितों को तलवार के घाट उतार देना अथवा उन्हें बन्दी कर दास बना लेना। 'दास' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद ने किया है और खूब ही किया है। इसलिए कुछ अंशमें तो यहाँ तक मानना पड़ेगा कि आर्यों के तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तो उनके भारत-प्रवेश से पूर्व निर्मित हो ही चुके थे, कुछ आश्चर्य नहीं कि शूद्रों का भी एकांश उनके साथ ही भारत में प्रविष्ट हुआ हो, यद्यपि उनका अधिकांश निस्सन्देह भारतीय युद्धोंके परिणाम स्वरूप ही जन्मा।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, ब्राह्मण-क्षत्रियों की किसी न किसी रूप में व्यवस्था आर्यों के भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही संभवतः हो चुकी थी। इसका कारण यह है कि जिन कारणों से, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, वर्णों अथवा वर्गों का उदय होता है आर्य-समाज में वे सारे कारण सारी परिस्थितियाँ मौजूद थीं। जब आर्यों के अन्य यूरोपिय दलों में पौरोहित्य का प्रचार था और उनमें अपने अपने पुजारी ब्राह्मण मौजूद थे तो यह कैसे संभव है कि भारतीय आर्यों में ब्राह्मणों का अभाव रहा होगा। जब हम निश्चय रूप से यह जानते हैं कि उस प्रारम्भिक रूपको विस्तार देकर उन्होंने भारत में आने के बाद अपनी सामाजिक व्यवस्था का उसे विशिष्ट अंग घोषित किया ? यदि उनमें उनके पुरोहित मौजूद थे जो उनमें यज्ञों के अनुष्ठान करते थे और भारत में पहुँच कर भी शुनःशेप कोसी नरबलि की परम्परा को जिन्होंने बना रखी थी तो यह कहना अत्यन्त अग्राह्य होगा कि भारतीय आर्यों की ब्राह्मण परम्परा एतद्देशीय ही है। हाँ यह कहा जा सकता है कि आर्यों के भारत में आने से पूर्व पौरोहित्य तो था और शायद क्षत्रियवर्ण का विधान भी परन्तु अभी इन वर्णों में वर्णीयता पूरी पूरी न आई थी—अर्थात् ब्राह्मण अभी क्षत्रिय हो सकता था और क्षत्रिय ब्राह्मण। ये दोनों कब और कैसे एक दूसरे से सर्वथा पृथक हो गए यह भारतीय इतिहास का एक मनोरंजक विषय है और इसका अनुशीलन किया जा सकता है। किस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा इनकी भी अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ कालांतर में बन उठीं और उन्होंने व्यक्तियों का पारस्परिक आवा-गमन, सहभोज, अन्तर्विवाहादि रोक दिया—यह सर्वथा भारतीय रहस्य है जो असाधारण है और जिसकी यह असाधारणता ही इसें अन्य देशों के वर्गों से पृथक करती है। इसका संबंध भारतीय इतिहास में इसकी क्रमिक प्रगति से है और हम नीचे उसी संघर्ष और प्रगतिपर विचार करेंगे।

पहले लिखा जा चुका है वर्णों के उदय का कारण आर्थिक है और वर्ण प्रायः वर्गों के ही सामाजिक संज्ञा है। वर्णों का आरंभ पेशों अथवा कर्मों के आधार पर हुआ। ब्राह्मण (आर्यों के भारत प्रवेश से भी पूर्व) पहले पुरोहित था 'जन' का 'ओझा'। उसका कार्य अधिकतर पौरोहित्य था जिससे वह अपने 'जन' के कल्याण के अर्थ ऊपरी प्रयत्न करता था, युद्धों में उसे प्रोत्साहित करता था, नरक का त्रास दिखाता था। 'जन' का वह सब से प्राचीन वर्ण अथवा वर्ग था और उसने अपने पेशे को धनबहुल और शक्तिबहुल बनाया। उसने कालान्तर में अपने को 'ब्राह्मण' जिसका अर्थ (शाब्दिकरूढ़ि रूपमें) 'ब्रह्म'—देवता, अनादि का जानने वाला था। तब धर्मके क्षेत्र में जितनी रहस्यमय शक्ति पुरोहित अपने को देवता का द्रष्टा (देखने वा जानने-वाला) कह कर अर्जित कर सकता था, आर्थिक क्षेत्र में 'अन्न' का उद्भवस्थान अथवा 'रहस्य जानने वाला' कह कर उससे किसी प्रकार कम नहीं कर सकता था। इस बातको न भूलना चाहिए कि अन्न अथवा आहार के अन्वेषण में ही प्रमुखतया जातियों के संक्रमण हुए हैं। इस रहस्य को जानने वाला पुरोहित जब अपने को ब्राह्मण कहता है तब निस्सन्देह वह अपने श्रोताओं का ध्यान अपनी उस रहस्यमयी प्रभूत शक्ति की ओर आकृष्ट करता है जो उनके भीतर आशा और विरुद्ध परिणामतः त्रास का प्रजनन करता है। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणवर्ग की अब तक अर्थात् आर्यों के भारत प्रवेश प्रायः ३००० ई० पू० अभिसृष्टि हो चुकी थी, केवल उसकी सीमाएँ अभी अनुल्लंघनीय न थीं। उसमें क्षत्रिय अभी प्रविष्ट हो सकता था और ब्राह्मण को क्षत्रिय बनने की तृष्णा कभी हुई हो, यह भारतीय इतिहास में दृष्टिगोचर नहीं होता। यही स्वाभाविक भी है क्योंकि ब्राह्मण का पद अर्थ और शक्ति दोनों में क्षत्रिय से ऊँचा था। जीवन की सारी व्यवस्थाओं में ब्राह्मण आवश्यक और अकाट्य था। जन्म से मरण-पर्यंत उसका साका चलता था। क्षत्रिय राजा का अभि-षेक वही कराता था, उसके यज्ञानुष्ठान वही करता था, उसका मन्त्रित्व भी अनेकांश में वही करता था और उसकी निरंकुशता की सीमाएँ निर्धारण करनेवाली 'सभा' और 'समिति' में उसकी वाणी गूँजती थी। उसीके पुरोहित-पद के लिए वशिष्ठ और विश्वामित्र के बीच संघर्ष छिड़ा जिसके परिणाम में वैदिक काल का सबसे विकट दस राजाओं का 'दाशराज्ञ' युद्ध हुआ। ऐसा उदाहरण कहीं नहीं मिलता कि कभी ब्राह्मण ने इस काल राजत्व के लिए प्रयास किया हो, हाँ इसके अनेक उदाहरण

हैं कि क्षत्रिय ने पुरोहित-पद के प्रयत्न किए। विश्वामित्र का उदाहरण इसी प्रकार का एक है, शन्तनु के बड़े भाई देवापि ने भी शास्त्र से वंचित होते ही पुरोहित-पद के लिए प्रयत्न किया था और उसे हस्तगत कर भाई के यज्ञ में प्रधान ऋत्विज् का कार्य भी किया था।

इसी प्रकार क्षत्रिय का वर्ण भी सम्भवतः आर्यों के भारत में आने से पूर्व ही रूप धारण कर चुका था। इसका प्रमाण यह है कि ऋग्वैदिक काल तक पहुँचते पहुँचते कभी का निर्वाचित राज-पद कुलागत हो गया था। फिर राजा भी राजन्य ही होता था। राजा चुनने वाले पदाधिकारियों (राजकृतों) में से कुछ 'राजन्य' कहलाते थे। इनकी यह संज्ञा न होती यदि वे क्षत्रिय-वर्ग के न होते। स्पष्ट है कि राजन्यों का एक पृथक् वर्ण अब तक बन चुका था। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में जो राजाओं की क्रमिक तालिका मिलती है उनमें से अनेक पिता-पुत्रों की हैं। सिद्ध है कि इन शृङ्खलाओं की अन्तिम कड़ियाँ ऋग्वेद की समकालीन हैं, इससे इनकी प्रारम्भिक कड़ियाँ सम्भवतः ऋग्वेद से भी प्राचीन प्रमाणित हुईं। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण भी ऋग्वेद के भारतीय काल से पूर्व ही अपना आकार स्पष्ट कर चुका था।

क्षत्रिय वर्ण की व्यवस्था हो चुकने पर वैश्यों का भी रूप स्थिर हो चला। कारण कि साधारण जनता के लिए ऋग्वेद में जिस शब्द का प्रयोग हुआ है वह है 'विश', जिसका प्रयोग राजा के निर्वाचन के अवसर पर 'विश तुम्हें वरण करता है', आदि वक्तव्यों में मिलता है। इसी विश की वर्ण विषयक संज्ञा 'वैश्य' हुई और उससे सेवित सामूहिक संपत्ति-सी नारी 'वेश्या' कहलाई। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रियों के पृथक् वर्ण बनजाने के बाद शेष जनता अपने आप वैश्य कहलाई। जहाँ तक रक्त का संबंध है संभवतः इन वैश्यों, क्षत्रियों और ब्राह्मणों में कोई भेद न था, कम से कम वैश्यों और क्षत्रियों में तो सर्वथा नहीं यद्यपि उनके कुल-गोत्रादि भिन्न थे। इतना ही कहा जा सकता है कि क्षत्रिय अथवा राजन्य संभवतः अभिजात कुलीय वैश्य या विश थे। धीरे धीरे भारतीय भूमि पर दीर्घ कालिक निवासने क्षत्रियों को वैश्यों से पृथक् करने के आवश्यक कारण उपस्थित कर दिए होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय राजनीतिमें विशिष्ट हो गए थे। इनमें क्षत्रिय तो राजकृत' होने के अतिरिक्त योद्धा भी थे जिनका मुख्य कर्म युद्धों में भाग लेना ही रह गया था। इन्हीं की प्राचीन परम्परा को संभवतः पाश्चात्कालीन गणतंत्रिय यौधेयों ने क़ायम रखी थी। आरंभ में सारा विश—क्षत्रिय, वैश्य और कुछ अंशों में संभवतः ब्राह्मण भी—शत्रुओं से लड़ता रहा होगा परन्तु पश्चात्काल में जब शत्रुओं के विनाश के बाद युद्धों की संख्या कम हो गई, जीवन प्रायः शान्ति का हो गया, तब साधारण जनता—राजन्येतर विश अथवा वैश्य—कृषि, पशु पालन, व्यापारादिमें लगी और तभी से वैश्यवर्ण ने एतदर्थक अपने कर्तव्य संम्हाले।

शूद्रों के संबंध में जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, वे संभवतः 'विश' नहीं थे, शायद आर्य भी नहीं थे। अपने भ्रमण के योग में आर्यों ने जो युद्ध किए उनमें उन्होंने अनेक दास बनाए। कुछ शूद्र तो ये दास थे, कुछ भारतीय विजयों की परम्परा ने द्रविड़ों में से प्रस्तुत किए। इन शूद्रों का स्थान दर्प प्राण आर्यों के समकक्ष किसी प्रकार नहीं हो सकता था। ये वास्तव में दासों के अनुरूप थे और इनका कर्तव्य भी ऊपर बताए तीनों आर्य वर्णों की सेवा करना ही माना गया। इसमें सन्देह नहीं कि पुरुष-सूक्त के काल स्तर तक पहुँचते पहुँचते इस चतुर्वर्ण की सृष्टि हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि शूद्र इस चतुर्वर्ण के ही एक अंग—निम्नतम—थे परन्तु वास्तव में 'सवर्ण' वे थे नहीं। निस्सन्देह अब तक अर्थात् ऋग्वैदिक निम्नतम काल-स्तर—लगभग १५०० ई० पू०—तक द्रविड़ों के साथ संपर्क बढ़ चुका था और सामाजिक सम्मिश्रण भी प्रचुर मात्रा में हो चुका था यद्यपि यह सम्मिश्रण प्रारंभ में केवल श्रम संबंधी ही रहा होगा। परन्तु द्रविड़ों की आर्येतर नागरिक संस्कृति के साथ आर्यों का संबंध होते ही उनके जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ जिससे उनके पूजा-विधान, रहन-सहन, आचार-विचारादि में प्रभूत अन्तर पड़ा। उनकी सांस्कृतिक व्यवस्था द्रविड़ों की संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हुई। आर्यों का ग्राम-जीवन अब द्रविड़ों के नागरिक जीवनकी अपेक्षा करने लगा। नगरों के उत्थान के साथ ही साथ शायद उस अमानुष घृणित मानव परिवार की अभिसृष्टि हुई जो श्वपच, अन्त्यज,

आदि के नाम से जाने जाते हैं, जो नगर के बाहर बसाए जाने लगे और जिनकी सृष्टि आर्यों की सामाजिक नीति पर कालिमा की एक गहरी छाप है। यह पाँचवाँ वर्ण ही आजके निम्नतम अछूत हैं जिनको मनुष्यता के कोई अधिकार प्राप्त नहीं, जो वर्ण-व्यवस्था के घृणित शिकार हैं और जो भारतके 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दिगन्त घोषित उदार नीति पर मूर्तिमान व्यंग हैं।

२

ऋग्वैदिक कालके बाद उत्तर वैदिक काल का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि रचे गए। इस काल-विस्तार में आर्येतरों के साथ आर्यों के युद्ध प्रायः बन्द हो गए थे। परन्तु स्वयं उनमें अन्तर्द्वन्द्व छिड़ गया था और अक्सर युद्ध हो जाते। इस काल में इस युद्ध ने दो रूप धारण किए—एक तो साधारण स्पष्ट युद्ध का, दूसरे वर्ण अथवा वर्ग-संघर्ष का। अब तक जनपद-राज्यों का उदय हो चुका था जिनमें केकय, कुरु पंचाल, काशी कोशल और विदेह के राज्य मुख्य थे। इनका जब तब परस्पर टकरा जाना कुछ अस्वाभाविक न था। परन्तु फिर भी इस युद्धका रूप साधारण ही था। दूसरा असाधारण युद्ध जो वर्ण अथवा वर्ग-संघर्ष के रूप में हुआ वह आर्य-समाज के ही दो अभिजात कुलीय वर्गों—ब्राह्मणों और क्षत्रियों—में हुआ। ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठानादि के विरुद्ध क्रान्ति कर क्षत्रियों ने उपनिषद् विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। इस संघर्ष का काल प्रसार काफी लंबा रहा जो अन्ततः द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मणों के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इसमें एक ओर तो वसिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतञ्जलि और पुष्यमित्र शुंग की परम्परा थी दूसरी ओर विश्वामित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति कैकेय, प्रवहण जैवलि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध, बृहद्रथ की। इस युग में दोनों—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णों ने अपनी सीमाएँ ऊंची कर लीं और एक दूसरे में पारस्परिक समाजपरक आयात-निर्यात बन्द हो गया। परन्तु विवाह अब भी जब तब एक दूसरे में होते रहे। गुप्तकाल (पाँचवी शती ईस्वी) और बाद तक इस प्रकार के अन्तर्वर्ण-विवाहों के होते रहने के प्रमाण मिलते हैं। वास्तव में इस प्रकार के विवाहों की संख्या पूर्व वैदिक काल में तो प्रचुर थी और उनसे प्रजनित सन्तान पिता के वर्ण की समझी जाती थी। औशिज, कवष, कक्षीवान् इस प्रकार की सन्तान थे जो ऋषि-संज्ञा से कभी विभूषित हुए थे। परशुराम भी इसी प्रकार के वर्ण-मिश्रण के एक प्रबल उदाहरण थे। परन्तु क्षत्रिय से ब्राह्मण हो जाना अब किसी प्रकार संभव न था।

३

उपनिषत्काल के पिछले स्तरों से प्रायः छठी शती ई० पू० से ही सूत्र-काल का उदय होता है। इस काल में ब्राह्मणों ने फिर से भारतीय समाज की व्यवस्था करनी चाही और की। यह काल धर्म-सूत्रों और कल्प-सूत्रों का था। कल्प-सूत्रों में उन्होंने फिर से यज्ञों और अनुष्ठान-क्रियाओं पर विचार किया, उन्हे विस्तृत किया। पूर्व वैदिक काल के चार पुरोहितों की संख्या ब्राह्मण-काल में ही बढ़कर उन्नीस हो गई थी। अब उनकी संख्या में उनके सहायकों के सैकड़ों तक जा पहुंची। गृह्य-सूत्रों में उन्होंने व्यक्तिगत आचार-नियमों का उल्लेख किया। वर्णों के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन जन्म से मृत्यु तक विधानों से जकड़ दिया गया। पुंसवन-गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि—वार्षिक श्राद्ध तक के सोलह संस्कार व्यक्तिगत जीवन के अभिशाप बन गए। संस्कारों के अतिरिक्त व्यक्ति के जीवन-काल को चार भागों में विभक्त कर दिया गया—१. ब्रह्मचर्य, २. गार्हस्थ्य, ३. वाणप्रस्थ और ४. सन्यास। परन्तु इन 'आश्रमों का वास्तविक उपयोग उनके अनुसरण में कम भंजन में अधिक हुआ। धर्म-सूत्रों ने समाज को अनन्त नियम दिए—वर्णों को विविध कर्तव्यों की सूची दी। कर्तव्याकर्तव्य का उन्हें ज्ञान कराया, राज-धर्म का प्रणयन किया, शूद्रों और नारियों को स्वत्वहीन कर निर्वर्ण कर दिया, उन्हें दासों की कोटि में ला बैठाया। बौधायन और आपस्तम्बने वर्णाश्रम धर्म का विशाल दुर्ग भारतीय समाज के प्रांगण में खड़ा किया। धर्म-सूत्रों के आधार पर धर्मशास्त्रों की रचना हुई जिन्होंने ब्राह्मणों को 'भूसुर' का पद दिया, शूद्रों को कृपापात्र सेवकों का। धर्म सूत्रों ने पहले ही प्रथम तीन वर्णों को संस्कारों के आधार पर 'द्विज' की संज्ञा प्रदान की थी परन्तु अब धीरे धीरे इस 'द्विज' की

परिभाषा में भी संकोच होने लगा और शीघ्र इसका प्रयोग पहले ब्राह्मण-क्षत्रियों के अर्थ फिर केवल ब्राह्मणों के संबंध में होने लगा।

मानव-धर्म-शास्त्र, याज्ञवल्क्य-स्मृति, वसिष्ठ-स्मृति, नारद-स्मृति, बृहस्पति-स्मृति आदि ने घटा-बढ़ाकर उन्हीं सूत्रों की परम्परा को जीवित रखा। सूत्रोंमें ही बाल-विवाह का विधान हो चुका था। धर्म-शास्त्रों का यह युग कायिक और मानसिक बन्धन का युग था। इस समय संत्रस्त ब्राह्मण समाज-शास्त्री केवल अपनी रक्षा के हेतु नहीं वरन् अपने वर्ग के भविष्य के निर्माण के अर्थ भी प्रयत्नशील था। आगे आनेवाली जनता यदि अपने प्रजनक पूर्वजों की और सहसन्तति थी तो उसे इस शृङ्खलाबद्ध परम्परा को स्वीकार कर उसे वहन करने में कोई आपत्ति न हो सकती थी और अनन्त अनन्त विधानों का जो प्रसार उसके सामने आया उसके विरुद्ध आश्चर्य है उसने विशेष रूप से, सिवा बुद्ध के यदि वे इस काल के अधिक पूर्व न हुए, आवाज नहीं उठाई। स्वयं वर्णों में शाखाएं फूट पड़ीं और निचले स्तरों, विशेष कर वैश्यों और शूद्रों में, तो निस्सीम शाखाएं फूटीं। वर्णों में परस्पर जो थोड़ा ही थोड़ा सम्मिश्रण हुआ था उससे भी अनेक नई 'जातियां' उठ खड़ी हुई थीं जो धर्मशास्त्रों के विधानों को चेतन-अचेतन रूपसे अंगीकार करने को तत्पर थीं। इस विधान-शृङ्खला की अभिसृष्टि उसके निर्माताओं के लिए कम गर्वकी वस्तु न थी और फलतः ब्राह्मण अपनी विजय से संतुष्ट हो कर सुखकी नींद सोने ही वाले थे कि भारत की इस नवजात प्रणालीपर चोट कर एक नई बाह्य शक्ति ने इसे टूक-टूक कर दिया। यह नई शक्ति थी विदेशियों का आक्रमण।

—४—

द्वितीय शताब्दी ई० पू० से प्रथम शती ईस्वी तक भारत पर निरन्तर विदेशी आक्रमण होते रहे। हिन्दू-ग्रीक, हिन्दू-पार्थव, शक, कुषाण एक के बाद एक टूटते और अपनी बर्बर चोट से भारतीय राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को कुचलते तथा छिन्न-भिन्न करते रहे। उनके सतत आक्रमणों से सूत्रों और धर्मशास्त्रों की वर्ण-व्यवस्था बिखर गई। सूत्रों ने जो अनेक प्रकार की शृंखलाओं से विभिन्न वर्ण-स्तर प्रस्तुत किए थे इन चोटों से वे तार-तार हो गए।

इन विदेशियों को अव्यवस्थित होने के कारण भारतीय समाजशास्त्रियों ने बर्बर और म्लेच्छ कहा। सही, उनमें वर्ण-व्यवस्था न थी और वे इस भारतीय विचित्रता को समझ भी न सके। उनका आहार-विहार एक साथ होता था विवाह, आपस में निर्बाध होता था। इनके ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण न तो वे बर्दाश्त कर सकते थे, न समझ सकते थे।

ग्रीकों ने भारत पर हमला कर पाटलिपुत्र तक रौंद डाला और सिन्ध, पश्चिमी तथा पूर्वी पंजाब में अपने सुदृढ़ राज्य खड़े किए जिन्हें उन्हों ने सदियों तक भोगा। शकों के हमले पहले अत्यन्त विध्वंसक हुए और उन्हों ने भारतीय वर्ण-पद्धति की जड़ तक हिला दिया। अम्लाट का हमला, जिसका वर्णन गार्गी-संहिता के युग-पुराण ने किया है, अत्यन्त दारुण था। इस हमले से भारतीय राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गए, साम्राज्यों के प्रान्त बिखर गए, वर्णों की पारस्परिक सीमाएँ विलुप्त हो गईं। पाटलिपुत्र से पुरुषों का सर्वथा लोप हो गया। आचार क्षत-विक्षत हो गया। ब्राह्मण चाण्डाल-का आचरण करने लगे, शूद्र ब्राह्मण से बराबरी का दावा। वर्ण धर्म में ब्राह्मण का उतना ही स्वत्व था जितना राज-धर्म में क्षत्रिय का। इस व्यवस्था से राजशक्ति भी बल पाती थी और स्वयं वह इसकी तत्परता से रक्षा करती थी। वर्ण-व्यवस्था और राजशक्ति प्रायः परस्परावलम्बी थे, दोनों अभिजात कुलीय ब्राह्मण और अभिजात कुलीय क्षत्रियों की शक्ति के आधार थे। राज शक्ति छिन जाने पर क्षत्रिय ब्राह्मण के साथ साझा न कर सका।

यह युग अत्यन्त उथल-पुथल का था। इसी से युग-पुराण उसके पूर्व कालके अन्तको 'युग-क्षय' कहता है। सारा उत्तरी भारत लहू लुहान हो रहा था मध्यदेश जो सदा वर्ण-धर्म की पृष्ठभूमि रहा था 'म्लेच्छों' की अनियन्त्रित अव्यवस्थित दुराचार-का प्रांगण बन गया। विदेशियों ने स्वाभाविकतया भारतीयों को केवल शत्रु समझा और जैसा युद्धों में प्रायः होता है उनके साथ अनेक बार पशुवत आचरण किया। और उनके प्रति उनका देवतुल्य आचरण भी केवल उनके ही अर्थ में हो सकता था, भारतीयों के अर्थ में नहीं, क्योंकि भारतीय

वर्ण-व्यवस्था उनकी जानी न थी और वे वर्ण-वर्ण में किसी प्रकार का अन्तर डाल कर उनसे पृथक्-पृथक् व्यवहार नहीं कर सकते थे। यह असमान व्यवहारही तो वर्ण-धर्म की शिलाभित्ति थी।

शकों की ही भाँति आभीरों और कुषाणों ने भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर जाने अनजाने घाव किए। कुषाणों का शासन किसी न किसी रूप में उत्तर भारत में दूसरी सदी ईस्वी के अन्त तक जमा रहा। शकों ने अपने शासन के सिन्ध, पंजाब, मथुरा, मालवा, महाराष्ट्र प्रान्त केन्द्र बनाए थे, आभीर उनके पश्चिम में स्थानापन्न हुए, कुषाण उत्तर में। परन्तु वर्ण-धर्म के गुण-दोष भारतीयों की नस-नसमें पैठ गए थे। वे मनुष्य को स्वतंत्र नैसर्गिक सत्ता देने को तत्पर न थे। उसे वे केवल अपने बनाए ऊँच-नीच के स्तरों में ही स्वीकार कर सकते थे। दिमित्रिय के आक्रमण के बाद जो वर्ण-क्षय हुआ था उसे तो कुछ काल तक पतञ्जलि और पुष्यमित्र शुंग ने सम्हाला। इस ब्राह्मण-सम्राट् ने विचलित वर्ण-प्रणाली को फिर से स्थापित करने की प्रभूत चेष्टा की। संस्कृत को राजपद अर्पित किया, यज्ञानुष्ठानों को पुनः सञ्जीवित किया, स्वयं दो-दो अश्वमेध किए, वर्ण-विद्वेषी बौद्धों के विहार और मठ पाटलिपुत्र से स्यालकोट तक जला डाले, उनके सहायक और वर्ण-विध्वंसक म्लेच्छ ग्रीक-यवनों को परास्त कर मध्यदेश से बाहर कर दिया। मानव धर्म शास्त्र की रचना कर फिर उसने एक बार ब्राह्मण को भू-देवताके आसनपर ला बैठाया, पर वर्ण-व्यवस्थाकी दीवारें फिर भी एक बार हिल गईं, प्रायः नींव तक, यद्यपि वे गिर नहीं। कारण कि कम से कम कुछ काल तक राजनीतिक सत्ता ब्राह्मणों के हाथ में चली गई। उत्तरी भारत पहले शुंगों के हाथ में रहा फिर काण्वायनों के, पूर्वी भारत चेदियों के शासन में रहा और दक्षिणी भारत आन्ध्र-सातवाहनों की रक्षा में। चारों कुल ब्राह्मण थे। विदेशी आक्रमणों ने उत्तर भारत में तो वर्ण-धर्म पर युग-प्रवर्तक चोटें कीं परन्तु दक्षिण में उनका प्रभाव न पड़ सका। सातवाहन अपनी व्यवस्था पर दृढ़ बने रहे।

एक बात यहाँ विशेष प्रकार से समझ लेने की है कि भारतीय सामाजिक विधान और वर्ण-धर्म यकायक की चोटों से तो क्षत विक्षत किए जा सकते हैं, तोड़ तक दिए जा सकते हैं परन्तु शान्ति से उनकी विजय करनी कठिन है। संस्कृतियों के संघर्ष में भारतीय अथवा हिन्दू पद्धति प्राण पाती है। जीवन के शान्त वातावरण में उसकी जड़ें दूर तक फैल कर अक्षयवट का प्रसार करती हैं। विशेषकर जब विदेशी जातियों की अपनी कोई फिलासफी अथवा सामाजिक पद्धति नहीं होती तो युद्ध की हिंसक प्रवृत्तियों के जम जाने और शान्तिमय वातावरण के स्थापित हो जानेपर भारतीय व्यवस्था उन्हें डकार जाती है। भारतीय ऐतिहासिक प्रगति में दूध की धारा की भाँति यह सत्य चमकता है। ग्रीकों, शकों, कुषाणों, आभीरों और बाद में हूणों, गुर्जरों आदि का यही हाल हुआ। कुछ आश्चर्य की बात नहीं यदि कुषाणों ने बौद्ध और शैव धर्मों का विस्तार किया हो और शक रुद्रदामन ने सातवाहन-ब्राह्मणों की प्राकृत और बौद्धों की पाली के विरोध में शुद्ध संस्कृत को आश्रय दिया हो। फिर चूंकि विदेशियों को भारतीय समाज शास्त्री या तो म्लेच्छ ही समझ सकते थे या विवश होने पर अपने वर्ण-धर्म के निचले स्तरों की इकाइयाँ। जब तब ही उन्होंने उन्हें अपने उच्च स्तरों में अंगीकार किया और यह अंगीकरण भी प्रायः मौखिक था। हूण-जाट-गूजरों का प्रादुर्भाव कुछ ऐसा ही हुआ।

हिन्दू-ग्रीक अपनी व्यवस्था, कला-साहित्य, फिलासफी और अपनी संस्कृति लेकर आए थे। यहां वे बस गए थे और जब शान्ति का वातावरण स्थापित हुआ भारतीय संस्कृति और वर्ण-विधान ने उनपर धीरे धीरे अपना गरल उलीचना शुरू किया और कालान्तर में वे भारतीय समाज-तन्तु में सर्वथा बुन गए। उनकी संस्कृति, मुद्रांकन, रंगमंच, ज्योतिष आदि के अनेक सिद्धान्त भारतीय पद्धति ने अपनाए परन्तु उन्हें अपना रूप देकर सवर्था एतद्देशीय कर लिया।

सूत्र-साहित्य से कुछ पूर्व ही क्षत्रियों के प्रभाव और ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्राचीन संघर्ष के फलस्वरूप जो जैन-बौद्ध धर्मों का उदय हुआ था उससे ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था को काफी चोट पहुँची थी। बौद्धों ने संस्कृत और वर्ण-धर्म दोनों पर चोटें कीं। संघ में वर्ण-व्यवस्था न थी और सारे वर्णों तथा अवर्णों के पुरुष वहाँ समान रूपसे स्वीकार किए जाते थे। जैन-बौद्धों के अतिरिक्त

वैष्णवों ने भी जनता के साथ समानता का व्यवहार करके वर्ण-धर्म की जड़ों पर आघात किए। 'जाति पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरिका होई।'—यह पश्चात्कालीन उद्घोष स्वतंत्र 'स्लोगन' नहीं उसी परम्परा की तर्कसम्मत पराकाष्ठा है। बौद्ध और वैष्णव धर्मों की निर्वर्ण पद्धतियों को विदेशी समझ सकते थे। इसी कारण वे इन धर्मों को वर्ण-प्रतिष्ठ हिन्दू धर्म की अपेक्षा आसानी से अंगीकार कर सके। इसी कारण बौद्धधर्म को मध्य-एशिया के निर्वर्ण और दुर्द्धर्ष निवासियों ने भी आसानी से अपनाया।

विदेशी आक्रमणों की चोट, विदेशी संस्कृतियों के संघर्ष और जैन-बौद्ध-वैष्णव धर्मों की वर्ण-वर्जित पद्धति के प्रभाव से ब्राह्मण-वर्ण-विधान भी सर्वथा अक्षुण्ण न रह सका और उसमें अनेक जाने अनजाने परिवर्तन हुए। एक बार फिर वर्ण-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए भगीरथ प्रयत्न किए गए। मालवा और मध्यदेश के बीच इस काल में (दूसरी शती ईस्वी) जिन दो राजकुलों ने जोर पकड़ा उनमें वाकाटक ब्राह्मण थे और भारशिव नाग क्षत्रिय। विदेशी आक्रमणों और विधर्मी शक्ति की प्रतिष्ठा ने ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों के पारस्परिक स्वत्वों को संकट में डाल दिया था जिससे दोनों ने एकबार संगठित देशी शक्ति का गुण समझा। वाकाटकों और नागों ने एकैक और सम्मिलित रूपसे कुषाणों पर हमले किए और शीघ्र उनके कमज़ोर हाथों से तलवार छीन ली। नाग शैव थे जो शिवलिंग अपनी पीठ पर वहन करते थे और इसी कारण उनकी संज्ञा 'भारशिव नाग' पड़ी। नागों ने कुषाणों को बार बार हराकर बारबार अश्वमेध किए। उनके दस बार के 'अवभृथ-स्नान' के फलस्वरूप काशी के एक घाट का नाम 'दशाश्वमेध' पड़ा। ब्राह्मण-क्षत्रियों का एक साझा कुषाणों आदि के विरुद्ध वाकाटकों-नागों में हुआ, दूसरा शकों के विरुद्ध वाकाटकों-गुप्तों में। तीनों कुलों में वर्ण-पद्धति के विरुद्ध परस्पर विवाह तक होने लगे। वर्ण-शास्त्री ने कुछ काल के लिए नेत्र मूँद लिए। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक राजकुमार से किया। वाकाटक राज ने उसे मालव शकों पर आक्रमण करने के लिए अपने राज्य से मार्ग दिया। शक-कुषाण नष्ट-भ्रष्ट हो गए। अश्वमेधों को पुनः संजीवन मिला, अनुष्ठान क्रियाएँ लौटीं, संस्कृत को फिर राजपद मिला, धर्मशास्त्रों के नए संस्करण हुए, याज्ञवल्क्य-नारद-बृहस्पति-स्मृतियाँ जन्मीं, विवाहों की पद्धति और रूप में नए परिवर्तन हुए।

५

गुप्त-साम्राज्य ने ब्राह्मण-सिद्धान्तों के आधार पर एक आदर्श साम्राज्य स्थापित करना चाहा और किया। उसकी नींव में समुद्रगुप्त की उग्र विजयों की शक्ति और विजितों की आहुति थी। गणतन्त्रों के शव पर इस साम्राज्य का आधार टिका था। 'असुर विजयी' समुद्रगुप्त ने 'धर्म विजयी' का रूप धारण किया और विजितों की 'मेदिनी' लौटा कर उनकी 'श्री' स्वायत्त कर ली। इस सामन्ती-संघ-साम्राज्य की मर्यादा क्षत्रिय-ब्राह्मण के साझे पर कुछ कालके लिए टिकी। परन्तु चूँकि उसका आधार कृत्रिम भूमि पर टिका था वह चिरकालीन न हो सका। एतद्देशीय शक्तियाँ तो कुचल गईं पर कुमार गुप्त के विलास ने साम्राज्यवाद का वास्तविक रूप स्पष्ट कर दिया। सामन्तीय कलाकी पराकाष्ठा लूटी और संचित समृद्धि के आधार पर चरम विलास में ही होती थी। साम्राज्य की चूलें हिल गईं। पुष्यमित्रों ने दक्षिण से धावे बोले। विचलित कुल लक्ष्मी को स्कन्दगुप्त ने अपने तपःपूत जीवन से कुछ टिकाया। हूणों को भी उसने कुछ काल तक रोक रखा, परन्तु जिस अभिजात कुलीय अभिसन्धि पर उसके साम्राज्य के पाए टिके थे उसकी खामियाँ स्वयं इतनी नुकीली थीं कि उसके विनाश के लिए केवल समय की आवश्यकता थी, प्रहार की नहीं। और जब हूणों ने अनवरत चोटें करनी शुरू की तो उस सामान्त मिश्रित अभिजातीय साम्राज्य की जोड़ें छिन्न भिन्न हो गईं। उन्हें न तो स्कन्दगुप्त का तपःपूत जीवन ही सम्हाल सका, न याज्ञवल्क्य का वर्ण-पाश ही। इसी वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के निमित्त कालिदास ने नारे लगाए थे—राजा को 'वर्णाश्रमाणांरक्षिता' 'स्थितिरभेत्ता' 'वर्णाश्रमके रक्षण में जागरूक' कहा था, उसे मनु द्वारा परिचालित रथकी लीक पर चलने को प्रोत्साहित किया था (स एव धर्मो मनुना प्रणीतः)। परन्तु मानव धर्मशास्त्र के 'अनुलोम'-विधान पर स्वयं कालिदास का सत्य—'वितृतजघनां' को 'विहातुं समर्थः' जो नाच रहा था उसे कौन सम्हालता कुमार गुप्त का क्षत्रिय विलास तो उस

ब्राह्मण कविके उद्दीपक रागपर स्थिर कर रहा था, उसे पुत्रका संयत जीवन कहाँ तक सम्हाल सकता था? उस काल की स्थिति में तो समाज में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं क्रान्ति की आवश्यकता थी। उस घृणित 'हरिणी-खुरीय' यौन विधान पर टिके समाज के सर्वनाश पर ही नई जगी स्वस्थ मानवता के पाए रखे जा सकते थे। उस महायज्ञ में स्कन्द और गोविन्द की आहुति की आवश्यकता थी। उनके बलिदान पर ही, गुप्त-साम्राज्य और उसकी ब्राह्मण-व्यवस्था की उखड़ी जड़ों की गहरी भूमि में ही नई मानवताकी लंबी जड़े रोपी जा सकती थीं।

और रोपी गईं। राजपूतों का उत्कर्ष भारतीय प्राचीनता और वर्ण-व्यवस्था पर जहाँ एक ओर व्यंग था वहाँ ब्राह्मण-प्रयासका एक विचित्र परिणाम भी था। परन्तु इस उत्कर्ष के पूर्व दो क्रान्तियों का गुजरना अनिवार्य था—उनमें से एक क्रान्ति थी गुप्त-साम्राज्यका समूलोद्धरण और उसकी भूमि पर नवागत विदेशी शक्तियों का नृशंस ताण्डव और दूसरी पालादि एतद्देशीय शूद्रशक्तियों का उत्कर्ष।

६

इन आघातों और प्रत्याघातों को समझने के लिए कुछ विस्तार की आवश्यकता होगी। हूणों का आघात केवल भारत पर ही नहीं विश्व की सभ्यताओं पर हुआ। यह जीवन स्वास्थ्य-बर्बरता का नग्न उल्लास था और इसकी चोट सभ्यताओं का अस्वस्थ नर्म न सह सका। हूण बर्बर और वन्य पशु माने जा सकते हैं, परन्तु उन्होंने इस सत्यका आचरण किया था कि जीवन नित्य-सत्य है और उसका धारण करना न केवल सारे धर्मों का निचोड़ है वरन् उसके रखने में सक्षम सारे साधन वरुण की व्यवस्था के प्राण हैं। हूणों की अपूर्व चिन्तित ध्वंस प्रणाली का एक विशेष परिणाम जो हुआ वह था छोटे-मोटे अनेक राज्यों के साथ दो विशाल साम्राज्यों—गुप्त और रोमन—का टूट जाना। दोनों की साम्राज्य शिला जर्जर व्यवस्था, उच्चावच अनीति और अल्प संख्यक मानव सुख पर टिकी थी। हूणों ने दोनों को चूर चूर कर दिया। रोम से 'प्लेबियन' और 'पात्रीशियन' अन्तर मिट गए, भारत की वर्ण-व्यवस्था साँप की भाँति कुचल गई।

हूण नई शक्ति, मानवता की नई प्रतुस साथ लेकर आए। इतिहासकारों ने उन्हें 'फ्लैगेलम देई' (खुदाई कोड़) कहा। सही; पर कोड़े वे रोमन और भारतीय विलास पर थे, उन उच्चावच भावनाओं पर जिनपर भारतीय वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण-धर्म की नींव टिकी थी। विजयी जाति को कौन विधान दे सकता है जब विजयी धर्म की मानवी नोकें अपने नित्यसज्जित-नित्य-विघटित फ़ौलादी पौरुष पर तोड़ देता हो? हूणों ने व्यवस्था ठुकरादी, तोड़ दी—कहा, हम राज्य तो लेंगे ही, तुम्हारी विगलित नारी भी लेंगे और हमारी सन्तान शक्ति का सपुरुषाकार धारण करेगी। यही गुर्जरों ने कहा, यही उन्होंने कहा जिनका रक्त आज के जाटों और अहीरों की नसों में बहता है।

इस बीच उस दूसरी एतद्देशीय शूद्रीय शक्ति-प्रगति को भी समझ लेना अनिवार्य होगा जिसका हवाला हम ऊपर अभी दे आए हैं। अगले विशृंखल समाज का निर्माण इन्हीं दोनों शक्तियों के उत्कर्ष से संबंध रखता है। क्षत्रिय नन्दों के बाद 'नव-नन्दों' का उदय हुआ था। यह काल उपनिषत्कालिक ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष का तीसरा पहर था। बौद्धसंघों और वैष्णवमठों ने ब्राह्मण वर्ण-धर्म को चुनौती दे मनुष्य को समानाधिकार सौंपे थे और दोनों के प्रजनक और संचालक प्रायः क्षत्रिय नेता थे। ब्राह्मण में समाज, धर्म और राजनीतिमें यकायक एक 'कूप-दि-तात' (क्रान्ति) की। क्षत्रिय के संहारार्थ उसने शीघ्र उठती निम्नवर्गीय शूद्रशक्ति से साझा किया। कात्यायन और राक्षस दोनो ब्राह्मण मन्त्रियों ने शूद्र महापद्म नन्द को मन्त्र दे देकर 'क्षत्रिय संहर्ता' बनाया। इस शूद्र-ब्राह्मण-संबंध का फल क्षत्रिय का विनाश हुआ। महापद्मनन्द ने 'सर्व क्षत्रान्तक' विरुद धारण किया। इस का तात्कालिक प्रभाव अच्छा। ब्राह्मण-धर्म फिर सबल हो उठा और उसमें पनपने और फिर सफल क्रान्ति करने को उसे सुयोग मिला। पतंजलि और पुष्यमित्र उसके अस्त्र थे। इतना ही आवश्यक नहीं था कि शूद्र-ब्राह्मण एका से क्षत्रिय को नैतिक नीचा दिखाया जाय वरन् आवश्यकता इस बात की थी कि उसका विनाश कर ब्राह्मण धर्म-वर्णाश्रम-व्यवस्था और राजनीति की प्रतिष्ठा की जाय। यह सम्पन्न हुआ—शुंग—काण्वायन—चेदि—सातवाहन उठे और फैले। इसके बाद भारतीय इतिहास

में कुछ इकाइयों ने योग दिया जिनका वर्णन ऊपर आ चुका है। सातवीं सदी ईस्वी में क्षत्रिय-बौद्ध संघटन फिर हुआ, फिर ब्राह्मण ने अपनी खोई शक्ति को लौटानी चाही। परन्तु हर्ष प्रबल सिद्ध हुआ। परन्तु इस काल भारतीय भूमि अनेक नई विदेशी जातियों से आक्रान्त और भरी थी। हर्ष के बाद शीघ्र बौद्ध और शूद्र शक्तियों ने बंगाल का आश्रय लिया और शीघ्र वे वहाँ ज़ोर पकड़ने लगीं। बंगाल के पाल सम्राट् अब्राह्मण बौद्ध तो थे ही, शूद्र भी थे। बंगाल से ब्राह्मण व्यवस्था शीघ्र उठ गई और तब तक उठी रही जब तक ब्राह्मणों का उत्कर्ष न हुआ और बल्लाल ने कान्यकुब्ज से ब्राह्मणों को बुला 'कुलीन-प्रथा' को जन्म न दिया और फिर से वर्ण-धर्म की वहाँ प्रतिष्ठा का प्रयत्न न किया गया।

इधर उत्तर-पश्चिमी भारत में जहाँ विभिन्न विदेशी जातियों का घटाटोप जारी था, जहाँ अब भी ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की भावना सक्रिय थी, ब्राह्मण ने अपनी मेधा लगाई। उसने इस काल वह दाँव किए जिससे चाणक्य और मेकियावेली, रिचलू और मज़ारिन चमत्कृत हो उठते—सबक सीखते। उसने तीन तरफ़ी मार की—क्षत्रियों से भी उसे लोहा लेना था, नई विदेशी शक्तियों से भी उसे समझना था और उठती शूद्र शक्ति का केन्द्र पालों के बंगाल को भी उसे कुचलना था। उसने तोल कर शक्ति मारी और अपनी विजय पर हँसा। क्या था उसका यह चमत्कार? क्षत्रिय के विरोध में उसने नई विदेशी शक्तियों को सम्हाला। हूण-गूजरों और इस प्रकार की अन्य अनन्त जातियों के सामन्त वर्गीय कुलों को उसने व्रात्यारोति से अपनी भारतीय-ब्राह्मण व्यवस्था में क्षत्रिय कह कर स्वीकार कर लिया। आबू के पर्वत-शिखर पर वशिष्ठ के नाम से उसने एक अग्निकुण्ड खोदा; जिसके हवन-यज्ञ से शुद्ध हो ये विदेशी क्षत्रिय हो गए, जिन्होंने ब्राह्मण इशारों पर नाचना शुरू किया। १९११ में 'अर्थ-बिल' की रक्षाके लिए लायड जार्ज द्वारा यह 'नई पियरेज' की अभिसृष्टि थी। प्राचीन क्षत्रिय नवीन बहु संख्यक प्रतिस्पर्धी क्षत्रियों से अतिक्रान्त, त्रस्त हो उठे। यह 'कण्टकेनैव कण्टकम्' की ब्राह्मण-व्यवस्था थी। इन नए 'राजपूतों' को पुराने क्षत्रियों और शूद्रों के विरुद्ध जो टकराना था, उसका प्रबन्ध हो गया। और स्वयं इन विदेशियों को भी अपनी शृंखला में बाँध रखना था इससे उन्हें कहीं तो डालना ही पड़ता। इन विदेशियों ने भी सोचा कि भारत में ब्राह्मणों की प्रणाली से संघर्ष करते जिन्दा रहना उनके लिए संभव न होगा, इससे उसे क्षत्रिय वर्ग की ऊँचाई स्वीकार कर लेनी उचित ही होगी। परन्तु ब्राह्मण तो उन्हें केवल अपना अस्त्र बनाना चाहता था, आश्रय देना नहीं। इससे जहाँ उसने उन्हें डाला वहाँ वे न तो क्षत्रिय रह सके, न शूद्र और न विदेशी ही। आज भी भारतीय शुद्ध वर्ण-व्यवस्था से वे अलग हैं। कुछ तो स्वयं अपनी विदेशी विचित्रताओं के कारण, कुछ ब्राह्मणों की उदासीन नीति के फलस्वरूप वे अर्धाङ्गीकृत दशा में पड़े रहे और आज भी पड़े हुए हैं। परन्तु ब्राह्मणों का काम बन गया और वे इन नवोदित क्षत्रियों से अपना कार्य साधते रहे।

इस नई राजपूत जाति में शक्ति और महत्त्वाकांक्षा खूब थी। उसका देश की क्षत्रिय और शूद्र शक्तियों से टकराना आवश्यक था। पाटलिपुत्र की लक्ष्मी अब कनौज में जा बसी थी और 'महोदयश्री' (महोदय=कान्य-कुब्ज=कनौज, श्री=लक्ष्मी Sovereignty) की उपलब्धि के अर्थ भारत को देशी-विदेशी, क्षत्रिय, शूद्र और राजपूत शक्तियाँ सदी भर परस्पर टकराती रहीं, कभी अन्तर्वेद (गंगा यमुना का दोआब) में कभी मुद्गगिरि (मुंगेर) में, कभी उज्जैन में, कभी काशी में। कन्नौज लक्ष्य था, तीन तरफ़ी चोटें उस पर पड़ रही थीं—क्षत्रिय राष्ट्रकूटों की, गुर्जर-प्रतिहारों की, शूद्र-पालों की। ये शक्तियाँ परस्पर टकराईं और टकराती रहीं। सदियों तक समाज की यह उचटी-उचटी व्यवस्था बनी रही और जब एक नई सत्ता ने भारत भूमि पर पदार्पण कर हिन्दुत्व को झकझोर दिया तब कहीं जाकर उसमें आक्रोश आया, असफल आक्रोश!

७

यह नई सत्ता थी मुसलमानों की जिन्होंने सिन्ध से स्पेन तक की सारी भूमिपर अस्सी वर्ष के कालान्तर में क़ब्ज़ा कर लिया था। मुसलमानों के कई फ़िरकों, कई दस्तों, कई राजकुलों ने भारत पर आक्रमण किया, उसे जीता। अपने उत्कर्ष काल में उनकी सल्तनतें ब्राह्मण-व्यवस्था और वर्ण-धर्म पर चोटें करती रहीं।

इसका उस काल तक तो विशेष फल नहीं हुआ, इतना अवश्य है कि जहाँ उन्होंने आघात किए वहाँ प्रलय मचा दी। सांस्कृतिक-विजय का प्रयत्न उन्होंने एक लम्बे काल तक नहीं किया। बलपूर्वक वे केवल भारतीयों को इस्लाम धर्म में दीक्षित करते रहे। इससे एक बड़ी दीवार खड़ी हो गई। हिन्दुओं ने ब्राह्मण-पृष्ठभूमि के अहङ्कार से उनसे कुछ सीखना न चाहा और स्वयं विजाताओं ने जो संसार को जीता और धर्म सिखाया था इससे उन्हें भी भारत से कुछ सीखना न था। उनकी अपनी संस्कृति थी, अपनी फ़िलासफ़ी थी जिसने शान्ति का वातावरण स्थापित हो जाने पर कुछ अपना दिया, कुछ लिया—कबीर और नानक जन्मे, भारत में एक नई तहज़ीब जगी। एक नया साहित्य बना। मगर हिन्दू मुसलमानों के बीच की दीवार न भिद सकी। हिन्दू हिन्दू बने रहे, मुसलमान मुसलमान।

८

उड़ीसा, बंगाल और आसाम में बौद्ध, वैष्णव और शाक्त संप्रदायों ने एक विचित्र सन्धि-भूमि निर्मित कर दी थी, परन्तु यह वर्णों की सन्धि-भूमि नहीं निम्न वर्गीयों की थी। ऊपर बताया जा चुका है कि छठी शती से ही निम्नवर्गीयों का यहाँ संघट्ट हो चला था जिसका चरम विकास शूद्र पालों के उत्कर्ष में हुआ। पालोंके बाद सेनों ने एक बार फिर ब्राह्मण-व्यवस्था बंगाल में स्थापित करनी चाही परन्तु उसकी जड़ें वहाँ जम न सकीं। कुछ तो आक्रोशों के उपद्रव, कुछ नवाबी की प्रतिक्रिया और विशेषकर बौद्ध-वैष्णव-शाक्त-तान्त्रिक उत्कर्ष का सम्मिलित विरोध। ब्राह्मण-धर्म वहाँ प्रतिष्ठत नहीं ही हो सका और वर्ण तथा जातियाँ एक विचित्र स्रोत में घुली मिली बहती रहीं जैसी आज भी हैं।

इस बीच ब्राह्मण समाज शास्त्री सर्वथा चुप न बैठे रहे। राजनीतिक दांवपेंच वे अपने चलाते रहे। नई उठी परिस्थितियों को सम्हालने के लिए वे नई स्मृतियाँ लिख उन्हें आर्षता का गौरव तो प्रदान न कर सके परन्तु उन्होंने इस कालको टीकाओं और भाष्यों का युग अवश्य बना दिया। स्मृतियों के ऊपर सुविस्तृत भाष्य लिखे गए जिनका मूल से सर्वथा विरोध तो न था परन्तु जिनका वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों से सामञ्जस्य और समन्वय ज़रूर था। जीवन रखने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। 'व्यवहारमयूख', 'व्यवहारकल्पतरु', 'मीताक्षरा', 'दायभाग', आदि इसी परम्परा में अभिलिखित और सम्पादित हुए। यह परम्परा प्रायः आठवीं सदी से बारहवीं सदी तथा और बाद तक जारी रही।

इसी काल के ऊपरी छोर पर एक प्रचण्ड ब्राह्मण-धर्म और व्यवस्था ने फिर से मस्तक उठाया था। इसके नेता थे शंकर, मंडन, कुमारिल, आदि मेधावी ब्राह्मण। जहाँ उन्हों ने अपने-अपने सम्प्रदायों को जगाने की चेष्टा की वहाँ उनका प्रयास फिर से ब्राह्मण प्रस्तुत वर्ण-व्यवस्था को भी प्रतिष्ठित करना था। शंकर और कुमारिल ने तो देशकी एक प्रकार से बौद्धिक दिग्विजय की। दोनों ने सारे देश में घूम-घूम कर व्याख्यान दे दे कर बौद्धों और जैनों को मथ डाला। उनके संघधर्म का उच्छेद कर प्रव्रजितों को इन्होंने फिर से गृहस्थ बनाया, यद्यपि इससे समाज में कुछ कठिनाइयाँ बढ़ भी गईं। कायस्थ आदि अनेक वर्ण संभवतः उसी सामाजिक पुनरावर्तन के परिणाम हैं जो आज तक चतुर्वर्णों में अपना निश्चित स्थान न पा सके, यद्यपि इनमें से कुछ निस्सन्देह ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं। इन्हीं की भाँति अनेक जातियाँ जो संक्रमण की अवस्था में देशमें फिरती रहीं अथवा अपने गण बना कर तन्त्र शासन करती रहीं उनके वर्ण का निश्चय करना भी आज कठिन है। इनमें से मालव आदि जातियाँ कुछ क्षत्रिय, कुछ शूद्र हो गईं, यौधेयादि कुछ जो हिया राजपूत, कुछ ओसवाल, रोहतगी, रस्तोगी आदि वैश्य और अन्य क्षत्रिय जातियाँ खत्री हो गईं।

९

भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर अन्तिम चोट यूरोपीय संस्कृति की पड़ी। आठारहवीं सदी से विशेष कर यूरोपीय देशों का संपर्क भारत के साथ बढ़ा। अनेक ईसाई फ़िरकों ने भारत की जनता को ईसाई बनाने को प्रयत्न किया। परन्तु वे प्रायः उच्चवर्णीयों को न छू सके। अन्त्यजों और शूद्रों पर ही वे कुछ प्रभाव डाल सके। और इन अंग्रेजों के सामने प्रश्न संस्कृति अथवा धर्म का न था, आर्थिक आवश्यकताओं का था। देश में कालान्तर में अवश्य कुछ ईसाई जन-संख्या बन गई

पर उससे भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर विशेष प्रभाव न पड़ा।

अंग्रेज़ी सभ्यता ने अपनी राजनीतिक मान्यताओं से अवश्य भारत को प्रभावित किया। इससे ब्राह्मण-वर्ण-व्यवस्था, जो अब तक स्वयं काफ़ी जर्जर हो चुकी थी, भले प्रकार ढीली हो गई। अंग्रेज़ी शिक्षा आदि ने वर्ण-व्यवहार को अत्यन्त दुर्बल बना दिया। राजा राम-मोहन राय आदि जो भारतीय विलायत गए उन्होंने भारत को एक नई संस्कृति का संदेश दिया और सब ने भारत की वर्ण-संबन्धी रूढ़ता पर गहरे आघात किए। बंगाल में 'ब्रह्म समाज' और पश्चिमोत्तर भारत में 'आर्य समाज' ने वर्ण-धर्म को और भी शक्तिहीन कर दिया। स्वामी दयानन्द का आन्दोलन देश का आन्तरिक आन्दोलन था—वेद शास्त्रों की सम्मतिपर टिका जिसने इस वर्ण-धर्म की जड़ें हिला दीं। मादाम ब्लावात्स्की और एनीबिसेन्ट के 'थियासाफ़िकल' आन्दोलन ने भी इस पर विध्वंसक प्रभाव डाला। आज का संसार अंतर्जातीय हो रहा है और इस युग धर्म में वर्ण-व्यवस्था कै दिन टिक सकती है? अन्तर्प्रान्तीय विवाह आज भारत में निरन्तर हो रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था की जड़ें उखड़ी जा रही हैं, जो बच रही हैं शीघ्र सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रगतिशील आन्दोलनों से उखड़ जाएँगी।

❀ इस समय प्राचीन वर्ण-धर्म नई चालों द्वारा अपनी रक्षा का प्रयत्न कर रहा है। उसकी चाल है—हिन्दू संस्कृति की रक्षा के नाम पर हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का आन्दोलन। इसका एक रुख कांग्रेस के दक्षिण पक्ष से समझौता की ओर झुक कर शूद्रों पर 'हरिजन' आन्दोलन की मूर्छना डाल रहा है—उनके लिए 'दया का पात्र बनकर और भूखे पेट रह कर' भगवान की पूजा के लिए मन्दिर खुलवा रहा है। पर उसके गूढ़तम आर्थिक और सामाजिक लक्षण ज्यों के त्यों हैं।

किन्तु हमारे लिए चिन्ता का कारण नहीं है। हमारे देश में समाजवादी आन्दोलन की जड़ें गहरे जा चुकी हैं। मजदूर आन्दोलन प्रबल हो गया है। किसान आन्दोलन ने जमीन्दारी प्रथाकी रीढ़ तोड़ दी है। किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि यह ब्राह्मण-धर्म तब तक न मिटेगा जब तक धरती और उद्योग पर व्यक्तिगत स्वामित्व रहेगा। इसीलिए भारतीय समस्याओं का एक मात्र हल है—समाजवाद।

—सम्पादक

सेवाग्राम के संस्मरण

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

आत्मवादी 'स्मृति' को आत्मा के अस्तित्व का एक बड़ा प्रमाण मानते हैं। घटी हुई घटना 'काल' के गर्भ में विलीन हो जाती है, किन्तु उसकी 'स्मृति' बनी ही रहती है। क्या 'स्मृति' जैसी की तैसी बनी रहती है? नहीं, संसार की सभी वस्तुओं की तरह यह भी क्षीयमान ही है।

'स्मृति' मनपर पड़ी हुई एक प्रकार की छाप है, जो काल के साथ साथ धूमिल होती ही जाती है; अथवा वह किसी घटनाविशेष से उत्पन्न होनेवाले चित्त-प्रभावों की परम्परा है, जो एक के बाद दूसरे आने के कारण 'स्मृति' कहलाती हैं। मैं इस दार्शनिक विवाद की गली में नहीं जाना चाहता। मैं तो, सेवाग्राम के दो चार 'संस्कार जो मन पर पड़े हैं, उनकी उत्तरोत्तर क्षीण होने की संभावना देख, उन्हें यहाँ लिख देना चाहता हूँ कि जिसमें वे कागज और स्याही को अपने साथ लेकर ही काल के गर्भ में विलीन हों।

ज्यों-ज्यों मुझे संसार की अनित्यता का अधिक-अधिक भान होता जा रहा है त्यों-त्यों मैं चीजों को संभाल-संभाल कर रखने की बुद्धिमानी में विश्वास करने लग गया हूं। किन्तु, 'संस्मरणों' को कौन संभाल कर रख सकता है? तो भी यह प्रयत्न तो उसी दिशा में है ही।

× × ×

अधिक नहीं कुल पांच छः वर्ष पहले मेरी गिनती बड़े मज़े से उन आदमियों में की जा सकती थी जिन्होंने कभी सेवाग्राम (वर्धा) देखा नहीं। मेरे वर्धा आने का ही नहीं; वर्धा-निवास तक का श्रेय काका कालेलकर को है।

स्वर्गीय धम्मानंद कोसम्बी पाली वाङ्मय के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्हीं के देश के काका जी की भी बुद्ध-भक्ति विशेष है। वे जब बनारस आते रहे हैं प्रायः सारनाथ भी आए हैं। एक बार जब मैं उन्हें मूलगन्ध-कुटी विहार के दर्शन कराकर साथ बाहर आया तो उन्होंने पूछाः—

"आप हर जगह जाते हैं, वर्धा कभी नहीं आए?"

"आप हर किसी को वर्धा बुलाते हैं मुझे कभी नहीं याद किया।"

"मेरा आपको अभी निमन्त्रण रहा—वर्धा आने का। किन्तु मैं पसन्द करूंगा कि आप उस समय आएँ जब मैं वर्धा में होऊं।"

"भिक्षुक को केवल निमंत्रण देने से काम नहीं चलता। उसके तो मार्ग-व्यय तक की व्यवस्था करनी पड़ती है।"

"लें, अभी यह रुपये ले लें।"

मैंने रुपये अस्वीकार किए। कहाः—"जब कभी आना होगा तब देखा जायगा।"

× × ×

उन दिनों पंडित सुन्दरलाल तथा उनकी 'विश्ववाणी' ने अपनी "हिन्दुस्तानी-संस्कृति" को अभी जन्म ही दिया था। वह एक हिन्दी की ऊँचे दर्जे की पत्रिका समझी जाती थी और थी भी। मैं उसके आफ़िस में आता जाता। एक दिन उसके सम्पादक पंडित विश्वम्भर नाथजी ने अथवा उसके सहकारी सम्पादक श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' ने मुझे गांधीजी का एक लेख दिखाया—भाषा की समस्या—पर। यह लेख डा०, जेड० अहमद की किताब—दि लैंगवेज प्राबलम—से अनुवाद था। अनेक दूसरी बातों के साथ एक बात जो उस लेख में कही गई थी वह यह थी कि "हमें अपनी राष्ट्रभाषा को 'हिन्दी' न कहकर "हिन्दुस्तानी' ही कहना चाहिए।" मुझे यह पंक्ति खटकी। गांधीजी तबतक 'हिन्दी' अथवा 'हिन्दुस्तानी' ही थे। वे 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग करते थे किन्तु उसे 'हिन्दी' का पर्य्याय मानकर ही। छपे शब्द को 'ब्रह्म-लेख' मानने की मूढ़ता आदमी तभी

काश्मीर का सांस्कृतिक मोर्चा

श्री मोहनसिंह सेंगर

काश्मीर का वर्तमान संघर्ष कोई फौजी या सांप्रदायिक लड़ाई मात्र नही है। उसके पीछे अनेक नए पुराने राजनीतिक, अर्थनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हेतु भी हैं। अतएव जितना आवश्यक यह जानना है कि कबाइलियों के आक्रमण के रूपमें यह हिन्दुस्तान की भूमिपर पाकिस्तान का फौजी हमला है अथवा यह कि इसे कोई सुदक्ष नेतृत्व तथा विदेशी युद्धास्त्र प्राप्त हैं; उतना ही आवश्यक यह जानना भी है कि इसके पीछे जो हेतु हैं, उनकी यथार्थता और प्रतिक्रिया कैसी होती है और उसका हम किस प्रकार मुक़ाबला कर सकते हैं?

पाकिस्तान के हिमायतियों ने मूलतः फासिस्ट ढंग के प्रोपेगेंडा और गुण्डेपन को अपनाया है! विभाजन से पहले कांग्रेस और हिन्दुओं के खिलाफ़ मुस्लिम-लीगके बड़े-से-बड़े नेताओं ने जो मिथ्या और भ्रान्त प्रचार किया, जो ज़हर उगला, उसका गरीब मुसलमानों को (और हिन्दुओं, सिखों आदि को भी) जो भी महँगा जुर्माना देना पड़ा हो, पर उन्हें यह विश्वास और प्रोत्साहन ज़रूर मिला है कि इस तरह की तिकड़म से भी इस देश में बहुत बड़ी सफलता मिल सकती है। बंगाल, विहार, पंजाब दिल्ली साम्प्रदायिक दंगों के समय इन्होंने अपने इसी अस्त्र को अपनाया। इसके फल-स्वरूप दुनिया भले ही इनके मुंह पर थूके, लेकिन ये इसके अनुचित लाभ का लोभ संवरण नहीं कर सकते। इन्हें दृढ़ विश्वास होगया है कि अज्ञान और अन्ध-विश्वास के इस देशमें मज़हब के नाम पर आदमी को खूब उल्लू बनाया जा सकता है।

इसीलिए काश्मीर के आक्रमण में इस अस्त्रका व्यापक रूपसे उपयोग हो रहा है। पाकिस्तान-रेडियो द्वारा तथाकथित 'आजाद काश्मीर सरकार' के नाम पर जो झूठी और निराधार बातें भोले-भाले मुसलमानों को बहकाने-भड़काने के लिए प्रतिदिन प्रचारित की जाती हैं, वे गोंएबल्स की याद ताज़ा कर देती हैं। रेडियो और पर्चों के द्वारा काश्मीर के बाहर के मुसलमानों को प्रतिदिन बताया जा रहा है कि काश्मीर में मुसलमानों को बुरी तरह पीसा जा रहा है, हिन्दू और सिख उन्हें लूट-मार और उनकी बहू बेटियों को बेइज्ज़त कर रहे हैं। भारतीय सेनाओंने आक्रमण कर मुसलमानों का क़त्लेआम शुरूकर दिया है; इसलिए मुसलमानों के उद्धार के लिए कबाइली आरहे हैं। कबाइलियों में जो कुछलोग भारतीय सेना द्वारा कैद किए गए हैं, उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्हें मुसलमानों के उद्धार के लिए 'इस्लाम खतरे में है' का नारा देकर जहाद में भेजा गया था। पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली आदि में मुसलमानों के साथ हुए दुर्व्यवहार को कई अंशों में बढ़ा-चढ़ाकर भी मुसलमानों को भड़काया गया।

किसी भी पिछड़ी, अज्ञ और अन्ध विश्वासी जाति को मज़हब के नामपर उकसाना बहुत मुश्किल नहीं। काश्मीर की घटनाओं से यह सुस्पष्ट है कि लीगियों के इस ज़हरीले प्रचार के शिकार बहुत से भोले-भाले मुसलमान हुए हैं। इसने वहाँ की समस्या को काफ़ी पेंचीदा बना दिया है, क्योंकि काश्मीर की आबादी में बहुलता मुसलमानों की है और अगर उन्हें इस धोखे में जानेसे बचाया न जाय, तो काश्मीर का और सुतरां समूचे देशका—भविष्य सर्वथा अन्धकारमय होनेकी प्रबल आशंका है। इसी खयाल से काश्मीर के जन आन्दोलन की प्रतीक नेशनल कान्फ्रेंसने एक सांस्कृतिक मोर्चे का संगठन किया है, जो लोकमत को शिक्षित और संगठित करने का काम कर रही है। इस मोर्चे का काम किसी भी बड़ी सेना से कम मूल्य और महत्व नहीं रखता। काश्मीर के प्रमुख बुद्धिजीवी, लेखक, कवि, नाटककार, अभिनेता, अभिनेत्रियाँ और कलाकार इसमें योग देरहे हैं। संघर्ष की छाया में आज जिस नए काश्मीर का जन्म हो रहा है, जिस नई राजनीति और संस्कृति का उदय हो रहा है, यह मोर्चा उसी का

हरावल दस्ता है। इस समय जो लेखक, कवि और कलाकार इसमें संलग्न हैं, उनमें सर्वश्री महजूर, आसी, अज़ीज़ बहरारी, आरिफ़, आजाद, प्रो० हाशमी, परदेशी, प्राणकिशोर, प्रो० पुष्प, कैसर कलन्दर, रामानंद सागर, प्रेमनाथ दर, सलाउद्दीन, प्रो० तालिब, प्रो० जियालाल कौल, प्रो० सोमनाथ दर, प्रोफेसर एस०एल०साधु, जे० एन० जुत्शी, पं० गौशलाल कौल, सोमनाथ तिकू, प्रो० ज़रगर आदि के नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

क़ौमी फ़ौज का शिक्षण

यद्यपि आज काश्मीर पर आक्रमण करनेवाले कबाइलियों से भारतीय सेनाएं लड़ रही हैं और उनकी सफलता भी निर्विवाद है; मगर जनता की स्थायी सुरक्षा तो उसकी अपनी आत्म-रक्षा की क्षमता एवं दक्षता पर ही निर्भर करती है। काश्मीर ही नहीं समूचे भारत के नागरिकों में इस भावना का प्रायः अभाव-सा रहा है। पिछली शताब्दी के विदेशी शासन ने हमें शरीर और बुद्धि से इतना पंगु बना दिया है कि आज चोर, डाकू और उद्धत पड़ोसी से भी अपनी रक्षा करने के लिए हम सरकारी पुलिस या फ़ौज पर निर्भर करते हैं। किसी भी स्वतंत्र और स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए यह परमुखापेक्षिता शोभन और उचित नहीं। इसका एक भद्दा और महँगा परिणाम अभी पिछले दिनों देश के विभिन्न भागों में हुए सांप्रदायिक दंगों के समय हम देख चुके हैं। उस अप्रिय इतिहास की पुनरावृत्ति काश्मीर में न हो, इस खयाल से नेशनल-कान्फ्रेंस ने कौमी फ़ौज का संगठन किया है। यह तथाकथित राष्ट्रीय स्वयं सेवकों के दल से इस मानी में भिन्न है कि इसका काम केवल सभाओं और जलूसों में व्यवस्था करना नहीं है। यह जनता की सशस्त्र राष्ट्रीय फौज है जिसका काम कानून और नागरिक व्यवस्था की रक्षा के साथ ही साथ आवश्यकता पड़ने पर पुलिस और सेना का कार्य करना भी है। किन्तु पेशेवर सैनिकों की जिस सेना से हम परिचित हैं, उससे यह इस मानी में भिन्न है कि यह जनता से बिलकुल अलग और उसपर जुल्म करनेवाली नहीं है। यह जनता की अपनी फौज है, जिसका काम है उसके निकट सम्पर्क में आकर उसकी समस्याओं के हल किए जाने में सहायक होना। इसका उद्देश्य है हर नागरिक को अपना, अपने पड़ोसी का और देश का आत्माभिमानी रक्षक बनाना। दूसरे शब्दों में यह जनता का अपना संगठन है।

काश्मीर में ३५० जातियाँ हैं, जिनमें से १५१ काश्मीरी पंडितों और मुसलमानो की मुश्तरका जातियां हैं। इसके बावजूद भौगोलिक अर्थनीतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों ने काश्मीरियों के समाज और संस्कृति को एक आम और मुश्तरका रूप दिया है। यही कारण है कि पिछले एक वर्ष से देश में जो साम्प्रदायिक औद्धत्य का जहरीला वातावरण बन गया है, उसका विशेष प्रभाव काश्मीर में नज़र नहीं आया। पर लीगियों की ओर से जो प्रचार हो रहा है और उसका जो थोड़ा-बहुत असर हुआ है, उसे देखते हुए इस ओर से बेखबर रहना भी तो ठीक न था। इसीलिए नेशनल-कान्फ्रेंस ने न सिर्फ जनता की कौमी फ़ौज का निर्माण ही किया, बल्कि उसके शिक्षण के लिए प्रत्येक दस्ते के साथ फौजी कमांडर के साथ एक राजनीतिक कमांडर भी रखा है। इनका काम है कौमी सिपाहियों को उन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों तथा उद्देश्यों से अवगत कराना, जिनके लिए हर काश्मीरी आज अपने प्राणों तक की बाजी लगाकर लड़ने को मजबूर हुआ है। भारत में अपने ढंग की यह पहली सेना है।

भोले-भाले और ग़रीब मुसलमानों को पाकिस्तानियों ने न सिर्फ़ मजहब और जेहाद के नामपर ही भड़काया और बरगलाया है, बल्कि मुजफ्फराबाद और बारामूला के बीच के कई स्थानों में सिखों तथा हिन्दुओं की लूट का कुछ हिस्सा बाँटकर उनमें यह भ्रम भी पैदा किया कि तथाकथित आक्रमण-कारियों का उद्देश्य ग़रीब मुसलमानों की मदद करना और उन्हें सिख और हिन्दू शोषकों के चंगुलसे निकालना है। आक्रमणकारियों को खदेड़कर जब भारतीय सेनाओं ने फिर इन गाँवों पर कब्जा किया, तो कौमी फौज को इन लोगों से लूट का यह सामान वापस हिन्दुओं और सिखों को दिलाने में कम दिक्क़तों और ग़लतफहमियों का सामना नहीं करना पड़ा। दो एक स्थानों में शायद ग़लती या षडयंत्र से मारे गए कौमी फौज के किसी मुस्लिम सिपाही की लाश को दिखाकर लीग परस्तों ने मुसलमानों में गैर-मुस्लिमों और सरकार

के खिलाफ़ कम भ्रम फैलाने की चेष्टा नहीं की। पर कौमी फौज की अपनी शिक्षा के कारण ऐसी तिकड़में विशेष नहीं चल पाईं।

'यह है काश्मीर'

मिथ्या प्रोपेगेंडा और भ्रान्तियों से जन-साधारण को बचाने और उसमें दुश्मन से मुकाबला करने का दृढ़ संकल्प पैदा करने के लिए इस मोर्चे की ओर से कई छाया-अभिनय एवं नृत्य-गीतमय नाटक तैयार किए गए हैं। इनमें से सबसे पहला और सफल नाटक 'यह है कश्मीर' है। इसमें अभिनय द्वारा कबाइलियों के आक्रमण, प्रलोभनपूर्ण मिथ्या प्रोपेगेंडा, जनता को दिया जानेवाला धोखा तथा विश्वासघात और उनके जुल्मोंका यथार्थ चित्रण किया गया है। इसके अभिनय ने भोले-भाले, अशिक्षित और अंधविश्वासी लोगोंको निर्भ्रान्त करने में बहुत बड़ा काम किया है। इसके अतिरिक्त काश्मीर की संस्कृति के भव्यरूपों की झाँकी दिखाने वाले कई और सुन्दर छाया-अभिनय और नाटक मोर्चे की ओर से अभी तैयार किए एवं करवाए जा रहे हैं।

शहादत और देश-प्रेम के गीत

सांस्कृतिक मोर्चे का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है काश्मीर की सभ्यता, संस्कृति और इतिहास के भव्य चित्रों को शहादत और देश-प्रेम के गीतों के रूप में जन-साधारण के सामने उपस्थित करना। काश्मीर पर पहले भी कई बार आक्रमण हुए हैं, उनके निरीह नागरिक लूटे और मारे गए हैं; पर सदा जनता ने दृढ़ता से अपनी जान-माल की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग भी किया है और इसी तरह इस भू-स्वर्ग में शान्ति और समृद्धि की पुनः स्थापना हुई है। इस अतीत की याद दिलाकर जनताको उज्ज्वल भविष्य के लिए प्रेरित करने का कार्य आज काश्मीर के बीसियों कवि और लोक-गीत रचयिता कर रहे हैं। इस दिशा में वे कितने तत्पर और व्यापक कल्पना शक्ति तथा दृष्टिकोणवाले हैं, इसका प्रमाण यही है कि प्रमुख राजनीतिक घटनाओं, नेताओं के आगमन, शासन के परिवर्त्तन आदि पर रचे गए गीत इन बातों के होने के साथ ही या दूसरे तीसरे दिन विवाहोत्सवों अथवा अन्य सार्वजनिक समारोहों पर सुनाई देने लगते हैं। आज ये गीत काश्मीर की गली-गली में आबालवृद्ध गाते नजर आते हैं।

इन गीतों या इनके लेखकों का लेखा-जोखा करना इस छोटे से लेख में संभव नहीं। अतः हम उदाहरण के तौर पर एक कश्मीरी-भाषा के और एक उर्दू के प्रतिनिधि कवि और उसकी कुछ हालकी रचनाओं की ही चर्चा यहाँ करेंगे। वर्त्तमान संघर्ष में काश्मीर के जिन कवियों ने अपनी क़लम की पूरी ताक़त का सक्रिय सहयोग दिया है, उनमें अन्यतम हैं मिर्ज़ा गुलामहसन बेग साहब 'आरिफ़'। आप अनन्तनाग के निवासी और एक ग़रीब घराने के व्यक्ति हैं, जिन्हें विद्यार्थी जीवन से ही संघर्षमय जीवन बिताना पड़ा है। आपने अलीगढ़-विश्वविद्यालय से एम० एस-सी० किया और आजकल काश्मीर सरकार के रेशम विभाग के अध्यक्ष हैं। आप १३ वर्ष की आयु से ही कविता करने लगे थे। अपने सूफ़ी पिता के संस्कारों का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा है। आक्रमणकारियों की ज्यादतियों के बावजूद जनता का कारवाँ किस प्रकार आगे बढ़ता गया, इस पर आपका हाल ही का रचा हुआ सुन्दर गीत देखिए—

पैञ्युक नारदिथ शेर पानस रवाँ गओ,
खेलिस रामहुना ग्रकों गओ हकां गओ,
शिकंजन अंदर नवजवानन कसाँ गओ,
सितम सोनडीशिथ सुज़ालिम असां गओ;
मगर कारवाँ सोऽन ग्रौं-ग्रौं पकां गओ।

थी कैसाँ मशिथ सिकराजस गनुतोऽस,
अगर कान्तिमओं खूने नाहक ख्यनुतोऽस,
हतस वरियसई कोंह हिसाबस प्युतोऽस,
कसर ज़ुल्म ची सुइ बराबर करां गओ;
मगर कारवाँ सोऽन ग्रौं-ग्रौं पकां गओ।

हैडर ज़न ज़मीनस फटिथ द्राइ ज़ालिम,
सितमगर हलाकू तचंगेज़ ज़ऽलिम,
रलेयिह तिमन्सूइथ हाकिम त आलिम,
ज़रब गओ लगाँ ज़ख्म कुई गुल फलां गओ,
मगर कारवाँ सोऽन ग्रौं-ग्रौं पकां गओ।

रतन सांन यिरनोव अयवान ज़ुल्मक,
ज़ारम आहवयिज़ोल देवान ज़ुल्मक,
अशिस मांज़ बब्यो साज़ो सामान ज़ुल्मक,
फटाँ ज़ुल्म गओ सोऽन दरिया ग्रज़ाँ गओ,
मगर कारवाँ सोऽत ग्रौं-ग्रौं पकां गओ।

मलवइज़ब मोकदमाओ ज़लदार ओ,
शरारत-पसन्द ओत सरमायेदार ओ,
समिथ ज़ुल्म कोर सारिवई ज़ुल्मगार ओ,
सितम गओं हुरांराथ रगन मज ग्रगां गओ,
मगर कारवाँ सोऽन ग्रौं-ग्रौं पकां गओ।

कथउ सूऽथ कज़ पाशि प्रानिस निज़ामस,
अथउ सूऽथ यु त ताजशाही गुलामस,
सरी साखरी थऽऊ मोहताज आमस,
मज़ूरस कुनुई ज़ालि सारखम करां गओ;
मगर कारवाँ सोऽन ग्रौं-ग्रौं पकां गओ।

छु कश्मीर असिपूर जन्नत बनावुन,
गुलामी हुंदुई दाग़ लानत मिटावुन,
शुज़ालिम असे मौतचे निंदरे सावुन,
पत्र्युक ताऽफ़ू प्याओ दाति लुकयख गलां गओ
मगर कारवाँ सोऽन ग्रौं-ग्रौं पकां गओ

करओ पान तामीर आज़ाद क़ौमुक,
गंरओ पान तक़दीर आज़ाद कौमुक,
दिलस्माँज़ तुतस्वीर आज़ाद कौमुक,
कराँ रहबरी शेर शेरां ग्रज़ां गओ,
मगर कारवाँ सोऽन ग्रौं-ग्रौं पकां गओ।

अर्थात्—सदाकत का नारा देकर शेर आगे बढ़ा। रेवड़ को भेड़िया चीरता-फाड़ता गया। शिकंजों में नौजवानों को कसता गया। हमारी मसाहिब को देखकर वह ज़ालिम हँसता गया। लेकिन हमारा कारवाँ आगे बढ़ता गया। जो सिक्खाशाही भूल गई थी, अगर उसने खूने-नाहक पीने में कोई कमी की, अगर सौसाला डोगरा-शाही के हिसाब में कुछ कमी रह गई, तो उस सबकी कसर ज़ालिम पूरी करता गया। मगर हमारा कारवाँ आगे बढ़ता गया। ज़ालिम ज़मीनसे मशरूम (कुकुरमुत्ते) की तरह निकलते गए। ये सितमगर सबके हलाकू और चंगेज़खाँ-जैसे थे। उनके साथ कुछ हाकिम और कुछ आलिम मिल गए। चोटें लगती गईं और ज़ख्मों के फूल खिलते गए। मगर हमारा कारवाँ आगे बढ़ता गया। हमारे खून ने ज़ुल्म के महल्लात को बहा दिया। हमारी गरम आहोंने ज़ुल्म के दफ़ातिर को जला दिया। ज़ुल्म का साज़ो-सामान हमारे आँसुओं में डूबता गया और हमारा दरिया लहरें मारता हुआ आगे बढ़ता गया। मुल्लाओं, वाइज़ों, नम्बरदारों, जेलदारों, शरारत-पसंदों, सरमायेदारों और ज़ालिमों ने मिलकर हम पर ज़ुल्म ढाए। हम पर सितम बढ़ते गए और रगों में खून खौलता गया, उबलता गया और हमारा कारवाँ आगे बढ़ता गया। दलीलों से हमने पुरानी व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ादीं। हाथों से ग़ुलाम को बादशाही ताज पहना दिया और सर्वोच्च सत्ताको अवाम का मोहताज बना दिया। पर मज़दूर के आगे सरमायादार झुकता गया और हमारा करवाँ आगे बढ़ता गया। हमें काश्मीर को पूरी तरह स्वर्ग बनाना है। ग़ुलामी की लानत के दाग़ को मिटा डालना है और ज़ालिम को मौत की नींद सुला देना है। सचाई का सूर्य चमका और झूठकी बर्फ़ पिघलती गई और हमारा कारवाँ आगे बढ़ता गया। हम खुद अपने हाथों से अपनी आज़ाद कौमका निर्माण करेंगे और उसकी तक़दीर बनायेंगे। हमारे दिलों में आज़ाद कौमकी तस्वीर है। शेरों का शेर हमारी रहबरी करता हुआ गुर्राता गया और हमारा कारवाँ आगे बढ़ता गया।

शहीद शेरवानी का अन्तिम सन्देश

बारामूला के पास नेशनल-कान्फ्रेंस के एक प्रमुख कार्यकर्त्ता जनाब मोहम्मद मक़बूल शेरवानी ने आक्रमण-कारियों को एक जगह इकट्ठा कर भारतीय सेनाको उसकी सूचना दे दी। इस प्रकार उन्होंने बहुत से आक्रमणकारियों का नाश करवाया। बादमें शत्रुको सारा राज़ मालूम हुआ। इसके कुछ ही दिन बाद मोटर साइकिल पर जाते हुए शेरवानी शत्रु द्वारा गिरफ़्तार कर लिए गए। उनसे नेशनल-कांफ्रेंस छोड़ कर मुस्लिम कांफ्रेंस में शामिल होने को कहा गया और कायदे आज़म तक पाकिस्तान ज़िन्दाबाद का नारा लगाने का भी अनुरोध किया गया। पर आपने ऐसा करने से इनकार कर दिया। इस पर शत्रुने आपकी नाक और

ज़बान काटली। फिर आपके हाथ-पाँव में कीलें ठोंक कर आपका शरीर एक दीवाल पर सूली की तरह लटकाया गया और आपको १४ गोलियों का निशाना बनाया गया। शेरवानी साहब की इस असामान्य वीरता और शहादत ने काश्मीर की जनता में जिस जोश और साहस का संचारि किया है, शब्दों में उसका वर्णन करना संभव नहीं। उनकी शहादत को लेकर काश्मीरी और उर्दू में कई पुरजोश गीत लिखे गए हैं। 'आरिफ़' साहब ने 'शहीद शेरवानी की अलविदाई तक़रीर' नामसे काश्मीरियों के नाम उनका अन्तिम संदेश बड़े ही प्रभाव एवं प्रेरणापूर्ण शब्दों में एक नज़्म के रूप में लिखा है, जो इस प्रकार है—

चमन छु लालाज़ार म्योन, निशात-शालामार म्योन,
ग़रीब बोयकार म्योन, जिगर छु दाग़दार म्योन;
वतन रछुन छुकार म्योन, यिज़् यिदिल निसार म्योन।
फ़िदा गछुन छ ज़िन्दगी, करओन ज़ाहति बन्दगी,
फ़रओं न अइस दरन्दगी, भरिथ वना मज़ार म्योन;
वतन रछुन छुकार म्योन, यिज़् यिदिल निसार म्योन।
हसों चमन हसीन बाल, कशींरि म्यानि मांशुमाल,
दरुन छि कान खान्त लाल, थपल बन्यांसयार म्योन;
वतन रछुन छुकार म्योन, यिज़् यिदिल निसार म्योन।
सगाह कालवोऽथ ज़ेर दोहयिवान नैवि लुटेर,
न छुक रहन गछांत सेऽर, ठगस गछास प्यार म्योन;
वतन रछुन छुकार म्योन, यिज़् यिदिल निसार म्योन।
ज़र्नान त्यूट म्योनखून, खरख गओ आफ़ताब ज़ून,
छौकन छ दागत प्योख बून, दशीं छुकोऽस्तर म्योन;
वतन रछुन छुकार म्योन, यिज़् यिदिल निसार म्योन।
कशींरिहुन्द जवानु पीट, यिमन नसीब नवकशीर,
वुथिन तु लिन कमानोतीर, लुतिन दिलुक गुबार म्योन;
वतन रछुन छुकार म्योन, यिज़् यिदिल निसार म्योन।
कशींरि आउ इनक़लाब, छि दुश्मनस यबान खाब,
मशीनगान दिअस जवाब, करिस कबाब नार म्योन,
वतन रछुन छुकार म्योन, यिज़् यिदिल निसार म्योन।
कशींरि रोज़े ताजे-हिन्द, कशींरि मॉज़ इलाजे हिन्द,
सँभालिवेइ मिजाज़े-हिन्द, ते लिछुदिल-क़रारम्योन;
वतन रछुन छुकार म्योन, यिज़् यिदिल निसार म्योन।

अर्थात्—मेरा चमन लालाज़ार है। मेरा ही निशात और शालामार है। मेरा ग़रीब भाई ज़लीलोख़ार है। मेरा जिगर दाग़दार (छलनी) हो गया है फिर भी वतन को बचाना मेरा पहला काम है। ये दिलो-जान वतन पर निसार हैं। वतन पर कुरबान हो जाना ज़िन्दगी है। हम कभी ग़ुलामी बर्दाश्त नहीं करेंगे। मरकर भी मेरी क़ब्र से यह आवाज़ आरही है—वतन को बचाना मेरा पहला काम है। ये दिलो-जान वतन पर कुरबान हैं। मेरा चमन हसीन है और मेरे पहाड़ भी हसीन हैं। मेरा काश्मीर मालामाल है। उसमें सोने और जवाहरात की खानें दबी पड़ी हैं। क्या उचक्का कभी मेरा दोस्त बन सकता है? वतन को बचाना मेरा पहला काम है। हमें बहुत मुद्दत ग़ुलामी सहते-सहते हो गई है। हमने हमेशा लुटेरे ही लुटेरे देखे हैं। न उन्हें हम पर रहम है और न वे हमें लूट-मारकर कभी सन्तुष्ट ही होते हैं। क्या ठग भी कभी हमें प्यार कर सकता? सारी धरती में मेरा खून मिल गया है। सूरज और चाँद लाल होगए हैं। मेरे ज़ख्मों में दर्द है और उन पर नमक पड़ गया है। मेरे पहाड़ जल रहे हैं। काश्मीर का जवान और बूढ़ा जिनकी किस्मत में नया काश्मीर है, उठें, कमर बांधें और हाथमें तीरो-कमान ले लें। इससे मेरे दिलका ग़ुबार हल्का हो जायगा। काश्मीर में इनक़लाब आया है। दुश्मन तरह तरह के ख्वाब देख रहा है। मगर मशीनगनें उसे जवाब देंगी और मेरी आग उसे कबाब की तरह भून डालेगी। काश्मीर हिन्दुस्तान का ताज रहेगा। वही हिन्दुस्तान का इलाज है और वही इसके मिज़ाज को भी ठीक करेगा। तभी मेरा दिल ठंडा होगा। वतन को बचाना मेरा पहला काम है। ये दिलो-जान वतन पर निसार हैं।

इस गीत में शहीद शेरवानी का खून मानों इनकलाबी आग बनकर काश्मीर के ज़र्रे-ज़र्रे को धधका रहा है। उनकी उत्कट महत्वाकांक्षा और उज्ज्वल आशा काश्मीर की जनता निस्संदेह पूरी करेगी, यह हमारा दृढ़ विश्वास है। इसी से मिलती-जुलती 'आरिफ़' साहब की एक दूसरी रचना भी है, जिसमें उन्हों ने शहीद शेरवानी को ढूढ़नेवाली काश्मीर की आत्मा का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। ऐसा लगता है, मानों उसमें काश्मीर की जनता की आत्मा की झलक और तड़प है। ऐसी ही एक फड़कती हुई नज्म 'आरिफ़' साहब ने शहीदा मुख्ती इस्लामाबादी पर भी लिखी है, जो गत २३ मई, १९४६ को अनन्तनाग में एक जलूस का मार्ग-प्रदर्शन करती हुई डोगरा-सेना की गोली का शिकार हुई थी।

आज़ादी का सूरज चमका...

उपर्युक्त काश्मीरी चीज़ों की तरह की रचनाएं उर्दू में भी काफ़ी हुई और हो रही हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, स्थानाभाव के कारण यहाँ हम काश्मीर के केवल एक ही प्रतिनिधि उर्दू-कवि और उनकी सामयिक रचनाओं की चर्चा करेंगे। इस सम्बन्ध में श्री प्रेमनाथ 'परदेशी' का नामोल्लेख ज़रूरी है। आप भी एक साधारण ग़रीब किन्तु संस्कृति-प्रेमी घराने में पैदा हुए हैं और काफ़ी ग़रीबी में संघर्ष करते हुए लिखते-पढ़ते रहे हैं। आजकल सरकारी कर्मचारी होते हुए भी आप बिना किसी झिझक के कौमी आज़ादी की तहरीक का झण्डा बुलन्द किए हैं। इस सम्बन्ध में आपने कई कविताएं, कहानियाँ और लेख लिखे हैं। आपकी सबसे अधिक लोकप्रिय चीज़ है—

आज़ादी का सूरज निकला, चमका देश हमारा।
सिरपर पांओं रखकर भागा सदियों का अंधियारा॥
अबतक आक़ा के बन्दे थे, जो वह कहता हम करते थे,
खून-पसीना साथ बहाकर, हम उसकी जेबें भरते थे।
मौतका इकही दिन होता है, हमतो पल-पल में मरते थे,
पेट की खातिर कर लेते थे सब का ज़ुल्म गवारा।
आज़ादी का सूरज निकला, चमका देश हमारा॥
सहते सहते ज़ुल्म-तशद्दुद, हिम्मत जब हम हार गए,
आंसू टपके, नाले निकले और फलक के पार गए,
हमने समझा ये नाले और आंसू भी बेकार गए,
लेकिन रखवाली की खातिर आया शेर हमारा:
आज़ादी का सूरज निकला......
आते ही वह ज़ोर से धाड़ा, आज़ादी का दरस दिया,
हिन्दू-मुस्लिम भेद मिटाकर दो क़ौमों को एक किया,
लाल फरेरा हाथ में लेकर दुश्मन को भी जीत लिया,
अंजा दल का खून से हमने सींचा और संवारा!
आज़ादी का सूरज निकला......
इस आज़ादी की वेदी पर हमने क्या-क्या भेंट चढ़ाए,
जेल बसाए, खून बहाया, कितने लाल गंवाए,
सत्रह साल से मिल-जुलकर जब लड़ते-लड़ते आए,
तब जाकर तकमील को पहुंचा प्यारा ख्वाब हमारा।
आज़ादी का सूरज चमका......
उट्ठो, हिम्मतवालो उट्ठो, आज़ादी को आम करें,
मुल्क को आगे ले जाएं, और कुछ तामीरी काम करें,
ग़ुरबत औ इफ़लास मिटाएं, जगमें पैदा नाम करें,
इस आज़ादी की रखवाली है अब काम हमारा।
आज़ादी का सूरज निकला चमका देश हमारा॥

आक्रमणकारियों के खतरे से काश्मीर की जनता को सावधान करते हुए आपने फ़रमाया है—

जागो, सोनेवालो, वक़्त आया है बेदारी का:
उट्ठो मज़दूरो-मज़लूमो, वक़्त आया है सरदारीका।
देखो मुल्क के दरवाज़ों पर किसने तुमको ललकारा है,
मुल्क की इज़्ज़त औ ग़ैरत पर किसने ये डाका डाला है?
देखो, इनके तोहफ़े देखो, यह वीरानी, यह बरबादी!
ज़ुल्म, तशद्दुद, यह सफ्फाकी, तौके, ग़ुलामी औ नाशादी!
देखो, इनके क़दमों से नापाक न हो अपनी धरती;
रोको, उनको रोको, शेरो, क़ौमी फौज में होकर भरती,
उट्ठो देश के रहने वालो, दुश्मन को बरबाद करो तुम,
इन बेदर्दों के चंगुलसे अपना मुल्क आज़ाद करो तुम।
उट्ठो और दिखादो उठकर शेर के बच्चे क्या करते हैं!
मुल्क की आज़ादी की खातिर कौमके सच्चे क्या करते हैं!
उट्ठो, बिजली बनकर उट्ठो, आगके शोले बनकर उट्ठो;
मौत की परछांई बनजाओ, तोप के गोले बनकर उट्ठो।

अब ज़रा कौमी फौजके लिए आपका लिखा हुआ प्रयाण-गीत देखिए—

क़दम-क़दम बढ़ेंगे हम, महाज़ पर लड़ेंगे हम टेक।
लड़ेंगे हम लुटेरों और हमलाआवरों के साथ,
लड़ेंगे ज़ालिमों के साथ और जाबिरों के साथ,
क़दम-क़दम बढ़ेंगे हम, महाज़ पर लड़ेंगे हम।
हम अपने देश के लिए जवान खूँ बहायँगे,
वतन के गीत गायँगे, वतन के गीत गायँगे,
क़दम-क़दम बढ़ेंगे हम......
सवाल अब नहीं है यह किसी की खास ज़ातका,
ये मसला नहीं है एक दो या पांच-सात का,
सवाल है ये क़ौमकी ममातका, हयात का,
क़दम क़दम बढ़ेंगे हम......
पुकार उठ रही है हर तरफ़ से कार-ज़ार में,
मज़ा जो जीत में है वो कभी नहीं है हार में,
हमारे वास्ते है अब बहार इन्तज़ार में,
क़दम क़दम बढ़ेंगे हम......

और सचमुच आज काश्मीर एक-एक दो-दो नहीं, बल्कि हज़ारों क़दम आगे बढ़ रहा है। आज तो जैसे वह समूचे देश की रहबरी और रहनुमाई करने जा रहा है। आज उसके ज़र्रे-ज़र्रे से, आबालवृद्ध के कण्ठ से,

मानों यही आवाज गूंज रही है—'कदम-कदम बढ़ेंगे हम......!'

गम और खून के ये आंसू

काश्मीर के ख्यातप्राप्त कलाकार श्री सोमनाथ खोसा के कृतीत्त के उल्लेख बिना सांस्कृतिक मोर्चे का यह परिचय शायद अधूरा ही रहेगा। काश्मीर के सुधी लेखकों और कवियों की तरह ही आपने भी अपनी कूची और कैमरे के चमत्कार से लोक-जागरण और शिक्षण के इस राष्ट्रीय-यज्ञ में पूरे मनोयोगपूर्वक सहयोग दिया है। जहाँ आपके कैमरे ने कबाइलियों द्वारा ध्वस्त स्थानों, जले हुए घर-झोपड़ों, त्रस्त-पस्त मानव-आकृतियों और शहीद शेरवानी के वधस्थल के रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत कर कबाइलियों के आक्रमण के खतरे की यथार्थता को जन-साधारण पर प्रकट किया है, आपकी कूची ने पीड़ित काश्मीर की मनोव्यथा को और भी अधिक प्रभावपूर्ण तथा हृदयग्राही रूप में व्यक्त किया है। आपका कला-कृतीत्व देखकर सचमुच आपकी कूची चूम लेने को जी करता है। आप और आपकी कला सचमुच काश्मीर की शोभा है।

सोमनाथ जी पिछले १७ वर्षों से काश्मीर के बाहर रहकर ही अपनी कला साधना करते रहें हैं। कबाइलियों के आक्रमण की खबर पाकर आप भी अपनी मातृभूमि की रक्षा के यज्ञ में हाथ बंटाने आ पहुंचे हैं। सबसे पहले जत्थे के साथ आप लड़ाई के मोर्चेपर गए थे। वहाँ आपने कबाइलियों के आक्रमण के कई प्रभावोत्पादक चित्र लिए और लौटकर कुछ स्वतंत्र चित्र भी बनाए। इनमें से दो बड़े महत्वपूर्ण हैं। पहले चित्र में एक काश्मीरी खातून नेशनल-कान्फ्रेंस का झंडा बुलन्द किए साहस और दृढ़ता के साथ अग्रसर होती दिखाई गई है। दूसरे चित्र में पेड़ के तने से बँधी एक काश्मीरी खातून दिखाई गई है, जिसकी आँसू और भय तथा आतंक से त्रस्त चेहरे के भाव से काश्मीर के संत्रस्त एवं पीड़ित नारीत्व की मूक चीत्कार हर क्षण मुखर होती सी मालूम देती है ये चित्र सांस्कृतिक मोर्चे की ही नहीं, काश्मीर की संघर्षकालीन कला की एक अनुपम निधि हैं। इनका प्रभाव किसी भी नाटक, कविता या लेख से किसी कदर कम नहीं।

इस प्रकार सांस्कृतिक मोर्चे के रूप में नेशनल-कान्फ्रेंस ने काश्मीर ही नहीं, भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास का एक नया अध्याय आरंभ किया है। जन-शक्ति की जय-यात्रा का यह पहला मोर्चा पहला विजय-गीत है। हमें आशा ही नहीं दृढ़ विश्वास है कि एक दिन यही विजय-मंत्र भारत में गूंजेगा और आलस्य तथा नींद में बेखबर जनता अंगड़ाई लेकर शक्ति की ज्वालामुखी की तरह जागेगी।

भारतीय चलकोषों के राष्ट्रीयकरण की एक योजना

श्री जगदीशप्रसाद बाजपेयी बी०ए०, एल०एल०बी०

भारतीय चलकोषों के राष्ट्रीयकरण के मौलिक सिद्धान्त को मान लेने के पश्चात् हमारे समक्ष यह समस्या उपस्थित होती है कि हमारी राष्ट्रीयकरण की क्या योजना हो और उसे हम कैसे कार्यान्वित करें। विश्व आर्थिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से हमें यह ज्ञात होगा कि सर्वाङ्गीण चलकोषों के राष्ट्रीयकरण की योजना एक नवीनतम योजनाओं में से है। जहाँतक केन्द्रीय चलकोषों का प्रश्न है, विभिन्न राष्ट्रों ने समय एवं आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक-हित के दृष्टि-कोण के अन्तर्गत इनका राष्ट्रीयकरण किया है। किन्तु सर्वप्रकार के चलकोषों का राष्ट्रीयकरण अभी केवल कुछ ही गिने चुने राष्ट्रों की ही सूझ है, यही कारण है कि इस विषय पर अभी अत्याधिक मतभेद है और अब भी अर्थशास्त्री इसको आर्थिक आवश्यकता न बतला कर राजनैतिक समस्या कह कर टाल दिया करते हैं, किन्तु चलकोषों के राष्ट्रीयकरण को राजनैतिक कह कर टालना किसी प्रकार से भी उसकी आर्थिक महत्ता को कम नहीं करता। अर्थशास्त्रियों में भले ही इस विषय पर अन्य विषयों की तरह मत-भेद हो किन्तु जनता का स्वार्थ आर्थिक दृष्टिकोण से चलकोषों के राष्ट्रीयकरण में ही निहित है। जबकि सर्व-सम्मति से केन्द्रीय राष्ट्रीयकरण की योजना को जन-हित के दृष्टिकोण से बड़े बड़े स्वतन्त्र व्यापार (फ्री ट्रेड) के रक्षकों एवं समर्थकों ने भी आवश्यक मान लिया है तब उनका सर्वप्रकार के राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त में अविश्वास कुछ अनोखा सा लगता है। इसमें तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता कि सभी चलकोषों का जनता के जीवन से एक घनिष्ट सम्बन्ध होता है। केन्द्रीय चलकोष एवं अन्य चलकोषों के जन सम्पर्क एवं जन-हित में केवल कुछ अंशों का ही अन्तर होता है। इसी प्रमाण के दृष्टिकोण से ही यदि हम प्रथम को राष्ट्रीयकरण की सलाह देते हैं तो इसका अर्थ यह निकलता है कि दूसरे के लिए भी उन्हीं आधारों पर, हमारी निःसंकोच वही सलाह होनी चाहिए। कुछ अर्थशास्त्री राष्ट्रीयकरण के मौलिक सिद्धान्त को मानने के पश्चात् भी, देश एवं विशेषतया उसके अधिकोषण की प्रगति के विचार से, सर्वप्रकार के चलकोषों के राष्ट्रीयकरण की योजना को कुछ काल तक के लिए अधिक प्रगतिशील कह कर अपनी अनुमति नहीं देते। ऐसे विद्वानों का मत है कि सर्वप्रकार के चलकोषों का राष्ट्रीयकरण उसी देश एवं समाज के लिए हितकर होगा जहाँ कि आर्थिक प्रगति की दृष्टि से वे फले फूले एवं समृद्ध कहलाने का दावा कर सकते हैं। अन्य परिस्थितियों में इन्हीं विद्वानों के विचार से राष्ट्रीणकरण द्वारा अधिकोषण की वास्तविक एंव आवश्यक स्वतन्त्र प्रगति को आघात होगा। ऐसे व्यक्ति राष्ट्रीय चलकोषों की समृद्ध एंव संपूर्ण प्रगति के आस-पास पहुँची हुई अधिकोषण की व्यवस्था को सुधारने का एकमात्र सहारा मानते हैं। वह राष्ट्रीयकरण द्वारा चलकोषों की प्रगती में विश्वास नहीं रखते। ऐसे विद्वानों से भी हमारी विचार-धारा मेल नहीं खाती। हम यदि राष्ट्रीयकरण के मौलिक सिद्धान्त से परिचित हैं और यदि हम यह मानते हैं कि जन-प्रतिनिधि वास्तिकरूप में जन-हित के लिए ही कार्य करेंगे तो उस समय स्वार्थसाधक पूजींपतियों से, अगर हम यह आवश्यक व्यापार छीन कर राष्ट्रीय नियंत्रण में सौंपते हैं तो इसमें हमें तनिक भी भय की आवश्यकता नहीं है। मेरा स्वयं का मत तो यहाँ तक है कि चलकाषों का राष्ट्रीयकरण हमारे अधिकोषण की प्रगति के लिए सहायक ही नहीं आवश्यक है। देश तथा काल की विभिन्न परिस्थितियों को देखते हुए समस्या और भी आवश्यक हो जाती है। जो देश आर्थिक-प्रगति की दृष्टि से विश्व की दौड़ में बहुत पीछे हों उनको आगे लाने का और कोई समुचित साधन है ही नहीं। वह देश जो अबतक बहुत आगे बढ़ चुके हैं, यह हो

कार्यान्वित करें। सर्वप्रकार के चलकोषों का राष्ट्रीयकरण मुख्यतः दो प्रकार से किया जा सकता है। ये दो प्रकार हमारे एक ही निश्चित लक्ष्यपर पहुंचनेके दो मार्ग या दो साधन कहेजा सकते हैं। हमें इन दो साधनों में से किस साधन को अपनाना उचित होगा यह उस भविष्य की सरकार पर निर्भर है जो कि राष्ट्रीयकरण की आयोजित योजना को कार्यान्वित करनेका बीड़ा उठा चुकी होगी। प्रथम मार्ग को हम विकासात्मक (इवोल्यूशनरी) तथा द्वितीय को क्रान्तिकारी कह सकते है।

अगर हम अपनी राष्ट्रीयकरण की योजना में विकासात्मक मार्ग का अनुसरण करें तो हमें अपने चलकोषों के राष्ट्रीयकरण की सूची में केन्द्रीय चलकोष का स्थान सर्वप्रथम, अन्य मुख्य धनागारों का स्थान द्वितीय और विनिमय चलकोषों का स्थान तृतीय देना होगा।

अगर हम अपने चलकोषों के राष्ट्रीयकरण की योजना में विकासात्मक सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं तो हमें पुनः उसके दो और उपविभागों पर ध्यान देना होगा। और दूसरे में हमारी राष्ट्रीयकरण की योजना की केवल दो ही अवस्थाएं होंगी।

प्रथम के अनुसार राष्ट्रीयकरण इस प्रकार होगा

(१) केन्द्रीय चलकोष का राष्ट्रीयकरण।

(२) अन्य मुख्य चलकोषों का राष्ट्रीयकरण (इम्पीरियल बैंक आव इण्डिया, शेड्यूल्ड बैंक, संयुक्त स्कन्ध अधिकोष आदि।)

(३) विनिमय चलकोषों का राष्ट्रीयकरण।

द्वितीय विभाग के अनुसार एक और दो शंकों के गिनाए हुए चलकोषों का राष्ट्रीयकरण एक साथ और विनिमय चलकोषों का राष्ट्रीयकरण दूसरी अवस्था में किया जायगा।

उक्त विभाग तथा उनके उपविभाग केवल हमारी आर्थिक परिस्थितियों को विचार में रखते हुए ही किए गए है।

दूसरा मार्ग अर्थात यदि हम क्रान्तिकारी मार्ग का अनुसरण करें तो हमें एक ही साथ सर्वप्रकार के चलकोषों का राष्ट्रीयकरण करना होगा।

हमारे लिए कौनसा मार्ग अधिक उपयुक्त और लाभ दायक सिद्ध होगा यह केवल भविष्य ही बतला सकता है। आज इस विषय पर विचार करना केवल व्यर्थ के सैद्धान्तिक पचड़े में पड़ना है। दोनों ही मार्ग विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न राष्ट्रों को उचित प्रतीत हो सकते हैं। अगर रूस के लिए क्रान्तिकारी मार्ग उपयुक्त है तो इंगलैन्ड के समाजवादी सरकार के लिए विकासात्मक मार्ग ही आवश्यक है। हमारी समाजवादी सरकार के शक्ति में आने के पश्चात् ही उसे देश को परिस्थितियों के अनुसार ऊपर बताए हुए मार्गों में से किसीको चुनना होगा, साथ ही साथ, हमें आशा ही नहीं बल्कि विश्वास भी है कि हमारी समाजवादी सरकार उचित ही मार्ग चुन कर राष्ट्र को उन्नति के पथ पर ले जायगी।

आचार्य्य रघुवीर की शब्दावली

श्री ललितकिशोर सिंह

यह संतोष की बात है कि स्वाधीनता के उदय होते ही सारे देश में मातृ-भाषा द्वारा शिक्षण का आयोजन हो रहा है। माध्यम के विषय में सारे वाद-विवादों का प्रायः अंत हो गया है। अब तो बहुत दिनों के संकल्प को कार्य में परिणत करने का अवसर हमारे सामने है।

इस प्रयत्न में सबसे गहन समस्या पारिभाषिक शब्दों की है। विज्ञान के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न और भी गहन हो जाता है। समस्या की गहनता के कारण ही इस सम्बन्ध में मतभेद भी दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसे पारिभाषिक शब्दों को, जो विज्ञान में रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होते हैं और प्रायः अन्तरराष्ट्रिय हो गए हैं, हमें ग्रहण कर लेना चाहिए। कुछ लोग इन पारिभाषिकों के देशी रूपान्तर को ही पसंद करते हैं, चाहे उनमें उच्चारण की समता हो या न हो। पर ये संस्कृत में प्रयुक्त या संस्कृत व्याकरण के नियमों से सिद्ध शब्दों के अतिरिक्त मनगढ़ंत शब्दों के पक्ष में नहीं है। इस बन्धन के कारण यह पद्धति कुछ कठिन अवश्य हो जाती है; और इसीलिए विवश होकर कुछ विदेशी शब्दों को भी अपनी भाषा में स्थान देना अनिवार्य्य हो जाता है। एक तीसरे दल के विद्वान हैं जो किसी भी दशा में एक भी विदेशी शब्द को ग्रहण करना नहीं चाहते। ये अंग्रेज़ी के पूर्ण और सर्वांगीण बहिष्कार के पक्षपाती हैं। आचार्य्य रघुवीर इसी मत के प्रवर्त्तक हैं। इस लेख का उद्देश्य इन मतमतान्तरों पर विचार करना नहीं है। इसमें केवल आचार्य्य रघुवीर की पारिभाषिक शब्दावली की संक्षिप्त विवेचना की जायगी।

आचार्य्य रघुवीर ने रसायन-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का सम्पादन किया है जो हमारे सामने है। इसका विवरण संक्षेप में दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

भौतिक-रसायन में सारे द्रव्य दो भागों में बाँट दिए गए हैं—एक 'तत्त्व' जिनकी संख्या ९२ है और दूसरा 'योग' जो अनन्त हैं। तत्त्वों के ही भिन्न-भिन्न मेलों से योगों की सृष्टि हुई है; अतएव वैज्ञानिक परिभाषा में योगों की संज्ञाएँ उनके अंगभूत तत्त्वों की संज्ञाओं के समास से रची गई हैं। जैसे, एक तत्त्व 'सोडियम' है और दूसरा 'क्लोरीन'। सामान्य नमक इन्ही दोनों तत्त्वों के योग से बना है, इसलिए इसका नाम विज्ञान की भाषा में 'सोडियम क्लोराइड' रखा गया है। इस प्रकार योगों की संज्ञाएँ साधार और सहेतुक हैं।

तत्त्वों के नाम किसी व्यापक नियम पर नहीं रखे गए हैं। कुछ तत्त्व तो प्राचीन काल से ही ज्ञात हैं और वे सभी देशों में अपने अपने प्राचीन नामों से ही प्रचलित हैं। जैसे, सोना, चाँदी, ताँबा आदि। इनके अतिरिक्त सारे तत्त्व वैज्ञानिकों के अविष्कार हैं। इन नवाविष्कृत तत्त्वों के नाम मुख्यतः अविष्कर्ता के रखे हुए हैं। फिर भी इन नामों के कुछ-न-कुछ आधार अवश्य हैं। कुछ तत्त्वों के नाम उन स्थानों पर हैं जहाँ उनका आविष्कार हुआ है। जैसे, हीलियम (हेलोस-सूर्य्य), यूरोपियम, रेनियम, रुथेनियम आदि। कुछ का आधार भौतिक गुण हैं, जैसे, क्रोमियम (क्रोम-रंग) आदि। पर इन संज्ञाओं का आधार या हेतु कोई महत्व की बात नहीं हैं। महत्व की बात तो यह है कि ये आविष्कर्ता की रखी हुई हैं और विज्ञान में रुढ़ि हो गई हैं तथा विज्ञान के अन्तरराष्ट्रिय क्षेत्र में ये स्वीकार करली गई हैं। युग-युग के व्यवहार से इनमें एक अपनी शक्ति, एक अपना व्यक्तित्व आ गया है।

आचार्य्य रघुवीर ने तत्त्वों की संज्ञाओं का भी भाषान्तर किया है। ऐसा करने में उन्होंने प्रायः पाश्चात्य संज्ञा-पद्धति का ही अनुकरण किया है। पाश्चात्य संज्ञा-पद्धति में कुछ धातुओं के अंत में '-इयम' (ium)

प्रत्यय लगाया गया है; जैसे, एल्युमीनियम, सोडियम आदि। इसलिए आचार्य्य रघुवीर ने भी 'धातु' को संक्षिप्त करके 'आतु' प्रत्यय बनाया है, जिसका प्रयोग इन्होंने संज्ञा-निर्माण में किया है; जैसे, क्षारातु, दहातु आदि। इसी प्रकार गैसों के सम्बन्ध में क्रिप्टन (Krypton), ज़ेनोन ('zenon) आदि के 'औन' (on) अंश के अनुकरण में उन्होंने 'आति' प्रत्यय गढ़ा है जो 'वाति' (गैस के अर्थ में 'वाति' शब्द का प्रयोग, ठीक है या नहीं, यह मैं संस्कृत के पण्डितों पर छोड़ता हूँ) का संक्षिप्त रूप है।

यह तो स्पष्ट है कि ये प्रत्यय (आत या आति) संस्कृत के नहीं हैं। पर इनका प्रयोग भी किसी नियम के अनुसार नहीं हुआ है। कहीं तो ये संज्ञा, कहीं क्रिया और कहीं विशेषण में लगाए गए हैं। जैसे वाष्पातु, दहातु, घनातु आदि। पाश्चात्य पद्धति का ज्यों-का-त्यों अनुकरण करने से इन प्रत्ययों का कहीं दुष्प्रयोग भी हो गया। जैसे एमोनिया के लिए 'तिक्ताति' और 'एमोनियम' के लिए 'तिक्तातु'। इस 'तिक्तातु' से यह धारणा होती है कि यह कोई ऐसा धातु है जो स्वाद में कड़ुआ होता है। विज्ञान में एमोनियम कोई स्वतन्त्र धातु नहीं है!

अब प्रश्न यह है कि यदि नए प्रत्यय गढ़ने ही हैं और भारतीय विज्ञान में एक स्वतन्त्र धारा चलानी ही है, तो फिर पाश्चात्य संज्ञा-पद्धति के अनुकरण की क्या आवश्यकता थी? इतनी भी दासत्व-वृत्ति क्यों व्यक्त की जाय? जब आविष्कृत तत्त्वों के इतिहास का निराकरण ही करना है तो आचार्य रघुवीर को उचित था कि वे अपनी संज्ञा-पद्धति को दासत्व से सर्वथा मुक्त कर, अधिक नियमित बनाते जैसे तत्त्वों की संज्ञाएं घन, द्रव और वायु जैसे प्रत्यक्ष भौतिक गुणों पर रखते और इसके लिए 'अन', 'अव', 'आयु' जैसे प्रत्यय गढ़ते।

फिर भी आचार्य्य रघुवीर की घोषणा है कि उनकी तत्व-संज्ञाओं का आधार तत्त्वों का विशिष्ट गुणधर्म्म है और इसलिए ये पाश्चात्य संज्ञाओं से अधिक नियमित हैं। यहाँ तक कि नाम का उच्चारण करते ही तत्त्वविशेष का भाव मन में उदय हो जाता है। इस घोषणा में कितना 'तत्त्व' है, इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। जो विज्ञान के विद्यार्थी मन्डलीक के तत्त्व-चक्र (Periodic Table) से परिचित हैं वे जानते कि आस-पास के किन्हीं भी दो तत्त्वों में ऐसा गुण-भेद नहीं होता जिसके आधार पर संज्ञा भेद किया जा सके। आचार्य्य जी के ध्यान में शायद यह बात न आई। इससे प्रायः उनकी रची हुई संज्ञाओं में से एक-एक अनेक तत्त्वों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। जैसे उन्हों ने सोडियम का 'क्षारातु' और पोटेशियम का 'दहातु' नाम रखा है। जो इन धातुओं के गुणों से परिचित हैं वे कह सकते हैं कि सोडियम का नाम 'दहातु' और पोटेशियम का 'क्षारातु' भी रखा जा सकता है या दोनों नाम दोनों के लिए उपयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त, कई तत्त्वों की संज्ञाओं में केवल शब्द-भेद हैं, अर्थ-भेद नहीं। जैसे हलकापन का ध्यान रखकर लीथियम के लिए 'लघ्वातु', वर्जीनियम (?) के लिए 'क्षुद्रातु' और स्केन्डियम के लिए 'स्तोकातु' का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार भारीपन के विचार से ओस्मियम के लिए 'गुर्वातु' और इरीडियम के लिए 'घनातु' का। इनमें पहले तीनों शब्द जैसे एकार्थी हैं वैसे ही पिछले दोनों शब्द भी। पर क्या हलकापन और भारीपन इन तत्त्वों के विशेष गुण हैं? हलकापन या भारीपन तो आपेक्षिक होता है। स्केन्डियम आदि से बहुतेरे हलके तत्त्व मौजूद हैं और इरीडियम आदि से भारी भी।

पर कुछ तत्त्वों के नामों में और भी विलक्षणता है। रेनियम का नाम 'वाष्पातु' इसलिए रखा गया है कि इसके योग (यह तत्त्व नहीं!) अपेक्षाकृत शीघ्र वाष्प में बदल जाते हैं। यह तत्त्व का गुण कैसे हुआ? योग के गुणों का कोई नित्य सम्बन्ध नहीं होता। हाइड्रोजन और कार्बन के गुण और हैं, हाइड्रोसायनिक ऍसिड के कुछ और! हीलियम का नाम 'यानाति' इसलिए पड़ा कि इसका उपयोग वायुयान में (यान में नहीं!) किया जाता है। यह इसका उपयोग है या गुण? कल वायुयान में हाइड्रोजन का उपयोग होता था, आज हीलियम का होता है और फिर कल किसी और गैस का होगा। क्लोरीन के लिए 'नीरजा' की सृष्टि की गई है, इसलिए कि क्लोरीन के स्पर्श से रंग दूर हो जाते हैं (निः+रजा)। पर नीरजा से तो यही अर्थ निकलता है कि क्लोरीन में कोई रंग नहीं

होता, जहाँ यह प्रसिद्ध है कि क्लोरीन उन थोड़े से गैसों में है जिनमें रंग पाया जाता है।

आचार्य्य रघुवीर द्वारा निर्मित कुछ शब्दों का रूप नितान्त अशुद्ध प्रतीत होता है। यों तो मनगढ़ंत शब्दों के प्रसंग में, जो किसी प्राचीन या नवीन नियम का पालन नहीं करते, शुद्धाशुद्ध की चर्चा व्यर्थ है, फिर भी ऐसे शब्द विचारणीय हैं। वायुमण्डल के अनेक गैसों में एक ज़ेनोन गैस है जिसकी मात्रा वायुमण्डल का करोड़वाँ अंश है। इसकी संज्ञा 'कोट्याति' (कोटि + आति) रखी गई है। कोटि शब्द से करोड़वाँ अंश का अर्थ कैसे निकलता है? ऑक्सीजन के लिए 'जारक' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ 'जलानेवाला' माना गया होगा, क्योंकि इसी अर्थ में यह ऑक्सीजन के लिए उपयुक्त हो सकता है। पर यदि यह 'जॄ' धातु से बना है तो इस धातु का अर्थ जलाना नहीं वरन् वृद्ध या पुराना होना है। जारण शब्द का प्रयोग आयुर्वेद में पाया जाता है, पर जलाने के अर्थ में नहीं। सम्भव है कि आचार्य्य रघुवीर आपटे मुलगाओकर के कोष के कारण इस भ्रम में पड़ गए हों।

ऐसी अशुद्ध संज्ञाओं के अतिरिक्त आचार्य्य जी की शब्दावली में कुछ संज्ञाएं अर्थ-विपर्य्यय से ग्रस्त हैं। जैसे, यह प्रसिद्ध है कि सिकता (रेत) सिलिकोन तत्त्व का बना है, पर सिलिकोन के लिए 'सैकता' शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि सिलिकोन सिकता का बना हुआ है। इसी प्रकार बोरेक्स (बोरोन तत्त्व का योग) के लिए 'टंकण' और बोरोन के लिए 'टांकण'। ऐसे भी कई शब्द हैं जिनमें मनमानी काट-छाँट की गई है। जैसे सिकता+आतु=सिकातु (सिकतातु नहीं?); विद्युत+आतु=द्युतातु (विद्युतातु नहीं?)। फिर सैकता (सिलिकोन) और सिकातु (जर्मेनियम), इन दोनों शब्दों में भ्रम की भी संभावना है।

इन अशुद्धियों और त्रुटियों के रहते हुए आचार्य्य रघुवीर की निराधार और स्वच्छन्द रची हुई तत्त्व-संज्ञाएँ पाश्चात्य सर्वमान्य, सार्वभौम और ऐतिहासिक संज्ञाओं से किस प्रकार श्रेष्ठ हैं, यह समझ में नहीं आता।

योगों के नामकरण में और भी अधिक निरंकुशता दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य परिभाषा में योगों के अंत में ide (आइड), ate (एट), al (अल) आदि अनेक प्रत्ययों का, योग-संस्थान के अनुसार, प्रयोग होता है। जैसे—क्लोराइड, क्लोरेट, क्लोरल आदि। ये प्रत्यय सर्वथा निराधार नहीं हैं। प्राचीन योगों के साथ रचना साम्य देखकर ही नवीन योगों के नामकरण के लिए प्रत्यय निर्धारित हुए हैं। आचार्य्य रघुवीर ने इन सारे प्रत्ययों के लिए स्वतन्त्र प्रत्ययों की सृष्टि की है जो सर्वथा मनमाने हैं और पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रत्ययों के साथ जिनका ध्वनि साम्य भी नहीं है। जैसे, ide=एय, ate=ईय ae=सु आदि। 'ide' के लिए 'एय ही क्यों रखा जाय, इसका कोई उत्तर नहीं सिवा इसके कि यही टुकड़ा ध्यान में आगया। रसायन के एक योग क्लोरलोज (Chlor-al-ose) के अनुवाद में आचार्य्य के मुख से chlor के लिए 'नीर', ae के लिए 'सु' और अन्त में ose के लिए 'धु' अनायास निकल पड़ा और इस प्रकार 'नीरसुधु' की सृष्टि हो गई। ये सारे प्रत्यय सम्भवतः वैसे ही प्रकट हुए हैं जैसे महादेव के डमरू से माहेश्वर सूत्रों की लड़ी निकली है।

पर आगे समस्या और भी टेढ़ी हो जाती है। इन प्रत्ययों को तत्त्वों की संज्ञा—प्रातिपादिक—के साथ जोड़ने में शब्दों को काटने-छांटने की क्रिया आरम्भ होती है। इस काट-छाँट में कुछ शब्द तो सौभाग्यवश अछूते बच गए हैं और कुछ लुप्तप्राय हो गए हैं। लोहक (मेंगनीज़) में केवल अन्तस्थ 'अ' का लोप होता है। पर दुराघ्री (ब्रोमिन) में 'आघ्री' का लोप होकर केवल 'दुर्' रह जाता है। ब्रोमिन की गंध बड़ी तीव्र होती है इसीलिए इसे 'दुराघ्री' कहा गया है जिसमें दुर् (दुः) उपसर्ग मात्र है। अंग्रेजी में ब्रोमिन से ब्रोमाइड बनाने के लिए अन्तस्थ 'इन' (ine) के स्थान में 'आइड' (ide) का प्रयोग हुआ है, 'ब्रोम' अंग ज्यों-का-त्यों बना रहता है। पर आचार्य्य रघुवीर ने प्रधान अंग 'आघ्री' को ही काटकर अलग कर दिया है और शेष 'दुर्' उपसर्ग में 'एय' प्रत्यय जोड़कर 'दुरेय' शब्द की सृष्टि की है जो ब्रोमाइड का भारतीय रूप है। इसी प्रकार नीरजा (निः+रजा) में 'जा' काटकर निकाल दिया गया है और मुख्य शब्द के आघेर,,

को 'निः' के साथ जोड़ कर प्रातिपदिक 'नीर' की रचना हुई है जो इस रूप में जल का भाव पैदा करता है। अब इस खण्डित रूप में 'नीर' के साथ प्रत्ययों का प्रयोग होता है और 'निरेय' आदि योग बनते हैं।

आचार्य्य रघुवीर की शब्दावली में एक विशेषता और है जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक जान पड़ता है। इस शब्दावली का व्यवहार करने के लिए केवल अंग्रेजी ही नहीं, संस्कृत भी भूलने को विवश होना पड़ेगा। जिन्हें संस्कृत का थोड़ा भी ज्ञान है उन्हें इस शब्दावली के अनुकरण में पग-पग पर भ्रम होगा। ऊपर बताया जा चुका है कि आचार्य्य जी ने क्लोरीन के लिए 'नीरजा' का प्रयोग किया है। इस शब्द से अनायास 'कमल' का चित्र आँखों के सामने आता है; और इसके खण्डित रूप 'नीर' से 'जल' का भ्रम होता है। चाहे ऑक्सीजन के लिए 'जारक' मान भी लिया जाय पर 'ऑक्साइड' के लिए 'जारेय' मानने पर संस्कृत का विद्यार्थी यही समझेगा कि इससे उस वस्तु की ओर संकेत है जो जलाया जाता है। 'ग्लिसरीन' के लिए 'मधुरी' तो माना जा सकता है पर 'ग्लिसरोल' के रूपान्तर 'मधुरव' से 'मधु के शब्द' या 'मीठे शब्द' की ही ध्वनि निकलती है। 'यूरिया (Uria)' के लिए 'मूत्रा' से क्या समझा जाय? 'रौक (Rock)' के अनुवाद 'शैल' से तो पहाड़ ही समझा जायगा। ऐसे एक एक नहीं, अनेक शब्द हैं जिनकी रचना में संस्कृत के साथ अन्याय किया गया है। यदि विश्वामित्र की भाँत नई सृष्टि करनी ही थी तो इतना तो ख्याल रखना था कि ये नए शब्द, चाहे जैसे भी हों, संस्कृत के प्रचलित शब्दों या रूपों के साथ लड़ न जाँय।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना से ही यह स्पष्ट है कि आचार्य्य रघुवीर की शब्दावली सर्वथा मनगढंत, निराधार और अनर्गल है। इसकी अलौकिक कृत्रिमता मुग्ध कर देनेवाली है। इसमें अंग्रेजी के पूर्ण वहिष्कार के आवेश में संस्कृत के साथ भी अन्याय किया गया है। ऐसे ही स्वच्छन्द मार्ग से, इन्हीं पारिभाषिकों के लिए इतने ही थोड़े परिश्रम में, अनेक शब्दावलियाँ रची जा सकती हैं, जिनमें से प्रत्येक को विज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित होने का बराबर ही अधिकार होगा। आचार्य्य रघुवीर की शब्दावली को ही यह अखण्ड अधिकार क्यों प्राप्त हो, इसके पक्ष में कोई युक्ति नहीं दिखाई पड़ती। यों तो प्रारम्भिक दशामें पारिभाषिकों के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता होनी आवश्यक है और तभी इस अंग का विकास भी हो सकता है। काल की गति से उपयुक्त शब्द ही विज्ञान के क्षेत्र में रह जायँगे। इस दृष्टि से आचार्य्य रघुवीर की शब्दावली की आलोचना निरर्थक थी पर बार-बार ऐसा प्रयत्न किया जा रहा है कि हिन्दुस्तान के सभी विश्वविद्यालय इस शब्दावली को स्वीकार करलें। प्रारम्भ में ही अपने आप को इस शब्दावली के नाग-पाश में बाँध लेना कहाँ तक उचित है, इस बातपर सभी विश्वविद्यालयों को गम्भीरता से विचार कर लेना चाहिए। ऐसी शब्दावली को स्वीकार करने में, जो विज्ञान के सार्वभौम क्षेत्र से सर्वथा उच्छिन्न और विच्छिन्न है, अहंभाव की कुछ तृप्ति हो सकती है; पर भारतीय विज्ञान संसार-व्यापी प्रगतिशील विज्ञान-समाज से कट कर किस गढ़े में जा गिरेगा, यह नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिगत रूप से आचार्य्य रघुवीर की शब्दावली वही ग्रहण कर सकता है जिसे यह दृढ़ विश्वास हो कि उनकी जिह्वा में सरस्वती बसती हैं, अतएव उनके मुख से जो वाणी निकले उसे ग्रहण कर लेने में ही विज्ञान का मंगल है। जिसमें श्रद्धा भक्ति की इतनी मात्रा न हो उसे इस अनुपम शब्दावली को ग्रहण करने के लिए विवश करना व्यक्ति, समाज और विज्ञान के प्रति महा अन्याय होगा।

Against the absurdity of using Sanskritized words & terms for scientific terms in opposition to English so as to invent an authentic Indian language for science

नई संस्कृति

श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

भारतीय समाजवादी कलाकारों और साहित्यिकों ने अखिल भारतीय सोशलिस्ट पार्टी के कानपुर अधिवेशन में नव संस्कृति-संघ (न्यू कल्चर सोसाइटी) नाम की एक संस्था स्थापित करने का प्रस्ताव पास किया था। उसी समय इसके लिए एक स्थायी समिति बनी जिसके संयोजक 'जनता' के सम्पादक पं० रामवृक्ष बेनीपुरी जी चुने गए। उसकी चर्चा 'जनता' के पिछले कई अंकों में देखने को मिली है। इस बात को लेकर हमारे कई साथियों और सर्वसाधारण में यह उत्सुकता पाई गई कि आखिर 'नई संस्कृति' क्या बला है? इसके व्यापक मानी क्या हैं? निश्चय ही यह बात विचारणीय है और इसपर नव संस्कृति-सम्पन्न विद्वानों की राय जाहिर होनी चाहिए। अबतक यही देखने में आया है कि अक्सर आधुनिक संस्कृति-चेता विद्वान् 'रस' की तरह इसका स्वयं अनुभव तो करते हैं; पर उनके द्वारा इसकी विवेचना बहुत कम हो पाई है। मगर अब समय आ गया है कि इसपर अच्छी तरह विवेचनात्मक छान-बीन हो जानी चाहिए।

हम यहाँ पहले थोड़े में यह देखने की चेष्टा करें कि 'संस्कृति' क्या चीज है? किसी भी देश या जाति के साहित्य, कला, संगीत, भाषा, विज्ञान, आचार-विचार, व्यवस्था, बौद्धिक भावना, वास्तु कला, रहन-सहन आदि समन्वयात्मक रूप से उस राष्ट्र या जाति की संस्कृति हो सकते हैं। संस्कृति की व्यापक परिधि उस रत्नगर्भा पृथ्वी की तरह है, जिसके अन्दर कौन-सी ऐसी चीज छिपी नहीं है।

इस तरह हमारा देश अपनी पुरानी संस्कृति-परम्पराओं को लेकर सारी दुनिया में अपना मस्तक ऊँचा किए हुए है। इसने वैदिक कालीन ऋषियों, उपनिषद् और दर्शन शास्त्रकारों; भूतत्त्ववेत्ताओं; गणितज्ञों; चिकित्सकों के अलावा वाल्मीकि, व्यास, कालिदास जैसे महाकवियों; अजन्ता और एलोरा की कलाओं; अनेक राग-रागिनियों के निर्माताओं; वैदिक, संस्कृत, पाली आदि भाषाओं; रामराज्य और लिच्छवि-शासन जैसी व्यवस्थाओं तथा राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी जैसे भावना सम्पन्नों को उत्पन्न करने का गौरव हासिल किया है। ऐसे राष्ट्र की उन्नत संस्कृति की क्या बात पूछनी है? इसने सारी दुनिया में मानव-कल्याण के संदेश दिए हैं।

आज पुनः हिन्दुस्तान आजाद हो गया है। तमाम देश में इसका नारा बुलंद किया जा रहा रहा है कि हमारी प्राचीन संस्कृति की रक्षा होनी चाहिए। हम यदि अपनी पुरानी संस्कृति खो देंगे तो सब कुछ खो देंगे। जिन प्रतिक्रियावादी जमातों ने प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा का ऐसा नारा देकर आधुनिक विज्ञान, वर्तमान समय और भविष्य की ओर से आंखें मूँद ली हैं, सचमुच वे राष्ट्र के सर्व-साधारण अबोध जनता को वरगला रहे हैं। वे भारत की उन्नतिशील संस्कृति का गला घोंटने वाली जमातें हैं। ऐसी ताकतों से राष्ट्र और जनता को बचाने के लिए जो कला, विचार, भाषा, व्यवस्था, रहन-सहन आदि की प्रक्रिया होगी; वही नई संस्कृति की द्योतक सही मानी में होगी। नई संस्कृति बतलाएगी कि आज वैदिक कालीन भाषाओं के प्रचार करने में देशका जो अपव्यय होगा, वह राष्ट्र और संस्कृति का गला घोंट देगा। नई संस्कृति वैदिक-ज्ञान-समूहों का आदर तो करेगी, पर साथ ही उसकी आज की परिस्थिति और आधुनिक उपकरणों से तादात्म्य स्थापित करेगी। नई संस्कृति वाल्मीकि के राम के त्याग, मर्यादा, प्रजा-वत्सलता, आदि को श्रद्धा के साथ भारत के घर-घर में फैलाना चाहेगी; पर उनके स्त्री-त्याग, छल-छद्म द्वारा बालिवध, रावण-विभीषणकी फूटपरस्ती को उनकी सर्वप्रियता के मोह और कूटनीतिज्ञता कहने के सिवा दूसरा क्या कह सकती है? रामायण को कल्पनात्मक काव्य मानने के लिए और राम के अस्तित्व में संदेह प्रकट

करने के लिए नई संस्कृति को अधिकार इस लिए होगा कि राजा राम के जन्म के पहले ही रामायण का निर्माण बताया जाता है। इसके लिए नई संस्कृति के पास यह भी कम पुष्ट प्रमाण नहीं है जो कि राम का युद्ध-मंत्री बूढ़ा भालू था और सबसे दुर्धर्ष योद्धा बानर! वे भालू और बन्दर राम से आदमी की बोली में बात-चीत तथा परामर्श करते थे। नई संस्कृति उपनिषद् कालीन ऋषि-मुनियों की अध्ययनशीलता, विद्वता और प्रकांड ज्ञान-गरिमा को देखकर मुग्ध है—उसे अंगीकृत करने के लिए व्याकुल है; मगर वह कहेगी कि गुरु-गृह में रहकर खेत-खेत में जाकर धान की बाल आज का छात्र नहीं चुनेगा। वह दिन-दिन भर भूखे रहकर गुरु के लिए जंगल से लकड़ियाँ नहीं तोड़ेगा और न वह भिखारी बनकर भिक्षा-पात्र में घर-घर रोटी माँगता चलेगा। क्योंकि अब गुरु-शिष्य—किसी के लिए भी इसकी आवश्यकता नहीं रह गई है। वह कहेगी कि आज परिस्थिति कुछ दूसरी है, समय के साथ चलो। वह इस बात का नितन्त विरोध करेगी कि अगर तुम ब्राह्मण नहीं हो तो ब्रह्मज्ञान और वेद-ऋचाओं का अधिकार तुम्हें नहीं है। ऐसे उपदेशों को वह फासिस्ट नीति कहेगी—मानवता के खिलाफ बतलायगी। हिन्दू-पुराण-कारों के धैर्य, कल्पना-शक्ति, विशाल ज्ञान को देखकर नई संस्कृति दंग है और पद्य-बद्ध कथा तथा साहित्य की अगाधता को स्वीकार करते हुए उनकी धूर्तता, मिथ्या-प्रचार तथा कपोल-कल्पित प्रोपेगेंडा के प्रभाव से बचने के लिए राष्ट्र की नई पीढ़ी को आगाह करेगी। पुराणों के पारस्परिक द्वेष, मतवाद और वर्ग-विभेद के दूषित वातावरण को और आगे नहीं बढ़ने देगी। भारतीय ज्ञान-सूर्य, मानवता के एक मात्र प्रतिपालक, शान्ति-अहिंसा के अवतार भगवान तथागत की पीयूष वर्षिणी वाणी में नई संस्कृति अवगाहन करते हुए नहीं अघाती है; फिर भी तथागत से वह कहेगी कि भगवन्, आपने जो आदेश दे रखा था कि कोई भी शोषित व्यक्ति, जो धनियों के कर्जके भार से लदा है, संघ में प्रवेश न करे; यह आपका आदेश बड़ा कठोर और दया-शून्य था। सत्य का प्रचार, मानवमात्र का कल्याण, निर्भीकता आदि नई संस्कृति की विशेषता होगी।

जिन कलाकारों को अजन्ता, एलोरा आदि की चित्र-कलाओं के प्रति बड़ा ही अभिमान है तथा जो भारतीय चित्रकला का चरमोत्कर्ष की सीमा मानकर उस पर चलने के लिए ऐड़ी-चोटी का पसीना एक किए हुए हैं और लकीर के फकीर बनने में ही अपनी सारी जिन्दगी व्यतीत कर रहे हैं, उनसे नई संस्कृति जवाब-तलब करेगी और कहेगी कि तुम जो राष्ट्र के धन हो उसका इस प्रकार भीषण क्षय क्यों कर रहे हो? तुम्हें चाहिए कि अजंता की कोमलता, सौन्दर्य परिपूर्ण रेखाओं की स्निग्धता, अनुभूति की वैसी एकरूपता आदि के साथ शोषित पीड़ित, जीर्ण-शीर्ण भारत की मधुर मुस्कान विद्रूप को आँको; उसकी व्याकुल आँखों की प्यास, उसके जलते हृदय की ज्वाला को चित्रित करो। तुमने नदियों की कलकल, समुद्रों के प्रलयंकारी नाद, झरनों के करुण क्रन्दन पर भी क्या कभी ध्यान दिया है? नई संस्कृति यह नहीं कहती कि तुम कुरूप और भयंकर को ही देखो मगर आनन्द और सौन्दर्य के स्रोत को गँदला मत बनाओ, बल्कि उसे आगे बहने दो— विकास के साथ चलो। मानवता की अवहेलना और उसके साथ खिलवाड़ न करो। नई संस्कृति तुम्हारी भावनाओं, दृष्टियों और अनुभूतियों की विशालता में विश्वास करती है। उसकी नजरों में तुम्हारी रेखाएँ लहरों-सी नित्य नवीन विभा विकीर्ण कर रही हैं। वह तुम्हारे अन्तर्चक्षुओं का परदा हटा देना चाहती है—तुम्हारे लिए कुरूप कोई चीज नहीं है।

इसी तरह काव्य की दिशाओं में भी नई संस्कृति महाकाव्य के बन्धनों पर फिर से प्रकाश डालना चाहती है और उसमें इतने सर्ग हों, प्रत्येक सर्ग में इतने श्लोक और इतने छन्द हों, षड्ऋतु-वर्णन अवश्य हों, प्रातःकाल का वर्णन भी जरूरी है; जलकेलि, मदनोत्सव आदि के बिना भी काव्य अधूरा रहेगा आदि बन्धनों को आज छिन्न-भिन्न कर रही हैं। किसी राजा जैसे उदात्त नायक और नायिका के बिना भी महाकाव्य का सुन्दर निर्माण हो सकता है। नई संस्कृति बतलाएगी कि संस्कृत-कवियों की तरह महाकाव्य में सिर्फ उसके नियमों-उपनियमों को निर्वाह करने और कवि कुल शिरोमणि बनने के लिए काव्य का निर्माण न करो या न उनकी तरह गरीबी के चित्रण में सिर्फ कल्पना की व्योम-विहारिणी उड़ान

भरो; बल्कि काव्य को देश, काल, परिस्थिति से सम्बद्ध करो। उसमें मानवमात्र के सुख-दुःख को सन्निहित करते हुए तमसाच्छन्न पथ में प्रकाश फैलाओ। या दुःखियों के चित्रण में अपनी वास्तविक व्यथा को ढाल दो जो पाठकों के दिल में एक जलन, एक कचोट पैदा कर दे। इसी तरह संगीत में भी राग-रागनियों की पुरानी स्वरारोहण-अवरोहण में अपनी सारी शक्ति और कलात्मक प्रतिभा को घिसते न चलो, उसमें नई-नई रागनियों की मोड़-मूर्च्छनाओं का संधान करो। नई संस्कृति कोरी भावुकता में अपनी बुद्धि को खोना और आखों को बन्द करके चलना नहीं चाहती।

नई संस्कृति मानवात्मा के विकास और मानव-मात्र के कल्याण तथा आनन्द को ध्वनित करने के लिए भारतीय सांस्कृतिक सम्पन्न व्यक्तियों का आह्वान करती है। झंडे की शान के खिलाफ पड़नेवाली अपनी प्यारी और पुरानी-से-पुरानी चीजों के प्रति उसको जरा भी मोह नहीं है। वह देश, काल और परिस्थिति के अनुसार विकास और आनन्द को सर्व-सुलभ बनाना चाहती है। उसको अपने गुजरे हुए रास्ते के लिए उतना मोह नहीं हैं, जितना कि आगे आनेवाले पथ को प्रशस्त देखना चाहती है। उसका विश्वास रक्षा में उतना नहीं है, जितना उत्तरोत्तर निर्माणा के प्रति आकर्षण में है। वह भविष्य के लिए अतीत की उतनी ही आवश्यकता महसूस करती है जहाँ तक ऐतिहासिक ज्ञान से आनेवाला पथ प्रशस्त हो। वह आप्तवाक्यों को बुद्धि-विवेक और तर्ककी कसौटीपर कसने को उच्छृङ्खलता और नास्तिकता की संज्ञा नहीं देती; बल्कि वह बुद्धि और सद्विवेक को उपयोगी मानती है। समाज की रूढ़िप्रियता पर नई संस्कृति कठोर और निर्भय प्रहार करना अपना जबर्दस्त कर्तव्य समझती है। संस्कृति के नाम पर राष्ट्र में फैली कुप्रवृत्तियों—जैसे देवी-देवताओं की पूजा, यंत्र मंत्र-तंत्र, विभिन्न जातियों के रस्म-रिवाज एवं उनमें धन के अपव्यय आदि—को समाज में फैली अशिक्षा और अन्ध-परम्पराओं का द्योतक मानती है और कुछ को तो बर्बर युगीन सभ्यता की छाप मानतो है। नारी-समाज को न सिर्फ वह अध्ययन आदि की सुविधा देने की हिमायती है, बल्कि वह आर्थिक स्वतंत्रा के मामले में भी पुरुषों के बराबरी दर्जे में देखना चाहती है। वह चाहती है कि नारी-समाज दुनियाँ की सारी बातों में पुरुषों की तरह स्वतंत्र और सम्माननीय हो। नई संस्कृति के लिए सबसे बड़ा लक्ष्य मानवता है और सबसे बड़ा व्यक्तित्व मानव! वह ऐसे व्यक्तित्व का उपयोग आनन्द और ज्ञान के लिए करेगी।

हिन्दी कविता में विमाता

डा० कमल कुलश्रेष्ठ एम० ए०, डी० फिल०

खून के जिन टुकड़ों से नारी का शरीर बनता है, उन्हीं से उनका पुत्र बनता है। गर्भ में जिसे नौ महीने रखा उसे गर्भ से बाहर आनेपर भी वह अपने से भिन्न नहीं समझ सकती। अपने शरीर से अलग हुए उस टुकड़े को वह अपने से भी अधिक प्यार करती है और अपना समझती है।

लेकिन किसी दूसरे के शरीर के टुकड़े को अपने शरीरका ही टुकड़ा समझना कुछकुछ रहस्यवादी प्रवृत्ति की अपेक्षा रखता है। रहस्यवादी प्रवृत्ति सब में नहीं हो सकती लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी में नहीं होती। फलतः विमाता सौतेले पुत्रसे अपने बेटेकी तरह प्रेम कर भी सकती है और नहीं भी। अगर वह प्रेम नहीं करती और उसे प्रेम करने के लिए या दिखाने के लिए मजबूर किया जाता है, या यह अनुभव करने के लिए मजबूर किया जाता है कि उसकी सपत्नी का यह पुत्र उसके पुत्र के हर तरह से बराबर है तो उसकी भावनाएं उपेक्षा, घृणा या ईर्ष्यापूर्ण हो जाती हैं।

हिंदी साहित्य में विमाता के तीनों प्रकार के चित्र—प्रेम भरे, उदासीनता भरे और विद्वेष भरे—मिलते हैं। दशरथ के तीन पत्नियाँ थीं और चार पुत्र। हर पुत्र को दो सौतेली माँ थीं और हर स्त्री के दो-तीन सौतेले पुत्र थे। तुलसी की कौशल्या को चारों पुत्रों से प्रेम है परन्तु फिर भी जितना प्रेम उन्हें राम से है उतना किसी से नहीं। राम लक्ष्मण के वन गमन पर उन्हें राम की ही याद अधिक आती है—

माई री! मोहिं कोउ न समुझावै।
राम गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै॥

वे स्पष्ट कहती हैं कि राम को देखकर उन्हें दुख नहीं रहता और उन्हें बिना देखे उनसे रहा नहीं जाता—

दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तन न रहै बिनु देखे।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें लक्ष्मण की याद ही नहीं आती। वे आगे कहती हैं—

लगेइ रहत मेरे नयन आगे,
राम लषन अरु सीता।

उनके मन में यह अभिलाषा है कि—

जनकसुता कब सासु कहैं मोहि,
राम लषन कहैं मैया॥

और—

सीता सहित कुसल कोसलपुर
आवत हैं सुत दोऊ।
स्रवन-सुधा-सम बचन सखी
कब आइ कहैगो कोऊ?

भरत के आनेपर वे कितने प्यार से कहती हैं कि तुम राजगद्दी पर बैठो—

कौसल्या धरि-धीरजु कहई।
पूत पथ्य गुरु आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी।
तजिअ बिषादु कालगति जानी॥

वे भरत को हर तरह से हिम्मत बँधवाने का यत्न करती हैं—

बन रघुपति सुरपति नरनाहू।
तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा।
तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥

वे इस आई हुई आपत्ति को मानवी नहीं मानतीं। उनका विचार है कि यह संकट एक दैवी वस्तु है जिसपर उनका किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं है—

लखि बिधि बाम कालु कठिनाई।
धीरज धरहु मातु बलि जाई॥

वे इस आपत्ति के समय अपनी निष्कपट सलाह यही देती हैं कि—

सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू।
प्रजा पालि परिजन दुख हरहू॥

किन्तु कौशल्या को भरत से इतना प्रेम क्यों है? इसका कारण यही है कि राम तो कौशल्या को प्राणों से भी प्यारे हैं और भरत राम को। वे एक स्थान पर भरत से कहती हैं—

राम प्रान तें प्रान तुम्हारे।
तुम्ह रघुपतिहि प्रान तें प्यारे॥

कौशल्या को अपने सपत्नी पुत्रों से प्रेम था। वह उन्हें अत्यधिक स्नेह करती थी, परन्तु फिर भी इतना स्नेह न था जितना कि उन्हें राम से था। उन्हें जितनी याद राम की आती है, उतनी लक्ष्मण की नहीं। तुलसी दास कौशल्या को एक आदर्श विमाता के रूप में चित्रित करना चाहते थे, परन्तु वे कुछ तो अपने विश्वासों से मजबूर थे और कुछ कथा की परंपरागत घटनाओं और घटनाओं के पात्रोंकी चरित्र-विशेषताओं से लाचार थे। परंपरागत कथा में सुमित्रा का चरित्र बहुत दबा हुआ था। तुलसी उसे उभार न सके। अन्यथा सुमित्रा शायद अपने मानवी पक्ष के द्वारा तुलसी के दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट कर देती। तुलसी के हृदय में राम के लिए श्रद्धा थी। यह स्वाभाविक ही था कि राम को कौशल्या अधिक प्यार करतीं। और यही कारण है कि सुमित्रा भी राम पर लक्ष्मण से अधिक स्नेह रखती है। वह स्पष्ट दृढ़ शब्दों में लक्ष्मण से कहती है—

जौं पै सीय रामु बन जाहीं।
अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥

और राम के प्रति अपनी समस्त श्रद्धा थोड़े से शब्दों में व्यक्त कर देती है—

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुत होई॥
न तरु बाँझ भल बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित हानी॥

सुमित्रा का एक पुत्र भरत के साथ है। यदि सुमित्रा का चरित्र उभारा जाता तो पता चलता कि सुमित्रा का शत्रुघ्न को क्या आदेश था और राम-भक्ति को अलग करके विमाता के मानवी पक्षपर तुलसी के विचारका कुछ पता चलता। वैसे सपत्नी पुत्र से कौशल्या को प्रेम अवश्य है।

राम कथा पर जब मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी लेखनी चलाई तो उसके मानवी पक्ष को उन्होंने उभार कर आदर्शवाद की ओर खींचा। कैकेयी को पहले राम से कितना स्नेह था कि वह मंथरा को उत्तर देती है—

वचन क्यों कहती है तू वाम?
नहीं क्या मेरा बेटा राम?

और—

राम की माँ क्या कल या आज,
कहेगा मुझे न लोक-समाज?

मंथरा के बहुत अधिक कहने पर भी वह उसे डाँटती-फटकारती हुई उसे 'द्विजिह्वे', 'नीच' और 'अनुदार' कहती है। और जब आदर्श-पथ से विचलित भी होती है तो इस कारण नहीं कि उसे राम से ईर्ष्या है या घृणा है वरन् इसीलिए कि मंथरा के ये शब्द उसके मन में चुभ गए थे—

....यह सीधा षड्यंत्र,
रचा जाता क्यों यहाँ स्वतंत्र।....
भरत से सुत पर संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।

उसका मन कौशल्या से जैसे आँखों में आँसू भर कर करुणा-विह्वल शब्दों में पूछता है—

बहन कौसल्ये, कह दो सत्य,
भरत था मेरा कभी अपत्य?
पुत्र था कभी तुम्हारा राम?

और उसके पुत्र के विषय में संदेह किया गया है, इसे वह नहीं भूलती। उसे राम से ईर्ष्या नहीं है परंतु अपने पुत्र से राम की अपेक्षा अधिक स्नेह है। मैथिली-शरण गुप्त का दृष्टिकोण इस दिशा में एकदम मानवीय

है। सुमित्रा किसी राम-भक्ति से प्रेरित होकर नहीं वरन् प्रेम-प्यार से प्रेरित होकर लक्ष्मण से कहती है—

लक्ष्मण ! तू बड़भागी है,
जो अग्रज अनुरागी है।
मन ये हों तन तू वन में
धन ये हो जन तू वन में।

उसमें निश्चय पर दृढ़ रहने की भावना है। वह कौशल्या और अपनी दोनों ओर से कहती है—

निश्चय पर वितर्क अब क्यों ?
जैसे रहें, रहेंगी हम,
रोकर सही, सहेंगी हम।

कौशल्या का हृदय तो स्नेह से ही बना है। वह राम के वन जानेपर भरत के घर आते ही कहती है—

वत्स रे आ जा, यह अंक,
भानुकुल के निष्कलंक मयंक।
मिल गया मेरा मुझे तू राम,
तू वही है, भिन्न केवल नाम।
भर गई फिर आज मेरी गोद,
आ, मुझे दे राम का सा मोद।

कैकेयी को भी राम से स्नेह है। चित्रकूट में वह स्पष्ट कहती है कि तुम भरत को प्यारे हो और यह मुझे प्यारा है, इसलिए तुम मुझको दूने प्यारे हो—

मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे।

वह अनुभव करती है कि संकुचित वात्सल्य से प्रेरित होकर वह राम को वनवास दे बैठी थी। उस संकुचित वात्सल्य के मूल में भरत को न समझ पाना था। वह स्पष्ट स्वीकार करती है कि वह भरत की माँ होकर भी भरत को नहीं समझ पाई—

हाँ, जनकर भी मैंने न भरत को जाना।

और भरत ने उसे विमाता के आदर्श पथपर लाकर खड़ा कर दिया। वह कहती है—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी।
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी॥
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा।
धिक्कार उसे था महास्वार्थ ने घेरा॥

कैकेयी का मातृत्व अपना अञ्चल पसारकर राम से अपने अपराध के लिए क्षमा मांग रहा है—

यह सच है तो फिर लौट चलो घर भइया।
अपराधिन मैं हूँ तात तुम्हारी मइया॥

वह अपने अपराध का भार भाग्य पर रखती है—

छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का।

और राम को विश्वास दिलाती है—

अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे।
मैं वही कैकयी, वही राम तुम मेरे॥

वह राम से प्रेम न करना अपने पति के प्रति एक महान अपराध मानती है—

स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं।
मर कर तो उसको दिखा सकूँ यह मुख मैं॥

इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने विमाता के सम्बन्ध में भारतीय आदर्श तथा मानवी हृदय दोनों का सुंदर सम्मिश्रण किया है। कौशल्या में एक मात्र आदर्श की रक्षा की गई है। उस आदर्श में भक्ति की भावना नहीं, वरन् वात्सल्य ही है। सुमित्रा का विमातृत्व बहुत दब सा गया है। तुलसी की सुमित्रा के हृदय में जो राम के लिए अपार श्रद्धा भक्ति थी उसके दर्शन मैथिलीशरण गुप्त में नहीं होते। लक्ष्मण की सुयोग्य माता ही वह हमें दिखलाई पड़ती हैं।

हिन्दी साहित्य में विमाता के उदासीनता भरे चित्रों में तुलसी की कैकेयी आ सकती है। हम ऊपर बतला आए हैं कि इसे राम से ईर्ष्या न थी, भले ही मन्थरा के सिखाने के बाद प्रेम न बचा हो। इस उदासीनता के मूल में तुलसी की कहानी कला भी हो सकती है जिसने राम वनवास के बाद कैकेयी के चरित्र को उभरने ही न दिया।

विद्वेष की भावना से भरे चित्र बहुत कम मिलते हैं। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर ऐसा प्रतीत होता है कि अभिशाप के वश में होकर कैकेयी को राम से ईर्ष्या हो उठी हो। सोहनलाल द्विवेदी के लिखे 'कुणाल गीत' में विमाता की ईर्ष्या के चित्र हैं, किन्तु उसके मूल में विमातृत्व नहीं, वरन् ठोकर खाकर चूर चूर हो जानेवाला नारी का प्रणय है जो अपनी असफलता को अवश्यम्भावी देखकर अपने प्रणय-पात्र का विनाश भी देखना चाहता है। उसे हम विमाता की विशुद्ध ईर्ष्या नहीं कह सकते।

हिन्दी साहित्य में विमाता के आदर्श चित्रों के दर्शन तो होते हैं यथार्थ के नहीं। एक बात यह भी द्रष्टव्य है कि हिन्दी काव्य में विमाता के चित्र अधिकतर राम कथा ही में मिलते हैं। राम कथा एक आदर्शवादी कथा है जो प्रयत्न करनेपर यथार्थवादी नहीं हो सकता। इसी कारण हिन्दी काव्य में यथार्थवादी चित्रों की कमी है। विमाता की ईर्ष्या और विमाता की उपेक्षा दोनों ही हमें दैनिक जीवन में जितने मिलते हैं उतना प्रेम नहीं मिलता। जीवन के आर्थिक संघर्ष और सामाजिक व्यवस्था इस सम्बन्ध पर जितना प्रभाव डालते हैं उसका तनिक भी निरूपण हिन्दी साहित्य में नहीं किया गया। हिन्दी साहित्य इस दिशा में एकदम मौन है। यथार्थ की यह उपेक्षा साहित्य के लिए किसी प्रकार भी श्रेयस्कर नहीं कही जा सकती। श्रेयस्कर हो चाहे न हो किन्तु सचाई तो यह है कि हिन्दी काव्य हमारे सामाजिक जीवन से काफी दूर है।

साहित्य की छानबीन

श्री बैजनाथसिंह "विनोद"

सामधेनी—रचयिता, श्री रामधारीसिंह "दिनकर", प्रकाशक—उदयाचल, पटना। मूल्य २)

प्रस्तुत रचना में २१ कविताएँ हैं। "सामधेनी" समिधा से बनी है और आवरण पृष्ठ पर उसका चित्र भी है। समिधा या ज्वाला अथवा गुलामी के बन्धन को तोड़कर उठते हुए राष्ट्र की बलि कामना—ज्वाला "सामधेनी" की मूल प्रेरणा है। किन्तु संग्रह में कुछ ऐसी कविताएं भी हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि यह ज्वाला स्वाधीनता के लिए ही नहीं है अखिल मानवता के लिए भी है—जिसका प्रमाण "कलिंग-विजय" है, प्रेम के लिए भी है—जिसका प्रमाण "बटोही धीरे धीरे गा" है। किन्तु फिर भी सभी कविताओं में तेज एक साही है। कविता नं० ६ की टेकनीक उर्दू से मिलती जुल्ती है और यह मिश्रण सुन्दर भी बन पड़ा है। इसमें कवि का ललकार भरा सन्देश हैः—

स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर दे,
"रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिए, जैसे बने इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"

"अन्तिम मनुष्य" कविताकी कल्पना मैथ्यू प्रायर कवि की कविता से ली गई है। किन्तु उसके अन्दर आज की हमारी समाज-भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति भी है। "हे मेरे स्वदेश!" में दलग्रस्त राष्ट्र के अभिमान की करुण अभिव्यक्ति है। कुछ पंक्तियां यहां दी जाती हैः-

"भेड़िये ठठाकर हँसते हैं,
मनु का बेटा चिल्लाता है।
× × ×
ये छुरे नहीं चलते, छिदती
जाती स्वदेश की छाती है,
लाठी खाकर भारत माता
बेहोश हुई-सी जाती है।"

हिन्दुओं को सावधान करता हुआ कवि कहता है—

"आदर्श दुहाई देता है,
धीरज की बांध नहीं टूटे।
आदर्श दुहाई देता है,
धन्वा से बाण नहीं छूटे।
सपने जल जायें,
सावधान! ऐसी कोई भी बात न हो;
आदर्श दुहाई देता है,
उसके तनपर आघात न हो।"

"कलिंग-विजय" नामक कविता को "कुरुक्षेत्र" के साथ पढ़ने का आग्रह कवि का है। किन्तु यह ठीक नहीं। "कुरुक्षेत्र" अपने अधिकार के लिए युद्ध की प्रेरणा है, पर "कलिंग-विजय" में अनुशोचन है। "कुरुक्षेत्र" युग धर्म का काव्य है, पर "कलिंग-विजय" युग परांगमुख। यद्यपि उसमें भी अपना एक तथ्य है जिसका अपना एक महत्त्व भी है। "कुरुक्षेत्र" और "कलिंग-विजय" में वही विरोध है, जिसे कवि ने स्वयं "दिल्ली और मॉस्को" नामक काव्य में प्रतिपादित किया है।

"एक देश है जहाँ विषमता
से अच्छी हो रही गुलामी,
१. जहाँ मनुज पहले स्वतन्त्रता
से हो रहा साम्यका कामी।
× × ×
२. जहाँ मासको के रणवीरों के
गुण गाए जाते।
दिल्ली के रुधिराक्त
वीरको देख लोग सकुचाते।

यहाँ स्पष्ट ही भारतीय कम्यूनिस्टों पर यह व्यंग है कि वे भारतीय परिस्थिति की अवहेलना करके स्वाधीनता से पहले समता की बात करके स्वाधीनता आन्दोलन से विरत हो रहे हैं। यही नहीं, कवि ने कम्यूनिस्टों से प्रश्न किया है—

इस उद्वेलन बीच प्रलय का
था पूरित उल्लास नहीं क्या?
लाल भवानी पहुंच गई है
भरत-भूमि के पास नहीं क्या?

किन्तु "कलिंग-विजय" में कवि का अपना संगीत नहीं, वह तो उसके अन्दर का द्वैध है। उसका तो संगीत हैः—

प्यारे स्वदेश के हित अंगार मांगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार मांगता हूँ।
× × ×
तम-वेधिनी किरण का सन्धान मांगता हूँ।
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान मांगता हूँ।
× × ×
पंचास्य-नाद भीषण विकराल मांगता हूँ।
जड़ता विनाश को फिर भूचाल मांगता हूँ।
× × ×
उन्माद बेकली का उत्थान मांगता हूँ।
विस्फोट मांगता हूँ, तूफान मांगता हूँ।
× × ×
विष का सदा लहू में संचार मांगता हूँ।
बेचैन जिन्दगी का मैं प्यार मांगता हूँ।

'दिनकर' का यही अपना राग है, इसका प्रमाण 'दिनकर' का पूरा काव्य तो है ही, "सामधेनी" में उसका निश्चित प्रमाण है। कविता है "राही और बांसुरी"। राही (कुछ आलोचक) बांसुरी (कवि) से कहता हैः—

चाहिए सुधामय शीतल जल,
है थकी हुई दुनियां सारी।
यह आग आग की चीख किसे,
लग सकती है कब तक प्यारी?

इस प्रश्न का उत्तर बाँसुरी अर्थात् कवि देता हैः—

यह जहर नहीं मेरा राही,
बदनाम वृथा मैं होती हूँ।
दुनिया कहती है चीख,
मगर मैं सिसक सिसक कर रोती हूँ।
× + ×
दुनिया भरका सन्ताप लिए
हर रोज हवाएँ आती हैं।
अधरों से मुझको लगा—
व्यथा जाने किस किसका गाती हैं।

अन्तमें बाँसुरी के व्याज कवि आवेश में कहता हैः—

हतभागे, यों मुँह फेर नहीं,
जो चीज आग में खिलती है।
धरती तो क्या? जन्नत में भी
वह नहीं सभी को मिलती है।
मेरी पूँजी है आग, जिसे
जलना हो, बढ़े, निकट आए,
मैं दूंगी केवल दाह—
सुधा वह जाकर कोयल से पाए।

और सच, यही 'दिनकर' के काव्य का स्वधर्म है। 'दिनकर' वहीं है, जहाँ उसमें ज्वाला है। जहाँ ज्वाला है, प्रकाश है, वहीं सर्वहारा का युगधर्म है। 'दिनकर' का पथ निश्चित है। वह या तो उस पर बढ़ेगा या द्विधाग्रस्त होकर शिथिल पड़ जायगा। कुछ शिथिल रचनाएं "सामधेनी" में भी हैं।

के द्वारा ही बर्मा में बा मा का मन्त्रिमण्डल बना, जो १९३९ में भंग हुआ। इसी समय यू सा ने अपने दल का संगठन किया और बा मा जापानी षड़यंत्र में शात रियासत चले गए। यू सा ब्रिटेन से सौदा पटाने इंगलैण्ड गए—उनकी मांग थी कि 'बर्मा युद्ध के बाद स्वाधीन कर दिया जाय'। किन्तु चर्चिल ने इसको नहीं माना। यू सा की सत्ता समाप्त हुई और उनको गिरफ्तार करके ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने युगाण्ड में नजरबन्द कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप बर्मा की जनता ब्रिटेन की शत्रु बन गई। सन् १९४१ में बर्मी युवकों के नेता यू अंगसान जापान पहुंचे और कुछ ही दिनों में उन्हों ने जापानियों की सहायता से ब्रिटिश साम्राज्य को बर्मा से उखाड़ फेंका। सन् १९४२ में रंगून से भी अंग्रेजों की पतंग कट गई। किन्तु यू आंगसान ने देखा कि जिस साम्राज्यवाद से सहायता लेकर उसने अंग्रेज़ों को भगाया था, वह अपना खूनी पंजा बर्मा में फैलाने लगा। जापानियों ने बा मा की कठपुतली सरकार बनाकर बर्मा की राष्ट्रीय भावना को कुचलना शुरू कर दिया। ऐसी परिस्थिति में बर्मी देशभक्त नौजवानों ने यू आंगसान के नेतृत्व में जापानियों के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। सन् १९४५ में जापानी खदेड़ दिए गए। किन्तु उनके स्थान पर अंग्रेज पुनः आसीन हो गए! इस समय 'ऐन्टी फासिस्ट लीग' द्वारा अंग्रेजों का बर्मा में व्यापक विरोध प्रारम्भ हुआ। सर्वत्र अंग्रेजों के बहिष्कार की धूम मच गई। सम्पूर्ण बर्मा में अंग्रेजों के विरुद्ध आग फैल गई। इस समय २२००० बर्मी युवक जेलों में बन्द थे। अनेकों अन्तराष्ट्रीय तथा बर्मा की राष्ट्रीय परिस्थिति से लाचार पाकर अंग्रेजों ने विद्रोही नेता यू अंगसान से समझौता किया। यू आंगसान की अध्यक्षता में राष्ट्रीय सरकार की नियुक्ति हुई। अपनी नीति के कारण चुनाव में उनको पूर्ण सफलता भी मिली। बर्मा में विधान परिषद् की स्थापना हुई। किन्तु नाना राजनीतिक षड़यन्त्रों के परिणामस्वरूप १९ जुलाई सन् १९४७ को आंगसानकी हत्या की गई।

बर्मा का क्षेत्रफल २६१ हजार वर्ग मील है। यहाँ की आबादी १ करोड़ ७० लाख है। इसमें से १ करोड़ बर्मी हैं, शेष ७० लाख अल्पसंख्यक हैं। ये अल्पसंख्यक दो प्रकार के हैं—बर्मी और गैर बर्मी। बर्मी अल्पसंख्यक अधिकांश सीमावर्ती तथा पर्वत प्रदेश की पिछड़ी जातियाँ हैं और गैर बर्मा ८ लाख भारतवासी तथा २३ लाख चीनी हैं। बर्मा का व्यापार तथा बैंक प्रायः इन्हीं अल्पसंख्यकों के हाथ में हैं। इनमें से चीनी तो बौद्ध धर्म तथा अपनी सामाजिक परम्परा के कारण अपने को बर्मी समाज में खपा लेते हैं। किन्तु भारतवासी अपनी वर्ण व्यवस्था, जाति-पाति तथा ब्राह्मणीक परम्परा के कारण बर्मियों से अलग हैं। वर्ण व्यवस्था तथा जाति-पाति की कमजोरियों के कारण ही बर्मियों की दृष्टि में भारतीय गिरे हैं। यहाँ के भारतीय मुसलमान अंग्रेजों के साथ हैं। इन सब कारणों से बर्मा में वहाँ के भारतीयों के प्रति अच्छी भावना नहीं है। किन्तु फिर भी बर्मा के विधान परिषद् में इन गैर बर्मियों के लिए व्यवस्था है कि जो १० वर्षों में आठ वर्ष तक बर्मा में रहे हों, या सन् १९४२ के १० वर्ष पूर्व से बर्मा में रहते रहे हों और अब बर्मा में ही रहना चाहते हों, उनको बर्मा में नागरिक अधिकार प्राप्त होंगे।

सीमावर्ती तथा पर्वतीय बर्मियों के प्रति बर्मा के विधान परिषद् में विशेष रूप से उदारता दिखाई गई है। इन अल्पसंख्यकों में शान पठारवासी जंगली जातियाँ हैं, जिनकी संख्या १० लाख से ऊपर होगी, करेनी रियासतों की जातियाँ हैं, जिनकी संख्या १४ लाख के लगभग होगी, जो इसाई धर्म के प्रभाव में हैं। एक कचिन जाति है जो किसी समय तिब्बतसे आई थी और जिसकी संख्या लगभग ४ लाख होगी। इसके अलावा आसाम सीमावर्ती नागा लोग भी हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने जाते जाते यह चाहा था कि इन सीमावर्ती जातियों का एक अलग प्रदेश कायम कर दिया जाय—बर्मा में भी पाकिस्तान बना दिया जाय (किन्तु सौभाग्य से वहाँ कोई जिना नहीं था!) किन्तु आंगसान तथा दूसरे बर्मी नेताओं के उदार दृष्टिकोण ने ब्रिटिश कूटनीति को विफल कर दिया। बर्मा के विधान परिषद् ने २१० सीटों में से ४५ सीटें इन पिछड़ी जातियों को देकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

× × ×

सुनने में आ रहा है कि बर्मा में वहाँकी जमींदारी प्रथा को खत्म किया जा रहा है—जमीन पर राष्ट्र का अधिकार कायम किया जा रहा है। हम चाहते हैं कि वहाँ के मूल उद्योग का भी समाजीकरण कर दिया जाय।

बर्मा हमारा पड़ोसी राष्ट्र है। उसकी सीमा हमारी सीमा से मिलती है। उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति का एक अंग है। उसकी स्वाधीनता हमारी स्वाधीनता है। हम स्वाधीन बर्मा की उन्नति चाहते हैं। हम स्वाधीन बर्मा का स्वागत करते हैं।

बैजनाथसिंह "विनोद"

भारतीय पुरातत्त्व और पाकिस्तान

अनेक वैज्ञानिकों के मत से भारतवर्ष में बसने वाले लोग भूमध्य सागरीय जाति के हैं। दक्षिण के लोग भी भूमध्य सागरीय हैं। अतः नृतत्त्व की दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय एक जाति के हैं। कुछ लोगों का मत है कि संस्कृतिक दृष्टि से भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलिम दो संस्कृतियों के लोग हैं। पर ऐसे लोगों का मत वैज्ञानिक आधारों पर नहीं है, क्योंकि संस्कृति नृतत्त्व के आधार को छोड़कर टिक ही नहीं सकती। और नृतत्त्व की दृष्टि से हिन्दू तथा मुसलमान दोनों एक ही जाति के हैं। जिस तरह हिन्दू संस्कृति नाना जातियों, धर्म-विश्वासों और आचारों का समन्वित स्वरूप है, उसी तरह भारतीय जाति भी नाना धर्मों, आचारों, विश्वासों और पूजा पद्धतियोंका एक समूह है, जिसमें इसलाम भी एक धर्म है। इस तरह हिन्दू और मुसलमान दोनों को मिलकर—न केवल इन दोनों को ही मिलाकर बल्कि इसाई धर्म को भी मिलाकर—सम्पूर्ण रूप से भारतीय समाज एक है। उसकी भौगोलिक, आर्थिक, नृतात्त्विक और ऐतिहासिक स्थिति एक है।

यह एकता वैज्ञानिक है, विश्व-सुधीजन मान्य है और अक्षुण्ण है। कुछ दिनों के लिए क्षुद्र स्वार्थों के संघर्षण से इसमें विभेद दिखायी पड़ सकता है, किन्तु वह विभेद अस्थायी ही हो सकता है। कोई भी राजनीति भारतीय जाति की इस एकता को खण्डित करने में सफलता नहीं प्राप्त कर सकती। श्री जिना का पाकिस्तान भी भारतवर्ष की इस नृतात्विक और ऐतिहासिक एकता को खण्डित करने में सफल नहीं हो सकता।

× × ×

किन्तु दुर्भाग्य से आज देश में बर्बर स्थिति उपस्थित है। धीरे धीरे उभाड़ी हुई गुण्डागीरी आज अपने नग्न रूप में है। राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष दो राष्ट्रों में विभक्त है। विश्वकी उन्नत चिंताधाराके विरुद्ध बुद्धिभ्रष्ट पाकिस्तान के अधिकारी भारतवर्ष से पाकिस्तान की एकता के विरुद्ध असम्भव प्रलाप कर रहे हैं। चरित्रहीनों के हीन प्रयत्नों से आज भारतीय संस्कृति पर खतरा आ गया है। किन्तु यह खतरा न केवल भारतीय संस्कृति पर है; बल्कि यह खतरा विश्व-संस्कृति-समूह, संस्कृति-सम्पत्ति और बुद्धि पर है। इसीलिए आज हम इस सांस्कृतिक खतरे की ओर विश्व के चिन्तकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

भारत के बंट जाने के साथ साथ भारतीय पुरातत्त्व भी बंट गया है—भारतीय पुरातत्त्व के विविध स्थान भी बंट गए हैं। भारतीय पुरातत्त्व के जो भाग सैन्धव सभ्यता के नाम से विख्यात हैं, जहाँ भारतीय सभ्यता का सूर्य सर्व प्रथम चमका था, जिस खोज ने भारतीय इतिहास को चतुर्थ सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व तक पहुँचा दिया था, जिसने भारत को प्राचीन तम सभ्यताओं में मूर्धाभिषिक्त कर दिया था, उसकी सारी प्रसार-भूमि—सिन्ध (लरकाना जिले का मोहन जो-दड़ो, झुकारन्देडो, कन्हन्देड़ो, बलूचिस्तान, केलात की रियासत में नाला, दक्षिण

पंजाब का मांटगुमरी ज़िला) आदि—जाति-द्वेष से उद्भूत पाकिस्तान राष्ट्र में चली गई।

इसके अलावा अशोक के शिलालेखों की शिलाएं आज पाकिस्तानी सीमा प्रान्त के नौसेहरा और हजारा ज़िले में हैं। उनके शान्ति उपदेश पड़ोसी राष्ट्र और अल्पसंख्यकों के खून में होली खेलने वाले पाकिस्तानी क्या समझेंगे?—और क्या समझेंगे ये बर्बर लीगी पेशावर तथा चरसद्दा के स्तूपों में दबे, वहाँ के भग्नावशेषों में निहित कनिष्क के उन सन्देशों को जिन्हें पार्श्व के आशीर्वाद, वसुमित्र की दार्शनिकता और अश्वघोष की कविनिष्ठा ने धवल मस्तक काश्मीर के कनिष्कपुर में बौद्धों की चौथी संगीति में सिरजा था? हूणों की बर्बरता से होड़ लेने वाले ये खूनी भेड़िये क्या समझेंगे हिन्दू ग्रीकों की उस निष्ठा को जिन्होंने अपनी देशीयता छोड़कर भारतीयता को स्वीकार किया था और अपनी ग्रीक शैली का पुट देकर भारतीय संस्कृति का रूप सँवारने के लिए कला में उस पद्धति को जन्म दिया था, जिसे गन्धार शैली कहते हैं।

गान्धार शैली का नाम लेते ही उन गान्धार-कम्बोजों की याद आती है, उन अपरीत-पक्थों की भी जो आज अफ़रीदी-पठानों के नाम से खून और बोटी के नाम से, पाकिस्तानी शराब पीकर, विश्व-उपवन काश्मीर पर दौड़ पड़े हैं। जिनके पूर्वजों ने कभी हिन्दूकुश की भारतीय सीमा की रक्षा में अपने प्राण गँवाए थे। हिन्दूकुश की वह भारतीय सीमा, जिसे चाणक्य की मेधा और चन्द्रगुप्त की तलवार सिकन्दर महान के प्रतिनिधि सेल्यूकस को धूल चटाकर प्राप्त की थी, जिसे अन्य तीन प्रान्तों के साथ प्रियदर्शी अशोक ने भोगा था, जिसे मिस्र के उस नृपति भूगोलविद् तालेमी ने भारत की, वैज्ञानिक सीमा मानी थी, जिसे लांघ कभी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने वक्षु नद के हूणों में हाहाकार मचा दिया था।

गन्धार! गन्धार की याद से राम और भरत की याद सजीव हो उठती है और साथ ही उसकी पश्चिम-पूर्व की दोनों राजधानियों—पुष्कलावती (चारसद्दा) और तक्षशिला—की भी। और यह तक्षशिला जहाँ कभी जनमेजय ने नागयज्ञ किया था, जहाँ कभी भारतीय संस्कृति की चूड़ामणि सदृश तक्षशिला का विश्वविद्यालय शास्त्र और शस्त्र में, अध्यात्म और अन्वीक्षिकी में, राजनीति और चिकित्सा में भूमन्डल पर अद्वितीय रहा था; जहाँ यूसुफ़जई के पठान ब्राह्मण पाणिनि ने व्याकरण, कोसल के राजन्य प्रसेनजित ने राजनीति और राजगृह के वेश्या-पुत्र जीवक ने चिकित्सा का अध्ययन किया था।

आज इस विभाजन की विभीषिका ने हमारे पास किसी को न छोड़ा—न मोहेनजो-दड़ो-हड़प्पा को, न पुष्कलावती-तक्षशिला को, न केकय-शाकल को। भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के इन प्राचीनतम पीठों को हम अब अपनी प्रतिज्ञा और शपथ के साक्षी नहीं बना सकते!

परन्तु हम अपनी संस्कृति के इन केन्द्रों को भूल भी नहीं सकते—किसी प्रकार नहीं भूल सकते। हमीं क्यों विश्व के किसी कोने का इतिहासज्ञ, समाजशास्त्री और नृतत्त्वविद् पाकिस्तान में पड़े भारतीय संस्कृति के इन पीठों को नहीं भूल सकता। रूस और चीन का इतिहास इन केन्द्रों को नहीं भूल सकता, अरब; ईरान, यूनान का इतिहास इन केन्द्रों को नहीं भूल सकता और नहीं भूल सकता विश्व का कोई भी मानव शास्त्री हमारी संस्कृति के इन पीठों को।

हमें, और हमें ही क्यों? संसार के सभी चिन्तकों को भारतीय संस्कृति के इन केन्द्रों से सम्बन्ध रखना ही होगा। बिना इनसे सम्बन्ध रखे विश्व-इतिहास की महत्त्वपूर्ण एक कड़ी गायब हो जायगी। इसलिए यह देखना होगा कि इनकी खुदाई और रक्षा होती रहे। परन्तु कौन करेगा इनकी रक्षा? क्या वे जिन्होंने तक्षशिला के संग्रहालय को तहस नहस कर डाला है, जिन्होंने भारत के उस अद्भुत खनक ननिगोपाल मजूमदार को अपने ही कैम्प में 'काफिर' कह कर मार डाला था? हमें उनके ज्ञान-विज्ञान-प्रेम तो क्या इन्सानियत तक पर भरोसा नहीं है। फिर उनपर इन संस्कृति और ज्ञान-पीठों की रक्षा का भरोसा ही क्या?

सुन्दर होता यदि पाकिस्तान राजनीतिक दृष्टि से अलग राष्ट्र होकर वैज्ञानिकता को स्वीकार कर सांस्कृतिक दृष्टि से अपने को भारत का ही अंग मानता। ऐसी हालत में हिन्दू और मुसलिम पुरातत्त्व के केन्द्रों की रक्षा के लिए एक सरकारी और गैर सरकारी समिति

बन सकती थी। पर पाकिस्तान के अन्दर ऐसी भावना नहीं है। वह पागलों का राष्ट्र हो गया है। इसलिए हम ऐसी बात न कहेंगे।

हमें यह मालूम हुआ है कि भारतीय पुरातत्त्वका बंटवारा इस दृष्टि से हो रहा है कि जो जिसकी सीमा में हैं, वे उसके हो गए। मूर्तियों और सिक्कों की कीमत लगाई जा रही है। पर यह सब तो प्राप्त सामग्रियों पर ही सम्भव है। भविष्यकी खुदाई पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? इसका क्या सबूत कि भविष्य में प्राप्त कलाकृतियों और मूर्तियोंको पाकिस्तानी भेड़िये तोड़ न देंगे? भविष्य में और खुदाई की व्यवस्था पाकिस्तान करेगा, इसका भी क्या भरोसा? इसलिए हम यह चाहेंगे कि भारतीय सरकार पाकिस्तान में पड़े पुरातत्त्व के केन्द्रों की रक्षा का प्रश्न यू० एन० ओ० में उठाए। अपनी संस्कृति की रक्षा का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत के सामने ले जाना अच्छा तो नहीं लगता। पर पाकिस्तान पर भरोसा करना भी भीषण भूल है, इसलिए और कोई रास्ता नहीं है। अतः पाकिस्तान में पड़े भारतीय संस्कृति के केन्द्रों को एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत के हवाले करने की मांग भारतीय सरकार करे। हमारा मत है कि इस मांग को संसार का कोई भी विचारशील प्राणी अनुचित नहीं मानेगा।

बैजनाथसिंह "विनोद"

"जनवाणी" का द्वितीय वर्ष प्रारम्भ

इस अङ्क से "जनवाणी" का द्वितीय वर्ष प्रारम्भ हुआ है। पिछले साल में विज्ञापन न मिल सकने के कारण तथा अन्य भी व्यवस्था सम्बन्धी असावधानी से अनुमानतः ९००० रुपए का घाटा "जनवाणी" को हुआ। ऐसी स्थिति पैदा हो गई थी कि बिना विज्ञापन के "जनवाणी" का प्रकाशन कठिन था। एक तरफ तो यह आर्थिक स्थिति थी और दूसरी ओर "जनवाणी" की प्रतिष्ठा साहित्य जगत में कायम हो चुकी थी। एक साल तक लगातार प्रकाशित सामग्रियों ने जनता में "जनवाणी" को प्रतिष्ठित कर दिया था। इसलिए "जनवाणी" का निरन्तर प्रकाशन ही श्रेयस्कर समझा गया। ऐसी परिस्थिति में इन पंक्तियों के लेखक के निकट एक अनजाना कर्तव्य सामने आया—अर्थात विज्ञापन लाना। आचार्य नरेन्द्र देव जी २६ दिसम्बर को बम्बई गए। इसकी सूचना पाकर विज्ञापन प्राप्त करने की इच्छा से हमें भी बम्बई जाना पड़ा। वहाँ पहुचने पर अपने आदरणीय मित्रों के प्रयत्न से "जनवाणी" को कुछ सफलता मिली। इन कार्यों में २० दिन लग गए। अर्थात् १९ जनवरी को बम्बई से मैं वापस आसका।

इस बीच "जनवाणी" का जनवरी अङ्क ८ फार्म छपकर तय्यार हो गया। था फरवरी का भी ४ फार्म छप गया। सिर्फ मेरी अनुपस्थिति के कारण जनवरी का अङ्क विलम्ब से निकल रहा है। और "जनवाणी" के हित के लिए मेरा अनुपस्थित होना अनिवार्य था, इसलिए पाठक क्षमा करेंगे। फरवरी का अङ्क शीघ्र निकल रहा है।

× × ×

"जनवाणी" का प्रथम वर्ष नवम्बर में शेष हुआ। किन्तु दिसम्बर से नया वर्ष प्रारम्भ करना सुन्दर न मालूम हुआ। इसलिए जनवरी से दूसरे साल का प्रथम अङ्क प्रकाशित किया गया। जिन ग्राहकों को दिसम्बर का अङ्क देना अनिवार्य है, उनको जनवरी का अङ्क दे दिया जायगा। इस तरह किसी के भी हिसाब में किसी तरह की गड़बड़ी न होगी।

× × ×

इस नए साल में सम्पादक-मण्डल के दो सदस्य अलग हट रहे हैं। एक हैं श्री बी०पी०सिन्हा—जो "संघर्ष" और युक्तप्रान्तीय समाजवादी पार्टी के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण सम्पादक-मण्डल से अलग हुए हैं, और दूसरे हैं प्रो० राजाराम शास्त्री, जिनके भी सम्पादक-मण्डल से अलग हटने के वही कारण हैं। किन्तु उनके जिम्मे दूसरा काम दिया गया है। यह समझकर कि श्री रामवृक्ष बेनीपुरी जी सम्पादन के कार्य में सहयोग दे सकेंगे, उनका नाम सम्पादक-मण्डल में दिया जारहा है।

"जनवाणी" की उचित और स्थायी व्यवस्था के लिए आचार्य नरेन्द्र देव जी ने जनसाहित्य मण्डल का संगठन किया है। इसमें श्री जयप्रकाश नारायण और श्री गंगाशरण सिंह जी रहेंगे। इसी संस्था के अन्दर समाजवादी दल के और भी सांस्कृतिक कार्य होंगे। आचार्य नरेन्द्र देव, श्री जयप्रकाश नारायण और श्री गंगाशरण सिंह जी ने "जनवाणी" के लिए जो व्यवस्था की है, उससे अब "जनवाणी" का स्थायी होजाना निश्चित है।

हम पाठकों के निकट प्रतिज्ञा करते हैं कि "जनवाणी" की प्रतिष्ठा को कायम रखने में अपनी पूरी शक्ति लगा देंगे।

बैजनाथसिंह "विनोद"

ज न वा णी

फरवरी १९४८

विषय-सूची

व्यवस्थापक "जनवाणी",

जनवाणी प्रेस एन्ड पब्लिकेशंस लिमिटेड,

गोदौलिया, बनारस ।

वार्षिक मूल्य ८) **'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग** एक प्रति का ।।।)

काशी विद्यापीठ, बनारस

बापू

तुम क्रुद्ध गरुड़ की तृप्ति हेतु
जीमूतवाहिनी आत्मदान ।

—"सुमन"

ही वह शरीर के इन धब्बों को धो डालना चाहता है। विज्ञान चाहे अपराधी हो या न हो, वह प्रायश्चित के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। नोबेल का संकल्प उसका जीता-जागता उदाहरण है। १९०५ में आइन्स्टाइन ने द्रव्य और शक्ति का एकत्व सिद्ध किया था और बताया था कि १ ग्राम द्रव्य $(३\times१०^{१०})^{२}$ अर्ग शक्ति में बदल सकता है। उस विचार ने वैज्ञानिकों का ध्यान शक्ति के अमित भण्डार की ओर फेरा। प्रयोग के मार्ग पर चलकर उन्होंने इस परिणाम को अक्षरशः सत्य पाया। चालीस वर्ष बाद आइन्स्टाइन का विचार हिरोशिमा के क्षेत्र में विराट रूप में प्रकट हुआ। आज ऋषि आइन्स्टाइन अशान्त हो उठे हैं। उन्होंने संसार के वैज्ञानिकों को विज्ञान के आँचल के धब्बे धो डालने को आमन्त्रित किया है। प्रोफ़ेसर हिल ने, जिन्होंने गत युद्ध में प्रमुख भाग लिया था, वैज्ञानिकों के एक व्यापक संघटन का प्रस्ताव किया है जिसका उद्देश्य परमाणु-शक्ति का नियन्त्रण होगा। सभी देशों के वैज्ञानिक आज इस प्रस्ताव का हृदय से स्वागत कर रहे हैं। हिल इस प्रयत्न में सफल होंगे या नहीं, यह उन राजनीतिज्ञों की प्रवृत्ति पर निर्भर है जिनके हाथ में अधिकार है। कहा जाता है कि जब वैज्ञानिकों ने एटम-बम तैयार कर लिया तो अमरीकी सरकार से यह वचन माँगा कि युद्ध की समाप्ति पर वैज्ञानिकों को एटम-बम का रहस्य प्रकट कर देने का अधिकार हो। अमरीकी-सरकार ने ऐसा वचन देना स्वीकार नहीं किया। जो गुप्त है वह राष्ट्र के हित में सदा गुप्त रहेगा। महा विग्रह के अंत होते हैं—ओलीफ़ेन्ट एटम-बम के रहस्योद्घाटन के लिए व्याकुल हो उठे। पर ब्रिटिश-सरकार ने वैज्ञानिकों को कड़ी धमकी देकर अपनी नीति को स्पष्ट कर दिया। एक ओर वैज्ञानिक इसलिए खिन्न और आकुल हैं कि एटम-बम का रहस्य गुप्त रखकर वे समाज, मानवता और विज्ञान के प्रति अपराध कर रहे हैं दूसरी ओर मुख्य-मुख्य राष्ट्रों के नेतागण तीसरे महायुद्ध का योग देख रहे हैं और इसलिए वैज्ञानिकों का नियन्त्रण कर रहे हैं। विज्ञान-नीति और राजनीति में संघर्ष चल रहा है। पर राजनीति के हाथ अधिकार है। विज्ञान-नीति में अधिकार की कामना नहीं, इसलिए वह विवश और अशक्त है। पर इसमें संदेह नहीं कि जब विज्ञान-नीति स्वतन्त्र, सशक्त और सम्मानित होकर संसार में फैलेगी तभी मानवता सुख की नींद सोएगी।

आचार्य धर्मानन्द कौसाम्बी—सच्चे राष्ट्रसेवी और प्रसिद्ध पाली विद्वान

प्रोफ़ेसर पी० वी० बापत

श्रद्धेय कौसाम्बीजी का जन्म ९ अक्टूबर सन् १८७६ ई० को ससस्त जिले के अन्तर्गत सखवल नामक ग्राम में हुआ था। यह स्थान पुर्त्तगाली प्रदेश गोआ में है। ये अपने पाँच बहिनों और दो भाइयों में सबसे छोटे थे। अपने गाँव और पास पड़ोस की प्रायमरी शिक्षा के अतिरिक्त इन्हें किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का साधन व अवसर न मिला। अतएव अपने ही स्थान में मराठी पुस्तकावलोकन तथा स्वयं अर्जित विद्या का ही आश्रय इन्हें मिला। १७ वीं शदी के प्रसिद्ध मराठी संत तुकाराम के जीवन तथा उनकी गाथाओं का प्रभाव इनके जीवन पर व्यापक रूपसे पड़ा। इसके अतिरिक्त एक तत्कालीन मराठी पत्रिका में प्रकाशित भगवान् बुद्ध पर एक लेख (सन् १८९७में प्रकाशित) ने इन्हें इतना आकर्षित किया कि इसके पश्चात् तो बौद्ध धर्म के प्रति इनकी आस्था तीव्रतर होती गई और यही भावना उनके भावी उत्कर्ष की वाहक बन गई।

आचार्य धर्मानन्द कौसाम्बी

इन्होंने अपनी भावी शिक्षा निमित्त बाहर जाने के कई प्रयत्न किए, किन्तु निष्फल रहे। अन्ततोगत्वा इस संकल्प को लेकर कि अब असफल होकर नहीं लौटना है और अपने अज्ञानता मय जीवन से ऊबकर ये दिसम्बर सन् १८९९ में घर छोड़कर चल पड़े। इनकी एकमात्र यही इच्छा थी कि किसी उपयुक्त स्थानपर संस्कृत के अध्ययन का अवसर प्राप्त हो। इसके बिना बौद्धधर्म तथा दर्शन का ज्ञान अधूरा समझ कर वे पूना पहुँचे। वहाँ के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान सर रामकृष्ण भंडारकर से मिले। उनके प्रोत्साहन और प्रेरणा से उन्होंने संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। किन्तु इतने से विशेष संतोष न पाकर वे संस्कृत के प्रधान-तीर्थ काशी को चल दिए। यहाँ उन्हें वेद शास्त्र सम्पन्न गंगाधर शास्त्री तैलंग के परमपट्ट शिष्य महाराष्ट्री पंडितप्रवर नागेश्वर पंत धर्माधिकारी के पास संस्कृत पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यहाँ कौमुदी का अध्ययन किया। जीविकोपार्जन की कठिनाई तो थी ही—किसी प्रकार महाराज ग्वालियर द्वारा संचालित एक अन्न क्षेत्र में एक बार भोजन की व्यवस्था प्राप्त की और उसी से कालयापन किया। बुद्ध धर्म के प्रति उनके अगाध प्रेम ने उन्हें नैपाल-यात्रा के लिए प्रेरित किया। यह यात्रा उन्होंने अपने एक सहपाठी के साथ संयोजित की जो नैपाल के वासी थे। वे सन् १९०२ की २ फरवरी को अपने सहपाठी श्री दुर्गानाथजी के साथ

काशी से चले। मार्ग की कठिनाइयों को झेलते झेलते काठमाण्डू पहुँचे। १० दिन वहाँ ठहरे। वहाँ उन्होंने देखा कि बौद्धधर्म का सच्चा उपदेश देनेवाला तथा समझने बूझनेवाला एक भी पंडित या साधु न था जो वास्तविक बौद्धधर्म का अनुयायी हो। अतएव निराश हो वे बोधिगया पहुंचे। यहाँ उन्हें एक भिक्षु के दर्शन हुए, जिन्होंने इनका ध्यान पाली ग्रन्थों की ओर आकर्षित किया और बताया कि इन ग्रन्थों का अध्ययन लंका में भलीभांति किया जा सकता है। अब वे कलकत्ता पहुंचे और वहाँ से महाबोधि सोसाइटी के कुछ मित्रों की सहायता से मार्च सन् १९०२ में कोलम्बो को चल दिए।

कोलम्बोमें श्री सुमंगलाचार्य की देखरेखमें विद्योदय कालेजमें इन्होंने पालीका अध्ययन किया। इनके गुरुजन इनकी उत्कट इच्छा और लगन के बड़े प्रशंसक थे। इनके संस्कृत ज्ञान का प्रभाव लंकावासियों पर बहुत अच्छा पड़ा। इन्होंने १० माह पाली पढ़ी, इसी बीच श्रमणेर हो जाने के कारण इनकी घनिष्ठता बौद्ध विहारों के भिक्षुओं और पंडितों से अधिक बढ़ी। इससे इन्हें पाली साहित्यके अध्ययनका अधिक सुअवसर प्राप्त हुआ। यहीं से इन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन भी प्रारम्भ किया। किन्तु लंका में मांसाहारी भोजन इनको रुचि के अनुकूल न पड़ा, अतः लंका से भारत को प्रस्थान करना पड़ा। इस समय इच्छा यह थी कि भारत में किसी शान्त और एकान्त स्थान में सुस्थिर हो ध्यान का अभ्यास किया जाय, किन्तु सबसे बड़ी कठिनाई द्रव्य की थी। उस समय इतना भी पैसा न था कि वे कुशीनगर जैसे स्थान तक भी पहुँच पाते, जहाँ भगवान् बुद्ध ने इहलोक लीला समाप्त की थी। जितना भी उनके पास द्रव्य था, उससे वे मद्रास तक पहुँच सके। कुछ मासतक वे वहाँ ठहरे—वहाँ एक बुद्धाश्रम था जहाँ बौद्धधर्म के प्रेमीजन कभी कभी एकत्रित हो जाया करते थे। यहीं इनका परिचय प्रोफेसर नरसू से हुआ, जिन्होंने इनका ध्यान तुलनात्मक अध्ययन की ओर मोड़ा। अंग्रेजी का भी कुछ अध्ययन चलता रहा। उत्तरी भारत के बौद्ध तीर्थों की यात्रा पूर्ण करने का संकल्प प्रबल था, किन्तु उसके लिए पैसा न था। मद्रास में ही उनका परिचय कुछ बर्मी विद्यार्थियों से हुआ, जो उन्हें अपने पैसे से बर्मा ले जाने को उत्सुक थे। ऐसा ही हुआ। बर्मा में पाली की विद्वत्ता ने उन्हें विख्यात कर दिया। वे अब भिक्षु थे। वहाँ उन्होंने 'विशुद्धि मग्गो' का अध्ययन किया। बर्मा में रहते हुए इनका परिचय एक जर्मन संगीतज्ञ से हुआ जो आगे चलकर 'नान तिलोक' के नाम से बौद्ध भिक्षु हुए और जो अब एक विख्यात पाली के विद्वान हो गए हैं तथा लंका में रहते हैं। यहाँ भी भोजन की कठिनाई इनके सम्मुख थी। इनका शरीर यहाँ का भोजन अपने अनुकूल न बना सका और इन्हें बर्मा छोड़ना पड़ा—यद्यपि इनके आध्यात्मिक गुरु की यह इच्छा न थी। उनके कथनानुसार बर्मा में किसी नव भिक्षु को कम से कम पांच वर्ष तक अपने गुरु के पास रहना चाहिए। किन्तु ये ऐसा न कर सके और सन् १९०४ में भारत लौटे। दो वर्ष तक ये भारत में भ्रमण करते रहे। अधिकांश यह भ्रमण पैदल ही किया और भिक्षावृत्ति ही भोजन-व्यवस्था रही। सारे बौद्ध तीर्थों के भ्रमण का संकल्प अभी भी शेष था और इसी समय वे यह भी चाहते थे कि कहीं बैठकर ध्यान के सभी अभ्यासों का प्रयोग करें जिनका विशद वर्णन बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। उन्होंने कलकत्ते से बम्बई तक की यात्रा की—इसके पश्चात् उत्तरी भारत में उज्जैन, ग्वालियर, सारनाथ, कुशीनगर आदि स्थानों में वृक्षों के नीचे, खंडहरों में इन्होंने ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ किया। कभी मानवों में, कभी स्यार, भेड़िया, चीते, भूत प्रेत आदि के साथ प्रेम-प्रसार कर ध्यान और एकाग्रता में अपना चित्त लगाया। इस काल उन्होंने कितनी ही आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कीं। इसके पश्चात् वे श्रावस्ती आजकल सहेत-महेत पहुँचे, जहाँ भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन के कितने ही वर्ष बिताए थे। पुनः वे श्रद्धेय धर्मपाल (जिनसे वे पहिले लंका में भेंट कर चुके थे) से काशी में मिले। यहाँ से वे बुद्धगया गये। यहाँ उन्होंने नैरंजना नदी के किनारे कितने ही दिन ध्यान और एकान्त में बिताए। यहीं से वे राजगृह गये। एक बर्मी भिक्षु की सहायता से वे पुनः बर्मा गये। यहाँ वे सेगांव के एकान्त पर्वतों में रहना चाहते थे।

यहाँ उनसे 'नान तिलोक' से पुनः भेंट हुई। यहाँ वे उनके साथ यू राजेन्द्र के विहार में रहे। यहाँ वे उन महिलाओं के लिए भी जिन्होंने घर बार छोड़ दिया था भिक्षा मंगवाया करते थे। इन महिलाओं में से एक बर्मा की उच्चकुलीन महिला थीं जो त्रिपिटक में विशेष रूप से 'अभिधर्म' की पंडिता थीं। इस विषय में उनकी यहाँ कोई तुलना न थी। यहाँ एक बर्मी भिक्षु की सहायता से उन्होंने तीन माह तक ध्यान योग का अभ्यास किया। मार्च सन् १९०५ में भोजनादि प्राप्ति की कठिनाई के कारण वे दूसरे विहार में गए, जहाँ दो सप्ताह तक ठहरे। पश्चात् वे मांडले गए और वहाँ यू तिलोक के विहार में निवास किया। किन्तु यहाँ भी गर्मी के भीषण ताप के कारण अधिक दिन न ठहर सके और मुलेमिन गए जहाँ के धर्नी व्यापारी अपार धनराशि बौद्ध भिक्षुओं पर व्यय करते थे। यहाँ उन्होंने पन्नासामी नामक भिक्षु को संस्कृत व्याकरण सिखाया, जिन्होंने परिवर्त्तन में इन्हें 'अभिधर्मरथसंग्रह' पढ़ाया। उनकी पुरानी कठिनाई यहाँ भी थी कि यहाँ का भोजन उनके शरीर के अनुकूल न पड़ता था—इसी बीच उन्होंने बीलाउ-चावर नामक स्थान का परिवर्त्तन किया, किन्तु यहाँ भी कोई विशेष लाभ न हुआ। अब उन्होंने बर्मा को छोड़ने का पक्का विचार कर लिया और भारत में साधारण जन की भाँति कालयापन करने का संकल्प किया, क्योंकि वे समझते थे कि भारत में विशुद्ध बौद्ध भिक्षु बनकर रहना अत्यन्त दुष्कर है। उनके गुरु ने भी उन्हें ऐसी ही सम्मति दी कि वे भारत जाकर ही अपने को साधारण जन में परिवर्तित करें बर्मा में नहीं। अतएव जनवरी सन् १९०६ में वे रंगून से कलकत्ता वापिस आए।

कलकत्ता में उनका परिचय प्रेसीडेन्सी कालेज के प्रोफेसर हरनाथ डे से हुआ, जो कलकत्ता यूनीवर्सिटी से पाली में एम० ए० की परीक्षा देने की तैयारी में थे। वे अपने कोर्स के एक ग्रन्थ अभिधर्म पीठिका के धम्मसंगिनी की टीका 'अथ्थसालिनी' नामक ग्रन्थ का अध्ययन किसी योग्य पंडित से करना चाहते थे। इसी समय कौसाम्बी जी नेशनल कालेज कलकत्ता में पाली के अध्यापन कार्य में प्रवृत्त हुए। इसके पश्चात् प्रोफेसर डे के प्रयत्न तथा न्यायाधीश मुखर्जी की सहायता से वे कलकत्ता यूनीवर्सिटी में पाली के लेक्चरर नियुक्त हुए। इस कार्य में इन्हें आत्मसंतोष न हुआ, क्योंकि विद्यार्थियों में पाली के लिए कोई विशेष अभिरुचि न थी। वे केवल परीक्षा के निमित्त ही पाली का अध्ययन करते थे। इस नैराश्य तथा एक परमप्रिय शिष्य के व्यक्तिगत व्यवहार के कारण उन्हें इतना आन्तरिक क्लेश हुआ कि कौसाम्बी जी ने कलकत्ता छोड़ने का निश्चय कर लिया। इसी समय बड़ौदा के महाराज के द्वारा एक निमंत्रण मिला कि वे महाराष्ट्र में बैठकर प्रतिवर्ष एक ग्रंथ की रचना करें। किन्तु इस समय वे पुनः कलकत्ते से बर्मा गए, जहाँ उनको माननीय मॉन्न वा तू—जिनका परिचय कलकत्ते में ही प्राप्त हुआ था—द्वारा पाली ग्रन्थों का बर्मी लिपी में एक सेट (समूह) भेंट किया गया। वे अपने गुरु जी के पास मुलमीन भी गए जहाँ उनका विशेष रूप से सत्कार हुआ।

बर्मा से लौटकर कौसाम्बी जी शीघ्र ही बम्बई गए, जहाँ वे डाक्टर वी० ए० सुखथनकर से मिले। इन्हीं के द्वारा कौसाम्बी जी का परिचय प्रोफेसर डा० जे० एच० वुड (हरवार्ड यूनीवर्सिटी अमेरिका) से हुआ। इस घटना ने इनके जीवन की दिशा को एकाएक परिवर्तित कर दिया। प्रोफेसर वुड बम्बई के ताजमहल होटेल से नित्य पाली पढ़ने इनके पास आया करते थे। यह क्रम कुछ दिनों तक रहा। इन्हीं डा० वुड ने अमेरिका जाकर संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर लनमन से कौसाम्बीजी के पाली-पांडित्य के विषय में चर्चा की। प्रोफेसर लनमन उस समय विसुद्धि मग्गो नामक ग्रन्थ के विषय में कार्य कर रहे थे, जिसको भूतपूर्व मिस्टर वारेन छोड़ गए थे; उन्हें एक ऐसे पाली पंडितकी आवश्यकता थी, जो उन्हें इस कार्य के सम्पादन में सहयोग दे। इस प्रकार सन् १९१० में प्रोफेसर वुड ने प्रोफसर लनमन की ओर से हारवर्ड यूनीवर्सिटी में कौसाम्बीजी को आमंत्रित किया। अतएव इनके जाने की तैयारी हुई और वे इंगलैंड होकर अमेरिका पहुँचे तथा वहाँ पहुँच कर

प्रोफेसर लनमन के साथ कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ दिनों तक प्रोफेसर लनमन को उनकी सहायता का मूल्य न जंचा, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अनुभव किया कि कोसाम्बीजी का सहयोग एक अमूल्य वस्तु है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रोफेसर लनमन का व्यवहार उनके प्रति विशेष अच्छा नहीं था। चूंकि यूनीवर्सिटी के अधिकारियों से अमेरिका जाने के पहिले उनकी किसी भी प्रकार की शर्त तय नहीं हुई थी, इसलिए आर्थिक विषय में प्रोफेसर लनमन से उनकी अनबन हुई, जिसमें उन्हें प्रर्याप्त आर्थिक कष्ट सहना पड़ा। इसके अतिरिक्त प्रोफेसर लनमन के साथ दूसरी अनबन ग्रन्थ के मुखपृष्ठ के नामकरण के विषय में हुई। प्रोफेसर लनमन मुखपृष्ठपर सम्पादक के स्थान पर अपना नाम देना चाहते थे और उसके साथ "कौसाम्बी के सहयोग से वारेन की मूल कृति से" शब्द रखना चाहते थे। किन्तु कौसाम्बी चाहते थे कि वारेन के नाम के अतिरिक्त प्रोफेसर लनमन के साथ ही उनका भी नाम जाय अथवा वे यह भी चाहते थे कि केवल वारेन का ही नाम मुखपृष्ठ पर जाय, क्योंकि वारन ने वर्षोंतक इस ग्रंथ के लिए परिश्रम किया था और मरते समय अपनी सारी जायदाद यूनीवर्सिटी को इसलिए दे गए थे कि उससे इस गंथ के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय सुविधापूर्वक संयोजित किया जा सके। इस विषय में दोनों में कोई भी समझौता न हो सका और इसी वार्तालाप में प्रोफेसर लनमन ने अचार्य कौसाम्बी जी के प्रति कुछ अशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया। इसीपर आचार्य कौसाम्बी जी ने हारवर्ड यूनीवर्सिटी का परित्याग कर दिया और भारत लौट आए। भारत आने के पश्चात् उन्होंने यहाँपर एक ऐसा केन्द्र स्थापित करने के लिए सोचा, जहाँ वे पाली और बौद्ध साहित्य के अध्ययन का कार्य संचालित कर सके। वे सर रामकृष्ण भंडारकर के पूर्व परिचित थे, इसलिए ज्यों ही वे पूना पहुंचे फरगुसन कॉलेज के अधिकारियों ने सर रामकृष्ण के द्वारा उनकी सेवाएँ अपनी संस्था के लिए स्वीकृत करा लीं और उन्हें यहीं पाली का प्रोफेसर नियुक्त किया। आचार्य कौसाम्बी जी पाली के ज्ञान के प्रसार के लिए प्रत्येक अवसर का सदुपयोग करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने इस कालेज में सन् १९१२ से १९१८ तक प्रशंसनीय कार्य किया। लेखक स्वयम् इसी बीच उनका एक शिष्य रहा है। सन् १९१८ में "विसुद्धि मग्गो" के कार्य के लिए वह फिर अमेरिका गए। वहाँपर उन्होंने ४ वर्ष तक इस मूल ग्रंथ के विषय में कार्य किया और भारत वापिस आए। भारत आते ही आते उन्होंने कांग्रेस में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और अहमदाबाद के पुरातत्व मंदिर में सम्मिलित हुए। दिनोंदिन उन्होंने राजनीतिक कार्यों में अभिरुचि दिखाई और शीघ्र ही पूर्णतः गांधीजी के प्रभाव में आए। जब ये गांधीजी के कार्यकर्ताओं के कैम्प में व्यस्त थे, उसी समय "विसुद्धि मग्गो" के कार्य को पूर्ण करने के निमित्त अमेरिका से फिर निमंत्रण आया। इस बार सम्पूर्ण कार्य इनपर छोड़ दिया गया और प्रोफेसर लनमन का कोई भी हाथ उसमें न रहा। उन्होंने सफलतापूर्वक कार्य समाप्त किया और जब १९२७ में भारतवर्ष लौटकर आए, उसके पहिले ही उस ग्रंथ के प्रकाशन का कार्य भी समाप्त किया। यद्यपि आचार्य कौसाम्बीजी ने सम्पादन का कार्य समाप्त कर दिया था, किन्तु यूनीवर्सिटी के अधिकारियों ने उसके अनुवाद का प्रकाशन आजतक न किया, जो कि अभीष्ट था। आचार्य कौसाम्बीजी ने अमेरिका छोड़ने के पहिले ही अनुवाद के कार्य का उत्तरदायित्व प्रोफेसर वुड्स के सहयोग से मेरे ही ऊपर छोड़ दिया था, यह अनुवाद का कार्य १९३२ में पूरा हो गया, जो यूनीवर्सिटी के अधिकारियों के पास भेज दिया गया, किन्तु आज बीस वर्ष के पश्चात् भी यूनीवर्सिटी ने उसका प्रकाशन नहीं किया है। आचार्य कौसाम्बीजी ने १९३१ के सत्याग्रह आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया, इसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार किया, किन्तु हाइकोर्ट के किसी कानूनी पहलू के कारण छोड़ दिए गए। इसके पश्चात् प्रोफेसर वुड ने "विशुद्धि मग्गो" के अनुवाद के लिए इन्हें पुनः निमंत्रित किया, जिस अनुवाद का उत्तरदायित्व प्रोफेसर वुड्स और मेरे ऊपर सौंपा गया था वह अनुवाद उस समय समाप्त न किया जा सका, क्योंकि लेखक को १९३२ में अमेरिका छोड़ देना पड़ा और फरगुसन कॉलेज पूना वापस आना पड़ा।

अतः लेखक के अमेरिका छोड़ने के कुछ महीने पश्चात् तक आचार्य कौसाम्बीजी को वह कार्य जारी रखना पड़ा। वह कार्य समाप्त करने के पश्चात् वह भारत लौटते समय रूस गए जहाँपर उन्होंने भूतपूर्व प्रोफेसर चेरवास्की को भारतीय तथा बौद्ध दर्शन के अध्ययन में अमूल्य सहायता पहुंचाई, किन्तु रूस में वे अधिक समय तक न ठहर सके। वे शीघ्र भारत लौट आए और इस लेख के लेखक को "विसुद्धि मग्गो" के अनुवाद कार्य में सहायता करते रहे। वास्तव में यह कार्य उनके २५ वर्ष के विद्वत्ता-मय जीवन की अमूल्य साधना थी।

यह कार्य समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने राष्ट्रीय कार्यों और संस्थाओं में पुनः योग देना प्रारम्भ कर दिया। इस जीवन के कुछ वर्ष बंबई, सारनाथ, काशी विद्यापीठ और वरधा में व्यतीत किए। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में विशेष रूपसे अस्वस्थ और दुखी रहे। उन्होंने एक पुस्तक अहिंसा विषय पर मराठी में लिखी, जिसने हिन्दू-समाज में काफी उथल पुथल मचाई। जीवन के अन्तिम महीनों में विशेष रूप से अस्वस्थ होने के कारण उन्हें चारपाई पर ही लेटे रहना पड़ा और दिनोंदिन दुर्बल होते गए। उनके सारे शरीर पर खुजली की सनसनी रहा करती थी जिसके कारण वह रात को सो नहीं सकते थे। वे इन दिनों के जीवन से बड़े दुःखी थे। वे यह कदापि नहीं चाहते थे कि उनके जीवन का कोई भाग ऐसा भी रहे जिसमें वे समाज के कल्याण और हित से वंचित रहें। कुछ दिनों के पश्चात् वे कुछ स्वस्थ हुए और अपनी सबसे बड़ी कन्या के पास बम्बई में ही रहने लगे। मृत्यु के पूर्व वे पूज्य गांधी जी के दर्शन चाहते थे, अतएव वे वर्धा गए। किन्तु गांधी जी इसके पूर्व ही साम्प्रदायिक संकट के समय शान्ति स्थापनार्थ पूर्वी बंगाल को प्रस्थान कर चुके थे। अतः ४ जून सन् १९४७ को वर्धा आश्रम में ही अपने सभी ही मित्रों के बीच शान्ति के साथ श्रद्धेय कौसाम्बी जी ने इहलोक यात्रा समाप्त की।

यद्यपि उन्होंने अपने सतत प्रयत्न से अंग्रेजी का सुन्दर अभ्यास कर लिया था, किन्तु उन्होंने अपनी सारी रचनाएँ या तो पाली में कीं या स्वमातृ भाषा मराठी में। आचार्य कौसाम्बी जी द्वारा रचित पाली और मराठी ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार हैः—

(१) पाली—(१) पाली रीडर—अशोक के अभिलेखों सहित।

(२) 'विसुद्धिमग्गो' जो सन् १९२८ में ही समाप्त हो गया था किन्तु वह हारवर्ड यूनीवर्सिटी ने अभी तक प्रकाशित नहीं कराया।

(३) 'विसुद्धि मार्ग'—देवनागरी प्रकाशन—भारतीय विद्याभवन सीरीज द्वारा प्रकाशित ग्रंथ नं० १

(४) विसुद्धमग्ग—टिप्पणी 'विसुद्धमग्गो' पर पाली टीका।

(५) अभिधम्मथ्थ-संग्रह—पाली टीका सहित—देवनागरी प्रकाशन, गुजरात विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित।

(६) निदान कथा—

(७) समन्तपादिका—बहिर-निदान।

(८) पपंच-सूदनी ग्रंथ १

मराठी ग्रंथः—(१) बुद्ध-धर्म आणि संघ (२) बुद्धलीला सार संग्रह (३) बालकों के लिए कुछ चुने हुए जातक—(४) सुत्तनिपात का अनुवाद। (५) खुद्दक पाठ (नित्य पाठ) (६) समाधिमार्ग—(७) बौद्ध संघ परिचय (८) भारतीय संस्कृति आणि अहिंसा (९) निवेदन (१०) भगवान् बुद्धाचें चरित्र (११) बोधिसत्त्व।

इसके अतिरिक्त मराठी पत्रिकाओं में कितने ही शोधपूर्ण लेख लिखे। जिनके कई अनुवाद गुजराती में भी हुए।

उनका पाली त्रिपटिक का ज्ञान बड़ा ही गंभीर था। इसी ज्ञानने उन्हें बुद्धघोष के विसुद्धि मग्गो के कितने ही उद्धरणों की शोध करने में बड़ी सहायता दी। उनकी विचित्र स्मरण शक्ति से प्रोफेसर लनमन भी आश्चर्यचकित रहते थे। उनकी दार्शनिक पहुँच भी बड़ी गहरी थी—गंभीर भावों को पाली में व्यक्त करने की शक्ति अद्भुत थी—अभिधम्मथ्थ-संग्रह—पर उनकी स्वयं की टीका 'नवनीत' इसका प्रमाण है। 'विसुद्धिमग्गो' पर उनकी टिप्पणी पाली विद्यार्थियों के लिए बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है। बौद्ध धर्म के प्रति उनकी

अगाध श्रद्धा और निष्ठा स्तुत्य रही। मराठी भाषा भाषियों को बौद्धधर्म का अमृत पान कराने और मराठी साहित्य को बौद्ध साहित्य प्रदान करने का अपूर्व श्रेय आचार्य कौसाम्बी जी को ही है। कितने ही उनके प्रिय शिष्य आज बम्बई, पूना, बड़ौदा आदि क्षेत्रों में उनके कार्य में दत्तचित्त हैं और पाली का अध्ययन अध्यापन कर रहे हैं।

अपने सामाजिक जीवन में वे सदैव प्रगतिशील विचारक और उदार दृष्टि के व्यक्ति थे। बड़े ही दयालु स्वभाव के थे। कालेज में विद्यार्थियों के बीच मनोहर कहानियाँ सुनाते सुनाते हास्य और विनोद द्वारा मुग्ध कर दिया करते थे। आज उनके शेष परिवार में उनकी स्त्री, एक पुत्र—दामोदर कौसाम्बी जो गणित के एक होनहार पंडित हैं—तथा तीन (शिक्षिता) पुत्रियाँ विद्यमान हैं। उनकी दो पुत्रियों और सुपुत्र की शिक्षा अमेरिका में हुई।

इस जीवन चरित से यह भली भाँति ज्ञात होगा कि श्री कौसाम्बी जी का जीवन कितने ही नवयुवकों के लिए प्रेरणा का स्रोत होगा। उनके जीवन का हमारे लिए यह कितना बड़ा उदाहरण है कि एक नवयुवक जिसकी ग्रामीण पाठशाला के अतिरिक्त कोई शिक्षा न हुई, सदैव दीनता का शिकार बनना पड़ा और आज की दुनियाँ में प्रगति के कोई भी सुअवसर न मिले, किन्तु अपनी सच्ची लगन और तपस्या से उन्होंने अपने आदर्श की रक्षा की। बौद्धधर्म के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा ने उन्हें सदैव कार्यरत रक्खा। इसी उत्साह और स्फूर्ति को लेकर उन्होंने जीवन की कठिनाइयों को पार किया और अपनी साधना में अनवरत रत रहे, जिसके कारण उन्होंने अपनी महती आकांक्षाओं को साकार बनाया। उनके जीवन-चरित का प्रकाश सहस्त्रों नवयुवकों को ज्योति प्रदान करे।

मन्दिर-पथ का भिखारी

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'

(१)

वह भिखारी है उस पथ का जो मन्दिर तक जाकर समाप्त हो जाता है। उसके इस पंगु-जीवन के पचीस लम्बे लम्बे वर्ष बीत गए मन्दिर के सिंह द्वार से कुछ दूर पर हटकर उस छोटे से बरगद के वृक्ष के नीचे बैठते। वह वृक्ष पथ से सटा हुआ है और उसकी डालें पथ पर किंचित छाया भी करती हैं।

वह भिखारी पंगु है और अपने मूक साथी बरगद की तरह अचल है। वह अपनी कातरता के भरोसे जीवन के दिन गिना करता है। उसके लिए उसकी दयनीयता ही सबकुछ है। जिस दयनीयता के चलते जीवन भार हो जाता है, उसी दयनीयता का दामन पकड़ कर वह पचीस वर्षों से जीवन यापन कर रहा है।

वह भिखारी है उस पथ का जो मन्दिर तक जाकर समाप्त हो जाता है।

पचीस बार वर्षा आकर उसे भिँगा गई, जाड़ा आकर उसे रुला गया, बसन्त आकर उस पर धूल उड़ा गया, गर्मी आकर झुलसा गई किन्तु पंगु न जाने किस सुखद अतीत की आशा के सुनहले सपने देखता हुआ अपनी खँजरी पर गीत गाता है। आने जानेवाले पथिकों को अपनी ओर आकर्षित करता है और रात को, जब मन्दिर का द्वार बन्द हो जाता है, अपने चीथड़े में लिपट कर सो जाता है। वह ऐसी गहरी नींद सोता है कि वैसी नींद महलों में सोनेवालों को भी कभी शायद ही नसीब होती हो!

वह पच्चीस वर्षों से दर्शनार्थियों को देख रहा है, पहचान रहा है; वह उन्हें भी पहचानता है जो सकरुण आँखों से उसको देखते हुए चले जाते हैं, वह उन्हें भी पहचानता है जो कभी कभी उसे एकाध पैसा दे देते हैं और उन्हें भी वह पहचानता है जो घृणा से नाक सिकोड़ कर उसके गंदे रूप को देखते हुए चले जाते हैं।

वह प्रत्येक के सामने अपने हाथ फैलाता है, दया की पुकार करता है और फिर चुप रह जाता है। मन्दिर में नियमित रूप से जानेवाले भावुकों को तो वह और भी पहचानता है। उसे भी वे पहचानते हैं—यह जान पहचान आँखों ही आँखोंकी है, मन की नहीं। यह जान पहचान रूप से रूप की है, मानवता से मानवता की नहीं। भिखारी का ध्यान पथिकों के पैसों की ओर लगा रहता है और पथिक उसके दयनीय रूप को देखते हैं, किन्तु ऐसे देखने वाले भी कितने हैं। एक स्त्री को वह भिखारी खूब पहचानता है जिसके साथ गुड़िया-सी एक बच्ची आती है। वह गोरी गोरी पाँच छः साल की नन्हीं मुन्नी अपनी माँ के साथ प्रत्येक रविवार को आती है। वह स्त्री बच्ची के हाथ में एक पैसा देकर कहती है—"भिखारी को दे दे यह तुझे आशीर्वाद देगा।" बच्ची अपनी भोली भाली आखों से माँके स्नेह-स्निग्ध मुखड़े की ओर निहार कर बहुत ही सहमी हुई भिखारी के आगे पैसे डाल देती है। प्रत्येक रविवार को भिखारी उस बच्ची की राह देखता है। भिखारी पहले पैसों के लिए बच्ची की राह देखा करता था किन्तु फिर वह बच्ची के लिए पथ पर आँखें बिछाए बैठा रहने लगा। वह दिन को गिनता याद रखता और रविवार को निकट आया जानकर मन ही मन पुलकित हो उठता। वह अपने भीतर एक प्रकार की दबी हुई गुदीगुदी का अनुभव करता और बारबार मन्दिर की ओर जाने वाली भीड़ को तेज नजरों से देखता। उसकी रानी बिटिया कहीं भीड़ में भूली हुई चली तो नहीं गई, जब सामने वह स्त्री नजर आती और उसकी उँगली पकड़ कर अपने नन्हें नन्हें पैरों से चलती हुई बच्ची दिखलाई पड़ जाती तो भिखारी मन ही मन उछल पड़ता। "वह आ रही हैं रानी बिटिया"—भिखारी धीरे से बोलता।

माँका ध्यान दूसरी ओर रहता तो बच्ची भिखारी के पास ठिककर खड़ी हो जाती और ऊपर मुँह उठाकर तथा अपनी कोमल कोमल, लाल लाल छोटी-सी हथेली फैलाकर कहती—"मां, पैसा दो न—बाबा को दे दें।" मां मुस्करा कर अपनी गुडिया को पैसे दे देती, वह भिखारी के आगे पैसे फेंककर मानों कर्तव्य भार से अपने को मुक्त मानकर आराम की साँस लेती।

भिखारी संभव असंभव आशीर्वाद देता। उन आशीर्वादों को क्षणभर उस बच्ची की माँ खड़ी होकर सुनती—उसके शान्त चेहरे पर आनन्द और कृतज्ञता की लहरियाँ स्पष्ट होजातीं। वह आगे बढ़ जाती—मन्दिर की ओर। भिखारी एकबार और बच्ची को देखने के लिए मन्दिरके सिंहद्वारकी ओर टकटकी लगाए रहता।

उस दिन के बाद फिर भिखारी के आगे सात दिनों का सन्नाटा फैल जाता! वह "दे दे राम, दिलादे राम" का टेर लगाता हुआ एक सप्ताह काट देता। दिन जाते देर नहीं लगती और शनिवार के बाद फिर रविवार आ जाता!

(२)

मन्दिर के भीतर से शंख घंटे की आवाज आती जिसे भिखारी नित्य सुना करता और प्रातःकाल मंगल-आरती के समय जब देवता की पूजा होती तो वह विशेष पुलकित मन से, उस समय के शंख घंटे की आवाज सुनता। उसका हृदय-वर्षों से तड़पता तड़पता थक गया था—कभी उसने देव-दर्शन नहीं किए। उसकी दर्शन-कामना अधमरी हो चुकी थी। उसके सामने से फूल माला लिए भक्त जाते—सुवास से उसका मन व्याकुल हो जाता। नाना प्रकार के प्रसाद के थाल उसके सामने से चले जाते, किन्तु उस पंगु के हिस्से में केवल चावल के कुछ दाने और आँटा ही पड़ा था जो भीख में उसे मिल जाता था। मंदिर में झूलोत्सव होता, देवता का शृंगार होता, मन्दिर सजाया जाता—इन सारी चीजों को भिखारी अपनी कल्पना की विह्वल आँखों से ही देखा करता। प्रत्यक्ष दर्शन उसके भाग्य में न थे। वह पंगु था, वह किसी तरह खिसक सकता था और उसे उस मन्दिर में घुसने ही कौन देता—देवता के अपवित्र हो जाने का जो भय था।

उस बरगद पर संध्या समय पंछियों का झुंड बसेरा लेने आता। पंछी कोलाहल करते और बीट भी किया करते, किन्तु भिखारी उन्हें नहीं खदेड़ता—वह ढेले मारकर उन्हें हाँक सकता था। हाँ, यह बात जरूर थी कि वह पंछियों के उड़ने की शक्तिपर जला करता था। दो गिलहरियाँ उसे झुँझला दिया करती थीं। वे अपनी पूंछ उठाकर उसकी झोली पर धावा बोल देती थीं। भिखारी की झोली पर दाँत लगानेवालों को क्या कहा जाय!!! बन कबूतरों का वह जोड़ा जो उस बरगद की डालपर बैठकर विह्वल कूजन किया करता था, भिखारी का मित्र था। भिखारी उन दोनों को आत्मविभोर होकर देखा करता और दबी हुई ठंढी आह अनजाने उसके मुंह से निकल पड़ती। वह व्यर्थ आह शून्य में विलीन हो जाती।

कबूतरी मान करती, कबूतर गला फुलाकर उसे अपना सौन्दर्य दिखलाता और कूजन करता हुआ मस्ती से डाल की लम्बाई पर टहलता। कबूतरी चुपचाप दूसरी ओर ताकती रहती। भिखारी मन ही मन कहता—"अरी पगली, सौभाग्य से भी कोई रूठता है।"

फिर रविवार आया! भिखारी भोर से ही पथपर आंखें बिछाए बैठा रहा। एक मोटे सेठजी आए। सेठानीजी थीं सोने का भार लादे। किसी ने भी उसकी ओर नहीं देखा। वह बुढ़िया भगतिन आई—छू जाने के भय से अपने को बचाती हुई और और सारी दुनिया को घृणा की दृष्टि से देखती हुई। भिखारी मन ही मन कुढ़ गया उसकी चाल देखकर। फिर कुछ मनचलों का झुंड आया। वह इधर उधर ताक झाँक करता, हुआ मन्दिर की सीढ़ियों पर जाकर खड़ा हो गया क्योंकि सामने से कुछ छोकरियाँ आपस में चुहलबाजी करती हुई कलाई में माला लपेटे आरही थीं। भिखारी चुपचाप बैठा सब कुछ देख रहा था।

भिखारी बड़बड़ाया—"हाय देवता, यदि तुम मेरी तरह अचल न होते तो निश्चय ही यहाँ बालभोग को लातमार कर फिर करील की गुजों की ओर भाग जाते!"

फिर कुछ साधु-संत पधारे। गाँजे की महक हवा में भर गई। वे भद्दी भद्दी गालियाँ बकते सीधे सिंहद्वार के उस पार चले गए। उनके खड़ाऊँ की खटपट-खटपट आवाज उत्तरोत्तर क्षीण होती हुई विलीन हो गई। भिखारी मुँह बिचका कर धीरे से बोला—"जहन्नुम में जाओ अभागे।" रविवार आया और अपने पिछले बहुत से रविवारों की तरह समाप्त हो गया। भिखारी पथ देखता ही रह गया उसकी बिटिया रानी नहीं आई। वह प्रायः संध्या के कुछ पहले ही आती थी। इसी आशा को अपने मन में सँजोये भिखारी दिन भर बैठा रहा। दोपहर से ही उसने संध्या की कल्पना करके अपने को सुखी किया था। वह सोच रहा था—"अब आरही होगी वह फुदकती हुई नन्हीं सी गुड़िया अपनी माँ के साथ।" जब जब भिखारी उस बचिया की कल्पना करता गली मोड़ पर उसका रूप भी झलमला उठता। भिखारी अपनी कल्पना की इस निठुराई पर कुढ़ जाता, किन्तु जब मन्दिर के सिंह द्वार पर शहनाई में 'ईमन' का सुर बज उठा और एकाएक बिजली की बत्तियाँ जल उठीं तो भिखारी का दिल बैठ गया—उसकी गुड़िया रानी उस दिन नहीं आई। 'अगले रविवार की आशा फिर भी उसके मन को चुमकार रही थी।

रंग बिरंगी भावनाओं में उलझा हुआ उस भिखारी ने रात गँवाई। सोमवार से फिर उसने दिन आरंभ किया एक दिन रविवार आगया। सारा दिन वह अपने ऊधमी मन को समझाता बुझाता रहा। किसी दर्शनार्थी की कलाई पर यदि घड़ी होती तो वह एक झलक में उसकी सूइयों को देख लेने की चेष्टा करता और फिर सामने की दीवाल पर की धूप को देख कर भी समय का अनुमान करता—"अभी तो दोपहरी है, वहाँ पर, उस खिड़की के पास धूप पहुँचती है तब चार बजता है"—। इसी समय बिटिया रानी अपनी सौम्य माँ के साथ आती है। भिखारी को संध्या का आजाना प्रिय था इसीलिए उसने एक घंटा पहले से ही दिन को संध्या मान लिया। वह रविवार भी बीत गया—वह नन्हीं मुन्नी न आई।

(३)

रविवार का दिन भिखारी के लिए विशेष प्रिय था किन्तु अब वह रविवार की कल्पना करके कराह उठता—"हाय, कहीं यह आनेवाला रवीवार फिर न मुझे दिनभर आशा के पालने पर सुलाने के बाद संध्या को निराशा के कोड़ो से पीटकर विदा हो जाय!"

रविवार आया और फिर संध्या भी आई। भिखारी भीख माँगना भूलकर बच्ची की राह रह रह कर देखने लगा। एकाएक वह उछल पड़ा—बचिया की माँ दिखलाई पड़ी किन्तु वह छुम-छुम चलने वाली बच्चिया! वह नहीं थी, उसकी मां अकेली आई थी। भिखारी ने सोचा—आखिर बचिया बच्चिया ही तो ठहरी। मचल गई होगी या खेल में उलझी होगी या अपने पिता के साथ कहीं घूमने गई होगी—मौसम भी तो सुहावना है। अपनी ऐसी गुड़िया को छोड़कर कौन ऐसा अभागा पिता होगा जो अकेले टहलने जाय!

वह स्त्री कुछ खोई खोई सी भिखारी के पास आकर रुकी और एक ठंडी साँस लेकर चार पैसे उसके फैलाए हुए फटे चीथड़े पर जिस पर दिन भर की भीख पड़ी थी धीरे से फेंक कर आगे बढ़ी। भिखारी अपने को रोक न सका। वह दोनो हाथ फैलाकर बोल उठा—रानी माँ, बिटिया रानी?

वह स्त्री मुड़कर खड़ी हो गई और कराह कर बोली—वह दो सप्ताह से बेहोश पड़ी है बाबा—बहुत तेज ज्वर है। आशीर्वाद दो..........!

इतना बोलकर उस स्नेहमयी मां ने अपने आँचल से अपनी भीगी पलकों को पोंछ लिया। भिखारी के कलेजे पर जैसे किसी अदृश्य हाथ ने कसकर एक मुक्का मारा—वह गुड़िया बेहोश पड़ी है! दो सप्ताह से! उसे क्या हो गया—हे भगवान्! भिखारी हक्का बक्का-सा बरगद के तने में उठँग सा गया। उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। वह स्त्री चली गई। बहुत से लोग आए गए किन्तु भिखारी चुपचाप बैठा रहा। तीस साल पहिले इसी तरह उसकी भी बचिया बीमार पड़कर उसे रुला चुकी थी। उसकी धुँधली आँखों के सामने उसके अपने भूले हुए चित्र बहुत तेजी से—एक सर्राटे में—घूम गए। उसे पता नहीं कब दिन बीता, संध्या आई और वह जनाकीर्ण मन्दिर का पथ धीरे धीरे निर्जन होगया—कुछ कुचले फूल और हरे पत्ते उस पथपर पड़े हुए थे। मन्दिर का पट बन्द हो गया था। देवता के शयन-काल की आरती कबके समाप्त हो चुकी थी। तारों से भरे आकाश में काली परछाई की तरह मन्दिर की उच्च चूड़ा पर की ध्वजा का लम्बा बाँस दिखाई पड़ रहा था और उस बांस में लगी हुई

ध्वजा हौले हौले हिल रही थी। भिखारी एक ठंढी सांस लेकर अपनी कथरी पर लेट गया और पता नहीं कब नींद ने आकर उसे थपकियाँ दे देकर सुला दिया। भिखारी नींद में भी बचिया को देखता और चौंककर उठ बैठता—वह सड़क की ओर दृष्टि डालता। निर्जन सड़क और बिजली का प्रकाश! सामने जो हलवाई की दूकान है उसके चूल्हे की राखपर एक कुत्ता आराम से सो रहा है और किसी किसी घर से, बीच बीच में, खांसने की आवाज आ जाती है। सर्वत्र निद्रा की माया फैल रही है। इसी तरह अगला रविवार आ गया!

बचिया की माँ ठीक समय पर आई—मैली साड़ी, सिरके बाल योंही हाथों से संवारे हुए, चेहरा उतरा हुआ, पलकें भींगी भींगी। वह दौड़ी हुई सी मन्दिर में चली गई। भिखारी का हृदय आशंका से इतना व्याकुल हो रहा था कि वह कुछ पूछ न सका—उसे भय था कि न जाने उसे कैसा संवाद सुनना पड़े। वह आँखें बन्द करके कथरी पर लेट गया। फिर रविवार आया और भिखारी का हृदय सुबह से ही धड़कने लगा। उसने इस सप्ताह को बहुत ही छटपटाहट के साथ काटा था। किसी भी बच्चे की रुलाई सुनकर उसका हृदय धक् से करके रह जाता था। सामनेसे आती जाती हुई किसी भी छोटी-सी बच्ची को देखते ही वह चौंक उठता था। सोते जागते उसके सामने उसकी गुड़िया की चलती फिरती तस्वीर नाचने लगी और उसे व्यग्र बनाने लगी। वह कभी कभी अपना सिर पीट लेता और बिलख उठता पर इस हृदय मंथन से त्राण पाने का कोई उपाय उसे नहीं सूझता। वह पंगु था, इसका मलाल उसे नए सिरे से सताने लगा—हायरी लाचारी! यदि वह चल सकता तो इतनी दूर चला जाता कि उतनी दूर उस नन्हीं गुड़िया रानी की याद अपने नन्हें नन्हें पैरों से नहीं जा सकती—वह स्मृति के भी उस पार जाने में संकोच नहीं करता। प्रत्येक रविवार को वह भिखारी अत्यन्त बेकली का अनुभव करता और जब वह स्त्री नहीं आती तो उसे तनिक सी शान्ति मिलती, थोड़ा सा आराम मिलता। वह बोलता—हाय अब तो ऐसा लगता है, सप्ताह के सातो दिन रविवार ही हो गए! पहले तो इतनी जल्दी रविवार नहीं आता था।

वह अपनी भावनाओं से त्राण पाने के लिए प्रत्येक क्षण विकल रहने लगा।

दिन के बाद सप्ताह, सप्ताह के बाद मास!

जाड़ा समाप्त हो गया। बरगदके पत्ते पीले झड़ गए और एक एक कर के टपक पड़े। डालों में लाल लाल नए कल्ले निकलने लगे। अलसाई सी हवा चलने लगी। बसन्त आगया! एक दिन भोर को उठकर आसपास के भिखारियों ने देखा कि लगातार पच्चीस साल तक बरगद के नीचे धूनी रमाने वाला वह पंगु भिखारी नहीं है। उसका फटा मैला टाट पड़ा हुआ है, झोली पड़ी है, ठीकरे पड़े हैं, टीन का वह डब्बा भी पड़ा है जिसमें वह भीख में मिले पैसे रक्खा करता किन्तु भिखारी गायब है। कौन बतलाये वह कहाँ गया। भक्तों की भीड़ सदा की तरह उस पथपर आती जाती रही। सदा की तरह देवता का शृंगार होता रहा, सदा की तरह सिंहद्वार पर भी मीठी ध्वनि में शहनाई बजती रही—नहीं रहा वहाँ केवल वह भिखारी जिसका अभाव किसी को भी नहीं खटका!

फिर रविवार आया, फिर रविवार आया और आकर चला गया! बस!!

वास्तव वाद

श्री महेन्द्रचन्द्र राय

जब हम किसी का परिचय प्राप्त करते हैं तो कुछ सम्बन्धोंके सहारे करते हैं। कहीं वह बन्धु, भाई पिता माता स्त्री पुत्र, कहीं कुली किसान वकील वैद्य, कहीं वह कवि, गायक, साहित्यिक, वैज्ञानिक अथवा आविष्कारक होते हैं। इसी प्रकार अजस्र नामों से उसका परिचय मिलता है। वे नाम के द्वारा इस विश्व के साथ किसी न किसी प्रकार के सम्बन्ध बतलाते हैं, कोई भी एक मनुष्य इस विश्व के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध से युक्त नहीं है; केवल कुछ विशेष विशेष सम्बन्धों के द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने को विज्ञापित करता है। परन्तु किसी भी व्यक्ति का परिचय केवल उन्हीं थोड़े से सम्बन्धों में ही सीमित है, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी से हमारे अत्यन्त दार्शनिक बन्धु यह सिद्धान्त बना बैठते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में सभी सम्बन्ध सम्भावना के रूप में वर्तमान हैं, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति में सब कुछ होने की सम्भावना है। परन्तु खुली आँखों की गवाही को अस्वीकार करने के कारण उन्हें पग पग पर वास्तविक जीवन में झूठ के साथ समझौता करके चलना पड़ता है।

जितना व्यक्त हुआ है उतना ही व्यक्ति का सब कुछ है और इस के अलावा उसमें और कुछ नहीं है, मैं ऐसा नहीं कहना चाहता हूँ, परन्तु जो कुछ अन्यत्र व्यक्त हुआ है, वह सभी किसी भी व्यक्ति के अन्दर अव्यक्त सम्भावना के रूप में विद्यमान है यह भी मैं संभव नहीं समझता हूँ। हर एक व्यक्ति विशेष देश और विशेष काल में विशेष घटनाओं की परिस्थिति में प्रकट है इस सत्यको अच्छी तरह समझना और स्मरण रखना चाहिए, नहीं तो काल्पनिक आदर्शवाद की माया से मुग्ध होकर हम लोगोंको उस प्रकार के रहस्यवादी बनना पड़ेगा जिन लोगों का मन किसी भी मुहूर्त किसी भी वस्तु में किसी भी प्रकार की सम्भावना को स्वीकार करता है। इस प्रकार के विश्वास से समय बीत सकता है, जीवन नहीं चल सकता। क्षुद्र आम के बीज से आम का वृक्ष होगा, और उस वृक्ष के फल से और भी अनेकों आम के वृक्ष होंगे और इसी तरह संभव है उससे अनन्त काल में अनन्त आम के वृक्षों की विचित्रता प्रकट होती होगी; परन्तु इससे ऐसा सोचने का कोई भी हेतु नहीं है कि आज के इस बीज से अनन्त भविष्य में व्यक्त होनेवाले किसी भी वृक्ष का रूप प्रकट होगा। इस बीज के प्रकाश की एक निर्दिष्ट सीमा है चाहे वह सीमा कितनी भी अगोचर हो।

इस समय जिस किसी मनुष्य ने जिन विशेष विशेष सम्बन्धों के क्षेत्रोंमें अपने को प्रतिष्ठित किया है, व्यक्तिरूप में वही उसका समग्रपरिचय है, यह सत्य नहीं है; जो चित्तरंजन एक दिन बैरिस्टर अथवा कवि के रूप में परिचित थे वही एकदिन त्यागवीर के रूप में भी व्यक्त हुए इसे अस्वीकार करने का उपाय नहीं है। परन्तु, इसीलिए वह सब कुछ हो सकते थे, यह सत्य नहीं है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी जीवन-सीमा के अन्दर कुछ विशेष दिशाओं में ही अपने को विकसित कर सकता है। उससे अधिक उसके लिए असंभव है। परन्तु किसी विशेष मुहूर्त में किसी व्यक्ति का जो परिचय व्यक्त है वही उसका समग्र परिचय नहीं है, उससे भी अधिक कुछ उसके अन्दर संभावना के रूप में विद्यमान है। इस बात को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिए आज मैं जो कुछ हूँ कल मैं उससे भिन्न जो चाहे सो हो सकता हूँ ऐसा विश्वास करने का कारण न रहने पर भी, और कुछ अवश्य हो सकता हूँ इस बात को हँसकर उड़ाया नहीं जा सकता। किसी विशेष मुहूर्त के सम्बन्ध में मेरा जो विशेष परिचय है उसीमें मैं सीमित नहीं हूँ, यह सत्य है।

जो सम्बन्ध हैं वे तो आत्मप्रकाश के साधन मात्र हैं, ये साधन चरम और चिरन्तन होकर रहेंगे ऐसा आशा अनुचित है। इसी लिए कोई भी विशेष परिचय व्यक्ति का चरम परिचय नहीं हो सकता। इसी कारण

किसी नाम से मनुष्य के परिचय को निश्चित कर देने का अर्थ उस व्यक्ति को आवृत कर उसके नाम को ही बड़ा करके देखना है। काल्पनिक आदर्शवाद मनुष्य को एकदम अनन्त भगवान में परिणत कर देता है और हमारी व्यवहारिक बुद्धि मनुष्य को एकदम स्थितिशील जड़ वस्तु में परिणत कर देती है। परन्तु यथार्थ दृष्टि मनुष्य को अनन्त भी नहीं मानती और दूसरी ओर से उसे एकदम साँचे में ढाली हुई लोहे की मूर्ति भी नहीं समझती है।

सचल वस्तु को हमलोग कुछ भय की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि सचल वस्तु मात्र ही कुछ अंश में ज्ञात और कुछ अंश में अज्ञात है। वह अज्ञात अंश हमारे मन के आराम को, निश्चिन्तता को नष्ट कर देता है। अगर हमारे घर में ऐसा कोई अतिथि आवे जिसको हम आंशिक रूप में जानते हैं तो उस अतिथि को लेकर हमारे मनमें शान्ति नहीं रहती; किसी भी समय वह मनुष्य किस अभावित रूप में आत्मप्रकाश कर हमें व्याकुल और विपन्न कर बैठेगा इसका कोई निश्चय नहीं रहता। इसी लिए व्यक्ति मात्र को हम किसी विशेष परिचय से बाँध कर कम से कम अपने मन में निश्चिन्त होना चाहते हैं, उससे यदि यथार्थ निरापदा न भी हो तो कोई चिन्ता नहीं। सान्त्वना ही काम्य है, सत्य का ज्ञान उतना काम्य नहीं है।

परन्तु यदि काल्पनिक हृदयावेग की दृष्टि और सान्त्वनाकामी व्यवहारिक बुद्धि से मुक्त होकर हम वास्तविक दृष्टि से देखें तो अनायास इस सत्य को हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि मनुष्य को लेकर जहाँ कारबार है वहाँ पर 'मनुष्य सब कुछ हो सकता है' ऐसा विश्वास करना जैसे कार्यकारी नहीं है, वैसा ही 'वह इसके अलावा और कुछ हो नहीं सकता' ऐसा समझना अपकारी है इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मेरे एक मित्र ने किसी एक व्यक्ति को ऐसा ही किसी सम्बन्ध में सीमित और अचल करने की चेष्टा की थी; बाद को उनके अनजान में ही वह मनुष्य न जाने कब उस विशेष सम्बन्ध के घेरे को लाँघ कर चला गया और मेरे मित्र ने एकदिन अकस्मात् देखा कि उनकी कल्पना-सृष्टि को उस व्यक्ति ने प्रवंचित किया अर्थात् उनकी कल्पना के विरुद्ध काम किया। उस आहत विश्वास के मुहूर्त में उन्होंने कहा था, 'हमलोग सब कुछ कर सकते हैं, किसी का कोई विश्वास नहीं है।' प्रतिक्रिया का यही लक्षण है; व्यवहारिक बुद्धि को जब धक्का पहुँचता है तो वह एकदम रहस्यवादी हो उठता है परन्तु वास्तविकता के आधार पर मनुष्य स्थिर होकर खड़ा नहीं रह सकता।

विश्व के अलंघ्य विधान के कारण जब प्रत्येक मनुष्य को एक निर्दिष्ट सीमा के अन्दर ही रहना होगा तो उसके लिए और कुछ न हो सकना दोषणीय नहीं हो सकता। इसीलिए किसी विशेष प्रकाश को अत्यन्त मूल्य देना जैसा वेदनादायक है वैसा ही अनुचित भी प्रतीत होता है। इस जीवन में जो मैं कभी नहीं बन सकता, यदि उसी को जीवन का परम और सार्थक प्रकाश मानना पड़े तो मेरे लिए जीवन धारण करना ही एक उपहास जैसा मालूम हो सकता है। वास्तविक विचार में जो वस्तु जिस रूप में प्रकट हो रही है, उस वस्तु की वही यथार्थ सार्थकता है और उसी अर्थ में,

God's in His Heaven
And all's right with the world.

अर्थात् सभी अपने अपने में प्रतिष्ठित हैं।

परन्तु यदि इस वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य में परिवर्तन की चेष्टा ही बन्द हो जाय। जो कुछ जैसा है ठीक ही है, विश्वविधान में कहीं कोई त्रुटि नहीं है, यदि यही धारणा हम में होती तो नवीनतर प्रकाश के लिए प्रेरणा आती कहाँ से? जीवन-गति के पीछे असम्पूर्णता का बोध और अभाव की प्रेरणा है! मैं जैसा हूँ वह मेरा यथार्थ प्रकाश नहीं है, यह बोध ही तो मुझे एक प्रकाश से दूसरे प्रकाश की ओर, एक जमाने से दूसरे जमाने की ओर खींचे ले जा रहा है। हमारी कल्पना वास्तविक दृष्टि को ढक रखती है, कहती है, सामने का रास्ता तो अनन्त है, बैठे क्यों रहोगे!

कल्पना सृष्टि की प्रेरणा है। कल्पना प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख पहुँच के बाहर एक आदर्श को खड़ा कर देती है; मैं जो नहीं हो सका, वही आदर्श मानो दूर से बंशी बजा कर दूराभिसारी होने के लिए मुझे पुकारता है। छलनामयी कल्पना ही मनुष्य को अनन्त संभावना

का स्वप्न दिखा कर कुछ संभावनाओं की ओर खींच ले जाती है। दो कदम से ज्यादा आगे बढ़ना मेरे लिए संभव नहीं है, परन्तु कल्पना कभी, ऐसा कहना तो दूर, समझने तक नहीं देती। लेकिन संभवतः दो कदम चलने के लिए ही मेरी सृष्टि हुई है, संभव है इस विश्व व्यापार में विश्वविधाता मुझसे इससे अधिक प्रत्याशा भी नहीं रखते हैं। सृष्टि के अन्दर असत्य की छलना काम कर रही है, इसमें सन्देह नहीं।

किसी आदर्श की कल्पना, परम और चरम मूल्य की कल्पना यदि न रहे तो चलने की प्रेरणा भी नहीं आती; अथच आदर्श के अस्तित्व पर विश्वास व्यक्ति के लिए वेदनादायक भी है। आदर्श है इसीलिए तो असम्पूर्णता का बोध हृदय को पीड़ा देता है। इस दुःख से छुटकारा देने के लिए ही कल्पना मनुष्य को रहस्यवादी बना देती है। इसी रहस्यवाद की शाखा प्रशाखाएँ कहीं तो 'अहम् ब्रह्मास्मि'-वाद में, कहीं जन्मान्तर-वाद में, कहीं 'भक्त रक्षक भगवान्'—वाद में फैली हुई हैं। वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो ये सभी 'वाद' जीवनलीला का छल मात्र हैं।

इस में सन्देह नहीं कि रहस्यवाद मनुष्य को बहुत कुछ निश्चिन्त बना देता है। व्यक्तिगत रूप से मैं जो नहीं होसका अन्य किसी व्यक्ति में उसे देख कर स्वभावतः जो वेदना हो सकती है, रहस्यवाद मुझे उस वेदना से मुक्त करता है। मैं ही विश्वजगत् में भिन्न भिन्न रूपों में विराजमान हूँ, यदि ऐसी कल्पना को जाय तो व्यक्तिगत विशेष वेदना की निवृत्ति हो सकती है। अथवा इस जीवन में जो नहीं हो सका, एक विशेष व्यक्ति होने के नाते वह मेरी अपूर्णता है यह स्मरण करने में असुविधा भी है, वेदना भी है। परन्तु जन्मान्तर-वाद की सान्त्वना से मनुष्य उस वेदना को अतिक्रम करता है। जो आज नहीं हुआ वह कल संभव होगा ऐसा सोच कर जिस प्रकार सान्त्वना मिल सकती है वैसाही इस जीवन में जो संभव नहीं हुआ अगले जन्म में वह संभव होगा ऐसा सोच कर पर्याप्त ढाढ़स मिल सकता है। अथवा जो मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि मेरे लिए असाध्य है वह भी ईश्वर की विशेष कृपा से साध्य हो जायगा यह विश्वास भी कम सान्त्वना का कारण नहीं है।

वास्तविक-दृष्टि मनुष्यकी इन काल्पनिक सान्त्वनाओं से वंचित कर उसकी जीवन यात्रा को बहुत कठिन कर देती है इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु क्या मनुष्य सदा कठिन प्रयास से बचने के लिए काल्पनिक सान्त्वना की खोज में रहस्यवाद का ही शरण लेगा? व्यक्ति का जो वास्तव मूल्य है, क्या वह उसे प्रसन्नता से स्वीकार नहीं कर सकेगा? जो असीम है उसे असीम के रूप में कल्पना करने का जो दुर्निवार मोह है मनुष्य कब उससे मुक्त होगा? व्यक्ति के रूप में, व्यष्टि के रूप में मेरी जो सत्ता है वह इस जीवन की क्षुद्र सीमा में ही निःशेष है, इस अत्यन्त स्पष्ट सत्य को हम लोग क्यों स्वीकार करना नहीं चाहते? 'अस्ति' ही एक मात्र सत्य है और उसीके साथ अविच्छिन्न जो 'नास्ति' है उसे अस्वीकार करना क्या मनुष्य के लिए यह दुर्बलता नहीं है?

व्यक्ति मात्र ही विशेष देशकाल की परिधि में सत्य है उस परिधि को अनन्त कर व्यक्ति सत्ता को चिरन्तन प्रमाणित करने का प्रयास एक भ्रान्ति मात्र है। सुतराम् जब हम कहते हैं 'मैं हूँ' तो सर्वदा यह भी स्मरण रखना होगा कि मैं किसी विशेष देश में, विशेष काल में हूँ। इसीलिए यदि मुझे सफलता प्राप्त करना है तो उस सफलता को विशेष देश काल में ही प्राप्त करना होगा।

'All that I could never be,
All that men ignored in me,
This I was worth to God'

यह एक प्रकार दुर्बल की सान्त्वना मात्र ही है। अवश्य चारों ओर के मनुष्यों की स्वीकृति में ही व्यक्ति की चरम सार्थकता है, यह वास्तव में सत्य नहीं है; परन्तु व्यक्ति जीवन की सार्थकता किसी महिमामय भगवान के दरबार में भी नहीं है, यह जानने की आवश्यकता है। वास्तविक-दृष्टि को प्राप्त करने में सब से बड़ी बाधा मनुष्य का हृदय-दौर्बल्य है। दुर्बल मन सान्त्वना प्राप्त करने की आशा में कितने प्रकार की झूठी सान्त्वनाओं के सहारे जीवन धारण करने की चेष्टा करता है यह नवीन मनस्तत्त्ववेत्ताओं को अच्छी तरह ज्ञात है।

हमारी कल्पना वृत्ति इस हृदय-दौर्बल्य को बड़े

प्यार से जिला रखने की कोशिश करती है। हमारा वास्तविक बोध प्रति मुहूर्त कल्पना की छलना से विपर्यस्त होता है। असम्पूर्ण को सम्पूर्णरूप में देखने की कला में कल्पना बिलकुल अघटन-घटन-पटीयसी है। हमारी दृष्टि कभी भी किसी एक मुहूर्त में किसी वस्तु को परिपूर्ण रूप में नहीं देख सकती, किसी मूर्ति को जभी हम देखते हैं तो उसके एक ही प्रान्त को हम देख सकते हैं, किन्तु कल्पना की शक्ति से हम उस मूर्ति को चारों ओर से सम्पूर्ण देखते हैं, इस प्रकार से सम्पूर्ण देखने में जो भूल का बीज रहता हैं उसीसे कभी कभी उत्कट ट्रैजिडी की सृष्टि होती है। बालकों की एक कहानी में उस का विवरण है, आप लोगों ने उसे पढ़ा होगा। मैं यहाँ पर केवल चाक्षुष दर्शन की बात नहीं कर रहा हूँ। मनुष्य को समझने में भी हम इस प्रकार के मानसिक अभ्यास का प्रमाण पाते हैं। किसी व्यक्ति को जानने के लिए यह आवश्यक है कि कम से कम उस जानने के मुहूर्त में उसका परिचय अवश्य ही आंशिक होकर रहेगा। परन्तु हम लोगों का ऐसा अभ्यास है कि हम किसी व्यक्ति के एक ही हिस्से को जान कर उसी को पर्याप्त समझ बैठते हैं अथवा जितना जानते हैं उसी के साथ संगत कर उसका एक परिपूर्ण चित्र की कल्पना कर लेते हैं। इस प्रकार की भूल हम हमेशा किया करते हैं। पंडित जी के मुख से वेदान्त की निगूढ़ मर्मव्याख्या सुन कर हम सोचते हैं कि संसार के दैनन्दिन व्यापार में भी पंडित जी इसी दृष्टिकोण को लिए फिरते हैं। कवि के मुख से देश भक्ति की अमृतवाणी सुनकर हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि वास्तव जीवन में वह घोर स्वार्थान्वेषी और अर्थलिप्सु हो सकता है। उपन्यासकार के उपन्यासों में निन्दुकों के प्रति तीक्ष्ण व्यंग को देखकर हम ऐसा सोच बैठते हैं कि यह व्यक्ति स्वयम् बड़ा ही गुणग्राही होगा। परन्तु यह कल्पना की छलना मात्र है, जिनको कुछ भी वास्तव अनुभव है वही इसे स्वीकार करेंगे।

पर क्या कल्पना हमेशा हमें परिपूर्णता का झूठा स्वप्न ही दिखाया करती है? क्या किसी व्यक्ति के चरित्र के बारे में धारणा करने के लिए उस व्यक्ति को सभी सम्बन्धों में देखने की आवश्यकता है? सभी ओर से किसी व्यक्ति की जाँच करनेका मौका ही कहाँ है? और ऐसा न करने के कारण क्या हम पग-पग पर प्रवंचित ही होते हैं? अगर ऐसा नहीं तो, क्या ऐसा सोचना अनुचित होगा कि केवल बाहर से विचार करने की पद्धति के अलावा भी एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का सामग्रिक परिचय को एक ही साथ प्राप्त करना संभव है? जो हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के सामने अव्यक्त है, वही हमारी अनुभूति के सन्मुख किसी रहस्यपूर्ण उपाय से व्यक्त हो सकता है, एक ऐसी धारणा हमारे मन के अन्दर जमी हुई है इसीलिए उक्त प्रश्न के उत्तर देने में दुविधा मालूम होती है।

भग्न वृत्तांश को देख कर पूर्ण वृत्त की कल्पना मानव प्रकृति का एक धर्म है ऐसा कहना भी अत्युक्ति नहीं है। इसी लिए तो मनुष्य की बनाई हुई किसी वस्तु के एकांश को देखकर उसके अदृश्य अंश के बारे में अनुमान प्रायः ठीक भी होता है। यदि एक टूटे हुए घड़े के एक अंश को सामने रखा जाय तो उसका अदृश्य अंश कैसा है वह कहा जा सकता है। परन्तु किसी वृक्षके एकांश को देख कर अन्य अंश का आकार कैसा होगा यह कहना असंभव है। यह इस लिए भी नहीं है कि वृक्ष एक जीवित वस्तु है। पर्वत के एकांश को देख कर भी उसके अन्य अंशों की धारणा करना असंभव है। सुतराम् मनुष्य के भी एकांश को देखकर उस का पूरा ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है।

किन्तु कभी कभी हमारा अनुमान व्यर्थ नहीं होता है, इसका कारण है। विधाता की सृष्टिमें कोई भी वस्तु मानव कल्पना के अनुसार सम्पूर्ण नहीं है, यदि हम कल्पना करें कि विधाता के मन में परिपूर्णता के लिए चेष्टा है तो भी उनकी धारणा के साथ मानवीय पूर्णता की धारणा का कुछ सादृश्य है ऐसा नहीं प्रतीत होता। मनुष्य पूर्णरूप से विधाता की सृष्टि नहीं है। मनुष्य अपने को भी कुछ अंशों में बना रहा है और इसी लिए उसके अन्दर जो परिपूर्णता की धारणा हैं उसके लिए चेष्टा भी है। इसी लिए हम लोग क्रमागत नाना सम्बन्धों के बीच एक सामंजस्य स्थापित करते हैं, यद्यपि हमेशा उस सामंजस्य को हम रख नहीं सकते। जिस मनुष्यका विकास जितना बहुमुखी होता है उसमें हम उतना अधिक असामंजस्य देख पाते हैं।

जिन चरित्रों की अधिक जटिलता नहीं हैं, उनके सम्बन्ध में हमलोगों का अनुमान प्रायः सत्य निकलता है और उसीसे हम ऐसा सोच बैठते हैं कि मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व की धारणा करने के लिए कोई सूक्ष्मवृत्ति हमारे अन्दर जाग्रत होरही है। वस्तुतः इस प्रकार का विश्वास निराधार मालूम होता है।

कहानी उपन्यासों में जिन मानवचरित्रों से हमारी भेंट होती है उनके साथ वास्तव जगत् के मनुष्यों का कोई सादृश्य है कि नहीं यह एक विचारणीय विषय है। कहानीकार जिन चरित्रों की सृष्टि करते हैं उन्हें समझने में हमें विशेष आयास करना नहीं पड़ता क्योंकि वे कहानीकार के कल्पनानुसार एक सम्पूर्णरूप हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। उन चरित्रों की बनावट में एक ऐसी symmetry (सुडौलपन ?) रहती है कि उनके एकांश को देखकर अन्य अंशों की धारणा करना असंभव नहीं है। जो चरित्र जितना अधिक इस symmetry और संगति को मान कर चलता है उसे हम लोग उतना ही typical (प्रतिनिधित्व मूलक ?) समझते हैं और कहानीकार को भी उतनी ही प्रशंसा करते हैं। किन्तु वास्तव जीवन में मानव चरित्र कितना अधिक जटिल और रहस्यपूर्ण है; इसीलिए कहानी के मनुष्य और वास्तव मनुष्य में जमीन आसमान का फर्क है। मनुष्य के pattern और प्रकृति के pattern में जैसा गहरा अन्तर है वास्तव और कहानी में भी वैसा ही अन्तर है। कहानी पढ़कर जो मानव-चरित्र का ज्ञान होता है उससे वास्तव जीवन में किसी को लाभ हुआ है ऐसा सुना नहीं जाता। इसीलिए जब यह कहा जाता है कि कहानी साहित्य मानव जीवन का चित्र खींचता है तो उसके साथ एक राय होना कठिन मालूम होता है। साहित्य मानव कल्पना का खेल है; जीवन को यदि हम उसके द्वारा नियंत्रित करना चाहेंगे तो हमें बार-बार प्रतारित होना पड़ेगा, विपत्ति में वह हमें कभी बचा नहीं सकेगा।

सम्पूर्णता को लेकर खेलना ही आदर्शवादियों की साधना है। जो कभी होता उसी की सम्भाव्यता को मानकर निरुद्देश यात्रा का जो आनन्द है, वही आदर्शवादी के जीवन का पाथेय है। इस आनन्द का कोई भी मूल्य नहीं है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। बहुत से वास्तव दुःख विपत्तिओं के बीच में से निरुद्विग्न होकर चलने के लिए मानव-मन ने इस कल्पनास्त्र का आविष्कार किया है किन्तु इससे विपद का नाश नहीं किया जा सकता। पग पग काल्पनिक सान्त्वना से भय का नाश करने से ही, जिस दिन विपत्ति का आघात आ पड़ता है उस दिन भी उसे काल्पनिक माया कहकर हम उससे बच नहीं सकते। वास्तववादी होने के लिए चित्त की बलिष्ठता चाहिए, जो यथार्थ और अनिवार्य दुःख है उसे ग्रहण करने की शक्ति चाहिए। इस प्रकार से जो आगे बढ़ते हैं वही एक दिन दुःख को जीत भी सकते हैं, कल्पना नहीं।

बालकपन में रातके समय अन्धकार में जब बाहर निकलना पड़ता अथवा रास्ते पर चलना पड़ता था उस समय अदृश्य भूत के अस्तित्व के बारे में मैं निस्संशय था और वे मुझे किस विपत्ति में डाल सकते हैं यह मालूम न रहने के कारण उनके बारे में भय की मात्रा भी अपरिसीम थी। इसीलिए बड़ों के हाथ पकड़ आँख बन्द किए निर्भय होकर रास्ता चलने का काम करता था। उस छोटी अवस्था में भय को जीतने का न हो, कम से कम, उससे बचने का यह अभिनव उपाय प्राप्त कर मन में खुशी हुई थी। परन्तु आज उसे याद कर हँसी आ रही है। परन्तु यदि आज भी उसी उपाय से रात को पथ चलना पड़े तो लज्जा से मुँह छिपाने की जगह नहीं मिलेगी। लेकिन आदर्शवादियों की बात स्मरण कर मुझे बालकपन में भूत के भय से बचने की बात याद आती है। यदि सचमुच में डर की कोई बात होगी तो इस प्रकार आँख बन्द कर उससे बचने का जो अपमान है उसे मनुष्य क्यों स्वीकार करेगा? काल्पनिक भूत को इस प्रकार से जीतना अथवा उससे बचना संभव भी हो सकता है परन्तु वास्तविक विपत्ति से इस प्रकार से बचना तो असंभव है। जिस जंगल में डाकू हैं वहाँ से आँख बन्द कर चलने के पक्ष में एक ही युक्ति हो सकती है, वह यह है कि जिस समय लाठी पड़ेगी उसके पूर्व मुहूर्त पर्यन्त आतंक से छाती में धड़कन नहीं होगी—बस इतना ही।

क्या मनुष्य सदा ऐसा ही पुरुष रहेगा?

राष्ट्रपिता को श्रद्धाञ्जलि

मानवता सर्वप्रथम रोई थी २४३० वर्ष पहले जब करुणा, मैत्री और अहिंसा के प्रथम प्रचारक बुद्ध ने दो शाल वृक्षों के बीच में पार्थिव शरीर त्यागा था।

मानवता रोई थी जब ईसा को सूली पर लटका दिया गया था।

३० जनवरी की संध्या को मानवता आँसुओं में डूब गई, जब प्रार्थना के लिए जाते समय महात्मा गान्धी की हत्या कर दी गई। सौर मण्डल में परिभ्रमण करती हुई हमारी धरित्री भी उस दिन विलख उठी जब उसने देखा कि उसका चमकनेवाला रत्न लुप्त होगया—उसके पुत्रों को मैत्री और प्रेम का सन्देश देनेवाला, अखिल बन्धुत्व का प्रचार करनेवाला चिर-निद्रा में विलीन हो गया।

स्वर्गंगा की लहरों में हिलोरें लेनेवाली हमारी धरती को गर्व था कि मानव का अवतार उसी पर है—उसी पर मानव ने जन्म लिया, उसी को गोद में महामानव जन्मे। किन्तु ३० जनवरी की सान्ध्य-लोहित सूर्य-किरणें काँप उठीं जब हमारी पवित्र धरती की मुकुट मणि-गान्धी-को शैतान ने लूट लिया।

जो तपस्वी अन्तहीन भविष्य में निवास करते हैं, भविष्य में ही जिसका आनन्द, जिसकी आशा और गौरव निवास करता है, मानव सभ्यता उसी की रचना है। मृत्यु-गह्वर में जाकर जो अमृत को प्रमाणित करते हैं, मानव सभ्यता उन्हीं का दान है। चरम दुख में जाकर जो परम सुख का सन्धान करते हैं, मानव सभ्यता उन्हीं की देन है। आज की भारतीय सभ्यता महात्मा गान्धी की देन है। महात्मा गान्धी जी ने हमारे लिए, हमारी आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक स्वाधीनता के लिए चरम दुखका वरण किया था।

उन्होंने चरम दुख में रहकर हमारे लिए परमसुख का सन्धान किया—हमारी चेतना, हमारी प्रेरणा और हमारा उन्नत मस्तक चलना उन्हीं का दान है। हमारी स्वाधीनता उन्हीं की कृति है। वह अनेक बार अनशन करके मृत्यु-गह्वर में गए और मृत्यु-गह्वर में जाकर वह हमारे लिए अमृत लाए और अन्ततः मृत्यु-गह्वर में जाकर, हत्यारे की गोली खाकर—मरकर भी—उन्होंने हमारे लिए हिन्दू-मुसलिम एकता के अमृत को प्रमाणित किया। उन्होंने निरन्तर अन्तहीन भविष्य में निवास किया—भविष्य में ही उनका आनन्द, उनकी आशा और उनके कार्य का गौरव था। वह हममें, हमारे होकर, हमारे लिए विराजे और हमारे लिए ही वह शहीद हो गए—वह सीमित हो कर भी असीम थे और असीम में ही विलीन हो गए।

विपदे मोर रक्षा करो, ए नहे मोर प्रार्थना,
विपदे आमि ना जेन करि भय।
दुःख-तापे व्यथित चिते नाई बा दिले सान्त्वना,
दुःखे जेन करिते पारि जय।
सहाय मोर ना जदि जूटे निजेर बल ना जेन टूटे
संसारेते घटिले क्षति लाभिले शुधू वंचना
निजेर मने ना जेन मानि क्षय॥
आमारे तुमि करिबे त्राण ए नहे मोर प्रार्थना,
तरिते पारि शकति जेन रय।
आमार भार लाघव करि नाई वा दिले सान्त्वना
वहिते पारि एमनि जेन हय।
नम्र शिरे सुखेर दिने तोमारि मूख लइब चिने,
दुखेर राते निखिल धरा जे दिन करे वंचना
तोमारे जेन ना करि संशय॥

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हिन्दू फैसिज्म आ रहा है

महात्मा गान्धी जी की हत्या, मामूली हत्या नहीं, संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की हत्या है। उनका हत्यारा पढ़ा-लिखा शिक्षित, एक राजनीतिक दल का कार्यकर्त्ता और एक हिन्दू सभाई दैनिक पत्र का सम्पादक है। वह पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों वाला "पागल" नहीं है। उनकी हत्या का प्रयत्न बम द्वारा कुछ ही दिनों पूर्व हो चुका था। संसारके सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति पर बम फेंका गया और बम फेंकने वाले गिरोह का पता तब तक भारत सरकार के गृह-विभाग को न लगा जब तक उस गिरोह ने तत्काल दुबारा प्रयत्न करके महात्मा गान्धी जी कि हत्या न कर दी!

महात्मा गान्धी की हत्या एक व्यापक षड्यन्त्र का फल है। जितने महान व्यक्तिकी यह हत्या है, इसके पीछे उतना ही बड़ा षड्यन्त्र है। महात्मा जी की हत्या षड्यन्त्रकारियों की शक्तिकी परीक्षा की सबसे कठोर कसौटी है। षड्यन्त्रकारियों ने जान बूझकर अपने सर्वस्व को दाँव पर लगा दिया है—इस शक्ति परीक्षा में विफल होने पर वह सर्वथा निर्मूल भी हो सकते हैं और सफल हो जाने पर वह सर्वस्व (राज्य-शक्ति) को प्राप्त भी कर सकते हैं। ऐसा व्यापक है यह षड्यन्त्र और ऐसी कठोर है यह हत्या!

इतने व्यापक षड्यन्त्र का पता भारत सरकार के गृह-विभाग को नहीं था या उसने इसका पता रखना अपने समय का अपव्यय समझा अथवा इसके लिए उसके विभाग को फुर्सत नहीं थी; यह सब हम नहीं जानते। हम इतना जानते हैं कि राष्ट्रपिता से मिलने के लिए गृह-विभाग के मन्त्री को फुर्सत नहीं रहा करती थी, जिसकी चर्चा महात्माजी ने अपने अनशन वाले वक्तव्य में की थी। और जब राष्ट्रपिता से मिलने की फुर्सत नहीं, तो उनकी रक्षा के झंझट में कौन पड़े। कहा जाता है कि ८०% सी० आई० डी० पाकिस्तान चले गए थे। पर यह नहीं बताया गया कि बचे हुए २०% में से कितने प्रतिशत सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों के पीछे लगाए गए तथा कितने प्रतिशत राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ के पीछे? इसको बताने की क्या जरूरत? राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को तो स्वराष्ट्र विभाग अपना अनुयायी बनाने की फिक्र में था।

हमने महात्मा गान्धी जी की हत्या के दुखद अवसर पर एक और आश्चर्य देखा कि महात्मा जी की मृत्यु के तुरंत बाद रेडियो पर सिर्फ प्रधान मन्त्री का ही भाषण पर्याप्त, नहीं समझा गया। उपप्रधान मन्त्री का बोलना भी जरूरी माना गया!

× × ×

जिस समय महात्मा गान्धी जी की चिता में अग्नि की लपटें उठ रही थीं, उस समय हिन्दू विश्व-विद्यालय के वे छात्र जो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य थे, खुशी मना रहे थे, खुशी में मिठाई खा और बांट रहे थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कुछ सदस्यों के यहाँ प्रगतिशील विद्यार्थियों ने धावा बोलकर तलाशी ली तो महात्मा जी के हत्यारे द्वारा लिखी एक ऐसी पुस्तिका मिली, जिसमें महात्मा गान्धी पर मुसलमानों के साथ मिलकर हिन्दुओं का अहित करने का अभियोग लगाया गया था। हत्यारे का चित्र भी मिला। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा हड़ताल को रोकने की कोशिश भी देखी गई। ये सारी चीजें निश्चय ही महात्मा जी की हत्या के बहुत पहले ही संघ की सभी शाखाओं के पास भेजी गई होंगी। पर भारत सरकार के गृह-विभाग को षड्यन्त्र का पता नहीं था!

× × ×

महात्मा गान्धी जी ने अँग्रेजी साम्राज्य से ३१ साल तक लगातार संघर्ष किया। ब्रिटिश साम्राज्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न को छीनने का लगातार प्रयत्न करके सफलता प्राप्त की। अनेक बार प्राणों की बाजी लगा दी। पर उस समय गान्धी जी के शरीर का कुछ न बिगड़ा। अँग्रेजी साम्राज्य ने अपने शत्रु महात्मा गान्धी जी के शरीर की रक्षा की। और भारतवर्ष के स्वतन्त्र

हा जाने पर भारत राष्ट्र के पिता की हत्या के षड्यन्त्र का पता, गांधी जी के सबसे बड़े अनुयायी विलक्षण बुद्धि सरदार पटेल के गृह-विभाग को नहीं था !!!

× × ×

हिन्दुस्तान का पाकिस्तान के रूप में बँटवारा कांग्रेस की गलत राजनीति का परिणाम था। यह गलत राजनीति बहुत कुछ हमारे सामाजिक जीवन से उद्भूत थी। इस गलत राजनीति के मार्जन का समय १९४५ में नाविक विद्रोह और आज़ाद हिन्द फौज के आन्दोलन के अवसर पर था। उस समय हिन्दू-मुसलमान एक उद्देश्य से एक हो रहे थे। उस समय यदि कांग्रेस इस क्रान्तिकारी भावना का नेतृत्व करती तो उसका प्रभाव मुसलिम लीग पर भी पड़ता और उसके नेतृत्व में परिवर्तन होता। इससे देश क्रान्ति के पथ पर आगे बढ़ता। पर वह क्रान्ति पूंजीवादी न होकर समाजवादी होती। समाजवादी क्रांति से कांग्रेसी नेतृत्व सशंक था—इससे हिन्दू पूंजीपतियोंके स्वार्थपर आघात लगता था। इसीलिए अंग्रेजों से समझौता किया गया। इस समझौता से मुसलिम पूंजीपतियों के हित के लिए पाकिस्तान नामक एक अलग राष्ट्र की सृष्टि हुई। मुसलिम बूर्जुआ श्रेणी ने अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिकता का और हिन्दू विद्वेष का सहारा लिया। वर्ग-संघर्ष का भारतवर्ष में यही तरीका सम्भव था। इसकी प्रतिक्रिया हिन्दुओं में भी हुई।

हिन्दू प्रतिक्रिया के उभड़ते ही हिन्दू महासभा सजग हो गई। हिन्दू महासभा की सैनिक-पूरक संस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सामने आया। इसने हिन्दुस्तान से मुसलमानों को नष्ट करने का निश्चय किया। अनेक राजाओं महाराजाओं द्वारा पालित इस संस्था ने अनेक स्थानों पर मुसलमानों का कत्लेआम करवाया। किन्तु महात्मा गान्धीजी ने कांग्रेस को हिन्दू-मुसलिम एकता पर संगठित किया था। महात्मा गान्धीजी ने हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए अपने सम्पूर्ण प्रयत्न शुरू कर दिए। नोआखाली गए। वहां शान्ति कायम की। कलकत्ता में जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उद्योग से मुसलमानों का सफाया शुरू हुआ तो उन्होंने अनशन शुरू किया। उनके प्रयत्न से कलकत्ता में शान्ति कायम हुई। फिर दिल्ली में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघवालों ने मुसलमानों का कत्लेआम शुरू करवाया। इस समय संघ वालों की यह कोशिश थी कि राष्ट्रीय सरकार के अधिकारियों को कैद कर के कांग्रेस के उच्च नेताओं को कत्ल कर दिया जाय। कहा जाता है कलकत्तामें हथियारों से लैस ऐसी तयारी थी, जिनसे वक्त आने पर दिल्ली में काम लिया जाता, किन्तु महात्माजी दिल्ली पहुँच गए। उन्होंने अपनी अद्भुत कुशलता से दिल्ली की परिस्थिति को सम्हाला। पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के साथ राजाओं का समुदाय था। राजाओं द्वारा उसको रुपया और हथियार मिलता था। इसलिए दिल्ली के आसपास सर्वत्र दंगा फैल गया। काश्मीर का राजा भी संघवालों के साथ था। उसने काश्मीर में कई स्थानों पर मुसलमानों का कत्लेआम करवाया। चारों ओर कटुता और विद्रोह का वातावरण गरम हो गया। पर इस तप्त वातावरण में भी गान्धीजी शान्ति कायम करते रहे—हिन्दू मुसलिम एकता का वातावरण पैदा करते रहे।

इस तरह हिन्दू महासभा और राजाओं द्वारा नियोजित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उद्योग में महात्मा गान्धी सर्वत्र बाधक सिद्ध होते रहे। राजाओं के स्वार्थ में गान्धीजी इधर सबसे ज्यादा बाधक सिद्ध हो रहे थे। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से कुछ समाजवादी नेताओं से चर्चा करते हुए यहाँ तक कहा था कि—क्यों न काश्मीर के राजा को पदच्युत कर दिया जाय? उसने मुसलमानों का कत्लेआम करवाया है। पर, सरदार कहेंगे कि इससे राजा लोग नाराज हो जायंगे। किन्तु क्या हुआ, एक बार ही सबका फैसला हो जायगा।' किन्तु महात्मा गान्धीजी की इन बातों को कांग्रेस के सत्ताधारी अधिकारी नहीं मानते थे। यहाँ तक कि गान्धीजी से मिलने के लिए सत्ताधारी अधिकारी और उसके सेक्रेटरी तक के पास वक्त नहीं रह गया था। महात्मा जी ने अपने हाल के अनशन के समय जो वक्तव्य दिया था, उसमें इन सभी बातों की ओर इशारा था। किन्तु निरंकुश सत्ताधारी अधिकारी ने तो कह दिया था कि राजाओं के विरुद्ध आन्दोलन करने का वक्त चला गया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को भी उसने देश सेवकोंकी संस्था कहना शुरू कर दिया था।

यह सत्ताधारी अधिकारी भारतीय सरकार के गृह सचिव सरदार वल्लभ भाई पटेल थे।

× × ×

सरदार वल्लभ भाई पटेल ने इधर हाल में जितने वक्तव्य दिए हैं, उनमें दो बातें निश्चित रूपसे हैं—(१) भारतीय पूंजीपतियों और उद्योगपतियों को भारतीय सरकार से सशंक न होना चाहिए। उनके हित के लिए ही सरकार ने उनके वर्ग का एक व्यक्ति मन्त्रिमण्डल में लिया है। सरकार उनके हितों की रक्षा करेगी। राजाओं को डरने की कोई बात नहीं है। उनके हितों की रक्षा सरकार करेगी। (२) मजदूरों का हित इसीमें है कि वे राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन में रहें। दूसरी सभी यूनियनों को नष्ट कर दिया जायगा। समाजवादियों को कुचल दिया जायगा। नागरिक स्वाधीनता की बात करना गुनाह है। नागरिक स्वाधीनता की बात करनेवालों को कुचल दिया जायगा।

सरदार वल्लभ भाई पटेल का इधर का रुख ऐसा था जिससे सभी किस्म के प्रतिक्रियाशील श्रेणियों को प्रोत्साहन मिलता था। उनकी वाणी में भारतीय प्रतिक्रिया बोलती थी। वह भारतीय प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

किन्तु उनके लिए भी महात्मा गान्धी जी का व्यक्तित्व एक रोक था—एक ब्रेक था।

और महात्मा गान्धी जी की वाणी में प्रगति थी, विकास था। गान्धी जी भारतीय मुसलमानों के जीवन प्राण थे, महात्माजी किसानों के सर्वस्व थे, महात्माजी मजदूरों के हितचिन्तक थे, महात्माजी नागरिक स्वाधीनता के हामी थे, महात्माजी भारतवर्ष में जनतन्त्र के सबसे बड़े सैनिक थे। महात्मा गान्धी शान्ति के देवदूत थे, अहिंसा के अवतार थे। अतः महात्मा गान्धीजी भारतवर्ष में फैसिज्म, नाजिज्म और सैनिकवाद के लिए सबसे बड़ी बाधा थे। उनके जीवित रहते भारतवर्ष में फैसिज्म, नाजिज्म (धर्म, जाति या रक्त की शुद्धता या राष्ट्र की शुद्धता पर आधारित) और सैनिकवाद असम्भव था।

किन्तु महात्मा गान्धीजी की हत्या, संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकी हत्या, भारत राष्ट्र के जीवन-प्राण की हत्या, एक भयंकर दुस्साहस! यह दुस्साहस राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने किया। निश्चय ही इस दुस्साहस के समय उसने अपने सर्वस्व की बाजी लगाई है। यदि भारत राष्ट्र की जनता—हिन्दू, मुसलिम और अछूत भारतीय जनता ने—इस हत्या को न बर्दाश्त किया, उसका क्रोध उबल पड़ा और सदा का गान्धी-भक्त सरदार पटेल इसे न बर्दाश्त कर सका, उसका क्रोध उबल पड़ा, तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का उन्मूलन निश्चित है। और यदि भारतीय जनता का क्रोध न भड़का, सरदार पटेल ने बर्दाश्त कर लिया, तो भारत राष्ट्र में हिन्दू फैसिज्म निश्चित है।

—बैजनाथसिंह "विनोद"

क्रान्तिकारियों का आह्वान

हम यह मानते है कि जहाँ भी हमारी वाणी पहुँचती है, वहाँ क्रान्तिकारी हैं। "जनवाणी" कर्मरत क्रान्तिकारियों की है। इसलिए हम क्रान्तिकारियों का आह्वान करते हैं। हम ऊर्ध्व कंठ से कहते हैं—साथियों फैसिज्म आरहा है, सावधान!

हमने जब से होश सम्हाला है हमारे हाथों में क्रान्ति की जलती मशाल रही है। हम उन क्रान्तिकारियों की परम्परा के वाहक हैं जिन्हों ने मौत से जीना सीखा है। हम में शहीदों का प्राण है। हमारे साथी अपनी परम्परा मरते वक्त हमारे कन्धों पर दे गए हैं। साथियो उठो फैसिज्म आरहा है।

साथियो, तुम कुछ मोहग्रस्त हो गए—तुम पर किसी ने मोह-चूर्ण डाल दिया है। तुमने समझ लिया कि स्वराज्य मिल गया, अब क्या? किन्तु यह तुम्हारा

भ्रम है। तुमको स्वराज्य नहीं फैसिज्म की फाँसी मिली है। यह फाँसी का फन्दा जिस लकड़ी से बंधा है, वह भारतीय रजवाड़े और जमीन्दार (सामन्ती अवशेष) हैं और इसकी रस्सी हैं भारतीय पूँजीपति। यह फाँसी का फन्दा तुमको (तुम्हारे राष्ट्र को) जिस अन्धकूप में तड़पता हुआ गिराएगा, वह है हिन्दू महासभा। और फाँसी देने वाला जल्लाद है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ! इस जल्लाद ने हमारे राष्ट्रपिता को मारा— महात्मा गान्धी की हत्या की। अब सम्पूर्ण राष्ट्र की बारी है। साथियों सावधान,—हिन्दू फैसिज्म आ रहा है।

यदि हमने सम्हलने में देरी की, तो राष्ट्रका सारा विकास खतम हो जायगा। मनुकी व्यवस्था चलेगी, जिसमें शूद्रोंके लिए अलग बाड़ा कायम किया जायगा, छुआ छूत को राजनियम बना दिया जायगा, शूद्रों को अपढ़ गरीब और गुलाम बनादिया जायगा, स्त्रियों के लिए भी मनुकी व्यवस्था कायम होगी। सती-दाह की प्रथा पुनः प्रचलित होगी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ महाराष्ट्र का कलंक है। इसके सभी जगह के प्रमुख संगठनकारी शुद्ध हिन्दू राजतन्त्रवादी होते हैं। इसके अन्दर यह राजनीतिक प्रेरणा भी निहित रहती है कि मराठों से अंग्रेजों ने राज छीना है, अतः अंग्रेजों के जाने के बाद पुनः मराठा पद पादशाही कायम की जाय। राजा लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के साथ हैं। इसलिए भारतवर्ष में पुनः निरंकुश राजतन्त्र कायम किया जायगा। जब कि संसार में सर्वत्र प्रजातन्त्र की भावना है, तब भारतवर्ष को मध्यकालीन राजतन्त्र की स्थिति में ले जायगा यह हिन्दू फैसिज्म। इसलिए साथियो सावधान! यदि अभी नहीं तो कभी नहीं। यदिइसशैतानको मौका और मिला तो यह हमारे राष्ट्रनायक पं० जवाहरलाल नेहरूकी भी हत्या करेगा—साथी जयप्रकाश की भी हत्या करेगा। अतः साथियो सावधान!

साथियो, तुम जहाँ हो वहीं से इस शैतान पर हमला करदो। जरा भी मौका मतदो इसे सम्हलने का। इस शैतान के सम्बन्ध में किसी भी चिकनी जीभवाले की वकालत मत सुनो। इस फैसिज्य के शैतान पर हमला करो, हमला करो, हमला करो।

अर्थात्—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके प्रमुख व्यक्तियों का सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार करो। हिन्दू राज्य, हिन्दू महासभा और सम्प्रदायवाद की मनोवृत्ति को खत्म करो।

साथियो, रुको मत, मुड़ो मत—आगे बढ़ो। जमीन्दारी खत्म करने के लिए किसान मोर्चा तेज करो— बकाश्त संघर्ष तेज करो। मौत या जीत का नारा बुलन्द करो। मजदूर मोर्चा तेज करो। राष्ट्रीय ट्रेड-यूनियन के संगठनकारियों का बहिष्कार करो—मजदूरों में वर्ग-भावना तेज करो। यदि तुम देशी रियासतों में हो, तो वहाँ जिम्मेदार हुकूमत के लिए आन्दोलन छेड़ दो—खद्दरपोश गद्दार बहेलियों के फेर में मत फँसो। फैसिज्म के जितने उपजीव्य हैं सब पर हमला करो, हमला करो, हमला करो!

साथियों, तुममें क्रान्तिकारी शहीदों की आत्मा है, तुम क्रान्ति की परम्परा के वाहक हो। तुक जहाँ भी हो, वहीं से बिजली की तरह कड़क कर इस फैसिज्म पर टूट पड़ो। अपने वज्राघात से चूर चूर कर दो इस शैतान को।

साथियो, तुमको बुद्ध और गान्धी की सौगन्ध! इस हिन्दू फैसिज्म को मिटा दो, मिटा दो, मिटा दो।

—बैजनाथसिंह "विनोद"

अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति का अभिभाषण

अ०भा०हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने बम्बई के अपने ३५ वें अधिवेशन का सभापति महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन को चुना। राहुल सांकृत्यायन एक युग से हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहे हैं। हिन्दी में बौद्ध साहित्य को लाने का श्रेय राहुलजी को विशेष है और आज तो ऐसी स्थिति है कि भारतीय भाषाओं में जहाँ तक बौद्ध साहित्य का सम्बन्ध है, हिन्दी अग्रणी है। राहुल जी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है तिब्बत के मठों में दबे पड़े बौद्ध साहित्य का उद्धार। अपने इस एक कार्य के लिए वह भारतीय साहित्य के इतिहास में अमर रहेंगे।

अ०भा०हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से दिया हुआ राहुल जी का अभिभाषण हमारे सामने है। राहुल जी के करीब चार ग्रन्थों को छोड़ कर उनके सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को हमने देखा है। व्यंग और कटुता से कहीं भी वे अछूते नहीं मिले। जिन चार ग्रन्थों को हमने नहीं देखा है, उनमें भी उनकी व्यंग और कटुता होगी इसे हम जानते हैं। व्यंग और कटुता बुरी ही है, यह हम नहीं कहते। जहाँ तक हमारी जानकारी है यह साहित्य सम्मेलन का अभिभाषण ही है, जिसमें राहुल जी शान्त, सुन्दर और व्यवस्थित हैं। इस दृष्टि से सम्पूर्ण राहुल-साहित्य में यह अभिभाषण महत्त्वपूर्ण है!

इस अभिभाषण में सर्व प्रथम हिन्दी को राष्ट्रभाषा के आसन पर आसीन करने के लिए प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। और भी सभापतियों ने ऐसा किया है, पर वे राहुल जी के स्तरतक न जासके! राहुलजी ने अहिन्दी प्रान्तों के लिए स्पष्ट कहा है कि—"अपने क्षेत्र में वहाँ की भाषा ही सर्वे-सर्वा होगी।"... "हिन्दी का काम तो वहीं पड़ेगा, जहाँ एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से सम्बन्ध होगा।" उसके प्रमाण में उन्होंने सर्वथा नवीन बात कही है—"सन्यासियों के अखाड़ों और स्थानों को जाके देखिए या वैरागी अखाड़ों या स्थानों को देखिए; वह समुद्र की तरह हैं, जहाँ सचमुच ही सैकड़ों नदियाँ जाकर मिलती हैं और नाम रूप विहाय समुद्र बन जाती। इन अखाड़ों की बड़ी बड़ी जमातें चलती हैं और कुम्भ के मेलों के वक्त तो उनकी संख्या लाखों तक पहुँच जाती है। वहाँ जाकर पता लगाइए कि मालाबारी, तेलगू, नेपाली, बंगाली, पंजाबी और सिन्धी साधु-सन्यासी किस भाषा में आपस में बात चीत करते हैं? हिन्दी में और सिर्फ हिन्दी में।" किन्तु सरल हिन्दी में, लोक प्रचलित हिन्दी में, संस्कृत निष्ठ हिन्दी में नहीं।

लिपिके सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—"राष्ट्रभाषा हिन्दी स्वीकार करनेपर भी कोई कोई भाई रोमन लिपि स्वीकार करने के लिए कह रहे हैं। क्या वह अधिक वैज्ञानिक है? वैज्ञानिकता का मतलब है, लिपिका उच्चारण के अधिक अनुरूप होना। लेकिन रोमन लिपि के २६ अक्षर हमारे सारे उच्चारणों को प्रकट नहीं कर सकते। नागरी अक्षरों में हम उससे ज्यादा शुद्ध रूपसे किसी भी भाषा को लिख सकते हैं, और बिना चिन्ह दिए। चिन्ह देने पर रोमन में जितने पेबन्द लगाए जाते हैं, उससे कम ही चिन्हों को लगाकर नागरी द्वारा इस दुनिया की हर भाषा के शब्दों को उच्चारणानुसार लिख सकते हैं। इसलिए जहाँ तक उच्चारण का सम्बन्ध है, हमारी नागरी दुनिया की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है!" इसके प्रमाण में उन्होंने अपने अभिभाषण में ७ नक्शे भी दिए हैं। आगे उन्होंने सुझाव दिया है कि उर्दू वाले भी अपनी भाषा को नागरी लिपि द्वारा पढ़ें। यही उपयुक्त भी है। उर्दू के कठिन उच्चारण भी देव नागरी लिपि में लिखे जासकते हैं; पर 'नरेन्द्र देव' और 'जयप्रकाश' जैसे शब्द भी उर्दू में ठीक नहीं लिखे जासकते। और यदि उर्दू वाले देवनागरी को अपना लें तो अपनी मुहावरेदार भाषा और उस भाषा की चुस्ती के कारण वह सम्पूर्ण हिन्दी जगत को प्रभावित भी कर सकते हैं। उर्दू वाले देवनागरी लिपि को अपना कर कुछ खो नहीं सकते, बल्कि बहुत कुछ पा सकते हैं— यदि दुराग्रह छोड़ दें।

भारतीय मुसलमानों के सम्बन्ध में राहुल जी ने एक भ्रामक सुझाव दिया है। उन्होंने कहा है— "नवीन भारत ऐसे मुसलमानों को चाहेगा, जो अपने धर्म के पक्के हों, किन्तु साथ ही उनकी भाषा, वेश-भूषा और खान-पान में दूसरे भारतीयों से कोई अन्तर न हो,

भारत के गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति आदर रखने में वे दूसरों से पीछे न हों। भारतीय संघ के मुसलमानों में भी आज की तीसरी पीढ़ी में हिन्दी के अच्छे अच्छे कवि और लेखक उसी परिमाण में होंगे, जिस परिमाण में वे आज उर्दू में हैं। वह समय भी नजदीक आएगा, जब कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति कोई हिन्दी का धुरन्धर साहित्यकार मुसलमान होगा।" यदि राहुल जी का कहना है कि आज भारत के मुसलमानों की वेशभूषा भारतीय नहीं है, तो हम नहीं मानते। तुर्की टोपी को छोड़ कर सम्पूर्ण पोशाक मुसलमानों के आने के पूर्व भारत में था। मुसलमानोंके अनेक सामाजिक रस्म रिवाज भी शुद्ध भारतीय हैं। नृतत्त्व की दृष्टि से यहाँ के मुसलमान शुद्ध भारतीय ही हैं। उर्दू भी गैर भारतीय नहीं है, बल्कि भारत के बाहर उर्दू नहीं है। यदि अभारतीय कुछ है, तो उर्दू लिपि। पर इतने से ही मुसलमान गैर भारतीय नहीं हो सकते। इसलिए राहुल जी के इस कथन को हम अतिरिक्त मानते हैं।

हिन्दी के भावी व्यापक स्वरूप के सम्बन्ध में राहुल जी ने सुझाव दिया है—"हिन्दी जिनकी अपनी भाषा नहीं है, उनके लिए व्यवहारोपयोगी हिन्दी भाषा तैयार करनी होगी। इसमें प्रथम-मध्यम-उत्तम पुरुष का क्रिया-भेद नहीं रहे और वचन में सिर्फ़ बहुवचन क्रिया का प्रयोग होना चाहिए। स्पष्ट बहुवचन दिखाने के लिए शब्द के साथ 'लोग' का प्रयोग किया जाय। विभक्ति के चिन्हों में भी सरलता लाने के लिए उनके कितने ही भेदों को छोड़ दिया जाय। व्यवहारोपयोगी भाषा के लिए सारे भारतीय भाषाओं से डेढ़-दो हजार अत्यावश्यक शब्दों का एक शब्द-कोष संग्रहीत किया जाय—अर्थात् ऐसे शब्दों को चुना जाय, जो मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी, आसामिया, बँगला, उड़िया तथा तेलगू, कर्णाटक, मलयालम आदि में भी समान रूप से प्रयुक्त होते हों।" राहुल जी का यह सुझाव जनतान्त्रिक, व्यवहारिक और बहुजन मान्य होगा। डा० रघुवीर के शब्दकोष में हठपूर्ण गढ़ी भाषा से भारत राष्ट्र का कल्याण सम्भव नहीं। राहुल जी के उपयुक्त सुझाव से ही राष्ट्र की सर्वमान्य भाषा—राष्ट्र भाषा—सम्भव है, अन्य प्रकार से नहीं। पर सवाल है हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्था से आशा ही क्या ?

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि की नाना समस्याओं में ही राहुल जी ने अपने भाषण को समाप्त नहीं किया है। उन्होंने हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों की समस्याओं पर भी ध्यान दिया है। किन्तु साहित्य की दिशा में जिस पथ-प्रदर्शन की उनसे आशा थी, वैसा कुछ भाषण में नहीं दिखा। ऐसा लगता है कि लगे हाथों साहित्य पर भी उन्होंने कुछ कह दिया। साहित्यकारों की समस्या के सम्बन्ध में राहुल जी के सुझाव कुछ तो उपयोगी और कुछ सुन्दर कल्पना हैं। साहित्य सम्मेलन के सम्बन्ध में उनके सुझाव सुन्दर कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि प्रकाशन के सम्बन्ध में साधन सम्पन्न होनेपर भी साहित्य सम्मेलन से बढ़ कर निकम्मी संस्था कोई नहीं है। उसकी परीक्षा में पढ़ाए जाने वाले ग्रन्थ अप्राप्त हैं। उसके प्रकाशित ग्रन्थों के जानने का साधन साधारण जनता के लिए दुर्लभ है। योग्य विद्वानों को शोध आदि कार्यों में उसने नहीं लगाया है। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित करने की दिशा में सिर्फ "जातक" के अनुवाद के उसने और कुछ नहीं किया है। जहाँ तक 'रायल्टी' की बात है राहुल जी को खुद ही अपने बताए नियमों पर आना होगा—अर्थात् अपने प्रकाशक "किताब महल" को २०% 'रायल्टी' देने के लिए मजबूर करना होगा। हां, राहुल जी ने एक और सुझाव दिया है, जिसका सम्बन्ध सरकार से है और वह यह है:—"१५ अगस्त से पहले के कानून के अनुसार प्रकाशकों को जो हक़ मिल चुके हैं, उन्हें हर हालत में मंसूख हो जाना चाहिए, और लेखकों को फिर अपनी कृतियाँ मिल जानी चाहिए।" हम इस सुझाव का समर्थन करते हैं।

राहुल जी का सम्पूर्ण भाषण सामयिक और सुन्दर है। उन्होंने जो विचार रखे हैं, उस पर कोई भी विचारशील व्यक्ति सोचने के लिए मजबूर होगा, पर सवाल यह है कि क्या साहित्य सम्मेलन खुद उनके विचारों को कार्यरूप में परिणत कर सकेगा? हमें साहित्य सम्मेलन से ऐसी आशा नहीं है। पर यदि साहित्य सम्मेलन कुछ कर सका तो समाज का कल्याण ही होगा।

—बैजनाथसिंह "विनोद"

सम्पादकीय

आचार्य नरेन्द्रदेव

श्री वी० पी० सिन्हा

श्री राजाराम शास्त्री

श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'

साहित्य की छानबीन

श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'

समाजवादी की डायरी

ज न वा णी

मार्च १९४८

विषय-सूची

व्यवस्थापक "जनवाणी",
जनवाणी प्रेस एन्ड पब्लिकेशंस लिमिटेड,
गोदौलिया, बनारस ।

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग एक प्रति का ।।।)
काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष २, भाग १] मार्च १९४८ [अङ्क ३, पूर्णाङ्क १५

अघटन घटना क्या समाधान !!

श्री "दिनकर"

उस दिन अभागिनी संध्या की
अभिशप्त गोद में गिरे
देश के पिता
राष्ट्र के कर्णधार
जग के नरसत्तम,
भारत के बापू महान
प्रार्थना-मंच पर इन्द्रप्रस्थ के अंचल में
गोली खाकर ।

कहने में जीभ सिहरती है,
मूर्छित हो जाती कलम,
हाय, हिन्दू ही था वह हत्यारा

तब भी बापू की छाती से
करुणा ही अन्तिम बार वेग से बह निकली
शोणित का बन कर स्रोत ; स्यात्
मानव के निर्घिन चरम पाप को देख विकल
लज्जित होकर हो गई लाल
गंगाजल-सी परिपूत,
दूध-सी निर्मल-धवल अहिंसा ही ।

कूटस्थ पुरुष ने किया मृत्यु का सहज वरण,
बोले केवल "हे राम" और आनन्दलीन
आनन पर धारे शान्ति जोड़ कर-कंज गिरे
प्रार्थना-निरत होकर अदृश्य के चरणों पर ;
अन्तिम प्रार्थना, न होता जिसका अन्त कभी ।

काँपा सहसा ब्रह्माण्ड,
प्रकृति चीत्कार उठी,
रुक गई सृष्टि के उर की एक घड़ी धड़कन
मानों तीनों गोलियाँ गई हों
समा उसी की छाती में

मंज़िल पाने की मूल-प्रेरणा का उठान ।
जीवन का शाश्वत-बिरवा यह
पथिकों के लिए फले-फूले
आँधी पानी-उल्का-तूफ़ान-बवंडर को
हँसकर झेले
सिहरे न कँपे
जड़ तक न हिले
इसलिए बन गए स्वयं खाद ।

सदियाँ बीतें, युग कल्प मिटें
मानवता कभी न भूलेगी,
हे माली, यह उत्सर्ग मूक बलि हो जानेकी अमर-साध ।
यदि हम हैं देव, तुम्हारे ही
जोते-बोए-सींचे अंकुर
यदि हम में देव, तुम्हारी ही
मिट्टी की संचित-शक्ति मुखर,
तो बापू, हम निर्द्वंद
तुम्हारे आदर्शों की छाया में
यह दीपक सत्य-अहिंसा का
पल भर न कभी बुझाने देंगे,
विश्वास-प्रेम की वेदी पर
झंडा न कभी झुकने देंगे,
जब तलक रक्त की एक बूँद भी
शेष हमारी काया में ।
कालीदह के कालिया नाग को फिर नाथेंगे कुचलेंगे,
ज़हरीले दाँत उखाड़ सिंधु की लहरों में लय कर देंगे,
हम अनाचार-बर्बरता-हिंसा से कर देंगे मुक्त मही,
कहने सुनने को भी न मिलेंगे आस्तीन के साँप कहीं,

बापू,
हम लेते शपथ तुम्हारे सत्य-प्रेम मय जीवन की,
अंतिम आहुति के क्षण में बिखरे उष्ण रक्तमय चंदनकी,
हत्यारे के प्रति क्षमाशील उन्मुक्त हृदय अभिनंदन की,
हम एक आन पर कोटि कोटि
प्राणों की भेंट चढ़ा देंगे,
सपनों को सत्य बना देंगे ।
भाई भाई न लड़ेंगे अब
बिछुड़ों को गले लगाएंगे ।
हम अंधकार की छाती पर
नव-जीवन ज्योति जगाएंगे ।
रावण का कारण-बीज नष्ट करने को उद्यत वसुंधरा।
मिट नहीं सकेगी शांति-स्नेह-समता की निर्मल परंपरा ।

समाजवादी प्रगति और गांधी जी

श्री निरञ्जनकुमार शास्त्री

समाज की तत्कालीन व्यवस्थाओं द्वारा जब उसके विकास की गति अवरुद्ध-सी हो जाती है और सामाजिक समस्याओं का निराकरण उन पूर्व कालीन व्यवस्थाओं एवं संस्थाओं द्वारा नहीं हो पाता, नई परिस्थितियों का प्रादुर्भाव होने लगता है और आन्तरिक विरोधाभासों के कारण सामाजिक शृंखलाएं छिन्न-भिन्न होने लगती हैं, तब ऐसी ही परिस्थितियों के मध्य उन समस्याओं के निराकरण हेतु ऐसे जननायक का आविर्भाव होता है जो जनता की गतिविधि पहचान, उनकी अन्तः प्रवृत्तियों का अध्ययन कर और सामाजिक गति के स्वाभाविक प्रवाह की पहचान के आधार पर तदनुकूल पथ-प्रदर्शन द्वारा परिस्थियों का विधायक एवं निर्दिष्ट कर्ता बन जाता है और समाज की मनोदशा परिवर्तित कर अपने विचारों एवं मार्गों के अनुकूल प्रवाहित करने में सफल होता है। जननायक जन भावनाओं का प्रतीक होता है और सामाजिक गति विधि का अध्ययन कर जनशक्ति को मनोनुकूल दिशा की ओर प्रवाहित करने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टि से गांधी जी एक सच्चे जननायक थे और इसीलिए वे एक युग के निर्माता बने। उन्होंने हमारे राष्ट्रीय संघर्ष का अन्त तक सफल नेतृत्व किया, स्वतंत्रता प्राप्त की और साथ ही हमारे सामाजिक विकास के स्तर को इतना ऊँचा उठा दिया। आज वह नेतृत्व हमें प्राप्त नहीं, वह युग निर्माता हमारे बीच से चलबसा। राष्ट्र ने उनके जीवन काल में उन्हीं के पथ-प्रदर्शन से राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करली, किन्तु उसे आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में अपना वांछित लक्ष्य पूरा करना शेष है। अब वह ज्योति हमारे बीच नहीं जो इस दिशा में भी प्रकाश प्रदान करती। अतः आज हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम इस युग की सामाजिक प्रगति पर दृष्टिपात करें, सोचें कि हमारा यह युग इतिहास किस प्रकार निर्मित हुआ और हम आगे किस प्रकार इसे विकसित करने का प्रयत्न करें।

इस सामाजिक प्रगति को समझने के लिए हमें समाजशास्त्र की दृष्टि से समाज के वैज्ञानिक अध्ययन का मापदण्ड स्थिर करना होगा कि इसका क्रम और तारतम्य क्या है और हमारा इसमें क्या स्थान है।

मानव समाज के विकास का एक क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करने का श्रेय सर्वप्रथम कार्लमार्क्स को ही है। उसने मानव समाज के उस ऐतिहासिक पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया जो एक अविच्छिन्न रूप से जो स्वतः आन्तरिक विरोधाभासों द्वारा तत्कालीन पारस्थिति जन्य घटना-चक्रों के प्रवाह में परिवर्तित होता हुआ अग्रसर होता रहा। तभीसे सामाजिक इतिहास के अध्ययन के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। अबतक मानव समाजके इतिहासका अध्ययन उसकी विभिन्न टुकड़ियों, विभिन्न देशों में बसी हुई पृथक पृथक जातियों के रूप में बिना किसी कार्य कारण सम्बन्ध के, बिना किसी एक सिलसिलेवार घटना प्रवाह के रूप में और बिना किसी एक तारतम्य के किया जाता था, जैसे विभिन्न देशों का इतिहास बिना किसी पृष्ठभूमि के अपनी पृथक सत्ता या अस्तित्व रखता हो। मार्क्स ने सर्व प्रथम समाज को क्रमिक विकास का तारतम्य दिखाया और उनके आधार पर भावी की गति दिशा का भी संकेत किया।

उसने सर्वप्रथम इस बात का निर्देश किया कि मानव जाति का इतिहास वस्तुतः वर्ग संघर्ष का इतिहास है। शोषक और शोषितों के परस्पर संघर्ष के परिणामस्वरूप ही सामाजिक विकास के विविध स्तरों का इतिहास बना। इस वर्गसंघर्ष के इतिहास का आधार है उत्पादन की भौतिक शक्तियों में परिवर्त्तन, जिसके कारण समाज के साम्पत्तिक सम्बन्धों में भी परिवर्त्तन होता रहता है। उत्पादन की भौतिक शक्तियों के परिवर्त्तन से समस्त राजनैतिक-सामाजिक रचना में परिवर्त्तन हो जाता है। इस दृष्टि से हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं कि हमारा मानव समाज दास प्रथा, सामन्त युग, पूँजीवाद आदि स्तरों को पार करता हुआ आजके साम्राज्यवादी युग को प्राप्त हुआ है। आज संसार के रंगमंच पर सर्वहारा वर्ग ने पदार्पण किया है, जो स्वभावतः क्रान्तिकारी वर्ग है। यह वर्ग निश्चित ही स्थिर स्वार्थी वर्ग पर प्रहार कर रहा है। उसके पास विपुल संख्या और आवश्यक

मानसिक शक्ति है। इस संघर्ष में सफल होकर वह वर्गविहिन समाज की स्थापना का प्रयत्न करेगा।

उपरोक्त दृष्टिकोण से ही हमें भारतीय समाज की प्रगति की विवेचना करनी है, पर एक बात का सदा ध्यान रखना है कि समाज के इस क्रमिक विकास का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि सम्पूर्ण विश्व की मानव जातियाँ एक रूप से एक ही साथ विकास के क्रम में अग्रसर होती जाती हैं और प्रत्येक स्थान पर उनका एक ही स्वरूप बना रहता है,क्योंकि मनुष्य चेतन प्राणी है उसे एक ही निर्दिष्ट पथ पर हांका नहीं जा सकता। इस विकास के क्रम में स्थानीय, राष्ट्रीय परिस्थितियों, भौगोलिक सीमाओं, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का अत्यधिक हाथ रहता है, इसीलिए यह एकरूपता सम्भव नहीं। भारत की सामजिक प्रगति का इतिहास भी हम इसी दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करेंगे कि हमारा सामाजिक स्तर, आर्थिक शक्तियाँ एवं साम्पजिक सम्बन्ध, सामाजिक रचना एवं राजनीतिक चेतना,धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि क्या थी और हमने इस संघर्ष काल में उसे कहाँ तक अग्रसर किया।

भारतके धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर के समझने के साथ ही साथ एक और बात का ध्यान रखना है कि उपरोक्त दृष्टिकोण भौतिकवादी है, यद्यपि उसमें भी जनता की आन्तरिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक परम्पराओं और उनके संस्कारगत आधारों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। गांधी जी इस भौतिकवादी दृष्टिकोण से अत्यन्त परे थे। उनके जीवन-स्रोत आध्यात्मिक प्रेरणायें थीं। जहां उपरोक्त दृष्टिकोण वर्त्तमान राजसत्ता वास्तव में जो अर्थ महाप्रभुओं का रक्षक और प्रतिनिधि है—के विरुद्ध शोषित वर्ग का संगठित मोर्चा स्थापित कर सशस्त्र क्रान्ति द्वारा राजनीतिक एवं आर्थिक क्रान्ति कर सर्वहारा का अन्तरीम शासन स्थापित करके वर्ग विहीन समाज की स्थापना में ही समाज का कल्याण समझता है, वहां गांधी जी का मार्ग आध्यात्मिक था, हृदय परिवर्तन एवं शुद्ध सत्य की प्रतिष्ठा में ही सबका कल्याण देखते थे और इसीके द्वारा वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। अतः सबसे पहले हम उनके धर्म प्रधान जीवनका ही उल्लेख करेंगे और देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस क्षेत्रमें उनकी क्यां देन थी और उससे सामाजिक प्रगतिमें कहाँ तक सहायता प्राप्त हुई।

शैशवावस्था में ही गांधीजी पर धर्म की गहरी छाप पड़ चुकी थी। यही कारण था कि वे प्रत्येक वस्तु को आत्मकल्याण की दृष्टि से देखते थे न कि भौतिक सुखकी दृष्टि से। उन्हें ईश्वर में दृढ़ विश्वास था और उसे वे सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार करते थे। "मैं अपने चारो ओर प्रत्येक वस्तु को बदलती हुई देखता हूँ किन्तु इस विश्व व्यापी परिवर्त्तन के पीछे मुझे धुंधली सी झलक उस सजीव शक्ति की दिखलाई पड़ती है, जो सारे जगत को ओत-प्रोत किए हुए है और जिसकी प्रेरणा से सृष्टि की रचना होती है; विनाश होता है और फिर रचना होती है। यही शक्ति ईश्वर है, परमात्मा है और ब्रह्म है"[1]। इस शक्ति के साथ एकीकरण कर लेना ही गांधी जीकी दृष्टि में मनुष्य का चरम लक्ष्य है। "मोक्ष ही मानव जीवन की सार्थकता है। हिन्दू होने से मैं मानता हूँ कि मोक्ष का अर्थ है जीवन-मरण से मुक्ति ईश्वर का साक्षात्कार"[2]। यह मोक्ष प्राप्ति ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दोनों से सम्भव है। गांधी जी ने दोनों का अपने जीवन में समन्वय किया। इस प्राप्ति के लिए सत्य मार्ग और तपोमार्ग की निष्ठा की आवश्यकता है। "हमें अपना जीवन यज्ञमय बनाना है। ऐसी कोई चीज़ नहीं जिसे तपस्या के द्वारा मनुष्य पा न सके।" (ह० से० १५-१०-४६)। "सत्य सभी व्रतों का मूल है जिसके गर्भ में अहिंसा—ब्रह्मचर्य,अस्वाद,अस्तेय,अपरिग्रह अभय, आदि निहित है।" (यरवदा जेल १९-८-३०)

ये उपरोक्त सिद्धान्त ही गांधी जी के जीवन-मार्ग थे जिनकी प्राप्ति उनका चरम लक्ष्य था। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन आज से हजारों वर्ष पूर्व हो चुका था और ये सामाजिक जीवन के शाश्वत धर्म के रूप में आज तक वर्त्तमान हैं। गांधीजी की महत्ता इसमें नहीं कि फिर से उन सिद्धान्तों का निरूपण किया, बल्कि उनके आधार पर सफल प्रायोगिक जीवन बिताने और उनका व्यापक आधार पर सार्वजनिक रूप से व्यवहार करने में है।

सर्व प्रथम गांधी जी ने धर्म के सच्चे स्वरूप और मूलरूप को सबके सामने रखा जो एक ही हैं, पर विभिन्न आवरणों के कारण विभिन्न धर्मावलम्बियों के मध्य शत्रुता का कारण बन गया है। उन्होंने स्वयं अपने

१—कोलम्बिया ग्रामोफोन कम्पनी के रेकार्ड से उद्धृत,
२—हि० न० जी० १२।११।४४ पृ० ९१

जीवन द्वारा स्पष्ट कर दिया कि धर्म द्वारा सामाजिक एकता सम्भव है। गांधी जी ऐसे युग में अवतरित हुए जिसमें धर्म के कारण सामाजिक शृंखलाएं छिन्न-भिन्न हो रही थीं। हिन्दू और मुसलमान परस्पर शत्रु बने बैठे थे। उन्होंने कहा "धर्म ईश्वर दत्त है पर वे मनुष्य कल्पित होनेके कारण अपूर्ण हैं। ईश्वर दत्त धर्म अगम्य है।......हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए।........सब धर्मों के प्रति समभाव आनेपर ही हमारे दिव्य छक्षु खुल सकते हैं। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर दक्षिण जितना अन्तर है।"(यरवदा जेल, २३-९-३०)। "आत्मा सब धर्मों की एक है। हां वह भिन्न भिन्न आकृतियों में मूर्तिमान होती है और यह काल के अन्त तक कायम रहेगी। इसलिए जो बुद्धिमान हैं वे तो ऊपरी कलेवार पर ध्यान न देकर भिन्न भिन्न आकृतियों में उसी एक आत्मा का दर्शन करेंगे। समस्त धर्म एक दूसरे के साथ ओतप्रोत हैं। प्रत्येक धर्म में कई विशेषताएं हैं, किन्तु एक धर्म दूसरे धर्मसे श्रेष्ठ नहीं, जो एक में है वह दूसरे में भले हो न हो। इसलिए एक धर्म दूसरे धर्म का पूरक है। अतः एक धर्म दूसरे धर्म के प्रतिकूल नहीं हो सकता, जगत के सर्वमान्य सिद्धातों का विरोधी नहीं हो सकता।" (ह० से० ३१-३-३३)। गांधीजी ने इस धर्म-समन्वय का आजीवन निर्वाह किया। अनेक विरोधों के बावजूद भी प्रार्थना तक में गीता, कुरान और बाइबिल का समावेश किया। यह धर्म सामंजस्य गांधी जी की अभूतपूर्व देन है। उनके एक ईसाई मित्र डोक् साहब ने लिखा है "मेरी सम्मति में संसार का कोई भी धर्म ऐसा व्यापक और विस्तृत नहीं जो गांधी जी के विचारों को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सके और न कोई ऐसी संस्था है जो समग्र रूप से उन्हें अपने अन्दर रख सके।" वास्तव में गांधी जी के व्यक्तित्व और सिद्धानों में संसार भर की सर्वोत्तम संस्कृतियों का समावेश पाया जाता हैं। इस धर्म सामंजस्य की प्रतिष्ठा द्वारा गांधी जी ने समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा उठा किया। गौतम ने जिस मानव धर्म का प्रवर्त्तन किया, ईसा ने जिसे अपने जीवन में अपनाया, जिसका अवलम्बन मुहम्मद ने किया, उन सभी को एक करने का श्रेय हुआ गांधी जी को, जो एक रूपता भावी सांस्कृतिक मर्यादा के लिए एक दृढ़ आधार स्तम्भ का निर्माण कर गई।

इस धर्म-सामंजस्य की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त गांधी जी ने हिन्दू धर्म की संकीर्ण आबद्ध सीमाओं को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। वह प्राचीन आर्य धर्म जिसका द्वार समस्त मानव के लिए खुला था और जिसमें अनेकों बाहरी जातियाँ आकर घुलमिल गई थीं, कालचक्र की गति में वे बहुत ही संकीर्ण होती गई। गांधी जी ने उसका पुनरुद्धार किया। उन्होंने कहा "हिन्दू धर्म जीवित धर्म है। उसमें भरती और खोट आती ही है। वह संसार के नियमों का ही अनुकरण करता है। मूल रूप से तो वह एक ही है लेकिन वृक्ष रूप से विविध प्रकार का है।" (हि० न० जी० १२-२-४६)। "हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा सत्य और अहिंसा पर निर्भर है। इस कारण यह किसी धर्म का विरोधी हो नहीं सकता। इस धर्म का नित्य प्रदक्षिणा यह होनी चाहिए कि जगत के सर्व प्रतिष्ठित धर्मों की उन्नति हो और उसके द्वारा सारे संसार की।"(ह० से० २५-३-३९)। "यदि मुझे हिन्दू धर्म का कुछ भी ज्ञान है तो वह सामावेशक, व्यापक, सदा वर्धमान और परिस्थिति के अनुरूप नवीन रूप धारण करने वाला है। (हि० न० जी० २७।९।२४)।

हिन्दू धर्म ने अपनी सामाजिक व्यवस्था का नियमन वर्णाश्रम धर्म द्वारा प्रतिष्ठित किया, जो आगे चलकर परिस्थितियों एवं उच्च वर्णों की स्वार्थसिद्धि के कारण जाति-पांति आदि कुव्यवस्थाओं द्वारा विकृत हो गया। गांधी जी ने वर्णाश्रम धर्म के मौलिक रूप की प्रशंसा की और जाति-पांति आदि दोषों का पूर्ण बहिष्कार किया। "वर्णाश्रम धर्म संसार को हिन्दू धर्म की अपूर्व भेंट है। जैसे जैसे साल पर साल बीतते जाते हैं मेरा विश्वास बढ़ता जाता है कि वर्ण धर्म ही मनुष्य का जीवन धर्म है।" (हि० न० जी० ३-११-२७)। वर्ण धर्म की महत्ता के साथ साथ गांधी जी उसके जन्मना स्वरूप को स्वीकार करते थे। "मैं जन्मना वर्ण विभाग में विश्वास रखता हूँ। यदि ऐसा न होता तो वर्ण व्यवस्था का कुछ अर्थ ही न रहता। तब तो केवल शब्द-जाल मात्र रह जाता। (ह० से० १४।४।३३)।

इस स्वीकृति के बाद भी गांधी जी उसका परिष्कार करते हैं। "वर्ण असल में धर्म है अधिकार नहीं, इसलिए वर्ण का अस्तित्व केवल सेवा के लिए हो सकता है, स्वार्थ के लिए नहीं। अतः न तो कोई ऊँच है और

न कोई नीच।....वर्ण धर्म में ऐसी कोई बात नहीं कि शूद्र ज्ञान का संचय या राष्ट्र रक्षा को अपनी आजो-विका का साधन न बनाले'।...मेरा विश्वास बढ़ता ही जाता है कि वर्ण धर्म से ही जगत का उद्धार होगा। वर्ण धर्म का सच्चा अर्थ सेवा-धर्म है। सेवा में सौदा कहाँ।" (ह० से० २१-४-३३)। जाति-पांति आदि विकृतियों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा "जब पानी से जमीन कटने लगती है तो अच्छी जमीन भी बरबाद हो जाती है। यह काफी बुरी चीज है मगर जाति-पांति रूपी घुन उससे भी बुरा है। वह आदमियों को बरबाद कर देता है और उन्हें एक दूसरे से अलग करता है।" (ह० से० ५-५-४६)। गांधी जी ने अपने जीवन में सामाजिक बाधाओं के बावजूद भी इन कुरीतियों का पूर्ण बहिष्कार किया और जाति-पांति रूपी बन्धन बहुत कुछ ढीले पड़ गए।

धर्म के इन सुधारों और परिवर्त्तनों के अतिरिक्त गांधी जी ने धर्म का क्षेत्र बहुत ही व्यापक बना दिया। शंकराचार्य के समय से ही हिन्दू धर्म में निवृत्ति मार्ग को एक विशेष महत्त्व मिलता चला आरहा था, जिसके कारण हम समाज-सेवा और प्राकृतिक सौन्दर्य तथा शक्तियों के उचित उपयोग दोनों ही की ओर से विमुख रहे हैं और उसने हमें भौतिक क्षेत्र में बहुत पीछे हटा दिया। तिलक ने 'गीता रहस्य' द्वारा इसके विरुद्ध कर्मयोग की महिमा बढ़ाई और गांधी जी ने तो इस कर्मयोग का सफल व्यावहारिक स्वरूप सबके सम्मुख प्रत्यक्ष कर दिया। उन्होंने लोकसेवा का स्थान सर्वोपरि रक्खा। उनका धर्म ही समाज सेवा था

गांधी जी के इस धर्म-क्रान्ति का प्रभाव हमारे सामाजिक आचरणों और व्यवहारों पर अधिक पड़ा। राष्ट्र की जन-भावना बदली। आत्म त्याग, समाज सेवा भाव, राष्ट्रीयता और जाति-पांति विरोधी भावनाएं बढ़ीं और हमारा चारित्रिक स्तर ऊँचा उठा। हमारे आध्यात्मिक गुणों में वृद्धि हुई और समस्त मानव समाज के प्रति कल्याण की भावना जगी। एक बार फिर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उच्च आदर्श और उसका व्यावहारिक स्वरूप सबके सम्मुख प्रतिष्ठित हुआ। किन्तु इन आदर्शों का हमारे राष्ट्र के भौतिक स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ा, हमारी सामाजिक गति-दिशा में क्या स्थायी परिवर्त्तन हुए और उसकी नवीन रचना, गांधीजी का लक्ष्य था, कहाँ तक सफल हुई जैसे अस्पृश्यता निवारण, हिन्दू मुस्लिम एकता आदि, इसके बारे में भी हम विचार करेंगे।

गांधीजी ने अपने इस आदर्श धर्म-प्रतिष्ठा द्वारा हरिजनों की वर्तमान दयनीय स्थिति की ओर सम्पूर्ण राष्ट्र का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने उनके मंदिर-प्रवेश का आन्दोलन चलाया और उनके प्रति समाज की तिरस्कृत भावनाओं में काफी सुधार कर दिया, फिर भी हमारे समाज का यह पाप दूर न हो सका। उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपने ऐतिहासिक 'आमरण अनशन' द्वारा उन्हें हिन्दुओं से अलग होने से तो बचा लिया, किन्तु हरिजनों की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। यह पहले ही कहा जा चुका है गांधीजी ने यह क़दम धर्म-प्रेरणा और लोक कल्याण की भावना से उठाया था, पर समाजशास्त्र की दृष्टि से यह परिवर्तन इस आध्यात्मिक संदेश द्वारा नहीं बल्कि उनके आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के परिवर्तन में ही सम्भव है। आज का युग मानता है कि हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सृष्टि के मूल में आर्थिक शक्तियों का प्रमुख हाथ है। आज का युग अर्थ-प्रधान युग है। आर्थिक महाप्रभु पूज्य है, अर्थहीन दलित तिरस्कृत। हरिजनों की आर्थिक स्थिति में परिवर्त्तन न हुआ, उन्हें साम्पत्तिक अधिकार न मिले फिर समाज में समानता का स्थान कैसे मिले? अतः उनके पूर्व कालीन स्वरूप में कोई परिवर्त्तन न हुआ। आज का हरिजन वर्ग क्षुदाग्रस्त है, उसमें आध्यात्मिक संदेशों को समझने की भी शक्ति नहीं। गांधीजी ने रवि बाबू के सम्बन्ध में एक पत्र लिखते समय उल्लेख किया है "रवि बाबू के चित्रण में सूर्योदय के समय चहचहाते हुए पक्षियों का गगन विहरण पाते हैं पर दुर्भाग्यवश मुझे उन पक्षियों की याद नहीं भूलती जिसमें भूख और निर्बलता के कारण पंख हिलाने तक की शक्ति नहीं। भारत के मनुष्यरूपी पक्षी ऐसे ही शक्तिहीन और क्षुधा पीड़ित हैं.....यहां तो ऐसे लाखों मनुष्य हैं जिन्हें पेट भर भोजन से ही तृप्ति हो सकती है।" हरिजन हमारे राष्ट्र के सम्पत्तिविहीन श्रमिक हैं, दिन रात अथक परिश्रम करने वाले। अतः उनकी अस्पृश्यता निवारण समानता उनके आर्थिक सुधार में ही सम्भव है वे बिना वर्ग चेतना और समाजवादी क्रान्ति के सम्भव

नहीं। केवल धर्म के आधार पर तो शोषक वर्ग अपना स्वार्थ सदा सिद्ध करता रहेगा। आज गांधीजी की इस आदर्श मृत्यु के पश्चात् भी जगन्नाथपुरी के धर्म के ठीकेदारों ने हरिजनों के लिए, जिनके खून से वह विशाल मन्दिर बना और टिका हुआ है, अपने शोषक और पवित्र मन्दिर का द्वार नहीं खोला। क्या यह मुफ्तखोर महन्तीवर्ग धर्म-सुधार द्वारा मनुष्य बनाया जा सकता है? अतः इस समय समस्या का समाधान धर्म द्वारा नहीं आर्थिक क्रान्ति द्वारा सम्भव है। यह अधिकार शोषक वर्ग के विरुद्ध शोषित वर्गों के संगठित मोर्चे और संघर्ष से ही उपलब्ध हो सकता है जब कि प्रकृति प्रदत्त राष्ट्रीयता सम्पत्ति में श्रमिकों को समान स्थान प्राप्त होगा।

जिस प्रकार वर्णाश्रम धर्म की यथार्थ प्रतिष्ठा ने, जात-पांत रहित वर्णगत समानता स्थापित करने के प्रयत्न ने और धार्मिक क्षेत्र के इतने व्यापक प्रश्रय ने हरिजनों को हरिजन ही बने रहने दिया, उसी प्रकार गीता और कुरान के सामंजस्य ने और 'हिन्दू मुसलमानों को एक ही पक्षी के दो पंख" सिद्ध करने के प्रयत्न ने भी हिन्दू और मुसलमानों को ज्यों का त्यों अलग ही रहने दिया। समाजशास्त्र की दृष्टि से इसके भी मूल में वही तथ्य है जो अस्पृश्यता निवारण में, अर्थात् आर्थिक क्रान्ति का अभाव। सर्व साधारण स्तर पर रहने वाले हिन्दू मुसलमानों की एकता धर्म सामंजस्य द्वारा गीता कुरान के उपदेशों की समानता सिद्ध करने से सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष रूप से दो विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय हैं, जिनकी आड़ में सम्प्रदायवादी उच्च वर्ग अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए साम्प्रदायिक झगड़ा बनाए रखना चाहते हैं। यह एकता आर्थिक भित्ति पर ही सम्भव है। दोनों सम्प्रदाय के ९९ प्रतिशत लोग गरीब और शोषित हैं। उनके शोषक हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी। अतः शोषक वर्ग के विरुद्ध संगठित शोषित जनता का मोर्चा ही उन्हें समान स्तर पर एक स्वार्थ के नाते एक कर सकता है। किसान हिन्दू से किसान मुसलमान का एका अपने जमींदार हिन्दू या मुसलमान के विरुद्ध हो सकता है। यही कारण है कारखानों के मजदूर हिन्दू और मुसलमान मिल मालिक के विरुद्ध एक रहते हैं। अतः आर्थिक संघर्ष द्वारा तथा सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति और राज-प्रतिष्ठा द्वारा ही यह एकता सम्भव है और आर्थिक संघर्ष के द्वारा हमें ये बुरे परिणाम नहीं देखने पड़ते कि स्थिर स्वार्थ वर्ग वाले मुसलमान भारत को टुकड़े कर पाकिस्तान की स्थापना में सफल हुए और स्थिर स्वार्थ वर्ग वाले हिन्दू, हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसी फासिस्ट संस्थाएं स्थापित कर विश्व की सबसे महान विभूति की जघन्य हत्या करने में सफल हो जाते। ये सब कुपरिणाम आर्थिक क्रान्ति की योजना के अभाव के ही कारण राष्ट्र को झेलने पड़े।

इस प्रकार हमने देखा कि गांधी जी के महान् आदर्शों, विचारधाराओं तथा उनके सफल प्रयोगिक जीवन के उदाहरण से हमारे समाज का आध्यात्मिक स्तर ऊँचा उठने पर भी हमारी समस्याओं का समाधान न हो सका, क्योंकि इससे आर्थिक महाप्रभुओं की शक्ति पर कोई प्रहार न पड़ा और वे अपने स्वार्थसिद्धि में सफल होते रहे। अब हम गांधी जी के राजनीतिक और आर्थिक आदर्शों एवं प्रयत्नों पर विचार करेंगे।

यद्यपि गांधीजी का जीवन धर्म प्रधान था पर उन का कर्मक्षेत्र राजनीति प्रधान रहा। इस राजनीति के पीछे भी वही आध्यात्मिक प्रेरणाएं थीं। सेवा भाव और लोक कल्याण की भावना उन्हें राजनीति में भी खींच लाई। "सत्य स्वरूप सर्वव्यापक विश्वात्मा को प्रत्यक्ष करने के लिए आवश्यक है कि इस जगत के क्षुद्रसे क्षुद्र प्राणी को वैसा ही प्यार करें जैसे हम अपने आपको। जो मनुष्य ऐसी शुभेच्छा करता है वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से अलग नहीं रह सकता। इसी कारण सत्य में मेरी जो श्रद्धा-भक्ति है वह मुझे राजनीति में खींचलाई और मैं बिना सोच संकोच के अत्यन्त नम्रता से कह सकता हूँ कि जो लोग कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं वे जानते ही नहीं कि धर्म क्या होता है"।......"इन करोड़ों मनुष्यों के हृदयों में जो ईश्वर वास करता है उसे छोड़ मैं दूसरे ईश्वर को नहीं मानता और मैं इनकी सेवा द्वारा उस ईश्वर की पूजता हूँ जो सत्य है या उस सत्य को पूजता हूँ जो ईश्वर है।" इसी प्रेरणा से गांधी जी ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया। अतः उसका लक्ष्य भी केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही न था बल्कि "मैं इस जगत के नाशवान राज्य की कल्पना नहीं करता मेरा सारा प्रयास स्वर्ग राज्य के लिए है, आत्मा की मुक्ति के लिए है। मुक्ति का मेरा मार्ग देश और मानव जाति की सेवा में अपने को खपाना है।

इस तरह मेरे लिए तो धर्म रहित राजनीति कोई चीज़ ही नहीं। राजनीति धर्म सेवा के लिए है। धर्म रहित राजनीति मृत्युका एक फन्दा है"। ये प्रेरणाएं थीं जो उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में खींच लाईं। ऐसे उच्च ध्येय की प्राप्ति हीन और कलुषित उपायों द्वारा सम्भव नहीं। इस सत्य की खोज अहिंसा द्वारा ही सम्भव थी। "अहिंसा के बिना सत्य की खोज असम्भव है। अहिंसा को हम साधन मानें और सत्य को साध्य। अतः सत्य और अहिंसा अभिन्न हैं।" इसीलिए गांधीजी ने राजनीतिक संघर्ष का अस्त्र अहिंसात्मक सत्याग्रह रक्खा। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा में सत्य के प्रति आदर है। सत्याग्रही इसी को जाग्रतकर विरोधी हृदय पर विजय पाता है। अहिंसात्मक सत्याग्रही प्रेम और आत्मत्याग द्वारा विरोधी का हृदय बदल देता है और अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल होता है।

अहिंसा और सत्य का सिद्धान्त नया नहीं था। आज से हजारों वर्ष पूर्व ऋषि-मनीषियों ने इसका गुण-गान किया था। गौतम बुद्ध ने व्यावहारिक स्वरूप प्रकट किया पर आज तक इनका प्रयोग व्यक्तिगत जीवन में ही सम्भव समझा जाता था। गांधी जी ने सर्वप्रथम इनका सामाजिक रूपसे व्यवहार किया और विश्व के सम्मुख एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया कि बिना खूनी क्रान्ति के अपने सिद्धान्तों पर रहते हुए हम अपने अधिकारों को ले सकते हैं। इस सफलता से विश्व के निर्बल और छोटे राष्ट्रों को भी, जो सैनिक और भौतिक दृष्टि से शक्तिहीन हैं, एक सबल अस्त्र मिला और आगे आने वाली पीढ़ी के लिए एक अनुकरणीय मार्ग प्रशस्त हुआ। इसी महान् अस्त्र से भारत को स्वतंत्रता मिली और गांधी जी का मार्ग सफल हुआ।

गांधी जी का राजनीतिक संघर्ष राजसत्ता हस्तगत करने और समाजसत्ता को शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए नहीं था बल्कि उनका भी आदर्श वही था जो मार्क्स ने प्रतिपादित किया था। गांधी ने जनवरी १९३९ के "सर्वोदय" में लिखा "मेरी दृष्टि से राजनीतिक सत्ता हमारा ध्येय नहीं। जिन साधनों की बदौलत जीवन के प्रत्येक विभाग में अपनी उन्नति करने की शक्ति लोगों में आती है उनमें से राजनीतिक सत्ता एक है। राष्ट्र के प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की शक्ति का ही नाम राजनीतिक सत्ता है। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाय कि वह स्वनियंत्रित रहे तो प्रतिनिधित्व की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। वह एक सुसंस्कृत अराजकता की अवस्था होगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना ही शासक होगा। वह अपना नियमन आपही इस तरह करेगा कि जिससे उसके पड़ोसी के हितमें बाधा न हो। आदर्श स्थिति में राज्य-संस्था ही नहीं रहेगी तो फिर राजनीतिक सत्ता कहाँ से आएगी?" वास्तव में यह लक्ष्य मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भिन्न नहीं। 'राज और क्रांति' में लेनिन ने लिखा "अन्ततोगत्वा केवल साम्यवाद की प्रतिष्ठा से ही राजकी निरर्थकता सिद्ध हो सकती है, क्योंकि कोई शोषित न रहेगा। हम काल्पनिक नहीं बल्कि इसकी सम्भावना यथार्थ रूप से सोच सकते हैं कि व्यक्तिगत रूपसे कोई व्यक्ति बदअमली कर सकता है और हम ऐसों पर प्रतिबन्ध लगाएंगे, लेकिन एक तो दमन के लिए किसी विशेष विभाग की आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि इसे जनता स्वयं कर लेगी, उसी प्रकार जिस तरह सभ्य समुदाय। दूसरी चीज हम जानते हैं कि इन बदअमलियों के मूल में कौन से कारण हैं जो इस प्रकार के असामाजिक कार्यों के लिए प्रेरित करते हैं। यह आधार सामाजिक शोषण, अभाव और दरिद्रता है। इन कारणों के रहते ही ये बदअमलियां खत्म होने लगेंगी, लेकिन हम नहीं कह सकते कि कितना शीघ्र और किस क्रमसे। किन्तु यह निश्चित है कि वे अपने आप धीरे धीरे खत्म हो जायंगी और इनके खत्म होने के साथ साथ राज भी झड़ता चला जायगा।"

इन अन्तिम आदर्शों की समानता रहते हुए भी राजनीतिक संगठन के आधार और लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों में भिन्नता होने के कारण इन दोनों आदर्शों के व्यावहारिक स्वरूप भी भिन्न हो जाते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार हम वर्ग-चेतना के आधार पर वर्ग संघर्ष की भावना जाग्रत करके शोषक वर्ग की शासन सत्ता पर सशस्त्र क्रान्ति द्वारा आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करते हैं और श्रमिकों की राजस्थापना के बाद इस आदर्श पूर्ति की ओर अग्रसर होते हैं। इस साधन में स्थिर स्वार्थ को अपना संगठन करने या किसी भी प्रकार स्वार्थ सिद्धि का अवसर प्राप्य नहीं। गांधी जी के मार्ग बहुत ही ऊँचे और मानवता पूर्ण हैं। वे मानव के अन्तःकरण में बसे हुए देव को जगाकर हृदय परिवर्त्तन द्वारा मानव सम्बन्ध और धर्म की प्रतिष्ठा चाहते थे, किन्तु इस अर्थ लोलुप शोषक समुदाय के हृदय में 'देव' की अपेक्षा शैतान का अधिक बसेरा है। साथ ही सुविधा प्राप्त वर्ग होने के नाते वे अधिक जागरूक और चेतन हैं। यही कारण है कि जहां एक ओर तो गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस एक जनवादी संस्था बनी और उसका संघर्ष उदार पन्थी विधानवादी दलदल से निकलकर क्रान्तिकारी जन-संघर्ष के रूप में परिणत हुआ, वहां कांग्रेस के ऊपर यह स्थिर स्वार्थ वर्ग अपना आधिपत्य जमाए रहा और दुःख है कि गांधी जी की अमूल्य बलि देकर भी इस वर्ग का हृदय नहीं पसीजा और उसके एजेन्ट आज भी स्वतंत्र भारत की शासन सत्ता के स्वामी बन अपने स्वार्थों की सिद्धि का प्रयत्न कर रहे हैं और उस शासन सत्ता की प्रगतिशील शक्तियां उनके सामने झुकती-सी प्रतीत हो रही हैं।

१-लक्ष्यः—गांधी जी ने ४ जून १९४० के "हरिजन" में लिखा था "जनता की आर्थिक स्थिति में समानता पैदा की जाय। मौजूदा वक्त में जो घोर असमानताएं हैं, उनका एक गहरी सामाजिक बुराई के रूप में मुकाबला करना चाहिए। किसी स्वस्थ समाज के अन्दर चन्द आदमियों में धन का केन्द्रित हो जाना और लाखों का बेकार होना एक महान् सामाजिक अपराध या रोग है, जिसका इलाज अवश्य होना चाहिए।...यह चीज अहिंसक स्वतंत्रता की मानो गुरु-कुंजी है। आर्थिक स्वतंत्रता के प्रयत्न के माने पूंजी और श्रम के शाश्वत विरोध का परिहार करना है। तात्पर्य यह कि एक तरफ जिन मुट्ठी भर धनाढ्यों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का अधिकांश इकट्ठा हुआ है, वे नीचे को उतरें और जो करोड़ों लोग भूखे और नंगे हैं उनकी भूमिका ऊंचे उठे। जबतक मालदार लोगों और भूखी जनता के बीच यह चौड़ी खांई मौजूद है तब तक अहिंसक राजपद्धति सर्वथा असम्भव है।" (१३-१२-४१) आगे वे एक जगह लिखते हैं "मेरी राय में भारत की और सारे संसार की अर्थ व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसमें बिना खाने और कपड़े के कोई भी न रहने पावे। दूसरे शब्दों में हर एक को अपनी गुजर बसर के लिए काफी काम मिलना चाहिए... जिस प्रकार भगवान की पैदा की हुई हवा और पानी सबको मुफ्त मुयस्सर होता है, या होना चाहिए, उसी तरह ये साधन भी सबको बे रोक टोक के मिलने चाहिए।" गांधी जी का यह आर्थिक उद्देश्य समाजवादी उद्देश्य से बहुत कुछ साम्य रखता है। किन्तु दोनों के लक्ष्य प्राप्ति के साधन बिल्कुल भिन्न हो जाते हैं। मार्क्सवाद बताता है कि जब तक एक अल्प संख्यक वर्ग विशेष उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों को अपने नियंत्रण में रखता है तब तक सामाजिक न्याय उपलब्ध नहीं हो सकता। बिना सम्पूर्ण आर्थिक आधार में परिवर्तन किए यह शोषण नष्ट नहीं हो सकता। आज की पूंजीवादी व्यवस्था स्वतः आन्तरिक विरोधाभासों के कारण फंसती सी जारही है और सर्वहारा वर्ग दिनोदिन शक्तिशाली होता जा रहा है। यही वर्ग क्रान्ति द्वारा पूंजीवाद का विध्वंस करेगा और एक अन्तरीम तानाशाही स्थापित करेगा और तत्पश्चात् एक वर्गविहीन समाज के युग में प्रवेश करेगा। जब किसी का शोषण न रह जायगा तभी समानता के आधार पर नवीन समाज की रचना हो सकती है। अतः समाजवादी संघर्ष में वर्ग चेतना का भाव जाग्रत करना अत्यन्त आवश्यक है जबकि गांधी जी इसकी आवश्यकता नहीं समझते— "यह कहना सही नहीं है कि मैं वर्ग युद्ध के आस्तित्व में विश्वास नहीं करता। जिस चीज में मैं विश्वास नहीं करता वह है वर्ग युद्ध की उत्तेजना देना और उसे जारी रखना। दिन दिन मेरा विश्वास बढ़ता ही जाता है कि वर्ग युद्ध को न होने देना पूर्णतया सम्भव है। श्रम जीवियों के अपने श्रम की प्रतिष्ठा पहचानते ही रुपया पैसा अपने उचित स्थान पर आ जायगा"। (ह० से०, अक्टूबर १९३५)।

अतः स्पष्ट है कि गांधी जी इस वर्ग संघर्ष के मार्ग को ठीक नहीं समझते थे, बल्कि वे तो इसकी प्राप्ति व्यक्तिगत आचारों से, ट्रस्टीशिप और बड़े बड़े यंत्रों का बहिष्कार कर ग्रामोद्योगों की पुनः प्रतिष्ठा से करना चाहते थे। "समाजवाद और आपके मत में क्या अन्तर है" इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—"समानता तो काफी है। 'सबै भूमि गोपाल की' बनजाय यह तो मैं भी चाहता हूँ। सब सम्पत्ति प्रजा की है, यह भी मैं मानता ही हूँ। भेद यह है कि वे लोग मानते हैं कि इसका प्रारम्भ हम सब एक साथ करें। मैं कहता हूँ अपने व्यक्तिगत आचार में तो इसका प्रारम्भ हमें

तुरन्त कर देना चाहिए। यदि हमारी ऐसी श्रद्धा है तो कम से कम हम अपनी निजी जायदाद तो समाज को अर्पण कर दें·····उसका प्रारम्भ व्यक्तिगत आचार से हो सकता है।"

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि गांधी जी के लक्ष्य समाजवादी लक्ष्य से भिन्न नहीं, लेकिन दोनों की प्राप्ति के तरीकों में हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या व्यक्तिगत आचार, ट्रष्टीशिप और ग्रामोद्योगों का पुनरुत्थान होने से यह लक्ष्यप्राप्ति सम्भव है। जहांतक ग्रामोद्योगों की पुनः प्रतिष्ठा का प्रश्न है यह अब सम्भव नहीं। अब हम पीछे नहीं लौटाए जा सकते। अब सोचना है क्या व्यक्तिगत आचार और ट्रष्टीशिप सम्भव है। हमें तो वह भी व्यावहारिक नहीं दीख पड़ता। गांधी जी के जीवन काल में तो किसी ने ऐसा नहीं किया और इन सिद्धान्तों की आड़ में धनिकों को अपनी स्वार्थ सिद्धि का पूरा अवसर मिला। गांधी जी के इस महान् सिद्धान्त और सेवा भाव ने उनके ही अनुयायियों पर क्या प्रभाव डाला यह इसीसे समझा जा सकता है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार जमीन्दारों को इतनी लम्बी मुआवजा देने की तैयारी कर रही है, जिन जमींदारों ने अंग्रेजी सरकार को यहां जमाने में इतनी सहायता की; यद्यपि गांधी जी स्वयं इसके विरोधी थे। लूई फिसर के कुछ प्रश्नों के उत्तर में गांधी जी कहते हैं "नहीं, हमारे पास इतना पैसा कहां होगा कि हम जमींदारों को हर्जाना दे सकें।"

अतः यह प्रत्यक्ष है कि गांधी जी के इन उद्देश्यों की पूर्ति यह स्थिर स्वार्थी वर्ग कभी न होने देगा। उसका कांग्रेस पर पूर्ण प्रभुत्व है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी वर्ग-चेतना के जाग्रत न होने से समस्त मानव कल्याण की भावना की ओट में यह स्थिर स्वार्थी वर्ग किसानों और मजदूरों का भी हिमायती बनकर उनके संगठनों को छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न करता रहा है और समान संस्थाओं का अस्तित्व कायम होने लगा है। मजदूरों तथा किसानों की इस प्रकार की संस्थाएं कायम कर दी गई हैं और उसके पीछे राष्ट्रीय सरकार की मुहर लगी रहने से उनके कार्य में बाधा भी नहीं पड़ती और उन्हीं की संस्थाएं स्थापित कर उनके पांव काट रही हैं और अपना उल्लू सीधा कर रही हैं। हमें आज ही चेत जाना है कि जिस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एकता इनके कारण नहीं हो सकी और राष्ट्र का विभाजन होकर रहा, अस्पृश्यता निवारण न हो सका, मजदूरों किसानों की दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, शोषण दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है, वही नौकरशाही संस्थाएं तथा व्यवस्थाएं समाज का गला काट रही हैं। उसी प्रकार राजनीतिक सत्ता भी पूर्णरूप से उन्हीं के हाथ में आ जायगी और प्रगतिशील शक्तियों को मुहँ की खानी पड़ेगी; फिर तो आर्थिक क्रान्ति की बात स्वप्नवत होगी। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि अभी से हम उसकी तैयारी करें और मजदूरों तथा किसानों का संगठित मोर्चा बनाकर आर्थिक तथा राजनीतिक क्रान्ति का प्रयत्न करें। आज गांधी जी हमारे पास नहीं, उनकी हत्या से प्रगतिशील शक्तियों को भारी आघात पहुंचा है। लेकिन उनके हत्यारों, प्रतिगामी शक्तियों का अभी कुछ भी नहीं बिगड़ रहा है, क्योंकि उनके रक्षक जन-रोष को उभाड़ कर जन-शक्ति को बढ़ने नहीं देना चाहते और स्वयं न्यायपूर्ण कदम उठाने का आश्वासन देते हैं। अतः हमें इस स्थिर स्वार्थी वर्ग से लेशमात्र भी आशा नहीं, हमें आशा करनी है वर्ग चेतना जाग्रत कर वर्ग संघर्ष द्वारा श्रमिकों की सत्ता पर, जिसके पश्चात् ही इस उत्पीड़न, शोषण और अत्याचार का अन्त होगा और गांधी जी के उन महान् उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो सकेगी।

दश ठाट *

प्रो० ललितकिशोर सिंह

उत्तर में मध्यकाल से ही वर्गीकरण की राग रागनी पद्धति प्रचलित है। पहले इसके अनेक मत थे; अब हनुमत-मत ही प्रचार में है। इस मत में ६ पुरुष राग, ३० रागनियाँ, ४८ पुत्र और ४८ पुत्र-भार्याएँ—कुल मिलाकर १३२ प्रचलित राग माने गए हैं। महम्मद रज़ा (१८१३) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नग़माते आसफ़ी' में सभी प्राचीन मतों का खण्डन करके एक नई पद्धति का निरूपण किया है। महम्मद रज़ा के इस वर्गीकरण के विषय में भातखण्डे कहते हैं—

"राग-रागनी विभाग की पद्धति के लिए उन्होंने (महम्मद रज़ा ने) इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का स्पष्टरूप से निरूपण किया है कि राग और उनकी अपनी रागनियों के बीच कुछ साम्य या सारूप्य होना चाहिए। उनके वर्गीकरण में इस सिद्धान्त का अनुसरण पाया जाता है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।"[1]

पर भातखण्डे का इस वर्गीकरण से संतोष न हुआ; इसलिए उन्होंने व्यङ्कटमखी के ७२ मेलों के आधार पर हिन्दुस्तानी संगीत को फिर से नियमबद्ध किया है। उन्होंने व्यङ्कटमखी के अनुकरण में हिन्दुस्तानी रागों के वर्गीकरण के लिए स्वर-विन्यास को ही आधार ग्रहण किया है। वे कहते हैं—'हम ७२ थाटों में से उन्हीं थाटों को चुनेंगे जो उत्तर के प्रचलित रागों के वर्गीकरण के लिए आवश्यक हैं और फिर पूरी पद्धति तैयार करने का प्रयत्न करें।' 'मैं ७२ मेलों में से केवल १० अधिक प्रचलित मेलों को लूँगा और उन्हीं में प्रचलित रागों को विभक्त करूँगा।'[2] इस प्रकार उन्होंने देखा कि हिन्दुस्तानी संगीत के सभी प्रचलित राग स्वर-विन्यास की दृष्टि से व्यङ्कटमखी के ७२ मेलकर्त्ताओं में से १० ही के अन्तर्गत हो जाते हैं। इसीलिए उन्होंने 'दश ठाट' का निरूपण किया है।

भातखण्डे के दस ठाट स्वर-प्रबन्ध के साथ नीचे दिए जाते हैं —

(१) बिलावल— स र ग म प ध न सं।
(२) यमन — स र ग म प ध न सं।
(३) खमाज — स र ग म प ध न् सं।
(४) भैरवी — स र् ग् म प ध् न् सं।
(५) भैरव — स र् ग म प ध् न सं।
(६) पूर्वी — स र् ग म प ध् न सं।
(७) मारवा — स र् ग म प ध् न सं।
(८) काफी — स र ग् म प ध न् सं।
(९) आसावरी— स र ग् म प ध् न् सं।
(१०) टोड़ी — स र् ग् म प ध् न सं।[3]

दाक्षिणात्य मेलकर्त्ता-पद्धति में इनके नाम क्रमशः ये हैं:—

(१) शंकराभरण (२) मेच कल्याण (३) हरिकाम्भोजी (४) टोड़ी (५) मायामालवगौड़ा (६) कामवर्धनी (७) गमनप्रिया (८) खरहरप्रिया (९) नटभैरवी (१०) शुभपन्तुवराड़ी।

भातखण्डे की कृति से यह सिद्ध है कि उत्तर के सारे प्रचलित राग उपर्युक्त दस मेलों में ही समाविष्ट होते हैं। दक्षिण में इन दस मेलों के अतिरिक्त अनेक ऐसे मेल प्रचलित हैं जो उत्तर में ग्राह्य नहीं हैं। इन

* लेखक की शीघ्र प्रकाशित होनेवाली पुस्तक 'ध्वनि और संगीत' के आधार पर।

(१) A Short Historical Survey of the Music of Northern India —Bhatkhande

(२) वही।

(३) यहाँ प्रचलित स्वर-संकेतों में कुछ परिवर्तन किया गया है जैसे, 'री' और 'नि' के लिए 'र' और 'न' माना गया है। और कोमल का चिन्ह स्वर के नीचे हलन्त (्) और तीव्र का चिन्ह स्वर के ऊपर टेढ़ा घात (ʼ) रखा गया है।

ठाट के रागों में 'प' का अभाव और 'स' की गौणता सिद्ध होती है। इन रागों का अंतरा भी प्रायः 'ग म ध' टुकड़े से शुरू होता है जो 'वक्रयमक' का द्योतक है। आधुनिक हिन्दुस्तानी पद्धति में स्वरित स को प्रधानता होने पर भी यह मारवा मेल भरत के स-प वर्जित श्रोड़व जाति का विलक्षण उदाहरण है।

उत्तरीय पद्धति में प्रयुक्त दस ठाटों की, विशेषतः मारवा की विवेचना से यह स्पष्ट है कि इस पद्धति में यमकत्व को बहुत महत्व दिया गया है। ठाट के प्रत्येक स्वर का संवाद भी यमकत्व की आकांक्षा से ही है। यह यमकत्व रस-भाव की एकता और परिपाक के लिए अतीव आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचना से यह सिद्ध होता है कि हिन्दुस्तानी संगीत के क्षेत्र का दस मेलों ही तक सीमित हो जाना कोई आकस्मिक घटना नहीं है। व्यंकटमखी के ७२ मेलों में से ६२ मेलों का बहिष्कार इस पद्धति के तीन महत्वपूर्ण नियमों के कारण हुआ है, जिन्हें भरत की परम्परा का आधार है और जो संगीत-कला के उन सिद्धान्तों के अनुकूल हैं जिनकी व्याख्या वैज्ञानिक सिद्धान्तों से की गई है।

मृत्युञ्जय गान्धी

श्री गुरुभक्त सिंह "भक्त"

हे कर्मवीर ! हे मृत्युञ्जय ! तुम सारे जग के मन्त्र बने।
कन कन, मन मन में व्याप्त रहे, तुम बन्धन तोड़ स्वतन्त्र बने ॥
जल रही आग थी हिंसा की, जीवन दे तुमने बुझा दिया।
उस अमर ज्योति ने अन्धकार हर, मार्ग सत्यका सुझा दिया ॥
तप कर जीवन की आहुति दे, मुर्दे में जिसने प्राण दिया।
बन गया विश्व सारा पतंग, जब दीपक ने निर्वाण लिया ॥
बन गए फूल भारत माँ के वे जलते शव के अंगारे।
वह तो सुगन्ध बन फैला है, क्या मार सके हैं हत्यारे ॥
जो सत्य, अहिंसा, विश्व-प्रेमकी नई त्रिवेणी लाया है।
उसने बन्दी माँ मुक्त बना जीवन का फूल चढ़ाया है।
यह फूल कुंभ में आया है, इसका भी कुंभ मनायेंगे।
अब सत्य प्रेम संगम नहला मानव को देव बनायेंगे ॥
यह रोने का है समय नहीं, उसके पथ के अनुरक्त बनो।
बन पंथ-प्रदर्शक सब जग के, गान्धी के सच्चे भक्त बनो ॥

प्रतिशोध

[एकांकी]

श्री "विष्णु"

पात्र

जगदीश कुमार—एक उच्चपदाधिकारी

नीला—जगदीश कुमार की पुत्री

उमा—नीला की एक सखि

वृद्ध—एक दुखी पड़ोसी

डाक्टर, इन्सपैक्टर, आया तथा एक मुस्लिम दम्पत्ति आदि। समय पन्द्रह अगस्त, १९४७ के ठीक बाद का भारत।

स्थान—उत्तर भारत का एक नगर।

[एक सुन्दर बँगले का बाहरी दृश्य। लॉन में रविशों के साथ-साथ फूल खिले हैं। बरामदे में अंगूर की बेल लहलहा रही है। सब द्वार बन्द हैं। नेपथ्य से गाने का स्वर उठता है। स्वर में करुणा है। तभी एक युवती स्टेज पर प्रवेश करती है। युवती आधुनिक है, इसलिए सुन्दर न होकर भी मोहक है। साड़ी का छोर कमर पर है और वेणियाँ वक्षस्थल पर। परन्तु इस समय वह उदास है। शीघ्रता से द्वार की ओर बढ़ती है, परन्तु स्वर सुनकर ठिठक जाती है। अब उसे ओट में बैठी आया दिखाई देती है।]

युवती—"क्यों, कुछ समाचार आया ?"

आया—"नहीं, बीबी जी !"

[युवती अब दाहिनी ओर का द्वार (परदा) खोलती है। स्वर तेज़ होता है। सामने एक युवती पूजा की मुद्रा में द्वार की ओर पीठ किए करुण स्वर में भारत वन्दना का गीत गा रही है। उसके सामने भारत का मान चित्र है। उसमें छाया रूप में एक तेजस्वी नारी का चित्र अंकित है। दूसरी युवती के आने से परिस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्वर उसी तरह हृदय को चीरता हुआ उठ रहा है। दूसरी युवती कई क्षण तक स्तब्ध शांत सुनती रहती है, फिर कोमल स्नेह-सिक्त स्वर में पुकारती है।]

युवती—"नीला ऽऽ !"

[नीला सिहर कर मुड़ती है। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आँसुओं से पूर्ण हैं। मुख पर वेदना की गहरी छाया है। आगन्तुक को देखकर वह अपने भावों को छिपाने के लिए मुस्कराती है।]

नीला (लज्जा और करुणा मिश्रित स्वर)—"आः उमा !"

उमा (संवेदन)—"कुछ समाचार आया ?"

[उत्तर में नीला नकारात्मक गरदन हिला देती है।]

उमा—"कुछ भी नहीं ?"

नीला—"नहीं उमा, (संकेत करके) बैठो !"

उमा (बैठती है)—"वैसे अवस्था तो, सुना है, अच्छी नहीं है।"

नीला (बैठती है)—"हाँ उमा, सुना है कि अवस्था बिगड़ती जारही है। समाचार आने का कोई सहज साधन ही नहीं रह गया है। केवल रेडियो से सुनती हूँ। आज मनुष्य पशु से भी गिर गया है।"

उमा (गहरा स्वर)—"न जाने क्या होने वाला है !"

नीला—"न जाने बहिन।"

उमा—"पर नीला, चाचाजीने सरकार द्वारा विशेष रूप से कुछ पता लगाने का उद्योग नहीं किया ?"

नीला—"किया तो है। शायद आज कुछ समाचार मिले, पर न जाने क्यों मुझे कँपकँपी आरही है। माताजी, भाभी, दादी-अम्मां, भइया और बच्चे सभी घिर गए हैं। जब कभी सुनती हूँ उन लोगों ने बाजार

फूँक दिए, लोगों को काट डाला, नारियों को भगा लेगए तो......

[आगे बोला नहीं जाता, गला भर आता है ।]

उमा (गहरा संवेदन)—"नहीं-नहीं, ऐसे दिल छोटा मत करो मुझे आशा है, वे सब सकुशल हैं।"

नीला (सम्हल कर)—"बहिन आशा तो मैं भी करना चाहती हूँ, पर न जाने क्यों मनमें बुरी-बुरी बातें उठने लगती हैं । आखिर ऐसा क्यों होता है ?"

उमा—"नीला,मैं क्या बताऊँ क्यों । न जाने क्यों जिन्हे हम जितना अधिक प्यार करते हैं, उनके बारे में उतनी ही बुरी-बुरी बातें मनमें उठती हैं । यह कैसा प्यार है ?"

नीला—"हाँ उमा, न जाने यह कैसा प्यार है । यह तो आदमी को दुर्बल बना देता है । मैं सोचने लगती हूँ उन लोगों ने माँ, भाभी, दादी-अम्मां सबको अपमानित करके......" ।

[रो पड़ती है ।]

उमा (सान्त्वना)—"न-न, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। सब ठीक होगा । उन्हें आने तो दो । देख लेना ।"

नीला (सम्हल कर)—"सचऽऽ !"

उमा—"मेरा मन तो ऐसा ही कहता है ।"

नीला (गहरा साँस लेकर)—"परमात्मा करे तुम्हारा कहना ठीक हो। लेकिन बहिन, जबतक समाचार नहीं मिलता मन शान्त नहीं हो सकता ।"

[आया का प्रवेश ।]

नीला (शीघ्रता से)—"क्यों, क्या बात है आया ! क्या पिताजी आगए ?"

आया (गम्भीर स्वर)—"नहीं मिस साब, बड़े साहब नहीं आए, पर मैंने सुना है...."

नीला (बात काटकर शीघ्रता से)—"क्या सुना है तूने ? क्या कोई गाँव से आया है ?"

आया—"आया तो कोई नहीं ।"

नीला—"फिर......फिर क्या है ?"

आया—"मिस साब......." ।

[चुप हो जाती है]

नीला—"अरे बोल, तू चुप क्यों होगई ?"

आया (धीरे-धीरे)—"मिस साब, सुना है कि आपका गाँव जला दिया गया ।"

[नीला और उमा सहसा भय से पीली पड़ जाती हैं ।]

नीला (भयातुर-कम्पित)—"क्या...क्या गाँव जलादिया ? किसने कहाँ तुझसे; कौन आया है...?

(उन्मत्त स्वर)

उमा (सम्हल कर)—"नीला, नीला, तुम ऐसे मत बोलो । (मुड़कर) आया,तुम बताती क्यों नहीं कि कौन आया है ?

आया—"टेलीफोन आया है, मिस साब । मैं दफ्तर गई थी ।"

नीला (उसी तरह)—"लेकिन मताजी, भइया, दादी-अम्मां, भाभी इनके बारे में कुछ नहीं कहा... कुछ भी नहीं...?"

आया—"अभी कुछ नहीं, मिस साब । बस, इतना ही बताया था कि गाँव जल गया ।"

नीला (पूर्वतः)-"बिल्कुल जल गया । कुछ नहीं बचा (रोती है) ओ मां ऽऽऽ !"

[उमा नीला को छाती में भर लेती है ।]

उमा—नीला, नीला, ढाढ़स रखो ! अभी पूरी खबर मिली कहाँ है ? वे लोग भाग गए होंगे, अवश्य भाग गए होंगे । (नेपथ्य में किसी के तेजी से आने का स्वर) वह सुनो, तुम्हारे पिता आए हैं शायद ! उठो ···उठो तो···"

[जगदीशकुमार का प्रवेश । कोट पतलून धारी प्रौढ़ पुरुष हैं । मुख पर शक्ति और सौजन्यता के लक्षण हैं, पर इस समय वे बहुत व्यग्र हैं ।]

नीला—(व्यग्रता)—"पिता जी··· पिता जी··· क्या हुआ ?"

ज० कुमार (बरबस ढाढस बाँधते हैं)—"बेटी, सुना है कि उन्होंने गाँव जला डाला । कुछ लोग भाग कर आए हैं···"

नीला (उतावली में)—"पर भइया, मां, दादी-अम्मां, भाभी····"

ज० कुमार—"कुछ पता नहीं औरों का क्या हुआ ? तुम्हारी दादी-अम्मां तो वहीं जल मरीं ।"

नीला,उमा [एक साथ]—"क्या··?"

नीला (रुदन) दादी-अम्मां जल गई··दादी-अम्मां ···दादी-अम्मां·· (सुबकने लगती है)

उमा (करुण सान्त्वना)—नीला···नीलाऽऽऽ ।

ज० कुमार—रो लेने दो बेटी ! कुछ देर रो लेने से मन शान्त हो जाता है ।

उमा—पर चाचाजी आखिर यह क्या हो रहा है ?

ज० कुमार—होता क्या बेटी ! इनसान को अपने बचपन की बात याद आ गई है और कुछ नहीं ।

उमा—पर चाचाजी । बचपन तो बड़ा प्यारा बड़ा भोला होता है····।

नीला (सहसा जागकर) पर भाभी कहाँ है ? मां का क्या हुआ पिताजी ?

ज० कुमार—कुछ पता नहीं बेटी ।

नीला—हाय भगवान । सुनती हूँ वे स्त्रियों के साथ बहुत बुरा बर्ताव करते हैं । उन्हें बेइज्जत करते हैं··· । (काँपती है)

ज० कुमार (गहरी सांस खींचकर)—वे स्त्रियों की बेइज्जती करते हैं । बेटी ! आज जिन्दगी की ही कोई इज्जत नहीं रही, फिर स्त्री-पुरुष की क्या इज्जत होती । इन्सान आज सब कुछ भूल गया है । सब कुछ (उठ कर टहलता है) सुना है जब वे लोग भागे तो मां हमला करने वालों का ध्यान बटाने के लिए पीछे रह गई और फिर रास्ता न पाकर वहीं जल मरीं । (आँखों में आँसू और गले भर जाते हैं)

नीला (चीत्कार करती है)—दादी-अम्मां ! दादी-अम्माऽऽऽ ।

[उमा दोनों हाथों से नीला को गोदी में भरती है]

उमा—नीला, नीला, मेरी अच्छी नीला···(वह भी द्रवित होकर रो उठती है)

ज० कुमार (भरीया हुआ स्वर)—नीला ! मां बहादुर थीं । उनके लिए मत रोओ । वह इसलिए जल मरीं कि उनका वंश बचा रहे ।

नीला (सुबकती हुई)—पिताजी ! मैं जाऊँगी·· ।

ज० कुमार—कहाँ बेटी ?

नीला—जहाँ भइया' भाभी, राजेश और मां हैं । वहीं जाऊँगी । अकेली यहाँ क्या करूँगी ?

ज० कुमार (सहसा सम्हल कर)—तुम सो जाओ नीला ! (मुड़कर) उमा बेटी । जरा नीला को सुला दो ! मैं एक बार फिर जाता हूँ, शायद कुछ और समाचार आया हो । [सहसा घन्टी बजती है] आया । देखो कौन है ?

[आया का प्रवेश]

आया—सरकार ! इन्सपैक्टर साहब आए हैं ।

[इन्सपैक्टर का प्रवेश । वेशभूषा फौजी है । मुख पर मुर्दनी छाई हुई है, ज० कुमार बाहर आते हैं]

ज० कुमार—क्यों, क्या कुछ समाचार आया है ?

इन्सपैक्टर—सरकार... ।

ज० कुमार (काँप कर)—क्यों ! तुम बोलते क्यों नहीं ?

इन्सपैक्टर—जी (थूक सटकते हैं) वे लोग वहाँ से तो निकल आए थे परन्तु रास्ते में.....

ज० कुमार (साहस खोकर)—क्याऽऽ ? तुम क्या कहना चाहते हो... ?

[इन्सपैक्टर सिर झुका लेता है । जगदीश कुमार रो पड़ते हैं]

ज० कुमार—क्या वे सब मारे गए ? तुम मुझे बताते क्यों नहीं ?

इन्सपैक्टर (धीरे धीरे)—सरकार ! सुना है रास्ते में एक बड़ी भीड़ ने उन्हें घेर लिया...

ज० कुमार (पागल-सा)—तब··तबऽऽ ।

इन्सपैक्टर—"तब आपके पुत्र ने बचने का कोई उपाय न देखकर अपनी माता और पत्नी को शूट कर दिया···।"

ज० कुमार (उन्मत्त होकर)—"क्याऽऽ,क्याऽऽ"

प्रबोध ने अपनी माता और पत्नी को छूट कर दिया। नीला, नीला! सुना तूने। तेरी मां और भाभी को कोई नहीं छू सका। उन्हें प्रबोध ने छूट किया है।..

[नीला विक्षिप्त-सी बाहर आती है]

नीला (पागल-सी)—क्या पिता जी? भइया ने किसे छूट किया....।

ज० कुमार (सहसा जागकर)—नीला! कुछ नहीं, बेटी। तुम अन्दर जाओ।

[नीला नहीं जाती]

ज० कुमार (आदेश)—जाओ, नीला! जाओ।

नीला—पिताजीऽऽ

ज० कुमार (धीमा स्वर)—उमा बेटी! मैं पागल होरहा हूँ। तुम इसे ले जाओ।

[उमा नीला को पकड़ती है पर नीला नहीं हटती]

नीला—पिताजी! पिताजीऽऽ (शीघ्रता से पैरों के पास आकर बैठ जाती) पिताजी, तुम मुझसे छिपा क्यों रहे हो। मुझे बताते क्या नहीं..?

ज० कुमार (रो पड़ते हैं)—मेरी बच्ची! सब समाप्त हो गया, सब समाप्त होगया (हिचकियां बँधने लगतीं हैं) परन्तु बेटी। तेरी माँ और तेरी भाभी को कोई अपमानित नहीं कर सका। प्रबोध ने उन्हें स्वयम् छूट किया है....।

उमा (उच्छ्वासित कण्ठ)—सचऽऽ

नीला (उन्मत्त)—पिताजी, पिताजी आप क्या कह रहे हैं..?

[एक वृद्ध का प्रवेश। वस्त्र अस्तव्यस्त; नेत्र रक्तवर्ण, मुख विवर्ण]

वृद्ध—मैंने सब कुछ सुन लिया है। सब कुछ समाप्त होगया न? वह तो होना ही था, परन्तु तुम रोते क्यों हो?

ज० कुमार (रोते रोते)—उन दुष्टों ने किसी को नहीं छोड़ा! राक्षस, कमीने, नराधम, नीच हत्यारों ने किसी को नहीं छोड़ा।

वृद्ध—वे राक्षस, कमीने, नराधम, नीच, हत्यारे सब कुछ हैं पर तू रोता क्यों है। तेरा दर्द मैं जानता हूँ। पच्चीस व्यक्तियों के परिवार में आज मैं अकेला हूँ, (हसंता है) जिसे सबसे पहिले जाना था वही मैं आज बच रहा हूँ और सब चले गए पर मैं रोता नहीं हूँ। आज क्या औरतों की तरह रोने का वक्त है। आज प्रतिशोध लेने का वक्त है—प्रतिशोध (हसंता है) प्रतिशोध....।

उमा (तेजी से)—देखिए देखिए, नीला बेहोश होगई है...।

[आया दौड़ कर आती है और उमा के साथ, नीला पर झुकती है]

ज० कुमार (शीघ्रता से) नीला बेहोश हो गई। उसके लिए होश में रहना दुख दायक है। जितनी देर वह बेहोश रहेगी कम से कम उतनी देर तो दुख भूली रहेगी। (भावावेश)

वृद्ध (बात काटकर)—परन्तु बेटे! क्या कोई जिन्दगीभर बेहोश रह सकता है? यह कायरता है और इसी कायरता के कारण हमें आज यह दिन देखना पड़ा है। मैं कहता हूँ, हमें जिन्दा रहने की जरूरत है। जो कुछ आज होरहा है उसका प्रतिशोध लेने के लिए हम सबको जिन्दा रहने की जरूरत है। हम सबको! इसलिए मैं कहता हूं उसे होश में लाने के लिए डाक्टर को बुलवाओ।

[उमा और आया नीला को अन्दर ले जाती हैं। आया लौटकर फोन करती है]

ज० कुमार (भर्राया स्वर)—मैं नहीं जानता मैं क्या करूँ? मैं कहाँ बैठा रहा और वे मारे गए। न जाने...न जाने (फूट पड़ता है)

वृद्ध—फिर रुदन! यह तुम्हें क्या हुआ है? तुम वीर हो! तुम आज सीना खोल कर प्रतिज्ञा करो तुम इन हत्यारों से बदला लोगे। तुम उनके घरों को खाक में मिला दोगे। तुम उनके स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सभी को उसी रास्ते पर भेजोगे जिस रास्ते पर तुम्हारे भाई बन्द गए हैं। रास्ते में भय है पर भय है इसीलिए उसमें आनन्द है। (हँसता है) इसीलिए मैं कहता हूँ उठो, आगे बढ़ो और उन्हें बतादो किसी के मां-बाप, भाई-बेटे, पत्नी पुत्री की हत्या करने से कितना दर्द होता है। (हँसी विक्षोभमें पलटती है फिर धीरे धीरे पैशाचिक उल्लास में परिणत हो जाती है) वे हत्यारे हैं, नीच और नराधम हैं, वे आज अपने असली रूप में प्रगट हुए हैं हमें उन्हें नष्ट करना होगा! उनका बीज तक मिटा देना होगा..।

[क्षोभ और दुःख से हंसी आँसुओं में पलट जाती हैं। ज० कुमार अपने को भूलकर उन्हें सम्हालते हैं]

नहीं, नहीं! मुझे मत पकड़ो। तुम अपने को सम्हालो। वीर बनो और आगे बढ़ो आज यदि मेरे रमेश सुरेश होते..।

[वृद्ध सहसा फिर रोते हैं और हँसते हैं। इन्स्पैक्टर उन्हें सम्हालता है]

इन्सपैक्टर—पचीस व्यक्तियों के परिवार में ये अकेले बचे हैं, इसी दुख ने इन्हें पागल बना दिया है।

ज० कुमार (गहरी साँस लेकर) आज सारा देश पागल हो उठा है रामसिंह, और उसी पागलपन ने इन्हें इतना साहसी बना दिया है। परन्तु यह साहस कायर का साहस है..

वृद्धपुरुष (जाग कर)—मैं उनसे प्रतिशोध लूँगा। मैं प्रतिशोध लेने के लिए जिन्दा हूँ।

ज० कुमार (साहस पूर्वक)—और मैं भी उनसे प्रतिशोध लूँगा। आप चिन्ता न करें।

वृद्ध (प्रसन्न होकर)—सच तुम उनसे प्रतिशोध लोगे।

ज० कुमार—सच।

वृद्ध—तब तुम वीर हो।

[डाक्टर का प्रवेश। सुन्दर वस्त्रधारी प्रौढ़ पुरुष। अतिशय गम्भीर]

डाक्टर (ज० कुमार के पास आकर)—यह क्या हुआ, मि० कुमार?

ज० कुमार (भीगा स्वर)—डाक्टर नीला को देखो। उसे ऐसी दवा दो कि वह फिर होश में आकर मुझसे यह न पूछे मेरा भाई कहाँ है, मेरी माँ कहाँ है (आगे बोलने में असमर्थ सहसा चुप हो जाते हैं)

डाक्टर (सान्त्वना)—मि० कुमार। निस्सन्देह यह बहुत बुरा हुआ। न जाने भगवान क्या चाहते हैं? उन लोगों को इतना सिर चढ़ा कर ही हम लोगों ने यह फल पाया। अच्छाऽ (हाथ से दबा कर) मैं नीला को अभी ठीक किए देता हूँ। तुम अपने को सम्भालो।

[डाक्टर अन्दर जाता है, वृद्ध और इन्सपैक्टर बाहर, तभी घन्टी बजती है। ज० कुमार उसे देखते हैं।]

ज० कुमार (धीरे से)—जी कहिए।

स्वर (घबराहट)—सरकार अभी समाचार मिला है जगतगंज की अवस्था बिगड़ती जा रही है। उन लोगों ने आग लगा दी है।

ज० कुमार (चौंककर)—क्या कहा? कहाँ....।

स्वर—जगतगंज में।

ज० कुमार—जगतगंज में आग लगी है (हँसता है) तो लगने दो। फुँक जाने दो सब कुछ! अन्न धन पशु, आदमी, स्त्री, बच्चे जो भी हो सब नष्ट हो जाने दो।

स्वर—सरकार...सरकार...

ज० कुमार—ऐसा नष्ट हो जाने दो कि कल वहाँ कुछ भी न मिले। फुटबाल के मैदान की तरह वहाँ दूर दूर तक समतल भूमि हो (जोर से हँसता है फोन हाथ से छूट जाता है।) फुटबाल का मैदान; अहा हा फुटबाल का मैदान। प्रतिशोध; प्रतिशोध में बड़ी भयंकर शक्ति है, वह क्षणभर में जीवित जाग्रत नगरों को फुटबाल का मैदान बना सकता है (हँसता है)

[डाक्टर शीघ्रता से बाहर आते हैं]

डाक्टर—मि० कुमार! यह क्या है? यह आपको क्या हो रहा है।

ज० कुमार (बिना देखे बिना सुने)—प्रबोध, भारती, राजेश, पुष्पा! तुम जहाँ भी हो सुनो। मैं तुम्हारा प्रतिशोध ले रहा हूं। मैं उनकी बस्ती को फुटबाल का मैदान बना रहा हूं..

डाक्टर (मि० कुमार को पकड़ता है)—मि० कुमार, मि० कुमार! सुनिये तो नीला को होश आगया है।

ज० कुमार (चौकक़र)—नीला ! नीला जाग गई । (अन्दर जाता हुआ) तो सुनो नीला मैं प्रतिशोध लेने जा रहा हूँ । मैं उन्हे बताऊँगा किसी के प्रियजनों की निर्मम हत्या की पीड़ा कैसी होती है ?

नीला (अधखुले नयन)—पिताजी माँ कहाँ हैं... भइया आए ?

[नीला की वाणी सुनकर जगदीश कुमार फिर जागते हैं। नेत्रों में जलभरे बेटी पर एक दृष्टि डालते हैं। उमा शान्त मन उसका मस्तक सहला रही है]

ज० कुमार (धीरे धीरे शान्त)—बेठी ! मैं जारहा हूँ, उन सबका समाचार लेकर लौटूगाँ ।

उमा (करुण पर शान्त स्वर)—चाचाजी ! आप इस पीड़ा को जान गए हैं। यह कितनी मर्मान्तक है । क्या आज इससे बचने का कोई रास्ता नहीं है ।

[ज० कुमार एकबार उमा को ध्यान से देखते हैं फिर शीघ्रता से बाहर आ जाते हैं, पुकारते हैं ।

ज० कुमार—आया। ड्राइवर से कहो, कार ले आए।

[तभी सहसा नेपथ्य में करुण स्वर उठते हैं।]

स्वर—बचाओ बचाओ । अरे मार डाला··अरे कोई बचाओऽऽ...

ज० कुमार (चौंक कर शीघ्रता से)—क्या है ? यह कैसा शोर है ?

[स्टेज पर एक युवक दम्पत्ति का बदहवास, रक्तसे लथपथ, छाती से एक बच्चा चिपकाए प्रवेश। पीछे उसके उन्मत्त पुरुष जो ईंट पत्थर बल्लम कृपाण आदि का बराबर प्रहार कर रहे हैं। ज० कुमार उन्हे देखता है। सहसा पिस्तौल ऊपर उठा लेता है और अधिकार से कहता है]

ज० कुमार (क्रोधमय अधिकार) यह क्या है ? पीछे हटो। ... आगे बढ़े तो भून दूंगा। (भीड़ सहसा पीछे हटती है) है कुछ लोग रुकते हैं और पीछे (भीड़ भाग जाती है)

भीड़ (क्रोध और ...णा का स्वर)—यह कमीना है, पचमांगी है।

[एक पत्थर ज० कुमार के माथे में लगता है। रक्त चमक आता है। भीड़ एकदम भाग जाती है। ज० कुमार चोट को हाथ से दबा कर यंत्रवत घायलों की ओर मुड़ते हैं। उन्हें पहिचान कर सहसा चौंकते हैं। हाथ उठता है, वे रक्तसे लथपथ हैं और प्राय-संज्ञाहीन। युवक किसी तरह आँखे खोल कर कहता है, डाक्टर और आया शीघ्रता से अन्दर से आती है] युवक (बहुत धीमास्वर)—आपने हमें बचा लिया। आप फरिश्ते हैं···

आया—ओः (चीखती है).

डाक्टर (भौंचक हैं)—यह क्या है मि० कुमार...।

ज० कुमार (पिस्तौल तोलते हुए)—ये सब घायल हैं। इन्हे शीघ्र अन्दर ले जाकर देखो।

[वे अन्दर जाते हैं, नीला घबराई हुई आरही है, पीछे व्यग्र उमा है]

नीला—पिताजी, पिताजी ! कौन रोता है; क्या माँ आगई क्या.... ।

ज० कुमार (नीला को सम्हालते हैं और उसको पलंग पर ले आते हैं)—लेट जाओ बेटी ! तुम उठी क्यों ? मैं यहीं आरहा था।

नीला (टोक कर)—पर वे कौन हैं ?

ज० कुमार (गम्भीर स्वर)—वे मुसलमान हैं ?

उमा नीला (एक साथ)—क्या...?

[उमा और नीला हटात भयंकर वेग से काँप उठती हैं। पास के कमरे से बच्चों के करुण चीत्कार की ध्वनि उठती है। कई क्षण वे संज्ञाहीन से रहते हैं। डाक्टर का प्रवेश, वह अतिशय गम्भीर है]

ज० कुमार—क्या हाल है उनका, डाक्टर ?

डाक्टर—बच्चों की अवस्था चिन्ताजनक है ?

ज० कुमार—सच... ।

डाक्टर—जीहाँ। घाव गहरे हैं। किसी तेज शस्त्र की चोट है।

ज० कुमार (सहसा द्रवित होकर)—डाक्टर ! आप उसे किसी तरह बचाइए। किसी भी तरह ; नहीं तो उनके माँ बाप...(गला रुँध जाता है)

डाक्टर (सान्त्वना का स्वर)—मि० कुमार ! मैं डाक्टर हूँ अपना कर्त्तव्य नहीं भूल सकता। आप चिन्ता न करें।

उमा—मैं आपके साथ चलती हूँ। नीला अब ठीक है। (मुड़कर) क्यों न नीला रानी ?

नीला (धीरे धीरे)—हाँ उमा बहिन ! तुम डाक्टर साब की सहायता करो। पिताजी ठीक कहते हैं, बच्चों को किसी तरह बचाना होगा, नहीं तो उनके माँ बाप··· (रो पड़ती है)

[डाक्टर और उमा बाहर जाते हैं। ज० कुमार तेजी से स्टेज पर घूमते हैं और फुस-फुसा उठते हैं]

ज० कुमार (फुस-फुसाते हैं)—प्रतिशोध ! मुझे प्रतिशोध चाहिए। प्रतिशोधऽऽऽ हाँ !

प्रतिशोध ! उन्होंने मेरे परिवार की हत्या की है। उन्होंने असंख्य परिवारों की हत्या की है। उन्होंने लक्ष लक्ष बच्चों को, अनाथ स्त्रियोंको विधवा और पुरुषों को अनाश्रित किया है। और मैं प्रियजनों की निर्मम हत्या की पीड़ा को पहचानता हूँ। मैं जानता हूँ वह कितनी कड़वी और कितनी मर्मान्तक है। मैं उसी मर्मान्तक पीड़ा से तड़प रहा हूँ। मैं क्या समूचा देश उसी पीड़ा से पीड़ित है। तब वे ही क्यों बचे रहें। (हाथों की मुट्ठी मीचता है)..लेकिन..लेकिन उमा कहती थी—'बचपन कितना प्यारा होता है।' 'आप इस पीड़ा को जानते हैं। क्या इससे बचने का कोई उपाय नहीं।' (तेजी से घूमते हैं) कोई उपाय नहीं, कोई उपाय नहीं (चौंक कर) है, उपाय है। वह है उनका नाश ! हमारा नाश ! उनका नाश। उनका नाश; हमारा नाश (काँपता है) नाश, केवल नाश......

(ड्राइवर की आवाज आती है)

ड्राइवर (बाहर से)—हजूर। कार तैयार है।

[ज० कुमार सुनकर ठिठकते हैं। फिर एकदम बाहर जाते हैं फिर लौट कर नीला के पास आते हैं]

ज० कुमार (धीरे धीरे) नीला, मेरी बेटी। अपने को सम्हालो। मुझे जाना है। मैं विवश हूँ मेरे कन्धो पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। मेरी सहायता करो, मेरी बेटी..।

[नीला पिता को देखती है और उनका हाथ जो वे उसके सिर पर फेर रहे हैं, दबाती है और रोने लगती है]

नीला (रोते रोते)—पिताजी। मैं ठीक हूँ, आप आप जायँ।

[ज० कुमार शीघ्रता से चले जाते हैं और वृद्ध प्रवेश करता है]

वृद्ध—कहाँ है कुमार ! कुमार कहाँ है ?

[उमा बाहर आती है]

उमा—वे जगतगंज चले गए।

वृद्ध—गया, जगतगंज चला गया (स्वर तेज होता है) और उसने अभी अभी कई मुसलमानों को बचाया है। उसने मुसलमानों को बचाया है। मुसलमानों के कारण आज मैं दर दर का भिखारी हूँ। मुसलमानों के कारण उसका परिवार नष्ट हुआ और उन्हीं को उसने बचाया ; उन्हीं को (घृणा और क्रोध) कायर, धर्म-भीरु, उस पर भी गान्धी का असर होगया है। उसने तो प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की थी। उसे तो उन्हें शूट करना था..।

[एक बच्चे के साथ इन्सपेक्टर का प्रवेश]

इन्सपेक्टर (शीघ्रता से)—साहब कहाँ हैं ?

वृद्ध—साहब ! तुम्हारा साहब पागल होगया है। उसने जिन्हें पिस्तौल मारनी थी उन्हें अपने घर में रखा है। जिसने हमारा नाश किया उन्ही को उसने बचाया है.....

इन्सपेक्टर (टोककर) पर सुनिये तो मिस साहब कहाँ हैं। (उमा को देखकर) मिस नीला का क्या हाल है।

उमा (सहसा बच्चे को पहिचानती है)—नीला अब बेहतर है पर यह बच्चा...अरे रे यह तो राजेश है, (पुकार कर) नीला नीला....

[नीला का तेजी से प्रवेश]

नीला (घबराहट)—क्या है ? क्या कहती हैं मुझे। (सहसा राजेश को देखकर उन्मत्त की तरह चिल्लाती है) राजेश, राजेश (उसे चिपट जाती है) राजेश तू कहां से आया। (फूट फूट कर रोती है राजेश भी रोता है)

[सबके नेत्र भर जाते हैं]

उमा (गद्‌गद्)—यह कैसा सुन्दर दृश्य है पर इन्सपेक्टर साब यह सब कैसे हुआ ?

इन्सपेक्टर—मिस साब ! जब उन लोगों ने भइया के दल पर हमला बोला तो यह भाग कर एक खेत में छुप गया। तीन दिन वहीं पड़ा रहा। अन्त में एक गरीब मुसलमान ने इसे देखा और हमारी सेना के पास छोड़ गया।

उमा (गद्‌गद्)—मुसलमान ! मुसलमान ने उसे बचाया। यह क्या कहते हो ? इस बच्चे को मुसलमान ने बचाया...

[डाक्टर का तेजी से प्रवेश]

डाक्टर—आप लोग शोर न करें। बच्चे को होश आ रहा है। (देखकर) अरे नीला की गोद में कौन है ? वह ऐसे क्यों रोता है ? उमा, उमा तुमने रोका नहीं ?

उमा (शान्त स्वर)—उसे ऐसे ही रहने दीजिए डाक्टर। यह इसका भतीजा है इनका कुल-दीपक। एक मुसलमान उसे बचा लाया है।

डाक्टर (चकित)—क्या..क्या कहा तुमने...

वृद्ध (उन्मत्त प्रायः)—डाक्टर। क्रम उल्टा चल पड़ा है। हिन्दू मुसलमान को बचाता है, मुसलमान हिन्दू को। न जाने क्या होने वाला है न जाने क्या, पर मेरा प्रतिशोध...मेरा परिवार, मेरे बच्चे...

[ज० कुमार का तेजी से प्रवेश]

ज० कुमार कहां है राजेश ? मेरा राजेश—(देखकर चीखता है) राजेश, मेरे बच्चेऽ मेरे लाल...(पागलों की तरह उसे छाती से चिपका लेता है) राजेशऽऽऽ

वृद्ध (उन्मत्त हँसी)—हाँ कुमार, राजेश आगया। तुम्हारा कुलदीपक राजेश आगया और तुम्हारा प्रतिशोध भी पूरा हो गया। (हँसता है) प्रतिशोध, यह बड़ा अद्‌भुत प्रतिशोध है इसमें प्राण झुलसते नहीं, पनपते हैं। आदमी मरता नहीं जीता है, पर..पर....मेरा परिवार....

डाक्टर (दोनों हाथ फैलाकर धीरे धीरे)—न जाने क्या हो रहा है न जाने शैतान के भीतर शिव कहाँ छिपा बैठा है, पर मुझे तो अपना काम करना है। मुझे तो इन सबको देखना है।

[इसी करुणस्थिति में परदा गिर जाता है]
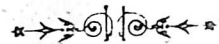
रेडियो द्वारा शिक्षा और संस्कृति

श्री सीताराम जायसवाल

रेडियो सामूहिक चेतना और प्रचार का प्रबल माध्यम है। इस वैज्ञानिक युग की आकाशवाणी जीवन के सभी क्षेत्रों में गूँजती है। लेकिन इसके गुञ्जन को सुनने के लिए इच्छाशक्ति की आवश्यकता है। पराधीन भारत में रेडियो केवल प्रचार और राजसत्ता की रक्षाका माध्यम रहा है। लेकिन स्वतंत्र भारतमें रेडियो ने स्वर्गीय बापूकी वाणी को घर घर में पहुँचाया है और जब देशमें नेताओं ने आवश्यक समझा, जनता तक अपना सन्देश पहुँचाने का प्रयास किया है। यहाँ हमें रेडियो द्वारा शिक्षा और संस्कृति पर विचार करना है। हमें देखना है कि स्वतंत्र भारत की वैदिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताएँ रेडियो कितना पूरा करता है और कर सकता है। लेकिन शिक्षा और संस्कृति से रेडियो का जो सम्बन्ध है,उसपर विचार व्यक्त करने के पूर्व हमें शिक्षा और संस्कृति के रूपको निश्चित कर लेना चाहिए,क्योंकि जब तक हम शिक्षा और संस्कृति की वास्तविकता को ग्रहण नहीं करेंगे तबतक हमारा कार्य सफल नहीं होगा।

शिक्षा से साधारणतः यह समझा जाता है कि यह एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा बुद्धि प्रदान की जाती है। गुरु अथवा अध्यापक जो कई विषयों का ज्ञाता होता है,अपने शिष्यों को शिक्षा देता है और शिष्यवर्ग उस शिक्षा को ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में शिक्षा देने और लेनेकी एक बौद्धिक वस्तु है। यह धारणा जन-सामान्य की है जो शिक्षा को दूर से देखते और समझते हैं। ऐसे लोगों का विचार है कि शिक्षा एक निश्चित सीमित वस्तुहै और वह एक निर्धारित अवधि के अन्दर प्राप्त की जाती है। जब बालक मनुष्य बनकर जीविका-निर्वाह में निमग्न हो जाता है तब शिक्षाकी आवश्यकता नहीं होती। उस समय पुस्तकें पढ़ना, ज्ञान-चर्चा करना केवल पंडितों का काम है।

लेकिन यह धारणा कितनी गलत है, इसे आज फिर स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि शिक्षा व्यक्तित्व का विकास करना है। बालक कुछ नैसर्गिक शक्तियोंको लेकर जन्म लेता है, उस पर परम्परा का प्रभाव होता है और शिक्षा वातावरण के आधार पर बालक के व्यक्तित्व का विकास करती है। दूसरे शब्दों में परम्परा और परिस्थिति के घात-प्रतिघात अथवा अनुसांगिक कार्यप्रणाली द्वारा मनुष्य के लिए ऐसा समाज प्रस्तुत करना जिसमें उसके जीवन की सभी दिशाएँ स्पष्ट हैं और वह अपने लक्ष्य को निरन्तर अपने सामने रखता है। वह जानता है कि समाज में उसका स्थान क्या है, समाज से उसे क्या प्राप्त होता है, वह समाज के लिए क्या कर सकता है और समाज के लिए उसे क्या करना चाहिए।

शिक्षा व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की कड़ियों को मज़बूत बनाती है। शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह प्रगतिशील समाज का प्राणी बन सके और अपनी शिक्षा द्वारा समाज की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक आवश्यकताएँ पूरी कर सके। समाज विकास-पथ पर चलता है। समाज की गति रुकती नहीं। समाज निरन्तर मनुष्य की गति-विधि के द्वारा बढ़ता ही जाता है। इसलिए शिक्षा का अन्त नहीं। शिक्षा मनुष्य और समाज के सम्बन्ध को सदा बनाए रखती है और मनुष्य को समाज की आवश्यकताओं का बोध कराती है। अतः जबतक मनुष्य अपना सम्बन्ध समाज से बनाए रखना चाहता है, तबतक उसे शिक्षा की आवश्यकता पड़ेगी। समाज का हित इसी में है कि वह अपनी उन्नति के लिए व्यक्ति की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध करे। जिस समाज का व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व को समझता है और सामाजिक चेतना से अनुप्राणित होता है, उस समाज में शिक्षा का रूप ऐसा होता है जिसके द्वारा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास तो होता ही है, साथ ही साथ

समाज भी इस योग्य बनता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न कर सके और उसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान अवसर और अधिकार प्रदान कर सके। दूसरे शब्दों में समाज की एक समाजवादी व्यवस्था तभी सम्भव है जबकि प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा इस प्रकार होती है कि उसका वैय्यक्तिक स्वार्थ, सामाजिक स्वार्थ में परिवर्तित हो जाता है। वह समाज का एक उपयोगी और पोषक अंग बन जाता है। इस प्रकार शिक्षा केवल देने और लेने की वस्तु नहीं है। वरन् वह क्रिया है जिसके द्वारा स्वर्ग को धरती पर उतार सकते हैं—सबको समान अवसर और अधिकार प्रदान कर समाजवादी जनतंत्र की स्थापना कर सकते हैं। ऐसी दशा में शिक्षा सीमित वस्तु नहीं। वह तो नित्य है और उसकी आवश्यकता तबतक रहेगी जबतक इस पृथ्वी पर मनुष्य जीवित है।

अब संस्कृति को लीजिए। संस्कृति शब्द के अनेक अर्थ हैं और इसकी व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से की जाती है। किताबी व्याख्या से संतोष नहीं होता। टेलर के अनुसार 'संस्कृति' वह मिश्रित रूप है जिसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, धर्म, रस्म-रिवाज और वे सभी बातें आ जाती हैं जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य होने के नाते ग्रहण करता है। लेकिन सत्य तो यह है कि संस्कृति को परिभाषा में पूर्ण रूप से बाँधा ही नहीं जा सकता। इसे समाज-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है। लेकिन जब हम समाज के रूप से परिचित हैं और जानते हैं कि समाज गतिशील है तब 'संस्कृति' को समझने में अधिक कठिनाई नहीं उत्पन्न हो सकती और उसकी परिभाषा कुछ इस प्रकार से कर सकते हैं—"किसी जन समुदाय विशेष की संस्कृति उसके कुछ व्यक्तियों की रचनात्मक प्रतिभा की देन होती है।"....."किसी जाति का सामाजिक, राजनीतिक विकास उसकी कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन राजनीति, सामाजिक संगठन आदि में देखा जा सकता है। इसलिए किसी जन-समुदाय विशेष की संस्कृति का इतिहास एक स्वतंत्र वस्तु नहीं होता, वह उस जाति के अन्य पक्षों से सम्बद्ध होता है।" अतः संस्कृति सामाजिक-जीवन की शैली है। संस्कृति सभ्यता की आत्मा है। संस्कृति वह मूल-शक्ति है जिससे समाज गतिशील है और विकास करता है। संस्कृति समाज के आर्थिक और नैतिक व्यवस्था का वह रूप है जिसके अन्तर्गत पूर्ण विकास सम्भव है। संस्कृति देश और काल की जीवन है। उसका स्वरूप अन्ताराष्ट्रीय होता है। संस्कृति एकता, समता और सौहार्द को प्रादेशिक सीमाओं में नहीं बाँधती, वरन् मनुष्य-जाति में अटूट सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करती है। कला और साहित्य, धर्म और नीति, रस्म-रिवाज सामाजिक जीवन की गतिविधि के प्रतीक हैं, इन्हें समाज गति और विकास की आवश्यकतानुसार ग्रहण करता और परिवर्तित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा व्यक्ति और समाज में वह सम्बन्ध उत्पन्न करती है, जिसके द्वारा व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास इस प्रकार होता है कि वह सामाजिक उत्तरदायित्व को ग्रहण करता है और ऐसा जीवन व्यतीत करता है जिससे समाज का हित होता है। व्यक्ति के इस प्रकार के रहन-सहन से एक निश्चित सामाजिक जीवन का प्रदर्शन होता है और उसी सामाजिक जीवन की सामञ्जस्यपूर्ण शैली ही संस्कृति है। इस संस्कृति का रूप सामाजिक जीवन की शैली के साथ बदलता रहता है। आधुनिक युग में हम एक नई संस्कृति को देख रहे हैं जो अतीत का आधार भी लिए है, पर साथ ही वर्तमान जीवन से प्रभावित भी है और उसकी दृष्टि भविष्य को भी देख रही है। इस नई संस्कृति के अन्तर्गत समाज की वह शैली दिखाई पड़ती है जो 'बहुजन-हिताय' 'बहुजन-सुखाय' को धर्म, न्याय, और नीति मानती है। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी अपने अन्तिम अधूरे उपन्यास 'मंगलसूत्र' में लिखते हैं, "धर्म वह है जिससे सभी का हित हो। अधर्म वह है, जिससे समाज का अहित हो।...देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है। अगर उसकी आँखों में यह खटकता ही नहीं तो वह अन्धा भी है और मूर्ख भी—देवता किसी तरह नहीं!" इस प्रकार की विचारधारा में नई संस्कृति का लक्षण है और इसी को हमें आगे बढ़ाना है।

रेडियो जो कि इस युग में अभिव्यक्ति का प्रबल

माध्यम है, कहाँ तक शिक्षा और संस्कृति की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है? अखिल भारतीय रेडियो द्वारा शिक्षा और संस्कृति के सम्बन्ध में जो कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं, उनपर तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की कार्यप्रणाली को देखलेना अनुचित न होगा। अमेरिका में रेडियो द्वारा शिक्षा का कार्यक्रम श्रोता की बौद्धिक आवश्यकतानुसार प्रस्तुत किया जाता है। बालकों की आयु और योग्यता का ध्यान रखते हुए कार्यक्रम बनाया जाता है। शिक्षा का कार्यक्रम बनानेवाले शिक्षा-विशेषज्ञ होते हैं और साथ ही विद्यार्थियों के लिए जो कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया विद्यार्थियों से प्राप्त की जाती है। प्रस्तुत रेडियो कार्यक्रम की सफलता के लिए केवल विद्यार्थियों के सुझाव ही पर निर्भर नहीं रहा जाता, वरन् विभिन्न स्कूलों के सफल शिक्षकों की एक समिति बनाई जाती है वह समिति शिक्षा का कार्यक्रम सुनती है और देखती है कि कार्यक्रम बालकों की आयु और योग्यता के अनुकूल है अथवा नहीं। समिति निरन्तर रेडियो व्यवस्थापक को सूचना और सुझाव दिया करती है।

अमेरिका में प्रत्येक रेडियो स्टेशन पर एक 'प्रोग्राम असिस्टेन्ट' स्कूलों के लिए होता है। यह 'प्रोग्राम असिस्टेन्ट' शिक्षा-विशेषज्ञ होता है और इसका कार्य बालकों, तरुणों, युवकों और प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए कार्यक्रम बनाना, योग्य व्यक्तियों को कार्यक्रम में भाग लेने के लिए आमंत्रित करना और कार्यक्रम की सफलता पर श्रोता-समिति की राय जानना होता है। इस प्रकार शिक्षक 'प्रोग्राम असिस्टेन्ट मुख्य रूपसे शिक्षा विशेषज्ञ होता है।

अखिल भारतीय रेडियो द्वारा शिक्षा का जो कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है अब उसपर विचार कीजिए। दिल्ली रेडियो स्टेशन आखिल भारतीय रेडियो का केन्द्र है। अतः दिल्ली रेडियो स्टेशन से शिक्षा सम्बन्धी जो कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है वह भारत के अन्य रेडियो स्टेशनों के लिए आदर्श होना चाहिए। पर दिल्ली रेडियो स्टेशन से शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रम प्रस्तुत करनेकी वैसी व्यवस्था नहीं है जैसी कि अमेरिका या इंगलैंड में। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के रेडियो द्वारा शिक्षा के लिए जितना कार्य किया जाता है उसका दस प्रतिशत भी अखिल भारतीय रेडियो द्वारा नहीं होता। इसका कारण क्या है? पहला कारण तो यह है कि भारतीय रेडियो ने 'रेडियो द्वारा शिक्षा' की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उसकी सारी शक्ति 'समाचार' सुनाने में खर्च हो जाती है। यदि भारतीय रेडियो वास्तव में यह स्वीकार करता है कि शिक्षा केवल पुस्तकों ही द्वारा नहीं दी जा सकती, वरन् रेडियो द्वारा सरलता और मनोरंजन के साथ दी जा सकती है तो उसे चाहिए कि :—

(१) प्रत्येक रेडियो स्टेशन पर शिक्षा के लिए एक 'प्रोग्राम असिस्टेन्ट' नियुक्त करे। इस 'प्रोग्राम असिस्टेन्ट' को शिक्षा-विशेषज्ञ होना चाहिए और साथ ही लेखक और आलोचक भी, क्योंकि उसे स्वयं कार्यक्रम के अनुसार कथानक अथवा 'फीचर' आदि लिखने पड़ेंगे और अन्य लेखकों द्वारा भेजी गई रचनाओं की आलोचना करनी पड़ेगी।

(२) रेडियो द्वारा शिक्षा का कार्यक्रम विद्यार्थियों और प्रौढ़ों के लिए अलग अलग बनाया जाय। देशकी वर्तमान शिक्षा-समस्याओं तथा राष्ट्र-निर्माण की आवश्यकताओं के अनुसार कार्यक्रम बनना चाहिए।

(३) रेडियो द्वारा शिक्षा के कार्यक्रम की आलोचना करने के लिए एक 'श्रोता-समिति' का संगठन होना चाहिए। इस समिति के सदस्य विभिन्न नगरों के शिक्षा-विशेषज्ञ होंगे। इनका कार्य रेडियो द्वारा शिक्षाके कार्यक्रम को अधिक से अधिक जनोपयोगी बनाना होगा।

(४) रेडियो द्वारा शिक्षाका कार्यक्रम सफल बनाने के लिए सरकार को प्रत्येक पाठशाला में एक रेडियो का प्रबन्ध करना होगा। नगरों में जो स्कूल अथवा कालेज हैं, उन्हें अपने 'फंड' से रेडियो खरीदने की अनुमति दे देनी चाहिए और उन्हें एक निश्चित अवधि के भीतर रेडियो खरीद लेना चाहिए।

(५) हरएक स्कूल में विद्यार्थी सभा होगी। यह विद्यार्थी सभा रेडियो द्वारा शिक्षा के कार्यक्रम की आलोचना करेगी और अपनी आवश्यकतानुसार कार्यक्रम की माँग करेगी।

इनके अतिरिक्त रेडियो द्वारा शिक्षा का जो कार्यक्रम बनेगा उसका आधार बालकों और प्रौढ़ों की मनोवैज्ञानिक

दशा होगी। बहुधा यह होता है कि बच्चों को ऐसी कहानियाँ सुनाई जाती हैं, जिनमें उनकी रुचि नहीं होती क्योंकि उस कहानी में बाल-मनोविकास का ध्यान नहीं रखा गया है। वह कहानी प्रौढ़ों के लिए अधिक उपयुक्त होती है, बालकों के लिए कम। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेडियो द्वारा शिक्षा का कार्यक्रम प्रस्तुत करना देश की बहुत बड़ी आवश्यकता पूर्ति करता है और साथ ही रेडियो द्वारा हम नागरिकों में ऐसी भावना उत्पन्न कर सकते हैं जिससे समाज का हित हो।

अब रेडियो द्वारा सांस्कृतिक कार्य को लीजिए। संस्कृति जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है सामाजिक जीवन की शैली और सभ्यता की आत्मा है। जीवन गतिशील है, इसलिए संस्कृति भी जीवन की आवश्यकतानुसार देश और काल के मुताबिक घटती, बढ़ती और बदलती रहती है। उसी प्रकार संस्कृति भी आदि काल से लेकर अब तक अपने रूप को बदलती रही है। संस्कृति के परिवर्तन और परिवर्धन में कला और साहित्य प्रधान साधन और उसके स्वरूप होते हैं। साहित्य जो कि सामाजिक जीवन के लिए है, उन अनुभूतियों को लेकर व्यक्त होता है जो समाज के हृदय में होती हैं। कला उस सौन्दर्य को अभिव्यक्ति प्रदान करती है, मूर्त करती है, जो समाज की कल्पना में उतरती है। अतः देखना होगा कि रेडियो जो साहित्यिक और कलात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है, वह समाज-संस्कृति से कहाँ तक सामञ्जस्य रखता है और यदि इस कार्यक्रम पर उचित ध्यान न दिया गया तो देश की सांस्कृतिक क्षति हो सकती है।

प्रेस के आविष्कार से संस्कृति को बड़ी सहायता मिली, क्योंकि पुस्तकें सरलता से मिलने लगीं। लेकिन रेडियो के आविष्कार ने मुद्रण को पीछे डाल दिया, क्योंकि रेडियो जो वाणी प्रस्तुत करता है, उसमें विचार के साथ भावना भी उपस्थित रहती है। वह भावना वक्ता के स्वर में मुखरित होकर सजीव हो उठती है और श्रोता के हृदय पर प्रभाव डालती है। इस प्रकार रेडियो द्वारा संगीत और साहित्य की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक होती है। अखिल भारतीय रेडियो सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों, साहित्य, संगीत और अन्य सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है। लेकिन यह प्रयास आदर्श नहीं, क्योंकि रेडियो विभाग में ऐसे लोगोंकी कमी है जो देश की संस्कृति तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं को भली भाँति समझते हों। इसका कारण यह है कि संस्कृति केवल पुस्तकों से प्राप्त नहीं की जाती। प्राचीन संस्कृति के उपकरणों को हम पुस्तकों में पा सकते हैं, लेकिन नई संस्कृति को जो कि बनने के क्रम में है, उसको समझनेके लिए जन-जीवन और विश्व-गति का सम्पर्क अत्यन्त आवश्यक है। जन जीवन को समझने के लिए उदार और व्यापक दृष्टिकोण तथा जन-सम्पर्क की आवश्यकता होती है। जिनकी दृष्टि उदार और व्यापक नहीं तथा जिन लोगों ने जनता के सुख दुःख को न जाना, वे आज कैसे जनता को सांस्कृतिक बल प्रदान कर सकते हैं?

रेडियो विभाग में ऐसे व्यक्तियों की अनुपस्थिति के कारण प्रतिक्रियावादी शक्तियों को प्रोत्साहन मिलता हैं। रेडियो विभाग में एक निश्चित विचारधारा और वर्ग विशेष का अधिकार होने के कारण कार्यक्रम में स्वतन्त्र विचारों की कमी होती है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि कुछ ही व्यक्तियों को, जोकि दल विशेष से सम्बंधित होते हैं, कार्यक्रम में सम्मिलित होने के लिए बुलाया जाता है और रेडियो ऐसे लोगों के लिए आर्थिक लाभ का साधन बन जाता है। इस तथ्य के प्रमाण में सावधानीपूर्वक उन व्यक्तियों, लेखकों और सम्पादकों की राय ली जा सकती है, जिनका जनता के जीवन से सम्पर्क है।

रेडियो पर सरकार का अधिकार नहीं होना चाहिए। रेडियो अभिव्यक्ति का माध्यम है। अतः इसे केवल 'सरकारी प्रचार' के लिए रखना उचित नहीं। यदि रेडियो लोकरुचि की अभिव्यक्ति का साधन भी हो तो इसके द्वारा देश की सांस्कृतिक उन्नति अधिक सम्भव है। अखिल भारतीय रेडियो सरकार का एक विभाग है। अतः उसके द्वारा वही कार्यक्रम प्रस्तुत किया जा सकता है जो कि सरकार के अनुकूल है। कभी सरकार लोकप्रिय होती है और कभी अप्रिय। लेकिन इसका प्रभाव रेडियो पर नहीं पड़ता। जब सरकार बदल जाती है, नई सरकार बन जाती है, तब रेडियो

की नीति में भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार रेडियो देश में परिवर्तन उपस्थित करने में सहायक नहीं होता और साथ ही परिवर्तन के मार्ग में रोड़ा भी बन जाता है। इस कठिनाई के कारण अखिल भारतीय रेडियो से नई संस्कृति के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती। अतः सांस्कृतिक दृष्टि से अखिल भारतीय रेडियो की प्रथम आवश्यकता यह है कि उसे बी० बी० सी० की भाँति स्वतंत्रता प्रदान की जाय। ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन, एक संस्था है जिसे सरकारी सहायता तो प्राप्त होती है, पर वह अपनी नीति निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र है। बी० बी० सी० द्वारा जो सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है, वह 'सरकारी 'विचार' के लिए ही नहीं होता। यह दूसरी बात है कि उस कार्यक्रम से सरकारी नीति का समर्थन भी होता है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का सी० बी० एस० (कोलम्बिया ब्राडकास्टिंग सिस्टम) है। यह भी एक 'स्वतंत्र' रेडियो संस्था है। अमेरिका के 'प्रेसीडेन्टल इलेक्शन' के दिनों में हर एक उम्मीदवार की 'खूबियाँ' सी० बी० एस० प्रसारित करता है। यदि इस पर सरकारी अधिकार हो तो वर्तमान प्रेसीडेन्ट रेडियो द्वारा केवल अपना ही प्रचार कराए। इन सब दृष्टियों से भारतीय रेडियो को मौलिक स्वतंत्रता प्रदान की जाय और इसके लिए केन्द्रीय सरकार एक समिति नियुक्त करे जो कि विभिन्न देशों में रेडियो सम्बन्धी व्यवस्था पर विचार करके भारतीय रेडियो की स्वतंत्रता का रूप निश्चित करे।

देश को इस समय ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है जो कि देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते हों, ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो कि सामाजिक चेतना उत्पन्न करती हो, ऐसी संस्कृति की आवश्यकता है जो स्वर्गीय प्रेमचंद के इस प्रश्न का उत्तर दे सके—"क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ी से बड़ी मेहनत करने पर भी भूखों मरता है और दूसरा आदमी हाथ पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है? यह सर्वात्म है या घोर अनात्म?" रेडियो इस प्रश्न को सुलझा सकता है और उसे सुलझाना ही चाहिए।*

नोट—*हमने दिल्ली रेडियो तथा प्रान्तीय रेडियो के कार्यक्रमों और उनमें काम करने वाले व्यक्तियों को भी समझा है। दलबन्दी और खुशामदों के आधार पर रेडियो विभाग में काम मिलता है। इसलिए योग्य व्यक्तियों की उसमें कमी रहती है। खुशामदों और दलबन्दियों के आधार पर रेडियो में काम करने वाले व्यक्ति कार्यक्रम में अपने दलविशेष का ध्यान रखते हैं; इसलिए रेडियो द्वारा लोकरुचि का प्रतिनिधित्व नहीं हो पा रहा है। हम शीघ्र ही रेडियो विभाग की अयोग्यताओं की सूची देंगे।

अखिल भारतीय रेडियो की एक राजनीतिक चालकी पर भी हम यहाँ कुछ कह देना चाहते हैं कि महात्मा गान्धीजी की हत्या के बाद प्रतिक्रियाशील देशी राजाओं की श्रद्धाञ्जलियों को प्रसारित करना उसने अपना फ़र्ज़ समझा; पर समाजवादी नेताओं की श्रद्धाञ्जलि को प्रसारित करने से वह विरत रहा।

सम्पादक

नव-विहान

श्रीमती विद्यावती 'कोकिल'

ओ मानव ! आज विहान करो

बाहर का अंधकार अवतो
प्राणों को लेकर डूब गया,
दिन-रात रह गए छाया बन
सब स्रोत तेज का सूख गया,
अपनी भौराई आगी से—
फिर एक सूर्य निर्माण करो ।

तुम अपनी अन्तर-निष्ठा से,
बस अपने उर की तानों से,
युग-युग की कालिख धो डालो
तुम अपने उज्वल गानों से,
फिर नए नए वरदानों से—
जीवन का तीर्थ महान करो ।

आँधी तूफ़ानों से लड़कर
अब भी जो तम में भटक रहे,
कुछ उगे-अन-उगे बीज अभी
भू की छाती में अटक रहे,
फिर रागों से दुलरा-दुलरा—
पल्लवित नए उद्यान करो ।

कितने भूखे प्यासे तन-मन
हैं ताक रहे तुमको अपलक,
कटुता की सूखी खेती पर
मेरे अनादि तुम अन्त तलक,
अपनी आँखों के मृदु-जल से—
द्रव-द्रव कर जीवन-दान करो ।

ओ दलित, गलित, कुंठित, पीड़ित
क्या पुनः शान्त हो जाओगे ?
मेरे शिव क्या इस बार नहीं
धरती का विष पी जाओगे ?
फिर नई सृष्टि के सृजन हेतु
तपसी तुम शर-संधान करो ।

तेरा अभिषेक मनाने को
हैं आगे - पीछे सभी खड़े,
उस तम में दोनों ही अनाम
पर छिपकर जीवन-मृत्यु खड़े,
चेतना - पुत्र आँचल छूकर
तुम जीवन की पहिचान करो ।

सामाजिक निषेध (टेबू)

श्रीमती कृष्णा दीक्षित बी० ए०, बी० टी०

संसार के सभी देशों और जातियों में धार्मिक और सामाजिक निषेध तथा स्पृश्यास्पृश्य के आचार विचार पाए जाते हैं। प्रत्येक देश में निषेध का अर्थ धार्मिक अवरोध से है। चाहे वह निषेध पवित्रता के लिए हो अथवा अशुद्धता के लिए। निषेध शब्द को सबसे पहिले हम फ़ारस में 'तोबा' के रूप में पाते हैं, संस्कृत में इसी निषेध को 'तावो' के रूप में देखते हैं, द्रविड़ लोग इसी शब्द को "टैपू" कहते हैं, अंग्रेजी में इसको टैबू (taboo) कहते हैं और हिन्दी में आजकल इसे हम निषेध के स्वरूप में पाते हैं। परन्तु सब भाषाओं में शब्द के स्वरूप में कुछ न कुछ विभिन्नता होते हुए भी अर्थ में पूर्ण समानता है। सभी देश इन शब्दों को धार्मिक और सामाजिक निषेध के लिए ही प्रयोग में लाते रहे हैं।

हवाई टापू में विशेष रूप से पुजारी ही निषेध लगा सकता था। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर राजा, सरदार और साधारण नागरिक भी इसे लगा सकते थे। निषेध का प्रचलन करने वाला व्यक्ति जितना अधिक प्रभावशाली होता था उतनी ही अधिक सफलता निषेध को फैलाने में मिलती थी। प्रजा सरदार का बनाया हुआ निषेध नहीं तोड़ सकती थी, परन्तु एक साधारण व्यक्ति द्वारा चलाया गया निषेध शक्तिशाली व्यक्ति तोड़ सकता था। इससे ज्ञात होता है कि निषेध के प्रचलन में राजा और सरदारों के स्वार्थ निहित रहते थे। राजा का नाम कोई भी नहीं ले सकता था और जिस वस्तु को राजा अथवा वहाँ का सरदार प्रयोग में लाता था वह भी पवित्र समझी जाती थी। अतएव राजा के नाम और उसकी प्रयोग की हुई वस्तु के नाम लेने पर निषेध था। राजा के नाम का यदि कोई प्रजा जन होता तो उसको नाम बदलना पड़ता था। कुछ खाद्य केवल देवता और पुरुषों के लिए ही थे स्त्रियों को उन्हें खाना निषिद्ध था। उन खाद्य पदार्थों को पवित्र मान उन पर निषेध लगा दिया गया था। जैसे, सूअर, मुर्गे, मछली और गरी इत्यादि। यहाँ पर साधारण निषेध तोड़ने पर प्रायश्चित स्वरूप प्रातः और सायंकाल मन्दिर में जाना पड़ता था। परन्तु यदि कड़ा निषेध लगाया जाता तो उसका प्रभाव पूरे द्वीप या जिले पर पड़ता था। द्वीप में आग बुझा दी जाती, कोई आदमी नहा नहीं सकता था, मन्दिर में जाने वाले व्यक्ति को छोड़ कर कोई भी घर के बाहर नहीं निकल सकता था, कुत्ता, सूअर और मुर्गे बोल नहीं सकते थे। बोलने से रोकने के लिए अंधेरे स्थान अथवा तहखानों में उन्हें रखते थे। कुत्तों के मुँह बांध दिए जाते थे और मुर्गों की आँखों पर पट्टी बांध दी जाती थी। निषेध की घोषणा करने के लिए दो नियम थे—या तो आदमी द्वारा घोषित कर दिया जाता था अथवा एक बहुत ऊँचे बाँस पर श्वेत वस्त्र या बाँस की पत्तियाँ बाँध दी जाती थीं।

मारक्वीसस द्वीप में स्त्रियों को मनुष्य के माँस खाने पर निषेध था। इस टापू में पानी पर भी निषेध था इसलिए एक बूँद पानी भी घर में नहीं गिरने दिया जाता था और न कोई वस्तु पानी में धोई जाती थी। यहाँ पर शत्रु को मारने वाले को १० दिन तक कोई नहीं छूता था, इन दिनों में न वह अपनी स्त्री को छू सकता था न अग्नि को। भोजन अन्य व्यक्ति बनाकर देता था। जिस व्यक्ति पर निषेध लगता था वह अपने हाथ से उठाकर खाना नहीं खा सकता था। यदि कोई खिलाने वाला न मिलता तो हाथों को पीठ की ओर करके घुटने टेक कर मुँह से खाना उठा कर खाता था। निषेध के तोड़ने पर धार्मिक और नागरिक दण्ड की व्यवस्था इस भाँति थी,—लोगों का विश्वास था कि निषेध के तोड़ने से प्रेतात्मा रुष्ट होकर रोग पैदा कर देता है और निषेध तोड़ने वाला व्यक्ति मर जायगा। कुछ द्वीपों में यह विश्वास था कि बालक की मृतात्मा उस व्यक्ति के शरीर के अन्दर प्रवेश कर जाती है इससे व्यक्ति का शरीर फूल जाता है और

वह बाल मृतात्मा उस व्यक्ति की सब शक्ति चूस लेती है जिससे आदमी मर जाता है। इस अन्धविश्वास के कारण निषेध तोड़ने वाला व्यक्ति भय के कारण मर जाता था।

नागरिक दण्ड

हवाई टापू में निषेध तोड़ने वाले व्यक्ति को राजा की ओर से मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। केवल वही आदमी छोड़ दिया जाता था जिसके लिए सरदार अथवा पुजारी राजा से शिफारिस करता था। यदि कोई व्यक्ति धोखे से निषेध तोड़ता तो पुजारी लोग तांत्रिक संस्कार करके विश्वास दिलाते थे कि तुम्हारा अपराध क्षमा होगया है अब मृतात्मा तुम्हें मारेगी नहीं। न्युजीलैंड में निषेध तोड़ने वाले व्यक्ति को मूरू प्रथा का शिकार बनना पड़ता था। इस प्रथा के अनुसार निषेध की खबर लगते ही अपराधी के मित्र और सम्बन्धी उसके घर दौड़ते थे और जो सामान जिसको मिलता था वह वहाँ उठाकर भाग जाता था। इस प्रथा के कारण सम्पति बड़ी शीघ्रता के साथ वितरीत हो जाती थी।

प्राकृतिक निषेध

कोई घातक रोग फैलता तो गाँव में जाने का निषेध हो जाता और गाँव खाली कर दिया जाता था। यदि गाँव में कोई व्यक्ति रह जाता और उसकी मृत्यु होजाती तो उसका घर जला दिया जाता था। सभी जगह बालक का जन्म होने पर कुछ दिनों तक माँ और बालक को छूना निषिद्ध था। कुमारी अवस्था में लड़कियाँ जितने व्यक्तियों को चाहें अपना प्रेमी बना सकती थीं परन्तु विवाह होने पर उन्हें एक पति के अतिरिक्त निषेध था। मृतक के दाह करने वाले व्यक्ति पर निषेध रहता था। उसे कोई छू नहीं सकता था। टोंगा में यदि प्रजा जन किसी सरदार का शव छू लें तो पाँच महीने तक उसे छूने का निषेध था। स्मशान भूमि पर जाना निषिद्ध था। न्युज़ीलैंड में लाल रंग को प्रयोग में लाना निषिद्ध था। यहाँ पर जब किसी गाड़ी में मृतक ले जाया जाता तो फिर उस गाड़ी को कभी काम में नहीं लाया जाता था और कोई भी व्यक्ति उसे न छुए इसके लिए उसपर लाल रंग पोत कर उसे समुद्र के किनारे डाल देते थे। टाहिटी में राजा रानी जिस भूमि पर पाँव रखते थे अथवा जिस घर में प्रवेश करते अथवा यात्रा के समय ठहरते थे वे निवासस्थान पवित्र समझ कर त्याग दिए जाते थे। इसलिए यात्रा में राजा-रानी कन्धे पर पालकी में ले जाए जाते और ठहरने के लिए मार्ग में अलग घर बने रहते थे। यह नियम न्युज़ीलैंड में नहीं माना जाता था, वहाँ पर जिस स्थान पर यात्रा के समय सरदार रात्रि में विश्राम करता था उस स्थान को चारों तरफ़ से घेर दिया जाता था। वह स्थान पवित्र माना जाता था और उसके अन्दर जाना निषिद्ध था। जिस व्यक्ति पर निषेध होता था वह पानी बर्तन में नहीं पी सकता था। ऊँचे से गले में पानी डाल दिया जाता था अन्यथा गिलास अशुद्ध हो जाता था।

निषेध से मुक्त होने के कुछ उपाय

टोंगा में यदि कोई सरदार को या उसकी किसी वस्तु को छू लेता था तो उसके हाथों का निषेध हो जाता था। इससे मुक्त होने के लिए निषिद्ध व्यक्ति बड़े सरदार के पाँव छू कर हाथों को पानी से धोता यदि पानी की कमी होती तो केले के खम्भे के रस से हाथ धोता था। यदि मुक्त हुए बिना निषिद्ध हाथों से भोजन कर लेता तो सरदार के निकट जाकर उनसे प्रार्थना करता कि वह अपनी टाँग से उसका पेट दबा दें। ऐसा करने से उसके पेट का भोजन निषेध से मुक्त हो जाता था। न्युज़ीलैंड में निषिद्ध व्यक्ति अपने शरीर में छोटे बच्चे का हाथ लगवाता और फिर उसके हाथ की दी हुई चीज खाता। ऐसा करने पर उसका निषेध छूट जाता था। मौरी सरदारों में प्रथा थी कि बालक का सिर पवित्र माना जाता था। भूल से सिर पर हाथ रखने पर पवित्र आग पर, जो पुजारी के यहाँ से आती, आलू भूना जाता। उस आलू को सरदार अपने हाथों से मसलता फिर आलू घर की सबसे बड़ी स्त्री को खाने के लिए दिए जाते। इसके पश्चात् निषेध से मुक्ति समझी जाती थी। निषेध से मुक्त होने की एक विधि यह भी थी कि एक पवित्र लकड़ी को पहिले दाहिने कन्धे पर घुमाया जाता, फिर कमर के चारों ओर, अन्त में कन्धे पर घुमाई जाती थी।

इसके पश्चात् लकड़ी तोड़ दी जाती, जला दी जाती गाड़ दी जाती अथवा समुद्र में डाल दी जाती थी।

निजी सम्पत्ति की रक्षा के लिए भी लोग निषेध का प्रयोग करते थे। न्युज़ीलैंड में कुल्हाड़ी पवित्र मानी जाती थी। इसलिए यदि कोई अपने बाग या खेत की रक्षा करना चाहता तो वहाँ या तो कुल्हाड़ी रख देता या कुल्हाड़ी से काट कर निशान कर देता था। समोआ में जिस स्थान की रक्षा करना आवश्यकीय होता वहाँ पर समुद्र की घास रख देते थे। घास देखने पर कोई भी व्यक्ति इस भय से उस खेत या बाग में नहीं जाता था कि छूने पर जब वह समुद्र में नहायेगा तो सामुद्रिक जन्तु द्वारा मारडाला जायगा। जब शकरकंद के खेत खोदने के दिन निकट होते तो खेत में जाने का निषेध कर दिया जाता था। इससे कोई राहगीर शकरकंद के खेत में जाकर शकरकंद नहीं खोदता था। जबतक खेत से अनाज कट कर घर पर नहीं आजाता था तबतक मजदूरों पर निषेध रहता था। इससे वे अन्यत्र मज़दूरी करने नहीं जासकते थे। शिकार के दिनों में जंगलों पर और मछली पकड़ने की ऋतु में नदी पर निषेध लगा दिया जाता था इसके द्वारा राजा, सरदार और पुजारी अपने एकाधिकार सुरक्षित रखते थे।

मिश्र में एक समय था जब कि धार्मिक पुस्तकों के अनुसार बैल को मारना और बलि चढ़ाना न्यायोचित समझा जाता था, किन्तु बछिया की बलि चढ़ाना महा-पाप समझा जाता था। इस नियम को पूर्णरूप से सब पर लागू करने के लिए बछिया पवित्र मानी जाने लगी। जन-साधारण के दिमाग में पवित्रता का भाव जम जाने पर बछिया को मारने का निषेध लगा दिया गया। धीरे धीरे यह रिवाज बन गया कि केवल गाय ही सब जानवरों से अधिक पवित्र है। इस रिवाज के परिणामस्वरूप मिश्र निवासी उन व्यक्तियों से भय-भीत होने लगे जिनके धर्म में गौवध न्यायोचित कहा गया था अथवा वे लोग जो कि गौमांस खाते थे। यूनान निवासी गौमांस खाते थे इसके लिए उनके धर्म में कोई निषेध नहीं था। इसलिए मिश्र निवासी उनसे डरते थे और उनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते थे।

बेबीलोनिया के निवासियों में पवित्रता का भाव भूत-प्रेत और इसी प्रकार के भय के द्वारा प्रारम्भ हुआ। पुजारियों ने धर्म के नाम पर इस विचार को बढ़ाया। प्राचीनतम निषेध के अनुसार पवित्रतम और अपवित्रतम वस्तु के छूने से व्यक्ति निषिद्ध हो जाता था। बेबीलोनिया निवासियों में यह भाव ज्यों का त्यों था। कोई भी कार्य करने के पूर्व ये लोग हाथों को धोते थे। ये लोग मोम और मिट्टी को प्रेतनी से प्रभावित समझते थे।

पैलेस्टाइन के यहूदियों में भी हिन्दुओं की भाँति खान पान और छुआछूत के लिए धार्मिक निषेध हैं। इस जाति में मृत्यु संख्या बहुत अधिक थी इसलिए प्रत्येक को एक निश्चित आयु तक विवाह करना अनिवार्य था। जाति को बढ़ाने के लिए विवाह सम्बन्ध जाति ही में करना पड़ता था। यहाँतक कि विवाह एक ही परिवार में करदिए जाते थे। इन लोगों के पवित्रता और अपवित्रता के भाव बहुत कुछ हिन्दुओं जैसे ही हैं।

फ़ारस पर निरन्तर मेसीडोनिया और अरब के आक्रमण होते रहे। फ़ारस का बहुत प्राचीन इतिहास इन्हीं लोगों ने नष्ट कर डाला। फ़ारस के निवासियों की प्राचीन संस्कृति के बारे में विशेष बातें ज्ञात नहीं हैं फिर भी इतना पता चलता है कि पृथ्वी, अग्नि आदि तत्वों को ये लोग पवित्र मानते थे। ये लोग शारीरिक और मानसिक शुद्धि अनिवार्य समझते थे। इस शुद्धि के लिए इन लोगों में खानपान और वेषभूषा के लिए कुछ नियम निश्चित थे। पूजा-पाठ और कुछ उत्सवों द्वारा ये लोग मानसिक शुद्धि करते थे। जितने ही ये लोग अरबों द्वारा सताए जाते उतने ही अधिक उनसे चिढ़ते थे और दूर रहते थे। विजातीय को छूना निषिद्ध था। यदि भूल से छू जाते तो गोबर से अपने शरीर का मल कर नहाते थे। विजातियों के हाथ से छुआ हुआ किसी भी प्रकार का खाद्य ये लोग काम में नहीं लाते थे। उनके सम्पर्क से अपने आप को बचाए रखने के लिए उन्होंने विवाह और खानपान के सम्बन्ध में कुछ निषेध बना रखे थे।

यूनानियों का पवित्रता का भाव और भी दृढ़ था। मृतक के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध होने से व्यक्ति अपवित्र समझा जाता था। भूत-प्रेतों को भी ये लोग अपवित्र मानते थे। जिस घर में कोई व्यक्ति मर जाता था उस घर के सभी व्यक्ति अशुद्ध समझे

जाते थे। इतना ही नहीं जितने व्यक्ति मृतक व्यक्ति के काम में सम्मिलित होते थे वे सब अशुद्ध समझे जाते थे। किसी के घर में यदि बालक का जन्म होता था तो माता और पिता दोनो ही अशुद्ध समझे जाते थे। इस बात में ये लोग भारतवासियों से भी आगे बढ़ गए थे। भारत में प्रसूति काल में केवल माता ही अशुद्ध समझी जाती है। पशुओं में यह लोग किसी भी प्रकार की पवित्रता का भाव नहीं रखते हैं। धार्मिक कृत्य में सम्मिलित होने के लिए और मन्दिर में प्रवेश करने के लिए कुछ चीजों को खाकर जाना निषिद्ध था। इस नियमानुसार सूअर का मांस, मछली, लहसुन इत्यादि वस्तुओं को खाकर जाना निषिद्ध था। भारत में भी धार्मिक कृत्यों में सम्पूर्ण तामसिक वस्तुओं का प्रयोग निषिद्ध है।

रूम का पुजारी कुछ व्यक्तियों और कुछ पशुओं का न नाम ले सकता था न उन्हें छू सकता था। लाश, अरथी, कच्चा मांस, कुत्ता, बकरी और घोड़ा धर्मानुसार अपवित्र समझे जाते थे। अन्त्येष्टि क्रिया के समय इन लोगों के यहाँ बाँसुरी बजाई जाती थी। उस बाँसुरी को सुनना पादरी के यहाँ निषिद्ध था। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति बेड़ी से बंधा हुआ पुजारी के घर ले जाया जाता तो पुजारी का घर अपवित्र हो जाता था और उस व्यक्ति को बन्धन मुक्त करनेपर ही उसका घर पवित्र होता था। दास पुजारी को छू नहीं सकता था। यहांतक कि पुजारी की हजामत के लिए भी स्वतंत्र व्यक्ति आवश्यकीय था। यदि कोई परदेशी भूल से भी किसी धार्मिक कृत्य में सम्मिलित हो जाता तो रोम निवासी उसे भयंकर समझने लगते थे। निषेध का पालन बड़ी कट्टरता से किया जाता था।

तिमोर (Timor) और उसके निकट के द्वीपों में निषेध शब्द की जगह "पामाली" अथवा "पोमाली" शब्द का प्रयोग किया जाता है। जावा सुमात्र में भी पामाली शब्द धार्मिक अथवा सामाजिक निषेध के लिए काम में लाया जाता है। बोर्नियो के लोग "पामाली" शब्द की जगह "पोरिख" शब्द का प्रयोग करते हैं। तिमोर में एक त्यौहार मनाने का प्रथा है। इस दिन शिकार खेल कर जो व्यक्ति सबसे अधिक खोपड़ियाँ लाता है वह पामाली हो जाता है। इसके फलस्वरूप वह अपने हाथ से खाना नहीं खा सकता है।

बोर्नियो के लोग पोरिख होने पर नहाते नहीं, आग नहीं जलाते, घर से बाहर नहीं निकलते और न अपना काज ही करने जाते हैं। न्युगिनी के मोटू (Motu) शव को नहीं छूते। छूने पर निषिद्ध हो जाते हैं। तीन दिन तक बहिन के हाथ का बना भोजन करते हैं, अपनी स्त्री को छू नहीं सकते। तीसरे दिन नहाने पर शुद्ध हो जाते हैं।

भारतवर्ष में शुद्धि के लिए जो निषेध बनाए गए हैं वे तीन मुख्य दोषों पर निर्भर करते हैं। जन्म दोष, स्पर्श दोष और दृष्टि दोष। इन्हीं तीनों दोषों की शुद्धि, प्रायश्चित और बचाव के लिए कुछ निषेध बनाए गए। मुख्य रूपसे ये निषेध दो प्रकार के हैं। सामाजिक और धार्मिक।

मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्यों को प्याज, लहसन, कुकुरमुत्ता, इत्यादि खाना निषिद्ध है। ब्राह्मणों को निषेध था कि १० दिन तक वे ब्याई हुई गाय का दूध न खायँ! जिस गाय का बछड़ा मर जाता था उसके भी दूध को दुहना निषिद्ध था। पालतू पक्षी का मांस खाना निषिद्ध था। किन्तु यज्ञ में जिस पशु अथवा पक्षी की बलि चढ़ाई जाती थी उसे सब लोग खा सकते थे।

यदि कोई बालक दाँत निकलने पर अथवा उपनयन संस्कार हो जाने पर मर जाता तो उसके सम्बन्धी अशुद्ध हो जाते थे। यदि किसी घर में शिशु का जन्म होता तो भी इसी प्रकार की अशुद्धि मानी जाती थी। सगे सम्बन्धी के मरने पर तो अशुचि मनाई जाती थी। किन्तु गुरु के मर जाने पर शिष्य तीन दिन तक अपवित्र रहता था। गुरुपत्नी अथवा गुरुपुत्र के मरने पर एक दिन और एक रात्त अशुचि रहता। इसी भाँति अछूत, मासिक धर्म वाली स्त्री, ब्राह्मण-हन्ता, दस दिन का बालक, शव और शवदाह संस्कार में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति को छूने पर नहाना अनिवार्य था। बिना नहाए छूने वाला व्यक्ति अशुद्ध माना जाता था। सूखी हड्डी से छू जाने पर गाय छूने पर अथवा कुल्ला करके व्यक्ति शुद्ध हो जाता था।

मिश्रित जातियाँ जिनका जन्म उच्च कुल की माता से होता था उनका अन्तिम संस्कार नहीं किया जाता था।

जो स्त्रियाँ वैदिक धर्म का पालन नहीं करतीं, पतिव्रत धर्म का पालन नहीं करतीं, गर्भपात करतीं हैं, पति हत्या करतीं हैं, ब्राह्मण कुल की स्त्रियाँ जो मदिरा पान करतीं हैं उन सबका मरने पर सम्मान पूर्ण अन्तिम संस्कार नहीं किया जाता था। जो स्त्री अपने पति के साथ विश्वासघात करती थी या अपने पति को समाज में अपमानित करती तो धर्म का कथन था कि वह उस जन्म में गीदड़ का जन्म लेगी अथवा कोढ़ से पीड़ित हो गल गल कर मरेगी, ऐसी स्त्री को छूना प्रत्येक के लिए निषिद्ध था।

दृष्टि दोष में कुटिल दृष्टि का दुष्परिणाम सर्वत्र विख्यात है। मनुस्मृति में तो इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता परन्तु पद्मपुराण में लिखा है "इस प्रकार भोजन करो कि किसी भी व्यक्ति की दृष्टि तुम्हारे भोजन पर न पड़े।" इसके अतिरिक्त भोजन के समय मौन रहने का भी आदेश है। शूद्र भोजन को देखने भी न पाए, उसके देखने मात्र से भोजन दोष युक्त हो जायगा। पद्म पुराण में एक जगह लिखा है, 'जो ब्राह्मण किसी शूद्र के यहाँ संस्कार कराएगा, उसके यहाँ भोजन बनाएगा अथवा उसे ग्रहण करेगा तो मरने के पश्चात वह प्रेत योनि में जायगा। अछूतों को छूने का भी निषेध है। छूने पर शुद्धि के लिए स्नान अनिवार्य है। शूद्र यदि ब्राह्मण की हत्या कर डाले तो वह पाप का भागी ठहराया जाता था। पर यदि उच्च जातियाँ शूद्र की हत्या कर डालतीं तो उस पर कोई पाप नहीं चढ़ता था। गुप्त काल में अछूतों को नीचे गिराया गया, परन्तु शुंग काल में मनु और पतंजली ने इन जातियों को और भी अधिक निम्नकोटि में गिराया था। शक, हूण और यवनों को मलेच्छ से भी अधिक नीच माना गया। भारत में जब यवनों का आगमन हुआ तो इनसे दूर रहने के लिए उन्होंने अपने नियम कुछ और कड़े कर दिए थे। जैसे गौ मांसाहारी, कुत्ता, भाल इत्यादि को अपवित्र माना जाता था। अछूत, जाति-च्युत और क्रोधी से बालना निषिद्ध था।

भारत के दक्षिण में शूद्र के घर की चौहद्दी में स्थित कुएँ अथवा तालाब में कोई ब्राह्मण स्नान नहीं कर सकता। पुलयन जाति के किसी आदमी को यदि कोई पारिया छू दे, तो पुलयन पाँच बार स्नान करता है पुनः उँगली से रक्त निकाल देने के बाद शुद्ध होता है। ब्राह्मण जाति पारिया को अस्पृश्य मानते हैं, ठीक इसी प्रकार पारिया भी ब्राह्मण को अछूत समझते हैं। यदि पारिया जाति के मोहल्ले से कोई ब्राह्मण निकल जाय तो ये लोग उसे पीटते हुए बस्ती से बाहर निकाल देते हैं और निकाल देने के पश्चात् पूरा गाँव गोबर से लीप कर शुद्ध किया जाता है और सब लोग स्नान करके शुद्ध होते हैं। मद्रास की कापू जाति की येग्लम शाखा बड़ी ब्राह्मण विद्वेशी है। कापू जाति के लोग ब्राह्मणों का छुआ हुआ अन्न नहीं खाते हैं। न विवाह इत्यादि किसी अनुष्ठान में उन्हें बुलाते हैं। हवन में पुरोहित का आना अनिवार्य है, इसलिए इन्होंने विवाह के समय हवन करने की प्रथा ही तोड़ दी है। उड़ीसा के कुम्भी पटीया जाति के आदमी सबका छुआ खा सकते हैं, किन्तु ब्राह्मण, राजा नाई और धोबी उनके लिए अस्पृश्य हैं। आज भी ब्राह्मण के कुएं से अछूत पानी नहीं भर सकता है। रामानुजी वैष्णवों का अन्न और पाक क्रिया किसी के देखने से भी अशुद्ध हो जाती है।

समाज में जहाँ भी निषेध या विधि-निषेध है, वहाँ उसमें "माना" भी है। "माना" अतीन्द्रिय शक्ति में एक किस्म के विश्वास को कहते हैं—जैसे, 'ऐसा करनेसे देवता ऐसा कर देगा'। यह "माना" मानव समुदाय के आदिम स्थिति का सूचक है। टैबू या सामाजिक निषेध के अनुसन्धान से जाना जाता है कि इसके द्वारा समाज कितने ही प्रकार के विधि-निषेधों में आबद्ध रहा है। इस विधि-निषेध के अध्ययन से पता लगता है कि एक किस्म के सामाजिक रक्षा-कवच के रूप में इसका प्रयोग किया गया है। इस रक्षा-कवच के सामाजिक आर्थिक पहलू से मालूम होता है कि इसमें श्रेणी-चैतन्य के भी लक्षण हैं। कार्य के द्वारा मानव संघबद्ध हुआ, पर कैसे एक दल दूसरे दल से ऊँचा हुआ, फिर कैसे उसके ऊँचे पद की रक्षा के लिए टैबू या निषेध का रक्षा-कवच बना इसे टैबू के अध्ययन से देखा जा सकता है। ये सामाजिक निषेध इतिहास के प्रारम्भ से मानव समाज में होने वाले वर्ग-संघर्ष के प्रतीक हैं। हिन्दू समाजमें सर्वत्र हम निषेधका जाल पाते हैं। इन निषेधों के अन्दर सजग वर्ग-संघर्ष है। हिन्दू समाज का यह निषेध वर्ग और जाति व्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है।

—७—

महात्मा गांधी की दृष्टि साहित्यगत वस्तु (मैटर) पर अधिक है, तद्गत कलापर कम। उनमें इस धारणा का होना स्वाभाविक भी है; क्योंकि जब जब साहित्य में विशुद्ध आदर्शवाद की प्रतिष्ठा का आग्रह किया गया है तब तब साहित्य के सौंदर्यपूर्ण विधान पक्ष पर साहित्यकारों की दृष्टि कम गई। इसका कारण यह है कि विशुद्ध आदर्शवादी का लक्ष्य साहित्य द्वारा मुख्य रूप से नीतिमत्ता, सदाचार आदि का प्रसार आदि होता है। ऐसी स्थिति में वस्तुपर दृष्टि अधिक रहने के कारण उसके सौंदर्यपूर्ण विधान-पक्ष पर दृष्टि कम जाती है। हिन्दी-साहित्य का द्विवेदी-युग इसका प्रमाण है। इसी वृत्ति के वशीभूत हो महात्मा गांधी स्वीकार करते हैं कि "जिस कला के पीछे प्राणियोंपर जुल्म, उनकी हिंसा, उत्पीड़न आदि हों उसमें बाह्य सौंदर्य कितना ही हो तो भी वह कला कलि अथवा शैतान का ही दूसरा नाम है।" (वही, पृष्ठ १६४)

'अधिक से अधिक लोगोंका अधिक से अधिक उपकार' पर दृष्टि रहने के कारण महात्मा गांधीने साहित्य के सरल और सर्व बोधगम्य होनेपर जोर दिया है। इसे भी उनपर विशुद्ध आदर्शवाद का प्रभाव होने का फल ही समझना चाहिए। वे केवल विद्वानों द्वारा समझे जाने योग्य साहित्य को अच्छा नहीं समझते। साहित्यगत दुरूहता को वे उसका दोष मानते हैं। (वही, पृष्ठ १५८)

—८—

आरंभ में ही हमने कहा है कि महात्मा गांधी ने विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में कार्य नहीं किया है, परन्तु वे साहित्य-प्रेमी अवश्य थे। हम देखते हैं कि उन्होंने साहित्य संबंधी बहुत सी बातें ऐसी कही हैं, जिन्हें विशुद्ध साहित्यकार भी किसी न किसी रूप में स्वीकार करता है; परन्तु ये बातें जिस ढंग से कही गई हैं वह ढंग साहित्यकार का नहीं है, वह ढंग आदर्शवादी और संस्कारवादी सामाजिक नेता का है। वस्तुतः उन्होंने सामाजिक नेता की दृष्टि से ही साहित्य को देखा है। जीवन और समाज के कृष्ण-पक्ष को वे साहित्य में किसी भी रूप में नहीं आने देना चाहते। साहित्यगत यथार्थवादके वे समर्थक नहीं हैं। मगर साहित्य में जीवन और समाज का कृष्ण-पक्ष भी यथार्थ की पद्धति से रखा जाता है, इसके प्रचार के लिए नहीं, प्रत्युत जीवन और समाज की यथार्थ झांकी देने के लिए तथा ऐसा करके श्रोता, पाठक और दर्शक को इससे विरत करने के लिए। हमने देखा है कि वे साहित्यगत शास्त्रीयता पर भी दृष्टि नहीं रखते। सब कुछ सरल हो, वे इसके हिमायती हैं। सभी साहित्य और साहित्य के अन्तर्गत सब कुछ सरल हो, यह आवश्यक तो नहीं है। वे साहित्य में उसके सौंदर्यपूर्ण विधान-पद्धति पर ध्यान नहीं देते। उनकी दृष्टि साहित्य के वस्तु पक्षपर है, सौंदर्यपूर्ण वस्तु-विधान-पक्षपर नहीं। विशुद्ध साहित्यकार इसे स्वीकार नहीं करेगा। साहित्य में कला-पक्ष का कम महत्त्व नहीं है। सत्य तो यह है कि साहित्य में सभी प्रकार की वस्तु कला-पक्ष की सहायता से ही सच्चे और अमर साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित होती है।

देशद्रोह बनाम साम्प्रदायिकता

प्रो० गोरावाला खुशाल जैन

विभाजन नहीं कर्तन

साम्राज्यवादी अंग्रेजों तथा मुसलिम लीगी भारतीयों के गाढ़े सहयोग के कारण भारत का अंगच्छेद आज सुघटित घटना है। यह अप्राकृतिक कार्य इसीलिए हो सका है कि प्रच्छन्न रूपसे यह मान लिया गया है कि भारत एक राष्ट्र नहीं और भारतीयों में एक राष्ट्रीयता नहीं है। यद्यपि यह धुँधली मान्यता भारतीयों पर लादी गई है और सर्वथा निराधार है। क्योंकि भारत के छिन्न अंग पाकिस्तान में रहने वाले भी जाति, कुलक्रम तथा संस्कृति की दृष्टि से, उतने ही भारतीय हैं जितने कि हिन्दुस्तान में रहने वाले हैं। तथापि एक जाति, रक्त, भाषा तथा संस्कृति होने पर भी यह केवल धर्मभेद के ही कारण संभव हो सका है। मुसलमानों के आक्रमण के पहिले भी भारत में विभिन्न धर्म तथा सम्प्रदाय थे। उनमें एक और जहाँ प्रतिद्वन्द्विता थी वहीं दूसरी ओर उदात्त समन्वय भी था। धर्मनीति से परीचालित राजतन्त्र कभी कभी साम्प्रदायिकता के प्रभाव में भी आए थे! धार्मिक दमन भी हुए थे। किन्तु दमन के उस युग में भी किसी सम्प्रदाय ने यह कल्पना नहीं की थी कि वह भारतीय नहीं है तथा उसे बर्बरता और नारकीयता का नग्न-तांडव करके इस देश का अंगच्छेद कर लेना चाहिए। साम्प्रदायिक उन्माद के शान्त होते ही विविध सम्प्रदायों के लोग पुनः एकमेएक हो जाते थे और प्रयत्न करने पर भी उनके बीच में कोई साम्प्रदायिक दीवाल नहीं टिक पाती थी।

मुसलिम आक्रमण के साथ साथ भी एक धर्म और सम्प्रदाय इस देश में आया। बाहर से आनेवाले मुट्ठीभर मुसलमानों ने यदि अपने को भारतीय न माना हो तथा यहां के केवल पूर्व निवासियों को ही भारतीय कहा हो तो यह किसी हद तक समझ में आता है। किन्तु वे लाखों करोड़ों भारतीय जो तलवार के भय तथा दूसरे अन्य सामाजिक कारणों से इसलाम में दीक्षित हो गए, उन्होंने भी अपने को भारतीय क्यों नहीं माना? विस्तृत विवेचन में गए बिना यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि उस समय मुसलमान विजेता तथा शासक थे। अतः विजित तथा शासित की महत्तर संस्कृति उनके लिए विशेष आकर्षण की वस्तु न थी। फलतः वे अपनी संस्कृति में ही संतुष्ट थे। दूसरी ओर विजित तथा शासितों ने मुसलमानों के साम्प्रदायिक दमन तथा अत्याचारों की यद्यपि उपेक्षा की तथापि विजेताओं को हिलामिला न सके। यह ध्रुव सत्य है कि भारत में स्वेच्छा से धर्म तथा सम्प्रदाय परिवर्तन को कभी बुरा नहीं माना गया है। इतना ही नहीं बल्कि जोर जबरदस्ती से किए गए धर्म परिवर्तन को भी अपनी असंघटित अवस्था और एक किस्म की धार्मिक उदारता के कारण सहा है। यही कारण है कि छत्रपति शिवा जी आदि ने मुसलमानों के साथ भेदभाव नहीं किया। मुसलिम शासन काल में भी धर्मभेद आपसी बिलगाव का कारण नहीं था। यही कारण है कि केवल गैर-मुसलिम के लिए व्यवहृत हिन्दू शब्द की ओर विशेष लक्ष्य नहीं दिया गया। उस समय तथा महाराष्ट्र काल में भी सम्प्रदाय और धर्म का कोई राजनैतिक महत्व नहीं था। राजनीति का मूलमंत्र एक स्वार्थ था जो कि सब सम्प्रदायों को एक कर देता था। अतः साम्प्रदायिकता को हम अपनी वस्तु या स्वभाव कैसे मानें?

साम्प्रदायिकता की सृष्टि

सन ५७ का स्वातन्त्र्य संग्राम इस एकता का चरम उत्कर्ष था। तब तक अंग्रेजों ने देखा कि वे अपनी नौशक्ति तथा आग्नेय अस्त्रों के बल पर ही भारत में साम्राज्य न चला सकेंगे। वे स्पष्ट समझ सके कि जिस

संस्कृति ने इसलाम जैसे समाज को अपना राजनैतिक साथी बना लिया है, वह अंग्रेजी समाज को सरलता से अपना सकेगी। फलतः साम्राज्यवादी शोषण भी असंभव हो जायगा। इन परिस्थियों ने भारत में पृथक अंग्रेजी बस्तियों को जन्म दिया। अपने विलगाव के आदर्श तथा हिन्दू मुसलमान पृथकता की भावना को दिए गए सतत उत्तेजन द्वारा धीरे धीरे मुसलिम मस्तिष्क को विकृत करना प्रारम्भ किया गया। मुसलमानों को बताया गया कि वे भारतीय नहीं हैं। तथा अमुसलिम लोगों को भी मुसलिम आक्रमणों की बर्बरता तथा अनैतिकता बताकर भ्रान्त किया गया। परिणाम यह हुआ कि अमुसलिम भारतीयों के हृदय सकुचा गए और मुसलमान जो गदर के समय तक अंग्रेजों के भीषण शत्रु थे तथा अंग्रेजों से दूर रह रहे थे, वे अपने देश भाइयों से ही शंक हो गए। अपने आपको और अधिक असहाय अनुभव करने लगे।

मराठों की अन्तरंग फूट तथा मुग़ल साम्राज्य के भग्नावशेष मुसलमान रजवाड़ों की भीरुता और विलासता के कारण जब यहाँ अंग्रेजी शासन सुदृढ़ हो गया, तब अमुसलिम भारतीयों ने स्वार्थवश की गई अंग्रेजों की कृपा से लाभ उठाकर थोड़े ही समय में अंग्रेजी राजतत्र को ही नहीं समझा अपितु उनके समाज और संस्कृति को भी समझ लिया। उन्होंने ऐसा माना, कि अंग्रेज का घरू रूप जितना उदार और संस्कृत है बाहरी रूप उतना ही प्रतिगामी और संकीर्ण है। इस मध्यम वर्ग ने अपने आपको अंग्रेजों का प्रतिद्वन्दी माना फलतः अपने अधिकारों की मांग की। भेद-नीति के आचार्य अंग्रेजों ने अपना अस्त्र चलाया। किन्तु इस मध्यम वर्ग में मुसलमानों की कमी न थी। अतः धर्म भेद के कारण ही भारतीय मुसलमान देशद्रोह कैसे करते? फलतः हिन्दू मुसलिम नारा बुलन्द कर के एक ऐसा समुदाय तयार किया गया जो अंग्रेजपरास्त ही नहीं था, अपितु राजनीतिक चेतना का विरोधी भी था। मध्यम वर्ग ने इन्हें देश भाई होने के नाते 'विभीषण या गद्दार' कहना अपनी भावना के प्रतिकूल समझा। अंग्रेजों ने भी इस निकृष्ट भावना को साम्प्रदायिकता का मुलम्मा चढ़ाकर खूब बढ़ाया।

प्रारम्भिक देशद्रोह

मुसलिम लीगियों की दृष्टि में सर सैयद अहमद का वही स्थान है जो राजा राममोहन राय का हिन्दू समाज के पुनर्निमाण में है। अतएव सर सैयद को जान लेना बहुत जरूरी है। सर सैयद की नीति का प्रथम लक्ष्य तो यह था कि अंग्रेजों के मन से यह धारणा निर्मूल हो जाय कि मुसलमानों ने सन् ५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध में प्रमुख भाग लिया था, अथवा वे अंग्रेजी राज्य के शत्रु थे और हैं। दूसरे वे चाहते थे कि मुसलमान अंग्रेजपरस्त बनें, यही कारण है कि वे अंग्रेजों तथा अंग्रेजी शासन के गुण गाते गाते न थकते थे[1]। अंग्रेजों के कुटिल मस्तिष्क से उत्पन्न हिन्दू मुसलिम पृथकता का उनपर इतना अधिक प्रभाव था कि मुसलमानों को शेष भारतीयों से अलग रखना उनकी नीति का तीसरा अंग हो गया था[2]। अलीगढ़ का 'मोहमडन ओरीएण्टल कालेज,' मुहमडन नेशनल एसोशियेशन कलकत्ता आदि संस्थाएँ उनकी इस भावना के प्रतीक न थे, अपितु इसके प्रसार के साधन भी थे। सर सैयद की इस भ्रान्त नीति का ही यह परिणाम था जो श्री हाली, शिबली आदि भगीरथ प्रयत्न करके भी मुसलमानों को पूरा इसलामी न बना सके। इस अंग्रेजपरस्त अर्थात् भारत-द्रोही समुदाय में हिन्दुओं की भी कमी न थी; राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा उनका 'यूनाइटेड पैट्रिओटिक एसोशियेशन' आदि भी इस अंग्रेजपरस्ती के प्रकट रूप थे।

केवल मुसलमानों की उन्नति करने के उद्देश्य से जिस समय सर सैयद उक्त वातावरण की सृष्टि कर रहे थे उसी समय डा० इक़बाल का जन्म हुआ। यद्यपि इनकी शिक्षा व्यापक हुई थी तो भी ये पश्चिमी सभ्यता को निस्सार मानते थे तथा युरोपीय युद्धों के कारण ये सीमित

१, क—असबाबे बग़ावते हिन्द।

ख—हिन्दुस्तान के राजभक्त मुसलमान।

ग—Life And Works of Sir Saiyad Ahmad Khan.

२. सन १८८७ में अवध के तालुकेदारों, सरकारी नौकरों, फौजियों की एक सभा में दिया गया भाषण।

राष्ट्रीयता के विरोधी भी हो गए थे। तथापि केवल मुसलमानों का विकास इनका भी लक्ष्य था। ये भारतीय मुसलमानों को सबल देखना चाहते थे। ये अन्ताराष्ट्रीयता के समर्थक अवश्य थे। पर इनकी अन्ताराष्ट्रीयता का पूर्ण विकास 'विश्व मुसलिम' संघ से बाहर नहीं जाता था। ऐसी अवस्था में मुसलमान भी भारतीय हैं, इक़बाल का यह मत यदि अधिकांश मुसलमानों के गले नहीं उतरा तो क्या आश्चर्य की बात है? मुसलिम जागृति की इस भूमिका पर मौलाना आज़ाद तथा मौ० मुहम्मद अली की एक राष्ट्रीयता यदि नहीं फूली फली तो क्या हुआ? क्योंकि इस समय तक 'हिन्दू-मुसलिम' प्रयोग केवल कहने का प्रकार नहीं रह गया था। अंग्रेजी शासन के द्वारा पग-पग पर दोनों को अलग किए जाने के कारण मुसलमान ही अपने को अभारतीय नहीं समझने लगे थे, अपितु राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र का द्योतक 'हिन्दू' शब्द भी केवल वैदिक सम्प्रदाय में संकुचित होने लगा था। यह देश का दुर्भाग्य था कि भारतवासी मात्र वैदिक, जैन, बौद्ध, पारसी इसाई, मुसलमान तथा सिखों का वाचक यह शब्द पहिले 'गैर मुसलिम' मात्र के लिए व्यवहृत हुआ तथा अंग्रेजों की कृपा और हमारी अज्ञता के कारण वह धर्म विशेष का द्योतक हो गया। यह भी संयोग की बात थी कि प्रतिगामी समुदाय में मुसलमानों का प्राधान्य था। इसके अतिरिक्त जाग्रत मध्यम वर्ग में गैर मुसलिम लोगों का प्राधान्य था जो कि अंग्रेजी शासन को अपनी पराजय मानता था तथा अपना अंग्रेजी शासन के अन्दर अपना अधिकार चाहता था। इस दल की प्रारम्भिक शान्त अवस्था में सर सैयद का इसके सम्पर्क में रहना[1] तथा इसके आंशिक उग्र होते ही इससे बिल्कुल दूर रहने की सलाह मुसलमानों को देना भी यही सिद्ध करता है कि अंग्रेजों ने उक्त संयोग से लाभ उठाया था। यद्यपि श्री बदरुद्दीन तैयबजी, नवाब सैयद मुहम्मद, मज़रुलहक, मौलाना आज़ाद, मौ० मुहम्मद अली, हकीम अजमल खान, डा० अनसारी, आदि की देशभक्ति के कारण वे उस समय अपनी चाल में पूर्ण सफल न हो सके थे। ये भारतीय नेता धार्मिक विवेक तथा राष्ट्रीयता के प्रतीक और प्रकाश-स्तम्भ रहे हैं। यह इन्हीं का प्रभाव था जो भारत विभाजन के सूत्रधार श्री जिन्ना भी किसी समय एक राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे।

१—श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सिविल सर्विस आन्दोलन का समर्थन।

एक बार आंखें खुलीं

जिस समय भारतीय मुसलमान इस प्रकार दो विरोधी धाराओं में बहे जा रहे थे, उसी समय मुसलमानों के गौरव स्वरूप टर्की पर युरोपीय राष्ट्रों के सन् १९१२ में आक्रमण प्रारम्भ हुए। तलवार के बलपर जोड़े गए ओटोमन साम्राज्य की दीवारें एक एक करके जमीन पर आने लगीं। इस प्रहार का प्रत्यक्ष आघात यद्यपि मध्य पूर्व पर था तथापि अंग्रेजों के ही द्वारा सुलगाई गई अन्य धार्मिकता और तथोक्त साम्प्रदायिकता के कारण भारतीय मुसलमान भी इससे अछूते न रह सके। सर सैयद द्वारा प्रचारित अंग्रेज भक्ति अर्थात् भारत-उपेक्षा का आदर्श भारतीय मुसलमानों की नजरों में धुंधला पड़ने लगा। क्योंकि उनके आराध्य अंग्रेज ही टर्की साम्राज्य के प्रधान विध्वंसक थे। इसी समय अकबर, शिबली तथा इक़बाल के फड़कते तरानों ने अंग्रेज-अवज्ञा का ही भाव नहीं भरा था, अपितु अंग्रेजी संस्कृति और समाजके प्रति घृणा भी उत्पन्न कर दी थी। इस धुंधुआती भावना को ही मौ० आज़ाद के 'अलहिलाल' तथा मौ० मुहम्मद अली के 'हम दर्द' ने अंग्रेज द्वेष और दृढ़ राष्ट्रीयता में बदल देने का प्रयत्न किया था।

खिलाफत के वे दिन

ब्रिटिश सरकार टर्की समर्थक अर्थात अंग्रेज साम्राज्य विरोधी भारतीय मुसलमानों की भावना को न सह सकी। उसका दमन-चक्र घूमने को ही था कि हिन्दू भारतीय मुसलमानों के साथ कंधा लगाकर खड़े हो गए। टर्की समर्थक भारतीय आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ और उसके तेज में अंग्रेजों की रोपी साम्प्रदायिकता सूखने लगी। मानवता की विजय हुई। प्रतिगामी मुसलमानों ने भी देशभक्त को पहिचाना। सन् १९१६ में इलाहाबाद में मुसलिम लीग और राष्ट्रीय कांग्रेस का संयुक्त अधिवेशन हुआ।

इसमें एकता के प्रारम्भिक रूप का सूत्रपात हुआ। इसी वर्ष कलकत्ता में वह पुष्ट हुआ और लखनऊ में परिपूर्ण हुआ। राष्ट्र के आधुनिक युग में प्रथम बार भारतीयों ने भारत की औपनिवेशिकता का दावा किया था। जब कांग्रेस और लीग के हस्ताक्षर से वह एकमत अंग्रेजों के सामने गया तो उन्हें उसका कितना ही भाग इच्छा न रहते हुए भी ज्यों का त्यों स्वीकार करना पड़ा।

जिस समय अंग्रेज-भक्त मुसलिम समुदाय अपने रोग से मुक्ति पा रहा था उसी समय यूरोप में मित्र राष्ट्र "यूरोप के वृद्ध रोगी" (टर्की राष्ट्र) के गंगावतरण में लगे हुए थे। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते ही ब्रिटेन और फ्रान्स ने टर्की के एशियायी प्रदेशों को आपस में बांट लिया था। जिन आश्वासनों को पाकर भारतीय मुसलमानों ने अपने सहधर्मियों का भी रक्त बहाया था, उनकी अन्यथा व्याख्या की गई थी। फलतः वर्षों से धुधुआती अंग्रेज-द्रोह की भावना उमड़ पड़ी। भारतीय मुसलमानों को बल मिला और शुद्ध धार्मिक कारण से आबद्ध खिलाफत आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इस समय भारतीयों में ऐसी अभूतपूर्व बन्धुता उमड़ पड़ी थी कि भारत के विदेशी शासन को भी इसका उल्लेख करना पड़ा था। गैर मुसलिम लोग मुसलमानों के गिलास से पानी पीते थे, आर्यसमाजी लोग मसजिदों में मुल्लाओं की जगह से उपदेश देते थे। इस अखण्ड भारतीयता ने अंग्रेजी शासन की जड़ें हिला दी थीं।

टर्की का कायाकल्प

इन्हीं वर्षों में टर्की में मुस्तफा कमाल पाशा का अभ्युदय हुआ। इनके दल ने सुलतान को उत्तरदायी शासन स्वीकार करने के लिए ही बाध्य नहीं किया, अपितु अंग्रेजों और फ्रैञ्चों के भी छक्के छुड़ा दिए। तुर्कों के उद्धार में लीन मुस्तफा कमाल ने देखा कि उदार प्रवृत्तियों के फूलने फलने के लिए इसलामी अन्ध विश्वास की भूमिका उपयुक्त नहीं है। अतः उन्होंने अन्ध विश्वास के मूल स्रोत खलीफा के पद को भी सन् १९२२ में जनतंत्रात्मक विधि से समाप्त कर दिया था। फलतः भारतीय खिलाफत अन्दोलन निराधार होकर स्वयं ही शान्त हो गया। किन्तु भारतीय मुसलमानों ने इस घटना को कुछ और ही समझा। उन्होंने इसका सारा दोष अपने साथी कांग्रेसियों और विशेषकर गैर मुसलिम लोगों पर मढ़ा। अंग्रेज फिर सफल हुए क्योंकि प्रतिगामी मुसलिम समुदाय खुले आम अपने गैर मुसलिम भाइयों को गालियाँ तक देने लगा था।

पुनः देशद्रोह की ओर

देशभक्त समुदाय देश की स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए आतुर था फलतः उसका सक्रिय विरोध विदेशी शासन से बढ़ता ही जा रहा था। उसे आशा थी कि भारतीय सभी समुदाय उसके इस कार्य में अधिकाधिक सहयोग देंगे, किन्तु केवल मुसलिम बहुल प्रतिगामी समुदाय ने उसकी इस आशा को व्यर्थ ही नहीं किया, बल्कि जब जब इस जाग्रत मध्यम वर्गने अपने लक्ष्य की ओर पग बढ़ाया तब तब ही प्रतिगामी समुदाय ने आन्तरिक अशान्ति उत्पन्न करके उसके पैरों को बांध दिया। सन् '२२ के मुलतान के दंगे ही ऐसे भीषण हुए थे कि कितने ही कष्ट और परिश्रम के साथ गांधी द्वारा निर्मित एकता का महल भीषण रूप से ढह गया था[1]। सन् '२४ के बाद तो इन दंगों का तांता ही बंध गया था। दिल्ली, नागपुर, लखनऊ, गुलबर्गा, आदि सभी स्थानों में यह आग भभक उठी थी। कोहाट में हुए बर्बरता के नग्न ताण्डव ने तो देश की रीढ़ ही तोड़ दी थी। क्योंकि इसकी जांच के लिए कांग्रेस द्वारा नियुक्त समिति के सदस्य महात्मा गांधी और मौ० शौकत अली इस बात में एकमत न हो सके थे कि दंगे को प्रारम्भ करने का दायित्व किसपर था। अतः ब्रिटिश शासकों का यह अस्त्र सफल हो रहा था। अतएव सन् २५ में यह आत्मघाती वातावरण और अधिक फैला। मार्के की बात तो यह थी कि इन वर्षों में निजाम के राज्य में दंगे अवश्य होते थे। सन् २७ में यह आग लाहौर से बिहार तक धधकी। इस प्रकार स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने देशद्रोह पर साम्प्रदायिकता का पक्का रंग चढ़ा दिया था और देश का एक मुसलमान बहुल वर्ग इस महापाप को धर्म समझ कर खुलेआम कर रहा था। किन्तु इसकी प्रतिक्रिया हिन्दुओं में भी हो चली थी। १९२५ में महाराष्ट्र में

१, 'इण्डिया' २२।

सम्प्रदायिक आधार पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म हुआ। इसके मूल में ही मुसलिम विरोध की भावना प्रबल थी। साथ ही इसमें सैनिक अनुशासन भी रखा गया। इस साम्प्रदायिकता का नग्न रूप तो सन् '३१ में सामने आया, जब कानपुर में दंगेके समय सुरक्षा और सद्भावना का काम करते समय अमर वीर गणेशशंकर विद्यार्थी भी किसी पागल मुसलमान के छुरे के शिकार हुए। इसके बाद तो यह रोग प्रति वर्ष आने वाली महामारी बन गया। क्योंकि अंग्रेज नौकरशाही और सम्प्रदायवादियों में एक गुप्त समझौता हो गया था।

देशद्रोह का गुरुमंत्र

एक ओर जाग्रत जनता कांग्रेस के नेतृत्व में इतनी प्रबल हो रही थी कि ब्रिटेन गांधी इरविन समझौता करने को बाध्य हुआ था। मुसलमानों में भी दिनों दिन देशभक्ति जोरों से बढ़ रही थी। मौ० आज़ाद, खान अब्दुल गफ्फार खां तथा डा० अनसारी के नेतृत्व में मुसलमानों के एक पर्याप्त भागने अंग्रेजी भेदनीति को ही नहीं समझ लिया था, अपितु देश के लिए कुर्बानियां भी की थीं। दूसरी ओर प्रतिगामी मुसलमानों के लिए भी यह संभव न था कि वे अनन्त काल तक ५७ के जंगे आज़ादी तथा खिलाफत में प्रदर्शित अंग्रेज-विरोध का प्रायश्चित अनासक्त भाव से करते ही जायं। अतएव अंग्रेजों को यह अनिवार्य हो गया था कि वह सम्प्रदायवादियों को कोई ऐसा सैद्धन्तिक अवलम्बन दे जो उन्हें अंग्रेजों के पक्ष में लुभाए ही रहे। फलतः सन् ३३ में जब पार्लमेण्ट की संयुक्त समिति भारत के भावी विधान की छान बीन कर रही थी तब लन्दन में ही कैम्ब्रिज विश्व विद्यालय के चार मुसलमान छात्रों के नाम से 'अभी या कभी नहीं' शीर्षक निबन्ध प्रचारित हुआ था, जिसमें धर्म के आधार पर भारत को दो भागों में बांट देने की अनिवार्य मांग की गई थी। इन विद्यार्थियों ने स्वयंचेता डा० इकबाल के हिन्द-संघ का विरोध इसलिए किया था कि उसमें भारतीय मुसलिम समुदाय अमुसलिम बहुमत का सदा दास रह सकता था।

देशद्रोह और सरकार

गोलमेज सम्मेलन में गए मुसलान नेताओं ने यद्यपि इस योजना को उस समय 'लड़कों की बात' कहकर टाल दिया। किन्तु प्रतिगामी मुसलमानों ने अपने तथोक्त हितैषी अंग्रेजों के संकेत को स्पष्ट समझ लिया था। लन्दन से फेंका गया यह विष-बीज वहां पड़ा जहां मुगल साम्राज्य के पतन का कारण तथा अपनी भीरु नीति के द्वारा अंग्रेजी प्रभुसत्ता को सर्व प्रथम स्वीकार करने वाले निजाम का राज्य था। ब्रिटिश राज्य की भांति देशके अंगच्छेदका विषवृक्ष भी वहीं उगा और पुष्ट हुआ। बोने के ठीक पांच वर्ष बाद सन् '३८ में यह पौदा उस्मानिया विश्वविद्यालय के अवसरप्राप्त अध्यापक डा० लतीफ की योजना के रूप में सामने आया। अपने निबन्ध तथा पुस्तकों द्वारा उन्होंने 'बच्चों के खेल' की एक मौलिक योजना बनो दी थी। जिसके अनुसार न भारत अविभाज्य एक राष्ट्र था और न भारतीय एक राष्ट्रीयता थी; उनकी दृष्टि में अनेक छोटी छोटी राष्ट्रीयताओं का युग ही भारतीयता थी, अतः भारत को भी ऐसा संघ बनाना आवश्यक था, जिसमें भारतीय मुसलिम पूर्ण स्वतंत्र हों।

इसके बाद एक एक करके अनेक योजनाएं सामने आईं। 'एक पंजाबी'[1] डा० लतीफ के मार्ग पर चलते हुए[2] भारत का विभाजन ही नहीं चाहते थे अपितु विश्व मुसलिम संघ के भी समर्थक थे। सर सिकन्दर की योजना भी कुछ ऐसी ही थी। आश्चर्य तो यह था कि मुसलिम लीग तबतक पाकिस्तान को पिनक से अधिक नहीं समझती थी। सन् '३७ के चुनावों को अपनी भीषण हार तथा ८ प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन जाने के बाद ही बौखलाहट में लीग ने इस योजना की ओर देखा था। गोकी उस समय उक्त योजना की व्यवहारिकता तथा सफलता पर उसे स्वप्नमात्र भी विश्वास न था। तथापि सन् '३८ और ३९ में लीग ने भी भारत में दो राष्ट्रीयता के नारे को उठाया, क्योंकि कांग्रेस का

१, भारत का सांस्कृतिक भविष्य, विविध सांस्कृतिक प्रदेशों का भारतीय संघ, भारतीय मुसलमानों की समस्या
२, नवाब सर मोहम्मद शाहनवाज खाँ

विरोध ही अब उसकी प्रधान नीति हो चुकी थी। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के अन्दर भी ऐसे लोग थे,जो अपनी जमीन्दारी को देशसे बड़ी चीज समझते थे। पंजाब और बंगालमें मुसलमान ही ज्यादातर किसान थे। इन किसानों के हित के लिए कांग्रेस वह न कर सकी जो उसे करना चाहिए। 'भारतीय संघ' में मुसलिम अल्पमत सदा ही गैरमुसलिम बहुमत का दास रहेगा' यह मुसलिम लीग का प्रधान तर्क बन गया था। मुसलिम लीग का कांग्रेस-द्रोह यहां तक बढ़ा कि द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने पर जब कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने पदत्याग किया तो मुसलिम लीग ने 'मुक्ति दिवस' मनाया। कांग्रेसी वर्ग में सम्मिलित होने वाले मुसलमानों तथा उनके नेताओं को गद्दार और कठपुतली कहकर तिरस्कृत किया। इस युग में देशभक्त मुसलमानों को जो सामाजिक अपमान और कष्ट झेलने पड़े हैं, उनके आगे सवर्णों द्वारा हरिजनों पर किए दमन की याद आ जाती है।

भारत-द्रोहियों के नेता चर्चिल

सन् '३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध की घोषणा करते ही अंग्रेजों ने अपने स्वभाव अनुसार यही आशंका की कि कहीं भारत एक हो कर उस अवसर से लाभ न उठाए। यद्यपि भारतीय कांग्रेस ने स्पष्ट कर दिया था कि भारत स्वतंत्रता की घोषणा करने पर ही वह प्राणपण से प्रतिगामी हिटलरी वर्ग से अवश्य लड़ेगी। किन्तु अंग्रेज ऐसा न कर सके। युद्ध के प्रारम्भमें ही हिटलरी प्रहारोंके मारे भारत के सन्त नेता तथा उसके नैतिक अनुयायियों का विश्वास ब्रिटेन से लड़खड़ा गया। वहां का शासन सूत्र बदला और चर्चिल के नेतृत्व में प्रतिगामी दल शासनारूढ़ हुआ। स्वदेश भक्त यूरोपियनों और देशद्रोही लीगियों में दृढ़ गठबन्धन हुआ। युरोपियनों ने लीग को बढ़वा देकर शक्तिशाली बनाया, बदले में लीग ने भी संयुक्त भारतीय विद्रोह की विभीषिका से ग्रेट ब्रिटेन को मुक्त किया। सन् ४० में मुसलिम लीग का लक्ष्य बन गया। सन् ४१, ४२ में ब्रिटिश शासन ने यह स्वीकार कर लिया कि लीग की स्वीकृति बिना भारत का भावी विधान नहीं बनेगा। इसीलिए लीग ने सन् ४२ के अगस्त प्रस्ताव को "केवल अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह ही नहीं घोषित किया" गया था अपितु उसे "गृह युद्ध की खुली चुनौती" कहकर यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि स्वातन्त्र्य संग्राम के सबल होते ही उसके अनुयायी लीगियों को क्या करना था। प्रकृत्या तोड़-फोड़, मारकाट के प्रेमी मुसलिम भारत को लीग ने ऐसा बांध दिया था कि वह सब तरह से उत्सुक होते हुए भी स्वयं उभर कर ४२ के विद्रोह में सम्मिलित न हो सका। जब देशभक्त कांग्रेस नेता जेल के सीखचों में सड़ रहे थे, तभी श्री जिन्ना अपना सौदा पटाने में व्यस्त थे। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के स्थानों पर अवैधानिक मंत्रिमण्डल बैठाकर तथा राष्ट्रीय मुसलिम प्रधान मंत्रियों को यों ही निकाल कर अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने लीग के भारत-द्रोह का मूल्य ही नहीं चुकाया, अपितु विश्वासी तथा सीधे मुसलमानों को लीग को अपना रहबर मानने के लिए भी बाध्य किया।

साम्प्रदायिकता

इस घटना क्रम को देखकर प्रश्न उठता है कि क्या यह सब साम्प्रदायिकता का रूप था? ऐसी घटनाएं अत्यन्त विरल है, जहां भारत के बहुसंख्यक हिन्दू सम्प्रदाय ने मुसलिम सम्प्रदाय पर किसी प्रकार से आघात किया हो। दूसरी ओर चंगेज खान, बलबन, अलाउद्दीन, तैमूर लंग, औरङ्गजेब और नादिरशाह की तो बात ही क्या है, सन् १९२१ के बाद प्रतिगामी लीगियों ने ही जो किया है, वही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि बहुसंख्यक सम्प्रदाय को ही अपने धर्म तथा संस्कृति पर प्रहार सहने पड़े हैं। गत पचीस वर्ष की घटनाओं के आधार पर तो गैरमुसलिम सम्प्रदायों को सुरक्षा की माग करनी चाहिए थी। किन्तु देश-विभाजन की मांग उन लोगों की तरफ से हुई जिन्होंने देश की शान्ति को नष्ट किया, संस्कृति को विरूप किया तथा समृद्धि के मार्ग में रोड़े अटकाए। यह सब करने पर भी जिन्हें हर प्रकार संतुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। इतना ही नहीं अन्त में देश का अंगभंग भी इसी आशा में होने दिया है कि शायद यह मुसलिम समुदाय किसी देश को अपना मान कर ही देशभक्ति सीखे। पर अपनी परम्परा तथा परिस्थितियों के कारण प्रदर्शित कांग्रेसियों का वह सब सौजन्य व्यर्थ ही सिद्ध हुआ है। क्योंकि भारतीय साम्प्रदायिक समस्या तो दूसरी 'कलकत्ते की काल कोठरी' है, जिसे कई हौलवेल जमा कर चले गए हैं और हम इतने हौलदिल हैं कि उसकी सत्यता का विचार ही नहीं करना चाहते। स्पष्ट है कि अंग्रेजपरस्ती अर्थात् देशद्रोह को साम्प्रदायिकता के रूप में खड़ा किया गया है। यह मुसलिम लीग के तुरत बाद हिन्दू महासभा, १९२४ तक के दंगे के बाद राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के जन्म तथा इन दोनों कांग्रेस विरोधी शक्तियोंके कार्यों से निरन्तर स्पष्ट है। १९४२ के आन्दोलन के समय हिन्दू महासभा का देशद्रोह लीग की सीमा पर पहुँच गया।

साधारणतया भारत के पूरे इतिहास में साम्प्रदायिक समस्या रही ही नहीं है। क्या ही अच्छा हो कि हम मुसलिम गैर मुसलिम पर दृष्टि न रखकर केवल भारतीयता पर दृष्टि रखें। अन्यथा भारत का एक राष्ट्र होना और भारतीयता की एक राष्ट्रीयता रूप से स्थिति संभव करना स्वप्न हो जायगा। हमारा आदर्श 'देश धर्म पर बलि' होना ही रहे। अन्यथा मुसलिम लीग ने तो देश की एकता को ही बलि किया है, किन्तु 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, आदि नामों से उभड़ने वाला हिन्दू देशद्रोह (साम्प्रदायिकता) समस्त देश को ही अपने स्वधर्म पर बलि कर देगा।

नोट—यह लेख हमें दिसम्बर में ही प्राप्त हो गया था। किन्तु कुछ कारणों से हम इसे उस समय न छाप सके।

—सम्पादक
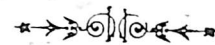
के अनुयायी हैं तो हमारी सब की सच्ची श्रद्धांजलि यही हो सकती है कि हम इस अवसर पर शपथ लें, प्रतिज्ञा करें कि हम आजीवन उनके बताए हुए मार्ग पर चलेंगे, जो जनतन्त्र का मार्ग, समाज में समता लाने का मार्ग, विविध धर्मों और सम्प्रदायों में सामञ्जस्य स्थापित करने का मार्ग है, जो छोटे से छोटे मानव को भी समान अधिकार देता है, जो किसी मानव का पक्ष नहीं करता, जो सबको समान रूपसे उठाना चाहता है। यदि महात्मा जी के बताए हुए मार्ग का हम अनुसरण करते तो एशिया का नेतृत्व हमारे हाथों में होता और हमारा देश भी दो भूखंडों में विभाजित नहीं हुआ होता। हम एशिया का नेतृत्व करेंगे, किन्तु इस गृह-कलह के कारण हमारा आदर विदेशों में बहुत घट गया है। इस-लिए यदि हम उस नेतृत्व को ग्रहण करना चाहते हैं तो हमको अपने देश में उस सन्देश को कार्यान्वित करना होगा! भारतवर्ष में बसने वाली विविध जातियों में एकता की स्थापना करके हम को संसार को दिखा देना चाहिए कि हम सच्चे मार्ग पर चल रहे हैं। तभी सारा संसार हमारा अनुसरण करेगा।

महात्मा जी के लिए जो सोचते हैं कि वह अन्ताराष्ट्रीय व्यक्ति नहीं थे, उनका काम भारत-वर्ष तक ही सीमित था, यह उनकी भूल है। भारतवर्ष तो उनकी प्रयोगशाला मात्र था। वह समझते थे कि यदि सत्य, अहिंसा से वह देश में सफलता प्राप्त कर सकेंगे, तो उनका संदेश सारे संसार में फैलेगा।

मैं अपनी श्रद्धांजलि महात्मा जी को अर्पित करता हूँ। और प्रार्थना करता हूं कि मुझ में शक्ति पैदा हो कि मैं उनके बताए हुए मार्ग का अनुसरण किसी न किसी अंश में कर सकूं।

युक्त प्रान्त की असेम्बली में आचार्य जी द्वारा दिया गया भाषण।

साहित्य की छान बीन

वैजनाथसिंह "विनोद"

हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद—श्री विजयशंकर मल्ल एम० ए०, प्रकाशक—सरस्वती मन्दिर, बनारस; मूल्य २।)

प्रस्तुत पुस्तक की पूर्व पीठिका में भारतेन्दु युग, छायावाद युग और मार्क्सवाद—प्रगतिवाद कर के प्रगतिवाद के पूर्व की स्थिति का विश्लेषण किया गया है। लेखक ने प्रगतिवाद का इतिहास १९३६ से, प्रगतिशील लेखक संघ के जन्म से, माना है। पर किसी मत विशेष का जन्म उसके संगठन से पूर्व ही होगा। लेखक ने खुद ही प्रगतिवाद में मार्क्स और रूसी क्रान्ति का प्रभाव भी माना है। समय समय पर भारतीय साहित्य पर विदेशी प्रभाव पड़ा है, संस्कृत नाटकों पर यूनानी प्रभाव प्रसिद्ध है। कला में गान्धार शैली प्रसिद्ध है। इसीलिए जरूरी था कि लेखक एक अध्याय में भारतवर्ष पर, यदि सम्भव हो तो हिन्दी भाषाभाषी जन समूह पर रूसी क्रान्ति का प्रभाव दिखाता। ऐसा करते ही प्रगतिवाद का जन्म कम से कम १९२४-२५ तक चला जाता।

"काव्य सिद्धान्त" वाले अध्याय में लेखक ने प्रगतिवाद के सिद्धान्त निरूपण में मान लिया है कि प्रगतिवाद में सिर्फ आर्थिक कारण ही होते हैं। पर इस सिद्धान्त में 'सिर्फ' कुछ नहीं होता। कोई एक कारण नहीं, कारण समूह होते हैं। आर्थिक कारण की प्रधानता इसी अर्थ में होती है कि समाज की नियामक शक्ति प्रधानतः आर्थिक होती है। किन्तु उसे अपने स्थान पर रहते हुए भी और अनेक परिस्थितियाँ होती हैं जिनसे हृदय में भाव की उत्पत्ति होती है। भाव न स्वगत है, न परगत, न वह विशेष है, न विशेष से परे का सामान्य। इसीलिए रस न द्रव्य है, न गुण और न इन सब से परे! वह नाना स्थितियों के द्वन्द्व की मानसिक प्रक्रिया और परिणाम है। इसीलिए प्रगतिवाद में पूर्ण सत्य कुछ एक नहीं होता—इस सिद्धान्त में सब कुछ गतिशील ही पूर्ण सत्य है। लेखक का मत है कि काव्य में आर्थिक प्रेरणा नहीं होती, अर्थात् वह श्रेणीगत नहीं होता। उसने कहा है—"....आदि कवि की मर्मस्पर्शी पंक्तियों में कौन-सी आर्थिक प्रेरणा है? तुलसी की पुनीत भक्ति भावना में किस आर्थिक एषणा का योग था? सूर के काव्य में कौन सा आर्थिक रंग है?" उत्तर स्पष्ट है कि जब शिकारी जीवन से समाज आगे बढ़ गया था, जीविकोपार्जन के और साधन मौजूद थे, उस समय एक शिकारी द्वारा (शिकारी की अविकसित अवस्था में रहने वाले व्यक्ति द्वारा) मिथुनावस्था में क्रौञ्च के वध से करुणा का सहज भाव सभ्य समाज में सम्भव था, उससे पहले नहीं। और अविकसित शिकारी अवस्था में रहने वाले के मन में तो तब भी नहीं। तुलसी की पुनीत भक्ति मौर्य काल में नहीं जगी। यह भक्ति उस काल में जगी जब हिन्दू सामन्त श्रेणी और उसका आश्रित जनसमुदाय अपनी रक्षा के लिए मुसलिम सामन्त श्रेणी से लड़ रहा था (याद रहे तुलसी की पुनीत भक्ति सनातन-मर्यादा—सामन्त+पुरोहित+श्रेष्ठि हित—की रक्षा से अनुप्राणित थी) उसमें शूद्र भक्त के लिए वही स्थान नहीं है, जो कबीर की भक्ति में। यही अन्तर तन्त्रवाद और वज्रयान के भेद से सूर की भक्ति में भी है। अन्तर इतना ही है कि इनमें व्यक्ति की आर्थिक प्रेरणा, एषणा या रंग नहीं हैं, यह सब कुछ वर्गगत या श्रेणीगत है। किन्तु यदि कोई कहे कि वर्ग-भेद साहित्य में, भारतीय साहित्य में, नहीं रहा है, तो उसे बताना होगा कि राम द्वारा शूद्र मुनि शम्भूक की हत्या पर आदि कवि ने राम की निन्दा क्यों नहीं की? क्या शूद्र तपस्वी क्रौञ्च पक्षी से भी गयागुजरा था? छल से बालि-वध पर राम की कीर्ति पर ग्रहण क्यों नहीं लगा? क्यों कहा गया कि—'राम ने कपट से बालि को मारा'—ऐसा नहीं कहना चाहिए? द्रोण द्वारा एकलव्य से अंगूठा का दान मांगने पर वेदव्यास के मन में (हृदय में) द्रोण के प्रति आक्रोष या घृणा का भाव क्यों नहीं जगा? क्यों संस्कृत साहित्य इस मार्मिक

घटना पर मौन है ? साहित्य शास्त्र में ऐसे ही नियम क्यों बने जिनके अन्दर शूद्र नायक बन ही नहीं सकता था ? क्यों कहा गया ?—"विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्" (सा०द० २५३)। इन सब का एक ही उत्तर है—राष्ट्र पर जिस सामाजिक श्रेणी का प्रभाव था, संस्कृति पर उसी श्रेणी की छाप थी, साहित्य भी राष्ट्र-शक्ति पर क्षमता रखने वाली श्रेणी से अनुप्राणित था, उसी श्रेणी की प्रशंसा प्राप्त करना साहित्यकार की कीर्ति थी, उसी श्रेणी की दृष्टि साहित्यकार की दृष्टि थी, उसी में साहित्यकार का अर्थ था। अतः साहित्य श्रेणीगत होता है। और जब तक समाज श्रेणियों में विभाजित है, तबतक साहित्य भी वर्गगत ही होगा। यह दूसरी बात है कि साहित्य स्रष्टा कभी कभी देश, काल और वर्ग की सीमाओं को लाँघकर ऐसे भावों को भी व्यक्त कर जाता है, जिसमें मानव मात्र के भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। इतने ही अंश में साहित्य समाज की गतिशीलता का वाहन होता है। पर साहित्य का अधिकतम—और खास कर उसके भावों का ढाँचा, भावों के उपकरण—वर्ग भावना से अनुप्राणित होता है, इसमें सन्देह नहीं।

"प्रगतिवादी काव्य के विषय" में लेखक ने जिन छः विषयों का निर्देश किया है, वे ठीक हैं, पर उन पर और भी लिखने की जरूरत थी। "कला पक्ष" की विवेचना भी लेखक ने की है, पर उसमें भी और लिखने की जरूरत थी। वस्तुतः ये दो अध्याय ही ऐसे थे, जिनमें निश्चित पकड़ और प्रगतिवाद की अपनी रुझान के साथ, उन्हीं आधारों पर प्रगतिवाद की रूपरेखा स्पष्ट की जा सकती थी।

किन्तु यह तो है एक पक्ष। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो प्रगतिवादी काव्य की विवेचना के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ निकले हैं, उनमें प्रस्तुत प्रयत्न स्तुत्य है। उसमें दिशा का स्पष्ट संकेत है और इसके स्पष्ट लिए लेखक बधाई का पात्र है।

यात्रा—(कहानी संग्रह)—श्रीमती कमला चौधरी। प्रकाशक—नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर।

प्रस्तुत कहानी संग्रह में निम्न मध्यम वर्ग की भारतीय स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का चित्र है। कुछ कहानियों के का उद्देश्य हास्य और मनोरंजन भी है, किन्तु कुछ कहानियों के पीछे समाज की वेदना है। "वरमाला" में गगनेश का मानसिक विकास दिखाया गया है। इसमें कुमुद की मानसिक पीड़ा स्वाभाविकता है। पर उसका वरमाला डालना सर्वथा अस्वाभाविक है। हमारे देश में एक रोग है कि लोग विश्व के साधारण मनो-जगत से अलग भारतीय नारी का मनो-जगत मान लेते हैं, जो मिथ्या है। इस मिथ्या दृष्टि से प्रस्तुत लेखिका भी आक्रान्त है। किन्तु प्रस्तुत संग्रह में "रूपा" और "त्याज्या" ऐसी कहानियाँ हैं, जिनके अन्दर भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति का पूर्ण चित्र है, जिसमें सभी रेखाएं सप्राण और ध्वनित हैं। रूपा विधवा है और उसकी सास सौतेली है। वितलौकी फिर चढ़ी नीम। सास उस पर यौन-चरित्र-दोष का मिथ्या अभियोग लगाती है और सो भी अपने ही लड़के के साथ। इसके साथ अनेक समस्याओं की सृष्टि होती है और अन्त में रूपा की मृत्यु। हिन्दू समाज इतना यौनाक्रान्त हो गया है कि तरुणी स्त्रियों पर आए दिन ये दोष वृद्धाओं द्वारा मढ़े जाते हैं और ऐसे प्रमाण भी अदालती फैसलों की गवाहियों से दिए जा सकते हैं कि हीनचरित न होने पर भी लड़कियों को बाद में चलकर हीनचरित होना पड़ता है। "त्याज्या" में पति का अपनी पत्नी पर यौन-चरित-दोष का मिथ्या आरोप है। इस मिथ्या अभियोग से उसे अनेक कष्ट झेलने पड़े। हिन्दू समाज के अन्दर—पुरुषों के अन्दर—यह मिथ्या दृष्टि भी अपनी चरम सीमा पर है। ऐसा लगता है कि हमारा समाज मानसिक और बौद्धिक सन्तुलन खोकर दरिद्र हो गया है। वह स्त्री और पुरुष में एक मात्र यौन सम्बन्ध ही देख पाता है। वह इस तथ्य से अपरिचित है कि स्त्री की एक ऐसी भी नैतिकता है कि वह प्रत्येक पुरुष से यौन सम्बन्ध नहीं रख सकती—नहीं रखना चाहती। और यौन सम्बन्ध छोड़कर स्त्री बहुत अच्छी मित्र भी है। इस कहानी संग्रह में ये दो कहानियाँ आधुनिक समाज के एक पक्ष के विश्लेषण की दृष्टि से काम की हैं।

स्वप्न और सत्य—(कहानी संग्रह)—डा० ब्रजमोहन गुप्त एम० ए०, डी० फिल०; प्रकाशक—साहित्यकार संसद, इलाहाबाद। प्राप्तिस्थान—प्रयाग महिला विद्यापीठ-मूल्य ३॥)

कहानीकार के मन की बनावट आदर्शवादी है, वह सोच लेता है कि ऐसा होना चाहिए, वह कल्पना के सहारे अपनी कहानी में वैसा चाहता अवश्य है; पर जगत में वैसा कुछ नहीं है, यथार्थ की प्रक्रिया ठीक वैसी नहीं है, इसलिए कहानी के अन्त में प्रायः विफलता है। यह इसलिए है कि यथार्थ और आदर्श में सामञ्जस्य नहीं है। जिस दर्शन से वह सामञ्जस्य सम्भव है, वह दर्शन भी लेखक का नहीं बन सका है।

लेखक को राजनीतिक कहानी में सफलता नहीं मिली है। सामाजिक कहानियों में उसे सफलता मिली है। पर जब वह यथार्थ से ऊपर या अलग होता है—अर्थात जब वह अपने आदर्श या चाहने की ओर चलता है—तभी वह कमजोर पड़ता है। जबतक वह यथार्थ के साथ रहता है, उसके चित्र सजीव रहते हैं। उसे समाज के जिस यथार्थ का पता है, उसके चित्रण में सजीवता है।

लेखक के अन्दर कल्पना की शक्ति है। कहीं कहीं उसकी कल्पना में विचित्रता भी मालूम पड़ती है। कभी कभी उसकी कहानियों की रोचकता में कल्पना ही प्रधान कारण हो उठती है। "प्रेम कीटाणु" उसकी ऐसी ही कहानी है। किन्तु यह कहानी भी मूल में समाज के धनी वर्ग की प्राणघातिनी लालसा का चित्र उपस्थित करती है। इस कहानी का कथ्य है उच्च मध्यम वर्ग की कल्पना कि पैसे के बल पर सब कुछ साध्य है, पैसे द्वारा रसायनशाला में ऐसे तत्त्व प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिसके प्रयोग से किसी भी नारी की यौन नैतिकता का अपहरण किया जा सकता है। यहाँ वस्तुगत सत्य नहीं है, यहाँ धनी (बूर्जुआ) वर्ग का बैठे ठाले का मनोगत सत्य है। कहानियों का सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ऐसे ही सामाजिक निष्कर्ष पर ले जाता है।

कहानी की टेक्नीक में अपना कुछ न होकर भी ऐसा कुछ है, जिससे कहानियों के कहानीपन की रक्षा होती गई है। कहानियों की कमजोरी का कारण लेखक की दृष्टि में सम्यकता की कमी है। किन्तु फिर भी कहानियाँ आज के 'रेट' की हैं।

इतिहास—श्री अमृतराय; हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद। मूल्य २॥)

प्रस्तुत संग्रह में कुल १६ कहानियाँ हैं। इन में से कुछ में तो कहानीपन है, कुछ में रिपोर्ताज+कहानी मिक्श्चर है। इस मिक्श्चर पर विशेषज्ञ ही राय जाहिर कर सकते हैं। हम इतना ही कहेंगे कि इस को भी पढ़ जाने की इच्छा होती है।

"इतिहास" "परजाते का फूल" और "लोग" इस संग्रह की श्रेष्ठ रचना हैं। पर "इतिहास" उनमें भी विशेष है। इसकी टेक्नीक में निखार तो है ही, इसमें जो चित्र है, वह प्रेरक और उदात्त है।

संग्रह की सम्पूर्ण रचनाओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि कहानीकार को कथा की रुचि नहीं है, उसके पास कहने के लिए कुछ है, जिसे वह कहना चाहता है—यदि उनका कहानी का रूप हो जाय तो ठीक, नहीं तो उसे परवाह नहीं। भाषा उसकी चुस्त, मुहावरेदार है। उसकी भाषा में एक स्वाद है। भाषा की दृष्टि से यह संग्रह आज के सभी कहानी संग्रहों में अगली पंक्ति पाने योग्य है।

कहानी में व्यक्त किए गए विचार अनेक स्थानों पर कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रचार करते मालूम होते हैं। कहीं कहीं वे विचार समाज-भावना में खप नहीं पाते। किन्तु उनके पीछे एक तेजी अवश्य है। हम यह नहीं कहते कि साहित्य में प्रचार नहीं होता; प्रचार होता है, पर समाज-भावना से सम्बन्ध स्थापित रख कर—उससे अलग अलग नहीं।

किन्तु रचनाओं से ऐसा लगता है कि अमृतराय जी अभी पथ में हैं; इसलिए उन से भविष्य में अच्छी कहानियों की आशा है।

महात्मा गान्धी के कार्य और हमारा कर्तव्य

[illegible] गान्धी का व्यक्तित्व विराट था। उनके [illegible] थे। उनके जीवन की गति अपरिमित [illegible] का अनुकरण और ऐसे व्यक्ति के [illegible] पूरा करना असम्भव है—न केवल व्यक्ति [illegible] और राष्ट्र के भी। किन्तु फिर भी ऐसे [illegible] पुरुष संस्कृति को बनाने वाले, उसे [illegible] होते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्ति का अनुकरण [illegible] का सांस्कृतिक कर्तव्य होता है। ऐसे [illegible] में ही उसके ऋण (ऋषि ऋण) [illegible] होने की प्रक्रिया निहित होती है। [illegible] गान्धी का अनुकरण आज के समाज का [illegible] है।

[illegible] में विभाजित भारतीय समाज अपनी [illegible] अनुकूल ही महात्मा जी के उपदेशों [illegible] अपने लिए चुनेगा और कुछ को छोड़ [illegible] पूरा नहीं कर सकेंगे। और जो सबको [illegible] करेंगे, उन्हें इतिहास पागल अथवा [illegible]। अतः जरूरी है कि हम भी महात्मा [illegible] में से अपने लिए, अपने कर्तव्य के लिए, [illegible] के लिए, कुछ को चुनलें।

[illegible] देखा है कि महात्मा गान्धी भारतीय [illegible] परम्परा की कड़ी हैं, जिसे उदारचेता, [illegible] और सर्वभूत-हित-रत कह सकते [illegible] गान्धी इस भारतीय परम्परा में सिर्फ [illegible] ही नहीं हैं—वह उपदेष्टा ही नहीं, [illegible] हैं। इसलिए वह भारतीय समाज की [illegible] के विरोधी भी हैं। अतः हमको [illegible] गान्धी के इस कार्य का अनुकरण [illegible] हमें समाज की रूढ़िवादी परम्परा [illegible] और उदार परम्परा का प्रसार करना [illegible]

[illegible] हिन्दू शास्त्रों में शूद्र कहा गया है, उन्हें [illegible] हरिजन कहा है। भारतीय समाज की [illegible] का प्रारम्भ शूद्रों के शूद्रत्त्व को दूर कर के [illegible] में समान अधिकार दिलाने से है। अपने [illegible] यही किया, वैष्णवों ने यही किया, स्वामी रामानन्द ने यही किया, राजा राममोहन राय ने यही किया, स्वामी दयानन्द ने यही किया और गान्धी जी ने भी यही किया। जरा हम इतिहास की गहराई में पैठ कर देखें तो हमें स्पष्ट दिखाई देगा कि भारतीय समाज के पतन-स्खलन-त्रुटि की समस्या और कुछ नहीं शूद्रों की समस्या है। जिन्हें जीत कर, मार कर, पतित कर, गुलाम बनाकर भारतीय समाज ने शूद्र कहा, जिन्हें किसी पतित पातिकी ने ब्रह्म पुरुष के पैर से उद्भूत कह कर शूद्रों के शूद्रत्त्व को समाज में शाश्वत किया;उस पतित के पातक से बुद्ध के समय का समाज त्राहि त्राहि कर उठा। उस समय चौदह चौदह ग्राम शूद्रों-गुलामों के ऐसे ऐसे थे, जो एक एक सामन्तों और पुरोहितों की बपौती थे। मानव तनधारी नर-नारी का खुला व्यापार था। ऐसे पीड़ित मानवों को बुद्ध ने अपनी करुणा की शरण दी। उन्हों ने स्पष्ट कहा—जन्म से कोई शूद्र नहीं होता। बुद्ध और महावीर ने गुलामों की गुलामी और शूद्रत्त्व पर आधारित ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ा दीं। समाज में समता और उदारता का प्रसार हुआ। छोटे छोटे राज्यों का अन्त और एक व्यापक साम्राज्य (मौर्य साम्राज्य) का उदय हुआ। अहिंसा और मैत्री से अशोक ने भारतीय संस्कृति और भारत के प्रभाव को एशिया में कायम किया। भारतीय जातीयता और राष्ट्रीयता इसी काल में साधित हुई। किन्तु समाज से वर्ण-व्यवस्था का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। वर्ग-संघर्ष कायम था। ब्राह्मण पतञ्जलि ने महा-भाष्य द्वारा ब्राह्मण राज्य का उपदेश देना शुरू किया और ब्राह्मण पुष्यमित्र ने सेनापति होते हुए मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या कर दी। मनुस्मृति का विधान कायम हुआ। भारतीय साम्राज्य टुकड़ों में विभक्त हो गया। शूद्रों और बौद्धों पर जुल्म शुरू हुआ। वर्ग-संघर्ष ने फिर एक रूप बदला। बौद्धों ने 'देमित्रियस' और मिनांदर को बुलाया। भारतीय आकाश में तलवार की दामिनी चमकी और भारत वसुन्धरा रक्त से लाल हो गई। भारतीय इतिहास में अन्धकार युग आ गया।

किन्तु इसी समय अन्ध तमिस्रा में उषा की लाली की तरह भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) पल रहा था। बुद्ध

विष्णु का स्थान या विष्णु बुद्ध का स्थान ले रहे थे। ब्राह्मण बौद्ध-जैन घात-प्रतिघात ने वैष्णव सामञ्जस्य का रूप लिया। उदारता, मैत्री और करुणा का पुनः प्रसार हुआ। पुनः भारतवर्ष एक गुप्त साम्राज्य के अन्दर आया। किन्तु ब्राह्मण आघात ने उदार वैष्णव धर्म के अन्दर श्रुतिसम्मत नाम से रूढ़ि परम्परा की ध्वजा गाड़ दी। इसी समय वाह्य आक्रमण भी हुए। गुप्त साम्राज्य भी उखड़ गया। इसी समय सम्राट हर्षवर्धन के रूप में बौद्ध उदारता का एक दीपक पुनः जल उठा। भारतीय केन्द्रीय शक्ति पुनः कुछ जाग्रत हुई। किन्तु प्रतिक्रिया की आंधी तेज थी। यहाँतक कि सम्राट हर्ष-वर्धन पर एक ब्राह्मण ने छुरे से घातक हमला किया, पर सम्राट बच गया। लेकिन इसके बाद भारतीय आकाश से सदियों के लिए उदारता का सूर्य लुप्त हो गया और उसी के साथ भारतीय समाज ध्वस्त हो गया। वर्ण व्यवस्था का डंका बजने लगा। शूद्रों का कोई पुरसांहाल न था। बौद्धों के साथ चलने वाली एक शूद्र श्रेणी ने नाथ पंथ का रूप लिया। फिर इसलाम के आ जाने पर इस नाथ पंथ ने समूह रूप से इसलाम कबूल किया। आज हम जिस जाति को जुलाहा नाम से मुसलमानों के रूप में पाते हैं,वह सदियों पूर्व वैदिकी ऋषियों के पाप के परिणाम शूद्र हैं, जो बुद्ध की करुणा से खिंचकर बौद्ध हुए, फिर नाथ पंथी और अन्त में "मुसलमान बिराद-रान" के नारे के साथ मुसलमान। बंगाल में जो गाँव के गाँव मुसलमान हुए वह मुसलमानों के तलवार के जोर से नहीं (हिन्दू मस्तक तलवार के सम्मुख झुकना नहीं जानता), ये गाँव के गाँव मुसलमान हुए वर्ण-व्यवस्था के प्राणान्तक अत्याचार से।

अतः इस समाज घातिनी वर्ण-व्यवस्था के अनिवार्य परिणाम हैं आज के भारतीय मुसलमान! इस समाज ध्वंसिनी वर्ण-व्यवस्था के अनिवार्य परिणाम हैं आज के भारतीय ईसाई। इस पापिनी वर्ण-व्यवस्था के अनिवार्य परिणाम हैं भारतीय शूद्र।

इतिहास का यह निचोड़ है कि—

यह पापिनी वर्ण-व्यवस्था जब जब पूर्ण समाज पर हावी हुई है, उदार विचारधारा को जब जब इसने दबाया है, तब तब भारतीय राष्ट्र शक्ति और राजनीति छिन्न-भिन्न हुई है। अतः वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज की पातकी व्यवस्था है।

यह वर्ण-व्यवस्था, वर्ग-व्यवस्था है। भारतवर्ष का वर्ग-संघर्ष वर्ण-व्यवस्था में ही निहित है। इस वर्ण-व्यवस्था के चारों ओर जाति-पाति और छुआ-छूत के ग्रह उपग्रह चक्कर काटते हैं। महात्मा गान्धी ने इन सभी का विरोध किया। इधर तो अपने आश्रम के लिए उन्होंने नियम बना दिया था कि आश्रम में तबतक शादी न हो सकेगी, जबतक एक पक्ष हरिजन (शूद्र) न हो। इस तरह गान्धी जी ने अन्तर वर्ण और अन्तर जाति विवाह का प्रचार किया था। छुआ-छूत के विरोधी तो वह ३० वर्ष पहले से ही थे। इस तरह गान्धी जी ने यह बराबर कोशिश की कि हिन्दू समाज के वर्ण और जाति बन्धन टूट जाँय, जिससे सम्पूर्ण हिन्दू समाज एक हो सके।

महात्मा गान्धी ने दूसरा काम किया हिन्दू-मुसलिम एकता का। यदि हम इतिहास देखें तो पता लगेगा कि कबीर और नानक के बाद गान्धी जी ने ही हिन्दू-मुसलिम एकता का स्वर सन्धान किया। हम इतिहास से यह भी जान सकते हैं कि सन्त-सूफी आन्दोलन ने हिन्दू मुसलिम मिलन का पथ प्रशस्त किया—समाज में उदार भावना का प्रचार किया। सन्त-सूफी आन्दोलन की उदार भावना का ही परिणाम था भारतवर्ष में एक मुगल सम्राट अकबर की उदार राज-सत्ता। इस काल में भी यदि वर्ण, जाति, धर्म और छुआ-छूत के भेद को दूर करके मानव मात्र के मिलन का पथ सन्तों और सूफियों ने प्रशस्त न किया होता, तो भारतवर्ष की एक राष्ट्रीयता का राजनीतिक प्रसार सम्पूर्ण भारतवर्ष में न हुआ होता। इतिहास का गम्भीर अध्ययन हमें बताता है कि इसके बाद ही हिन्दू और मुसलिम सामन्तों का द्वन्द-विकास धार्मिकता (साम्प्रदायिकता) का भी सहारा ले लेता है। धर्माधिकारियों और सामन्तों का स्वार्थ-सम्मिलन होता है। सामन्तों के स्वार्थ का यह संघर्ष हिन्दू राष्ट्र और मुसलिम राष्ट्र के नाम से बढ़ता है। शरियत के नाम पर अनुदार औरंगजेब का उदय होता है। भारत राष्ट्र कमजोर और विच्छिन्न हो जाता है। पानीपत के युद्ध में जाति-पाति, छुआ-छूत और ऊँच-नीच का भेद अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। जिस समय

समरस्थल में देश के जीवन-मरण का सवाल हल करना था, उस समय दो पतित हिन्दू सेनापति इस बात पर विवाद कर बैठते हैं कि किसका तम्बू ऊँचे पर हो ? कौन किससे छोटी जाति का है ! छुआ-छूत और पूजा-पाठ का दृश्य तो देखने ही लायक था !

इस तरह इस युग में हम यह देखते हैं कि हिन्दुओं को नारकी वर्ण-व्यवस्था ने जिन शूद्रों को आवर्जन (कूड़ाकरकट) कह कर अपने में से निकल कर मुसलमान होने के लिए मजबूर किया, उन मुसलमानों से मिलने में ही भारत राष्ट्र का कल्याण था—शूद्रों और मुसलमानों के साथ उदार व्यवहार में ही भारत का विकास था। १८५७ में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध भारतीय विद्रोह व्यापक और प्रबल इसीलिए हो सका कि उस समय मुसलिम वहाबी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में हिन्दू मुसलिम एकता थोड़े काल के लिए सम्भव हो सकी। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन इसीलिए व्यापक और प्रबल हो सका कि उस समय हिंदू मुसलिम एक हो सके। महाप्राण महात्मा गान्धी इस ऐतिहासिक सत्य को जानते थे, उन्हें इतिहास देवता के इस मंगल संकेत का पता था, इसीलिए उन्होंने बराबर इसके लिए जोर दिया। यहाँ तक कि हिन्दू मुसलिम एकता के लिए ही वह एक कट्टर रूढ़िवादी हत्यारे ब्राह्मण की गोली से शहीद हो गए।

इसके अलावा महात्मा जी ने अहिंसा का प्रचार किया। हम इतिहास की भौतिक व्याख्या की दृष्टि से यदि गान्धी जी की अहिंसा पर विचार करें तो हमें स्पष्ट मालूम होगा कि भारतीय समाज में उदार भावना के प्रसार का मेरुदण्ड अहिंसा ही बराबर से है। बुद्ध महावीर, वैष्णव महात्मा, सूफी और सन्तों सभी ने अहिंसा पर जोर देकर उदारता और भारतीय जातियों की एकता का प्रचार किया। यदि इन सारे भारतीय आन्दोलनों के अन्दर से अहिंसा का तत्व निकाल दिया जाय, तो उदारता और भारतीय जातियों की एकता का कहीं अस्तित्व भी नहीं दिखाई देगा। अतः अहिंसा वह तत्त्व है, जो भारतीय जातियों को उदार बनाती, उन्हें एक दूसरे से मिलाती और मिला कर एक भारतीय राष्ट्रीयता का निर्माण करती है। इस मौलिक दृष्टि से महात्मा गान्धी जी की अहिंसा सोलहो आना सही दिखती है। क्योंकि बार-बार गान्धी जी ने संकेत किया है कि अहिंसा कायर की नहीं वीर की वस्तु है। उनकी अहिंसा के अध्ययन से यह भी मालूम होता है कि यदि जाति और राष्ट्र के मिटने का खतरा हो तो वह अपनी अहिंसा को सीमित भी करते हैं।

× × ×

अतः हमारा यह मत है कि महात्मा गान्धी के ये तीन उपदेश हमें अपने लिए चुन लेने चाहिए। अर्थात्—

१—हम हरिजनों (शूद्रों) को ऊपर उठावें, उनके अन्दर नागरिकता, स्वाभिमान और नैतिक दृष्टि का प्रसार करें। वर्ण व्यवस्था और जाति-पाति को खत्म करने का व्यापक आन्दोलन करें। अन्तर वर्ण, अन्तर जाति और अन्तर धर्म की शादियों को प्रोत्साहन दें। हमें जनता में प्रबल आन्दोलन करना चाहिए कि जिन मन्दिरों में हरिजनों को देव-दर्शन का अधिकार न हो, उन मन्दिरों पर सरकारी नियंत्रण कायम हो। हमें आन्दोलन करना चाहिए कि सरकार स्कूलों, कालेजों और सरकारी नौकरियों में जाति और धर्म का कोई भी खाना न रखे। हमें आन्दोलन करना चाहिए कि खेत मजदूरों को, जिनमें अधिकतर शूद्र हैं, कम से कम परिवार पीछे २० बीघा जमीन मिले।

२—हमें हिन्दू-मुसलिम एकता का प्रचार करना चाहिए। हमें समाज में ऐसी भावना प्रचारित करनी चाहिए कि हिन्दू-मुसलमान और अछूत एक साथ खा-पी और रह सकें। हमें कुरान और सूफी सन्तों की एक जाति, एक राष्ट्र और प्रेम-परस्पर वाली बातों का संग्रह, प्रचार और अध्ययन करना चाहिए।

३—हमारे उपरोक्त कार्यों के अन्दर अहिंसक भावना का प्राधान्य होना चाहिए। हमें चाहिए कि प्रेम करके, समझा बुझाकर, अपने पर कष्ट सहकर, जैसे भी हो, अहिंसक तरीके से महात्मा जी के इन कार्यों को पूरा करें।

—बैजनाथसिंह 'विनोद'

गान्धीजी की हत्या—वर्ग-संघर्ष की एक कड़ी

एक उच्चवर्णीय हिन्दू द्वारा महात्मा गान्धी की हत्या हमें अनेक बातों पर सोचने के लिए मजबूर करती है। महात्मा जी धार्मिक व्यक्ति थे। उनका जीवन जनता के बीच में रहकर, लोक सेवा करते हुए धर्म-साधना का जीवन था। उनकी राजनीति तो उनकी धर्म-साधना में एक साधन मात्र थी। उनका जीवन यती का जीवन था। ऐसे महापुरुष से मतभेद की बात सोची जा सकती है, पर ऐसे महामानव की हत्या की तो कल्पना भी नहीं हो सकती, सो ऐसे पुरुष की हत्या उन्हीं के सहधर्मी ने की! उनकी हत्या की खुशी में उनके सहधर्मियों के एक वर्ग विशेष ने खुशियाँ मनाईं। इसलिए हम सोचने पर मजबूर हो रहे हैं कि आखिर ऐसी मनोवृत्ति समाज में पैदा कैसे हुई ? महात्मा गान्धी की हत्या और उस पर प्रसन्नता प्रकट करने की मनोवृत्ति हिन्दू समाज में आई कहाँ से ?

हम यह देखते हैं कि जिस वर्ग के व्यक्ति ने महात्मा जी की हत्या की और जिस मतवाद के अनुयायियों ने उनकी हत्या पर खुशियां मनाईं, उनके अन्दर महात्मा जी के सामाजिक और धर्मानुमोदित सामाजिक प्रथा को लेकर विरोध था। खासतौर से यह विरोध छुआछूत को मिटाकर अछूतों को हिन्दू समाज में समान अधिकार दिलाने, स्त्रियों की स्वाधीनता और राजाओं तथा जमींदारों के सम्बन्ध में गान्धी जी के प्रगतिशील दृष्टिकोण को लेकर था। यदि हम कुछ साल पीछे की ओर नजर डालें तो देखेंगे कि हरिजन आन्दोलन और अछूतों के मन्दिर प्रवेश को लेकर उच्चवर्णीय (उच्चवर्गीय) हिन्दुओं ने महात्मा गान्धी जी का भीषण विरोध किया था। काशी तथा और अनेक स्थानों में उन पर पत्थर फेंके गए थे और पूना रेलवे स्टेशन पर तो उन पर बम भी फेंका गया था, जिससे वे साफ बच गए।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दुओं की पुरोहित श्रेणी और उसके प्रभाव में रहने वाले लोगों ने महात्मा गांधी जी के अछूतों को हिन्दू समाज में समान अधिकार दिलाने का सदैव विरोध किया। इसी पुरोहित श्रेणी के एक व्यक्ति ने उनकी हत्या की। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को नियन्त्रित करने वाले अधिकारी पुरोहित और सामन्त श्रेणी के हैं।

अब हम जरा इतिहास देवता से पूछें कि क्या इस पुरोहित श्रेणी, इसके वर्ण-धर्म और इसके आचारों में ऐसी प्रवृत्ति पहले थी? हम यह भी सोचें कि इसकी यह प्रवृत्ति पहले भी कभी थी या यह एकदम नई प्रवृत्ति है।

पौराणिक काल—पुराण की कथाओं में उलझा हुआ काल—विवादास्पद है। उसमें अनेक ऐसी बातें मिलीजुली हैं कि उसकी किसी कथा को सर्वसम्मत मानना किसी के लिए कठिन होगा। इसलिए हम उस काल की बात को यहां कलमबन्द न करेंगे—यद्यपि पुराणों में कुछ ऐसी कथाएं हैं, जिनमें पुरोहित श्रेणी के श्रेणीगत विचारों का बीज है, पर हम यहाँ इतिहास की ही बात कहेंगे। पुरोहित श्रेणी के ग्रन्थों से सिद्ध है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्र था। इतिहास का बहुमत उसको शूद्र ही मानता है। वह पुरोहित श्रेणी के धर्म को मानने वाला नहीं था, अनुश्रुति से सिद्ध है कि वह जैन था। इसी कुल का सम्राट अशोक बौद्ध था। उसी के काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष एक हो सका। उसके काल में बौद्धधर्म हिन्दुस्तान से बाहर भी गया। पुरोहित श्रेणी का प्रभाव समाज पर कम हो गया। इसी मौर्य कुल के बृहद्रथ नामक सम्राट की हत्या उसके सेनापति पुष्यमित्र द्वारा हुई। इस हत्या में भी व्यापक षड्यन्त्र था। धर्माचार्य लोग भी उसमें शरीक थे। यह पुष्यमित्र पुरोहित श्रेणी का था। इसके आस पास सातवहनों के राज्य का उदय होता है। वह भी पुरोहित श्रेणी का है। इसी काल की मनुस्मृति का विधान है कि ब्राह्मण द्वारा नर हत्या होने पर भी उसे मृत्यु दण्ड नहीं होता। इस काल में पतञ्जलि अपने महाभाष्य में ब्राह्मण राज्य की प्रशंसा करता है। इतिहास में इस काल को ब्राह्मण धर्म (पुरोहित धर्म) का पुनरुत्थान काल भी कहते हैं। इसी ब्राह्मण पुनरुत्थान काल में बौद्धों और जैनों द्वारा प्रचारित जन भाषा प्राकृत और पाली की प्रधानता को खत्म करके संस्कृत की महत्ता बढ़ाई जाती है। इस काल में

पुरोहित श्रेणी द्वारा जैनों और बौद्धों पर जुल्म होता है, इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जैन और बौद्ध विदेशी हमलावरों को अपने धर्म की रक्षा के लिए निमन्त्रित करते हैं। युद्ध और हत्या से धरती लाल हो जाती है। भारतीय समाज में अन्धकार छा जाता है।

इसके बाद इस पुरोहित श्रेणी द्वारा हत्या का प्रयत्न हम मध्यकाल में पाते हैं। मध्य काल में सम्राट हर्षवर्धन भारतीय केन्द्रीय शक्ति के प्रतीक थे। वह बौद्ध थे। वैसे ही उदार बौद्ध जैसे सम्राट अशोक। उनकी उदारता से भारत राष्ट्र में एकता होने लग गई थी। किन्तु पुरोहित श्रेणी को सम्राट का बौद्ध होना सह्य न था। पुरोहित श्रेणी ने सम्राट को क्षत्रिय भी नहीं माना—उसके अनुसार सम्राट हर्षवर्धन वैश्य थे। ब्राह्मण भी नहीं, क्षत्रिय भी नहीं, भला वैश्य सम्राट हो! पुरोहित श्रेणी ने षड्यन्त्र किया सम्राट के हत्या की—सम्राट हर्षवर्धन को भी बृहद्रथ के रास्ते भेजने की। किन्तु इस बार सेना का सेनापति कोई ब्राह्मण नहीं था। इसलिए लाचार होकर एक ब्राह्मण जीने में घुसकर छिप गया और जब सम्राट आने लगे, तो उसने उन पर छुरे से वार किया। पर सम्राट युद्ध-कुशल थे, उन्होंने हत्यारे को पकड़ लिया। यह हत्यारा भी पुरोहित श्रेणी का ही था। इसीलिए इस असफल हत्या को पुरोहित श्रेणी के साहित्यकारों ने छिपाया। किन्तु इतिहास का यह सत्य चीनी माध्यम से आज भी जीवित है।

आधुनिक युग में (कायस्थ नमः शूद्र जाति के) स्वामी विवेकानन्द के सन्यास का इस पुरोहित श्रेणी ने विरोध किया। स्वामी विवेकानन्द जी के समय के बंगला अखबार हमारी बातों के गवाह हैं कि इस पुरोहित श्रेणी ने स्वामी जी के सुधार आन्दोलन का भी खूब विरोध किया। किन्तु स्वामी जी राजनीति से दूर थे। इस युग में महात्मा गांधी जी ऐसे आए जो जन्म से वैश्य थे, पर आधुनिक भारत के राजनीतिक मंच के प्रधान नायक थे, आधुनिक भारत के महान समाज-सुधारक और अद्वितीय धर्मात्मा थे। महात्मा जी की उदारता, उनकी अहिंसा, उनके सत्याग्रह और सुधार आन्दोलनों ने भारतीय जाति की एकता को सम्भव किया। सम्पूर्ण हिन्दू जातिकी एकता अशोक के बाद गान्धी युग में ही सम्भव हुई। गान्धी जी राजनीतिक मंच से वीतराग होते हुए भी भारतीय राजनीति के सूत्र-संचालक थे। गान्धी जी एक साथ ही यती, महात्मा, समाज-सुधारक और राजनीतिज्ञ थे। अशोक ने जिस प्रकार ब्राह्मण और श्रमण धर्म को एक दृष्टि से देखा, गान्धी जी ने भी हिन्दू और इसलाम दोनों धर्मों को एक दृष्टि से देखा। बुद्ध ने जिस प्रकार जन्म से किसी को नीच और किसी को ऊंच नहीं माना, जाति-भेद और वर्ण-व्यवस्था को नहीं माना, मानवमात्र के समान अधिकार को स्वीकार किया, महात्मा जी ने भी ऐसा ही किया। बुद्ध के उपदेश ने जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के प्रभाव को कम किया, महात्मा गान्धी ने भी उसी प्रकार उसे कम किया। बुद्ध ने जिस प्रकार लोक-भाषा को महत्त्व दिया, महात्मा जी ने भी उसी प्रकार लोक भाषा को महत्त्व दिया। महात्मा जी ने अछूतों को देव-दर्शन का अधिकार स्वीकार करके पुरोहित श्रेणी के सामाजिक रक्षा-कवच (टैबू) को चीर दिया। महात्मा जी के ये सारे कार्य पुरोहित श्रेणी के हितों के विरुद्ध थे। महात्मा जी राजपुरुष थे, वह भारतीय राष्ट्र की केन्द्रीय शक्ति थे। देशी नरेशों की निरंकुशता महात्मा जी के रहते सम्भव नहीं थी। महात्मा जी के अनुयायी पं० जवाहरलाल नेहरू ब्राह्मण जाति में पैदा होकर भी ब्राह्मण धर्म के विरोधी हैं। इस से पुरोहित श्रेणी और सामन्त श्रेणी को महात्माजी से खतरा था।

इसीलिए पुरोहित-सामन्त श्रेणी-षड्यन्त्र ने मिलकर महात्मा जी को खत्म किया। यहाँ हम यह पाते हैं कि स्वार्थ के संघर्ष में फंसे हुए एक प्रभु वर्ग ने महात्मा गान्धी जी की हत्या की। इस वर्ग ने पहले भी ऐसे कृत्य किए हैं, यह उसके लिए कोई नई प्रवृत्ति नहीं है। महात्मा जी की हत्या भारतीय समाज के श्रेणी-संघर्ष की एक नई कड़ी है। और अब हमें प्रयत्न करना चाहिए कि यह नई कड़ी अन्तिम कड़ी हो।

—बैजनाथसिंह "विनोद"

गाँधी जी और हिन्दी।

इधर हिन्दी हिन्दुस्तानी का विवाद लेकर गाँधी जी को हिन्दी वालों ने काफी सख्त-सुस्त सुनाया था। किन्तु हम यह प्रायः भूल जाते हैं कि यदि गाँधी जी न होते, तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। गाँधी जी ने हिन्दी को उस समय राष्ट्रभाषा माना, जिस समय हममें से बहुत लोगों का जन्म नहीं हुआ था, हममें से कुछ घुटनों के बल चल रहे थे और जो वयस्क थे, वे अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ियत में बिलकुल शराबोर थे। गाँधी जी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा इन्दौर अधिवेशन में स्वीकार किया और अपने पुत्र देवदास को इस राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए मद्रास भेजा। राष्ट्रभाषा के प्रचार के नाम पर हम आज भी काम कर रहे हैं, किन्तु क्या हममें वही लगन, धुन या उत्साह है जो महात्मा जी में तीस साल पहले देखा गया था। उस समय हममें सार्वजनिक जीवन में अँग्रेजी का ही बोलबाला था। यह गाँधी जी ही थे जिन्होंने सार्वजनिक जीवन में हिन्दी को स्थान दिलाया और वह भी पूर्ण प्रतिष्ठा का। कांग्रेस के अधिवेशनों में से अँग्रेज़ी को किस तरह इंच-इंच हटाया गया और किस तरह वहाँ पर हिन्दी को प्रतिष्ठित किया गया, हमने अपनी आँखों देखा है। यह कोई छोटा कमाल नहीं था और महात्मा जी ऐसा कोई महापुरुष ही इसे कर सकता था।

किन्तु जब हिन्दी अपने पूरे ओज में आई, हिन्दुस्तानी का विवाद खड़ा हुआ। इस विवाद में गाँधी जी के खिलाफ जो शक्तियाँ थीं, वे प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व कर रही थीं। श्रद्धेय टण्डन जी ऐसे लोग भी गिरोह में थे। किन्तु उसका नेतृत्व तो मौलिचन्द्र शर्मा ऐसे लोगों के हाथ में था। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन पर शर्मा ऐसे व्यक्तियों का कब्ज़ा हो जाना निस्सन्देह खेद का विषय रहा है। इन लोगों ने महात्मा जी को तंग किया, उन्हें सम्मेलन से हट जाने को बाध्य किया। किन्तु, तो भी गाँधी जी के हृदय से हिन्दी का महत्व दूर नहीं हुआ। अपने ढंग से, अपने तर्ज से वह आजीवन हिन्दी की सेवा करते रहे। यह गाँधी जी के ही महान व्यक्तित्व का प्रभाव है कि अन्य प्रान्तीय भाषाभाषियों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। बंगालियों और महाराष्ट्रीयों के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करना कोई हँसी-खेल नहीं। इधर उन्होंने जो हिन्दी प्रेम दिखलाया है, वह गाँधी जी के हिन्दुस्तानी पर आग्रह के कारण। गाँधी जी हिन्दुस्तानी पर डटे हैं, तो हम हिन्दी को और बढ़ें—मुखर्जी और भोपटकर के हिन्दी-प्रेम का रहस्य यही है। किन्तु जिन्होंने जीवन भर हिन्दी का अहित ही सोचा, उनके दाँव-पेंचों को हिन्दी वाले न समझें, तो यह उनकी मूढ़ता की पराकाष्ठा है। जिस तरह से इस राष्ट्र के निर्माण का श्रेय गाँधी जी को है उसी तरह राष्ट्रभाषा देने का श्रेय भी उन्हीं को है। हिन्दी का सौभाग्य रहा कि गाँधी जी का वरद हस्त उसके माथे पर प्रारम्भ में ही पड़ा और वह अन्ततः राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने जा रही है!

—रामवृक्ष बेनीपुरी

प्रगतिवाद—उसके बाद ?

एक कुहेलिका की क्षणिक सृष्टि पर जिस तरह छायावाद समाप्त हो गया ; उसी तरह थोड़ी देर धूल उड़ा कर प्रगतिवाद अन्तिम सांस तोड़ रहा है।

छायावाद का जन्म १९२१ की राजनीतिक पराजय की पृष्ठभूमि में हुआ था। १९३० की क्षणिक विजय ने भी इतने उल्लास और उत्साह की सृष्टि की, कि आदमी अन्तरंगी से वहिरंगी हो गया, वह रोना छोड़ कर गाने लगा। १९३४ से किसानों और मजदूरों का जो व्यापक आन्दोलन हुआ, उसके कोलाहलों में प्रगतिवाद का जन्म हुआ। प्रगतिवाद मरता नहीं, किन्तु जिनके हाथों में इसके पालन-पोषण का जिम्मा रहा, उन्हों ने पूतना का काम किया—दूध की जगह जहर पिलाया इसे। यह कृष्ण तो था नहीं, इस ज़हर से काला पड़ा अब धीरे धीरे निश्चेष्ट होता जा रहा है।

छायावाद इस ज़मीन की उपज थी। कबीर से लेकर रवीन्द्र तक उसकी एक परम्परा रही है। यहाँ इसलिए सामाजिक परिस्थितियों के बदल जाने पर भी उसका अस्तित्व सर्वथा लोप नहीं हुआ। आज भी महादेवी पुराने सुरों में ही अपने रुदन गान सुनाती जा रही हैं हमें और हम चाव से सुन रहे हैं।

प्रगतिवाद को विदेशों से लाकर हमारे यहाँ रोपा गया। रूस से प्रेरणा मिली ; लंदन में गर्भाधान हुआ। हिन्दोस्तान में पैदा होकर उसका रूप रंग हिन्दुस्तानी नहीं हुआ। फिर कुछ उसके, ऐसे अभिभावक निकले जिन्हों दिन-रात विदेशी पोशाक में ही उसे सजा कर रखना चाहा। कदम कदम पर मार्क्स के अवतरण; पाँत-पाँत में गोर्की की दुहाई। गोर्की के यथार्थवादी चित्रण को अपनी रुचि-भ्रष्टता के कारण अश्लीलता तक पहुँचा दिया गया !

असामयिक मृत्यु बड़ी करुण होती है—प्रगतिवाद की यह मरण-पीड़ा भी कम कारुणिक नहीं है। किन्तु, जो आवश्यम्भावी है, उसपर रोने-धोने से क्या होता है !

प्रेमचंद के बाद प्रगतिवादियों ने दो कलाकारों को खूब ऊपर उठाया—पंत जी को और निराला जी को। निराला जी विक्षिप्त होकर 'कांके' के मानसिक चिकित्सालय में प्रवेश पाने की प्रतीक्षा में हैं। एक महान् व्यक्तित्व की यह कैसी करुण गति ! और, पंत जी प्रगतिवादियों से पल्ला छुड़ा कर अपने लिए एक 'लोकालय' की सृष्टि करने में तत्पर हैं। प्रगतिवाद ने अन्य जिन छोटे-छोटे नक्षत्रों की सृष्टि की, उनमें अपना प्रकाश न था,—इन दो प्रकाशपुंजों के हट जाने से वे आप से आप अंधकार में लोप होते चले जा रहे हैं !

क्या प्रगतिवाद का स्थान लेने को कोई दूसरा 'वाद' आएगा ! क्या साहित्य में बिना वाद का काम चल नहीं सकता ? जो लोग भारत में एक समाज, एक नई संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं, क्या उनके लिए आवश्यक है कि वे साहित्य में किसी नए वाद की सृष्टि करें ? यदि हाँ, तो उस वाद का क्या नामकरण हो ? ये प्रश्न हैं, जो कुछ दिनों तक चिंतकों के हृदय में उठते रहेंगे और जिनका समाधान युग ही कर सकता है।

—रामवृक्ष बेनीपुरी

ज न वा णी

अप्रैल १९४८

विषय-सूची

व्यवस्थापक "जनवाणी",
जनवाणी प्रेस एन्ड पब्लिकेशंस लिमिटेड,
गोदौलिया, बनारस।

वार्षिक मूल्य ८) — 'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग — एक प्रति व...
काशी विद्यापीठ, बनारस

जनवाणी

[वर्ष २ भाग १] — अप्रैल १९४८ — [अङ्क ४ पूर्णाङ्क १६]

बापू के प्रति

श्री "बच्चन"

(१)

तुम उठा लुकाठी खड़े हुए चौराहे पर,
बोले, वह साथ चले जो अपना दाहे घर,
तुमने अपना था पहले भस्मीभूत किया,
फिर ऐसा नेता
देश कभी क्या
पायेगा ?

फिर तुमने अपने हाथों से ही अपना सर
कर अलग देह से रक्खा उसको धरती पर
फिर उसके ऊपर तुमने अपना पाँव दिया,
यह कठिन साधना देख कँपे धरती अंबर,
है कोई जो
फिर ऐसी राह
बनायेगा ?

किया, हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी चलाई, प्रार्थना में कुरानशरीफ को शामिल किया और अन्त में इसी चेष्टा में एक हिन्दू की गोली का शिकार भी हुए—पर अपनी अभीष्ट सिद्धि वे न देख सके। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि मृत्यु से पहले गांधीजी के अधिकांश कांग्रेसी सहयोगी और देश के अधिकांश हिन्दू उनकी नीति के विरोधी हो गए थे और उनके राजनीति से हट जाने अथवा दुनिया से उठा लिए जाने की कामना करने लगे थे। देश के जिस विभाजन, हिन्दू-मुसलमानों के जिस रक्तपात को गांधीजी रोकने के लिए यावज्जीवन सचेष्ट रहे; वह निष्कृष्टतम रूप में उनकी आँखों के आगे ही हुआ। जिस राजनीति में गांधीजी सचाई, ईमानदारी और नैतिकता लाना चाहते थे, कांग्रेस के सत्तारूढ़ होने पर, उसी में उन्होंने चरम कोटि की बेईमानी, छल कपट, हिंसा और भ्रष्टाचार देखा।

पर इसका यह मतलब कदापि नहीं कि गांधीजी की साधना अपूर्ण थी या उनके उद्देश्य की पवित्रता में कमी थी। गांधीजी के अनुयायी बनकर लोगों ने उन्हें धोखा दिया, ठगा और कार्यतः उनके असूलों के विरुद्ध आचरण किया। यदि हम यह मान भी लें कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता में सब से बड़ी रुकावट थी ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके ख़रीदे हुए दलाल। तब भी इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दुओं का कट्टरपन, मुस्लिम-परहेज़ और स्वार्थ भी इसके लिए कम ज़िम्मेदार नहीं है। एक दिन सभी जातियों के लोग मिलकर कांग्रेस के झंडे के नीचे जुटकर काम करते थे। पर धीरे-धीरे हिन्दुओं की संकीर्णता, कट्टरता, स्वार्थ, अविश्वास आदिने अधिकांश मुसलमानों को अलग होने पर मजबूर किया। महत्वाकांक्षी मुसलमानों और साम्राज्यवादियों ने इस स्थिति को बढ़ाया एवं इससे अनुचित लाभ भी उठाया। हिन्दू-बहुमत के कारण कांग्रेस की राजनीति बहुत कुछ 'हिन्दू-राष्ट्रवाद' का ही रूप धारण कर सकी। वे अपने परम्परागत घृणा, द्वेष, अविश्वास आदि को छोड़ कर मुसलमानों को गले नहीं लगासके। इसी मनोवृत्तिके लीगों की मुसलमानों में भी कमी नहीं थी। अर्थनीतिक परिस्थितियों ने उन्हें और भी चौंका दिया। कांग्रेस ने यदि कोई अर्थ-नीतिक कार्यक्रम रखा होता, कोई समाजवादी राज-व्यवस्था को अपना उद्देश्य घोषित किया होता; तो शायद यह स्थिति न आती। पर चूँकि राजनीति गांधीजी का प्रधान प्रतिपाद्य विषय नहीं था, इस ओर उनका ध्यान नहीं गया। और चूँकि अर्थनीति मानव-वाद का क्षेत्र नहीं; यहाँ वह विशेष सफल एवं सार्थक नहीं हो सका। पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि जो काम गांधीजी जीवन-कालमें नहीं कर सके, वह उनकी मृत्यु ने कर दिखाया। उनके बलिदान ने हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक द्वेष, घृणा, कटुता और अविश्वास को एक बहुत बड़ी हद तक दूर किया है। इससे स्पष्ट है कि उनका मानववाद कितना खरा और सच्चा था।

समस्या का अन्त

[एकांकी नाटक]

श्री उदयशंकर भट्ट

—१—

(नदी में बाढ़ ! बादल गरजने, बिजली कड़कने की आवाज़ आ रही है। माणविका नदी के किनारे खड़ी है। बादल गरजने के साथ सिंह भी गरज उठता है। इसी समय नदी की धार को चीरता हुआ एक व्यक्ति इस तट पर आ रहा है। माणविका देखकर कहती है।)

कौन आ रहा है ? इस भयंकर तूफ़ान में नदी को चीरता हुआ ? यह कौन आ रहा है ? अरे, क्या वही है ?

(व्यक्ति पास आ जाता है। सिंह एक बार फिर गरजता है। बिजली कड़कती है। व्यक्ति के फूले हुए साँसों की आवाज बढ़ती है।)

माणविका—(पास से) तुम आ गए। इतनी बढ़ी हुई नदी को, अंधेरी रात में पार कर के आज तुम फिर आ गए श्रुतबुद्धि ?

श्रुतबुद्धि—हाँ, माणविका ! मैं आ गया। यह तो नदी है तुम्हारे लिए मैं समुद्र पार कर सकता हूँ। आकाश के तारे तोड़ कर ला सकता हूँ।

माणविका—श्रुतबुद्धि ! जानते हो तुम्हारे इस साहसपूर्ण कार्य का क्या अर्थ होगा ?

श्रुत०—मेरा नाश ?

माण०—तुम्हारा ही नहीं मेरा भी। तुम्हारे यहाँ आने के कारण सहस्रों वामरथों मद्रकों का नाश हो जायगा। मेरे गुण के लोग यह नहीं चाहते कि एक भी वामरथ मद्रकों से मिले।

श्रुत०—(नदी पार करने की थकावट से सांस अभी तक फूल रही है) मैं जानता हूँ माणविका, मैं तुमसे मिलने आ कर आगसे खेल रहा हूँ। मृत्यु को हथेली पर रखकर ही मैं यहाँ आता हूँ, माणविका।

माण०—किन्तु तुम्हारे घाव तो अभी तक भरे नहीं हैं। नदी में प्रतिदिन इस प्रकार संतरण से क्या वे फट न जायंगे ? उनमें विपाक न पड़ जायगा ?

श्रुत०—नहीं, अब वे कुछ कुछ ठीक हैं। उनसे भी बढ़कर मेरे हृदय में एक घाव हो गया है, माणविका।

माण०—हैं ? हृदय में घाव ? किसी वैद्य को दिखाओ। (सिंह गरजता है) अरे, तुझे क्या हो गया ? तू किधर भाग रहा है ? ठहर जा, श्रुतबुद्धि। तुम्हारी भेंट यह सिंह भी मेरे क्रीडनक से कम नहीं है। दो एक दिन तो इसने मुझे व्यर्थ ही दौड़ाया। किन्तु अब यह मेरा आज्ञाकारी हो गया है। देखो, तनिक इसके सिर पर हाथ फेरो, कितना सुंदर है। यह तुम्हारे हृदय में घाव कैसे हो गया, भला ! किसी और सिंह से युद्ध किया था क्या ?

श्रुत०—नहीं, एक सिंहनी से युद्ध करना पड़ा।

माण०—(भोलेपन से) सिंहनी से ? सिंह की अपेक्षा सिंहनी से युद्ध करना कठिन है। किस स्थानपर तुमने युद्ध किया था ? यहाँ वामरथों के वन में अथवा मद्रक वन में।

श्रुत०—वामरथ वन में।

माण०—वामरथ वन में ! कहां ?

श्रुत०—लम्बी कथा है माणविका। तुम न समझ सकोगी।

माण०—यदि तुम समझाओगे तो क्यों न समझ सकूँगी। यह हृदय में घाव कैसे हो गया ? तुम्हें मालूम है मेरे परिवार को संदेह हो गया है। पहले मैं क्षेत्र रक्षा के लिए रात्रि भर नहीं रहती थी, अब मैंने तुमसे मिलने के लिए रात्रि भर क्षेत्र रक्षा का भार लिया है। इसी से मेरी माता को संदेह हो गया है श्रुतबुद्धि।

श्रुत०—फिर

माण०—हम लोग दो एक दिन में गान्धार जाने वाले हैं। मेरी माता गान्धार देश की है न।

गान्धार में मेरी माता को दो बड़े क्षेत्र मिले हैं। इसी लिए।

श्रुत०—मुझे वामरथों से कोई डर नहीं है माणविका! जीवन दो बार नहीं मिलता। प्रेम दो व्यक्तियों से नहीं किया जाता। क्या तुम मुझे छोड़कर चली जाओगी माणविका!

माण०—जाना ही होगा श्रुतबुद्धि! तुमने हृदय के घाव के संबन्ध में नहीं बताया।

श्रुत०—व्यर्थ है।

माण०—व्यर्थ क्यों है, क्या तुम माणविका को...

श्रुत०—मुझे बड़ा धोखा हुआ। विश्वास के पंखों पर उड़ कर जो मैंने पाया था आज वह नदी की लहरों में बहा जा रहा है। जीवन इतना क्षणिक है, विश्वास इतना पंगु है, प्रेम इतना कमजोर है, हृदय इतना दुर्बल है, मैंने आज ही जाना।

माण०—तुम इतने दुःखी क्यों होते हो। मैं गान्धार से फिर लौट आऊँगी।

श्रुत०—वर्षों प्रतीक्षा करने वाला हृदय क्षण भर भी विश्वास नहीं करता माणविका! तुम क्या इसी तरह लौट सकोगी? उतना ही सबल प्रेम लेकर, विश्वास नहीं होता। अच्छा चलूँ। लहरें मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। नदी की तेज धार मेरा आह्वान कर रही है। बिजलियाँ कड़क कर मेरी कमजोरी को देख रही हैं।

माण०—मैं नहीं समझती तुम क्या कह रहे हो।

श्रुत०—सिंहों से युद्ध करने वाली युवती हृदय से युद्ध नहीं कर सकती।

माण०—तुम जानते हो? इस आधी रात को न जाने कौन मुझे इस नदी तट पर खींच कर ले आता है। न जाने क्यों तुम्हारी मूर्ति मेरी आंखों में झूलती रहती है?

श्रुत०—फिर भी तुम मेरे हृदय के घाव की गहराई को नहीं समझ पाती माणविका!

माण०—(लम्बी आह भर कर) मैं समझती हूँ श्रुतबुद्धि! अब समझी। तुम न जाने कौन सी भाषा में बात करते हो? तुम बात करने में बड़े चतुर हो।

श्रुत०—मैं नहीं चाहता कि तुम गान्धार जाओ।

माण०—मैं विवश हूँ। माता पिता जा रहे हैं। मुझे जाना ही होगा।

(इसी समय माँ की आवाज़ आती है माणविका, माणविका ओ माणविका! अरी कहां है तू)

माण०—यह नदी तट पर सिंह शावक को जल पिलाने आई थी। आरही हूँ। (सिंह गरजता है) (धीरे से) तुम जाओ श्रुतबुद्धि! माता आरही है। जाओ।

श्रुत:—मैं नहीं जा सकता माणविका! इतनी दूर आकर लौट सकना असंभव है। बोलो, तुम गान्धार नहीं जाओगी।

माण०—मैं, मैं कुछ नहीं कह सकती श्रुतबुद्धि तुम जाओ।

(माणविका, माणविका! आवाज पास आजाती है)

माँ०—मैं आ रही हूँ, देख बादल घिरे आरहे हैं। बिजली कड़क रही है। और तू नदी के किनारे अकेली है?

माण०—आ रही हूँ माँ, आ रही हूँ। यह सिंह नहीं आना चाहता। (गरजता है) देख बिजली की कड़क, बादलों की गरज से यह कितना प्रसन्न होता है। (सिंह फिर गरजता है) तुम जाओ श्रुतबुद्धि, जाओ। मां आ रही हैं।

श्रुत०—तुम वचन दो।

माण०—हम लोग कल रात्रि को, यहीं मिलेंगे। जाओ।

माँ—देख, अन्न को पशु चरे जा रहे हैं। और तू नदी के तट पर बिजली की कड़क, मेघों की गरज, नदी की बाढ़ देख रही है। कौन है तेरे पास।

(श्रुतबुद्धि एकदम नदी की धारमें कूद पड़ता है।)

माण०—कोई भी तो नहीं माँ! कोई भी नहीं।

माँ०—तू बोल रही थी न।

माण०—कोई भी न था। एक नक्र को देख कर मदनक गरज रहा था।

माँ०—आज मद्रकों ने हमारे दो वामरथों को मार डाला, तू ने सुना।

माण०—क्यों?

माता०—यह तो मुझे नहीं मालूम। कोई बात होगी। कोई कहता है कि वामरथ मद्रकों के प्रदेश में घुस रहे थे। कोई कहता है मद्रक उन्हें पकड़ कर ले गये।

माण०—बड़े, दुष्ट है मद्रक। नदी के उस पार ही तो मद्रकों का देश है।

माँ०—आओ चलें। मद्रकों के कारण यह तट भी असुरक्षित होता जा रहा है। आओ चलें। तुझे अकेली नदी तट पर डर नहीं लगता री?

माण०—डर किस बातका माँ! मदनक जो मेरे साथ है।

मां०—मद्रकों का। हम लोग शीघ्र ही गान्धार चले जांयगे।

माण०—क्या मद्रकों से भय के कारण ही।

माँ०—यह प्रतिदिन का युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। चल अन्न पड़ा है पशु न खा जांय। तू किस से बात कर रही थी।

माण०—मदनक से। चलो। (सिंह गरजता है)

—२—

[दूसरी रात्रि को माणविका; उसे नदी के तट पर नहीं मिली। श्रुतबुद्धि उसे नदी के तट पर अन्नक्षेत्र में, वन में, ढूंढता रहा। पैरों के चलने की आवाज़ आती रहती है—]

श्रुत०—यह मंच पर कौन बैठा है, निश्चय ही यह माणविका है! माणविका! प्रिये माणविका!

एक व्यक्ति—कौन है, कौन है? (आगे बढ़कर) तुम कौन हो?

श्रुत०—श्रुतबुद्धि।

शबर—दर्भक, देखो, मुझे स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा है। देखो तो तनिक।

दर्भक—देखता हूं दादा, (आगे बढ़ कर श्रुतबुद्धि को पकड़ कर) बोलो तुम कौन हो।

श्रुत०—छोड़ो, मुझे जाने दो। (छुड़ाता है) दर्भक पकड़ लेता है।

दर्भक—अब तुम नहीं जा सकते तस्कर।

शबर—कौन है दर्भक? क्या यह अन्न चुराने आया था।

श्रुतबुद्धि—माणविका को मैंने मदनक भेंट में दिया था उसे लेने आया हूं।

दर्भक—मदनक तुम ने भेंट में दिया था? तुम हो कौन?

श्रुत०—मैं मद्रक हूँ श्रुतबुद्धि मेरा नाम है।

दोनों—मद्रक, दुष्ट मद्रक, अब तुम बच कर नहीं जा सकते। (दोनों में युद्ध होता है शबर दर्भक दोनों मिल कर श्रुतबुद्धि को मारते हैं श्रुतबुद्धि 'आह' करके गिर जाता है)

शबर—मर गया?

दर्भक—हां, मर गया।

शबर—सांस तो नहीं है।

दर्भक—नहीं, अब यह उठ नहीं सकता। मद्रक गण के किसी व्यक्ति को देख कर उसे सुरक्षित जाने देना वामरथों का धर्म नहीं है। मैं इसे नदी के तट पर फेंक आता हूँ।

शबर—हां, ठीक है।

—३—

[नदी का तट]

माणविका—अभी तक श्रुतबुद्धि नहीं आया। क्या वस्तुतः वह अब न आएगा? हैं यह क्या, यह कौन है? (पास जाकर) अरे श्रुतबुद्धि! यह तुम्हारी दशा किसने की—श्रुतबुद्धि! अभी सांस तो चल रही है। ठहरो, मैं मुंह में जल डालती हूँ। श्रुतबुद्धि? नेत्र खोलो देखो, मैं माणविका हूँ।

श्रुत०—(धीरे से) माणविका!

माण०—तुम्हारी यह दशा किसने की श्रुतबुद्धि!

श्रुत०—(चुप रहता है)

माण०—बोलो, प्रिय तुम्हें क्या हुआ?

श्रुत०—माणविका, तुम्हारे पिता शबर और भाई दर्भक ने मिलकर मुझे मार ही डाला था।

माण०—तुम क्षेत्र में गए थे!

श्रुत०—हाँ, तुम्हें खोजता अन्न क्षेत्र में गया था। अब मैं स्वस्थ हूँ।

माण०—प्रिय! कल अन्न घर चला जायगा। इसके पश्चात् हमारा क्षेत्र का कार्य समाप्त हो जायगा। परसों हम लोग गान्धार जा रहे हैं।

श्रुत०—फिर तुमने मुझे जीवित क्यों किया? माणविका, मुझे यहीं नदी के तटपर मर जाने देती।

माण०—प्रिय !

श्रुत०—माणविका !

माण०—मैं चुपचाप माता को सोती छोड़कर अन्तिम बार तुम से मिलने आई हूँ। कल कुछ मद्रकों ने दो वामरथों को मार डाला। मैं मद्रकों से घृणा करती हूँ। तुमसे भी मिलना नहीं चाहती थी, किन्तु समय आते ही न जाने क्यों मुझसे रहा न गया। मैं सोई न रह सकी। बैठी भी न रह सकी। दौड़ी हुई तुमसे मिलने चली आई।

श्रुत०—मैं तुम्हारे बिना जीवित न रह सकूँगा। तुम्हें मेरे साथ चलना होगा।

माण०—शत्रु, मद्रकों के घर मैं नहीं जा सकती।

श्रुत०—हमारा प्रेम मद्रक वामरथों से ऊपर है माणविका ! मैं वचन देता हूँ कि जीवन रहते तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम प्राण हो मैं शरीर, तुम हृदय हो मैं स्पन्दन, तुम वाणी हो मैं जिह्वा, माणविका !

माण०—प्रिय, हम तुम एक होकर रह सकेंगे ?

श्रुत०—अवश्य, हमें संसार की कोई शक्ति पृथक् नहीं कर सकती।

माण०—नारी एक बार हृदय देती है।

—४—

[सुरा पान करते हुए मद्रक गण नाच रहे हैं]

छलक छलक चले।
सुरा भरे मधुर मधुर चषक ढलक चले
रग रग रूप रूप में ढले—छलक छलक चले
सुरा भरे मधुर मधुर चषक ढलक चले
प्रेम नेत्र द्वार से पलक पलक चले।
छलक छलक चले।
गीत गा रही निशा सितार तार पर
होश भी उलझ रहे हैं नेत्र द्वार पर
मदिर मदिर सुगंध पी प्राण थक चले।
छलक छलक चले।
महान गान आज यह समीर ताल पर
घूमते सुरा चषक अमन्द चाल पर
प्राण प्राण गान कर ललक ललक चले
छलक छलक चले।
सुरा भरे मधुर मधुर चषक ढलक चले

सब—एक बार और मिलकर पियो। श्रुतबुद्धि माणविका के दीर्घ जीवन के लिए पियो।

प्रथमक—हमारे जीवन पर संसार का जीवन निर्भर है अतः अपने लिए पियो। अपने नेत्र बन्द कर लेने पर संसार में अन्धकार छा जाता है और यह सुरा स्वर्ग गमन के लिए सोपान है अतः अपने लिए पियो। एक बार पियो अनेक बार पियो। हाहाहा...। (पीता है)

मधुमती—प्रथमक, पीकर तुम भूल जाते हो कि कोई और भी है ? हम मद्रकों में अपना तो कोई है ही नहीं। इसलिए मैं कहती हूँ सब के लिए पियो। सबके सुख के लिए पियो। माणविका के लिए पियो; श्रुतबुद्धि के लिए पियो। लो माणविका। (चषक देती है)

आनंदक—प्रमाद है, जीवन प्रमाद है। मैं कहता हूँ कि इतना पियो जिससे अपने को, पराये को भूल जाओ। यही ब्रह्मानंद है। युद्ध में जिस प्रकार जीवन का मोह नहीं होता, वैराग्य में जिस प्रकार मरण से घृणा भय नहीं होते, इसी प्रकार मरण जीवन के बन्धन की उपेक्षा कर के पियो। लो तुम पियो मधुमती। तुम्हारा नाम मधुमती है। प्रिये, स्वयं सुरामयी हो तुम।

श्रुतबुद्धि—माणविका मद्रकों की विजय श्री है। प्रिये, सब मद्रक तुम्हारा स्वागत करते हैं, लो एक मेरे हाथ से प्रिये।

माणविका—प्रिय, प्रेम भेद नहीं जानता। उसकी दृष्टि में न मद्रक हैं न वामरथ। वह सब के लिए पेय है।

(मद की विह्वलता से रूप की आखें विभोर हो उठती हैं कुछ स्वयं उठकर नाचने लगते हैं। हा हा-हू हू से स्थल भर जाता है)

सागरिका—माणविका, सुरा जीवन के वसंत का अग्रदूत है। आह तुम इस समय कितनी सुन्दर लगरही हो। तुम्हारी आंखों के डोरों ने मानो यौवन महाराज के आने के लिए उल्लास का पथ बनादिया हो। (हँसती है)

माणविका—ठीक कहती हो सागरिका तुम्हारे लाली भरे कपोल उनके ऊपर छत्र बन कर चलरहे हैं।

सब—ठीक, सुन्दर (हा-हा हँसते हैं)

सब—हा- हा- एक बार नहीं अनेक बार। मद्रक गण की जय।

गूंज उठे आकाश हमारा गूँज उठे।
गूंज उठे मधुमास दुलारा गूँज उठे। (हँसते हैं)

दीर्घक—बस करो, बस करो। तुमने सुना वामरथ मद्रकों पर आक्रमण करके माणविका के अपहरण का बदला लेना चाहते हैं। उत्सव बन्द करके युद्धकी तैयारी करो।

सब—माणविका मद्रक वर्ग की हो गई। हम उसकी रक्षाके लिए प्राण दे देंगे। चलो

माण०—प्रियतम श्रुतबुद्धि !

श्रुत०—प्रिये !

माण०—तुमने सुना।

श्रुत०—मद्रक युद्धसे कभी नहीं डरते, माणविका। हम लोग प्राण रहते तुम्हारी रक्षा करेंगे।

माण०—हूँ।

श्रुत०—चलो, प्रातः काल उषा की लालिमा के साथ शाकल नदी को वामरथोंके रक्त से रंग देनेके लिए चलो।

सब—हां चलो।

माण०—श्रुतबुद्धि, वामरथ मेरे बन्धु हैं, यह नहीं होगा।

श्रुत०—फिर क्या होगा। युद्ध का आह्वान होने पर हम पीछे नहीं हट सकते।

माण०—क्या युद्ध आवश्यक है श्रुतबुद्धि ?

श्रुत०—प्रिये ! हमारा जीवन गण के लिए है। मद्रक गणके सेनानायक होने के नाते मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं युद्ध के लिए अपने गण को सन्नद्ध करूं।

माण०—(दीर्घ सांस लेकर चुप रह जाती है)

श्रुत०—आज्ञा दो प्रिये, बाहर कोलाहल बढ़ रहा है। संपूर्ण वर्ग मेरी प्रतीक्षा में है।

माण०—मैं कुछ नहीं जानती।

श्रुत०—तुम्हारा मुखचन्द्र फिर देखने का विश्वास लेकर जा रहा हूँ प्रिये। (चला जाता है)

सागरिका—माणविका ! तुम उदास हो गई। हम मद्रक स्त्रियाँ, ओहो यह युद्ध कितना भयानक है।

माण०—सखी ! मैं भी युद्धके लिए जाऊंगी।

साग०—युद्धके लिए जाना अनुचित नहीं है, किन्तु क्या तुम अपने भाई बन्धु वामरथों से युद्धकर सकोगी।

माण०—यही सोचती हूँ किन्तु मुझे जाना ही होगा। मैं ठहर नहीं सकती।

साग०—कहां यह विलास और कहाँ युद्ध ! कहाँ जीवन और कहाँ मृत्यु ! कितना अन्तर है इसमें !

माण०—तुम सच कहती हो सखी ! प्रेम बलिदान चाहता है।

साग०—ऐं ! तो क्या तुम अपना बलिदान दोगी। क्या यह युद्ध किसी प्रकार रुक नहीं सकता ?

माण०—तुमने नींद में सोते हुए प्रिय के अधर स्पर्श के आनन्द का अनुभव किया है माणविका ?

साग०—इस युद्ध के समय तुम्हें यह क्या सूझा है। हाँ, ठीक है। बिचारी के विवाह को दिन ही कितने हुए हैं। सखी, मेरा विश्वास है श्रुतबुद्धि विजयी हो कर लौटेंगे।

माण०—तुमने सिंह की दाढ़ों से छीन कर मृग का मांस खाया है सागरिका ?

साग०—नहीं। पर इस समय इन बातों से क्या मतलब है तुम्हारा ?

माण०—तुमने बरसाती नदी की वेगमयी धारमें तैरते हुए नृत्य किया है सागरिका ?

साग०—नहीं।

माण०—मुझे एक चषक सुरा दो।

साग०—लो, पियो। प्रियतम के पुनरागमन के लिए कादम्ब पान करो सखी।

(गट गट पीती है)

माण०—एक और।

साग०—लो।

माण०—एक चषक और दो।

साग०—बस, अब मत पियो। पहले भी तुमने अधिक पिया है। यह इक्षु सुरा तुम्हारे द्राक्षारस से अधिक उग्र होती है, माणविका।

माण०—दो, मुझे पीने से मत रोको। मैं आज सारा कादम्ब पी जाना चाहती हूँ। रोको मत सखी और दो।

साग०—नहीं अब मत पियो। अरे तुम कैसी हो रही हो। जैसे तुमने अपने को भुला दिया है। हैं हैं, अरे गिरी जा रही हो। ठहरो, तुम्हें पर्यङ्क पर लिटा देती हूँ। चलो।

माण०—मेरे प्राण आसव बनकर विश्व को विभोर कर दें।

—५—

[वामरथों की जय, मद्रकों की जय के नारे लगते हैं।]

वामरथों में से—यदि अपना कल्याण चाहते हो तो माणविका को लौटा दो।

मद्रकों में से—यह नहीं हो सकता। माणविका परिणीता वधू है वह लौट नहीं सकती।

वामरथों में से—तो मरने के लिए तैयार हो जाओ हम एक एक मद्रक का नाश कर देंगे।

मद्रकों में से—बहुत बातें मत करो। युद्ध में ही बल की परीक्षा होती है। आओ युद्ध करो।

वामरथ—वामरथ गण की जय।

मद्रक—मद्रक गण की जय।

वामरथ—मरने के लिए तैयार हो जाओ।

मद्रक—तुम भी। आओ युद्ध करो।

(परशु, भाले, कृपाण खनखना उठते हैं, इसी समय)

माणविका—ठहरो, ठहरो युद्ध बन्द करो।

वामरथ—कौन माणविका! वामरथ की जय।

मद्रक—माणविका, तुम जाओ। मद्रक गण की जय।

माण०—मैं वामरथों की पुत्री और मद्रकों की वधू हूँ। मैं चाहती हूँ युद्ध बन्द हो।

वामरथ—मद्रकों ने हमारा अपमान किया है। माणविका को उठाकर ले चलो।

मद्रक—वामरथों ने हमारे ऊपर आक्रमण किया है इसलिए हम उन्हें दण्ड देंगे।

माण०—क्या युद्ध किसी भी तरह बन्द नहीं हो सकता?

सब—युद्ध होगा। युद्ध बन्द नहीं होगा।

माण०—यह मेरा सिर आप दोनों की भेंट है।

(सिर काट देती है)

वामरथ—(चिल्लाकर) माणविका, यह तुमने क्या किया।

श्रुत०—अरे, अरे, माणविका! यह क्या करती हो प्रिये!

(सब लोग युद्ध बन्द करके माणविका को घेरकर खड़े हो जाते हैं।)

वामरथ—अब युद्ध व्यर्थ है।

मद्रक—अब युद्ध की आवश्यता नहीं है। किन्तु माणविका का बलिदान। यह मद्रकों की वधू थी।

वामरथ—वह वामरथों की कन्या थी।

सब—वह दोनों की थी।

श्रुतबुद्धि—आज से मद्रकों का वामरथों से कोई बैर नहीं है।

सब—माणविका का बलिदान चिरंजीवी हो। माणविका की जय। हमारी कटुता, शत्रुता का अन्त हो गया। आज से हम एक हैं।

वामरथ मद्रक गण की जय।

(उपसंहार नेपथ्य से)

इसके पश्चात् कई मास तक एक व्यक्ति की आवाज सुनाई देती रही। माणविका, प्रिये माणविका! किंतु कभी कोई उत्तर नहीं मिला। कभी कभी प्रतिध्वनि टकरा कर कह उठती थी—माणविका प्रिये माणविका!

नोट—यह नाटक रेडियो टेकनीक के आधार पर लिखा गया है, इसलिए यह ध्वनि प्रधान है, संकेत तथा निर्देश प्रधान नहीं है।

—लेखक

आदर्श की जययात्रा

प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र

काल का स्रोत दुर्बोध गति से बहता चला जा रहा है। इस स्रोत में पड़ कर पुरातन जगत के न मालूम कितने आचार-अनुष्ठान, विधि-विधान निश्चित होते चले जा रहे हैं और उनके स्थान पर नूतन की सृष्टि हो रही है। यह नूतन भी एक दिन पुरातन बन कर काल के गर्भ में विलीन हो जायगा और उसका स्थान कुछ और ही ग्रहण करेगा। इसी रूप में काल का अनन्त प्रवाह अविराम गति से चल रहा है और उसके एक तट पर ध्वंस को तथा दूसरे तट पर नवसृष्टि की क्रीड़ा होती रहती है। सारी पृथ्वी पर ध्वंस और निर्माण की यह विचित्र नाट्यलीला ज्ञात या अज्ञात रूप में चलती ही रहती है। महाकाल के रंगमंच पर क्षण क्षण में पट परिवर्तन होते रहते हैं और नए नए दृश्य उपस्थित होकर हमें कभी विस्मित और कभी हतबुद्ध कर देते हैं। प्राकृतिक जगत और मानव जगत् दोनों में ही ध्वंस और सृष्टि की यह लीला चलती रहती है। ऊसर मरुभूमि कोलाहलपूर्ण जनपद में, जना कीर्ण राजधानी भग्न स्तूप में और दिग दिगन्त विस्तीर्ण बालुका राशि शस्यश्यामल प्रदेश में परिणत हो जाती है। दूसरी ओर बड़े बड़े प्रतापशाली सम्राट और दुर्धर्ष तानाशाह के स्वर्णमुकुट और राजदण्ड चूर्ण विचूर्ण होकर धूल में मिल जाते हैं और उनके स्थान पर नए-नए गणतंत्र स्थापित होते हैं। इस प्रकार राष्ट्र समाज, धर्म, नीति सब कुछ में अहर्निश परिवर्तन हो रहे हैं और इन परिवर्तनों के बीच से होकर मानव सभ्यता प्रगतिशील हो रही है। मानव जाति के इतिहास में अब हम जो कुछ कृतित्व पाते हैं वह इसलिए ही कि समय समय पर सब देशों में कुछ ऐसे प्रतिभाशाली दूरदर्शी महापुरुष पैदा होते रहे हैं जिन्हों ने परिवर्तन के इस सुर को ठीक तरह से पहचाना है और उसके अनुकूल समाज के सामने आदर्श रखे हैं। इन आदर्शों की जययात्रा में ही मनुष्य ने इतिहास का निर्माण किया है और अपने आत्मविश्वास का पथ प्रशस्त किया है। जहाँ पुरातन और नूतन आदर्शों के बीच संघर्ष उपस्थित हुआ है वहाँ नूतन की ही अन्ततः विजय हुई है भले ही उस विजय के मार्ग में पुरातन पंथियों ने जान बूझ कर रोड़े अटकाने का निष्फल प्रयत्न किया हो। जो लोग आदर्श के स्रष्टा बन कर समाज के सामने उपस्थित होते हैं वे बाधा-विघ्नों से थोड़े ही घबड़ाते हैं। वे तो जानते हैं कि मुक्ति का मार्ग क्षुर-धार दुर्गम पथ है। इस पथ के पथिकों को दुःख कष्ट और दारिद्र्य स्वेच्छा पूर्वक वरण करने पड़ते हैं। वे तो समाज को उन्नति की दिशा में ले जाने के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करने का व्रत ग्रहण कर के कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं और अपने आदर्श की बलिवेदी पर अपने जीवन का बलिदान कर देने में जरा भी आगा पीछा नहीं करते।

हर युग में इस श्रेणी के ही महाप्राण व्यक्ति मार्क्स या लेनिन या सन यात सेन या गांधी बन कर आदर्श की जययात्रा के लिए आगे आगे चलते हैं और लाखों मनुष्य उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चल कर समाज में और जाति के इतिहास में युगान्तर ला देते हैं। मार्क्स ने अपने जीवन के प्रथम यौवन में जिस श्रेणीहीन मानव समाज का स्वप्न देखा था और जिसे अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ आदर्श के रूप में स्वीकार किया था, उस आदर्श के प्रति उसके हृदय में कितनी निष्ठा थी। दारिद्र्य की दुःसह यन्त्रना के बीच भी मार्क्स ने अपने आदर्श की जीवन व्यापी साधना में जिस अद्भुत दृढ़ता एवं अध्यवसाय का परिचय दिया है उस पर विचार करने से विस्मय विमुग्ध हो जाना पड़ता है। स्वयं जो व्यक्ति इतना दरिद्र हो कि अपनी मृत कन्या के कफन के लिए पास पैसे न हों, जो अपनी कन्या के जन्म लेने पर उसके लिए एक पालने का भी प्रबन्ध न कर सके वही व्यक्ति लाखों करोड़ों मनुष्यों के जीवन को दैन्य और दारिद्र्य के अभिशाप से मुक्त करने तथा उनके निरानन्द जीवन में आनन्द की शुभ्र ज्योति लाने के लिए अपने जीवन को उत्सर्गीकृत कर दे इससे बढ़कर आदर्श की पूजा

अमीरे कारवां मारा गया

श्री रौशनअली खां "रविश" बनारसी

गुलसिताने ज़िन्दगी का बाग़बाँ मारा गया
नाख़ुदाए किश्तिए हिन्दोस्ताँ मारा गया
ज़िन्दगी जिसकी थी सुलहो अम्न की पैग़ाम्बर
हैफ़ एक ऐसा अमीरे कारवाँ मारा गया।

क्यों उदासी छाई है बेनूर क्यों दुनियाँ हुई
बन्दए हक़ कौन दौरे आसमाँ मारा गया
जिसने अपनी ज़िन्दगी राहे खुदा में वक़्फ़ की
आह वह दैरोहरम का पासबाँ मारा गया।

जिसकी पीरी अज़्मो इस्तक़लालका ज़िन्दा शबाब
आह वह गेती का फ़र्ज़न्दे जवां मारा गया
जश्ने आज़ादी ने बढ़कर जिसके चूमे थे क़दम
आज वह शाहन्शहे हिन्दोस्ताँ मारा गया।

बादशाही जिसने की रूहानियत के ज़ोर से
हिन्द वालो वह तुम्हारा हुक्मराँ मारा गया
याद है किसने कहा था हिन्दू-मुस्लिम एक हैं
वह ही बापू यानी सब का मेहरबाँ मारा गया।
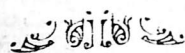
ख़ून जिसका देवता के ख़ून से कुछ कम न था
एक वह इन्साँ हमारे दरमियाँ मारा गया
वह अहिन्सा का पुजारी वह करम का देवता
जाने किस जुर्मोख़ता पर वे ज़बाँ मारा गया।

ख़िर्मने अफ़रंग जिसकी ज़द पे आकर मिट गया
लो ज़मीने हिन्द का वह आस्माँ मारा गया
मादरे हिन्दोस्ताँ की गोद ख़ाली हो गई
एक ही बच्चा था उसका बेज़बाँ मारा गया।

लो सबक़ बर्मा से चौंको हिन्द वालो होशियार
यह न कहना दूसरा फिर पासबाँ मारा गया
दुश्मनों को देखता था जो निगाहे लुत्फ़ से
हैफ़ है वह दोस्तों के दरमियाँ मारा गया।

ख़ैर हो अंजाम की यह तो अभी आग़ाज़ है
पहली ही मंज़िल पे मीरे कारवाँ मारा गया
बुझ गया "रौशन" चिराग़े अज़मते हिन्दोस्ताँ
आह गान्धी बाग़बाने गुलसिताँ मारा गया।

साहित्यकार की समस्याएं

श्री सीताराम जायसवाल

साहित्यकार की समस्याओं पर विचार करने के पूर्व साहित्यकार से परिचय करा देना चाहता हूँ, क्योंकि आजकल साहित्यकार कहने और कहलाने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई है। कुछ लोग जो कि अपने को साहित्यकार समझते हैं, बार बार इस बात की कोशिश करते हैं कि उन्हें दूसरे लोग भी साहित्यकार कहें और अवसर मिलने पर या बिना अवसर की प्रतीक्षा किए हुए यह कहनेके लिए तैयार हो जाते हैं कि कौन साहित्यकार है कौन नहीं है। मैं इन लोगों में से नहीं हूँ क्योंकि मैं मनुष्य को साहित्यकार से अधिक महत्त्व देता हूँ। मेरे लिए तो मानव की मानवता साहित्यकार की साहित्यिकता से बड़ी और प्रिय है। आज हिन्दी साहित्य में कई ऐसे साहित्यकार हैं जिनमें मनुष्य की नैसर्गिक सुन्दरता नहीं है, जो, मानवता के नाम पर साहित्यिक व्यापार करते हैं। यदि आप साहित्यकार हैं तो हम आपका आदर करते हैं, लेकिन इसके माने तो यह नहीं कि आप अपनी इन्सानियत को भूल जाँय। यदि आपको अपने साहित्यकार होने का इतना गर्व हो गया है कि आप इन्सानियत की बेइज्ज़ती करते हैं तो साहित्यकार को यह मालूम होना चाहिए कि उसीके साथ उसका भी अन्त हो जाता है।

साहित्यकार का जीवन उसके साहित्य में होता है। साहित्यकार अपने साहित्य में जीवित रहता है। इसका कारण यह है कि उसका जीवन पारदर्शी होता है। उसे स्वार्थों और बनावट की नहीं पड़ी होती। उसकी दृष्टि बहुत दूर तक जाती है। वह वर्तमान में भविष्य देखता है और अतीत के ज्ञान से वर्तमान को बदल देता है। इसलिए उसका दोहरा जीवन नहीं होता। जो बात उसकी ज़बान कहती है, वही बात उसकी कलम लिखती है। जो बात उसके मन में होती है, वही बात समाज भी सोचता है। साहित्यकार अपने में पराये का होता है और पराये में अपने को पाता है। साहित्यकार सब का होता है।

साहित्यकार और मनुष्य के सम्बन्ध में एक बात और भी कह दूं। अक्सर मैंने देखा है और कई बार सोचता रहा हूँ मगर ठीक ठीक उत्तर न पा सका था। लेकिन मन को समझाने के लिए प्रश्न का उत्तर कुछ दे ही दिया। आप पूछेंगे प्रश्न क्या है? प्रश्न यह है कि जब कई साहित्यकारों को निकट से देखा तो उनमें इन्सानियत की कमी पाई। जो व्यक्ति बहुजन के हित की बातें करता है, जो जनता में क्रान्ति उत्पन्न करना चाहता है, जिसका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है, वह किस प्रकार. चार मित्रों के बीच में बैठ कर अपने ही में सीमित हो जाता है!

मैंने देखा है कुछ साहित्यकारों को ऐसा व्यवहार करते हुए जिन्हें साधारण सभ्य मनुष्य कभी करने के लिए सोचेगा भी नहीं। यह अपने ही में खंडित व्यक्तित्व का साहित्यकार मेरे लिए एक समस्या रहा है। और इस समस्या का समाधान मुझे तब मिला जब मैंने साहित्यकार के व्यक्तित्व को देखा। साहित्यकार दिन के चौबीस घंटों में साहित्यकार नहीं होता। व्यक्ति का साहित्यकार प्रेरणा पाकर ही जागता है और फिर साहित्य की रचना करके सो जाता है। कई कवियों को स्वयं अपनी लिखी कविताओं पर आश्चर्य होता है। वे सोचते हैं क्या वास्तव में मैंने ही यह कविता लिखी है? क्या सचमुच मेरी कविता में इतना सौंदर्य है? और तब उनका कुरूप मन उन्हें मौन कर देता है।

इसलिए साहित्यकार, व्यक्ति का वह रूप है जो प्रेरणा पाकर कुछ क्षणों के लिए चेतन होता है और वह व्यक्ति को छोड़कर समष्टि में समा जाता है। लेकिन यदि यही ठीक है तो सभी व्यक्तियों को प्रेरणा क्यों नहीं मिलती? साधारण व्यक्ति और साहित्यकार में अन्तर है। साधारण व्यक्ति उन परिस्थितियों में समा जाता है जो जीवन को प्रभावित करती हैं, लेकिन साहित्यकार परिस्थितियों के बीच होते हुए भी अपने को उनसे अलग रखने में समर्थ होता है। और वह प्रेरणा के आधार पर ही यह कर पाता है। अतः इन सब बातों पर विचार करने के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचे कि साहित्यकार द्रष्टा और स्रष्टा होता है। साथ ही उसमें मनुष्य की दुर्बलताएँ होती हैं। साहि-

त्यकार का मनुष्य उन्हीं सिद्धान्तों को तोड़ता भी है, जिन्हें मनुष्य का साहित्यकार बनाता है। इसलिए मनुष्य के साहित्यकार की सब से बड़ी समस्या उस समय उपस्थित होती है जब मनुष्य की ग़लतियों को साहित्यकार की ग़लतियाँ कही जाती हैं। साहित्यकार उत्तर नहीं देता क्यों कि साहित्यकार मनुष्य की दुर्बलताओं को जानता है। वह तो केवल मनुष्य को इतना ही बता सकता है कि दुर्बलताएं क्या हैं, क्यों हैं और इनसे बचने का क्या उपाय है। दूसरे शब्दों में साहित्यकार मनुष्य का पथ निर्देशक होता है। वह जीवन के संघर्षों के बीच उत्साह बढ़ाता है और आशाएं देता है। इसलिए साहित्यकार और मनुष्य के सम्बन्ध की बात एक साहित्यिक समस्या के रूप में हमेशा रही है। भद्र समाज के अनुसार चरित्रहीन साहित्यकार की रचनाएँ पढ़कर पाठक चरित्रहीन हो जाता है। इसलिए भद्र समाज जोकि साहित्य को साहित्यकार के जीवन के सामने रख कर देखता है वह साहित्यकार के मनुष्य की दुर्बलता को साहित्यकार की दुर्बलता समझता है। इसलिए साहित्यकार के मनुष्य की दुर्बलता को साहित्यकार की दुर्बलता मानने वाले साहित्य के सौन्दर्य का दर्शन नहीं करते, यदि करते भी हैं तो लुक-छिप कर।

साहित्यकार के मनुष्य की दुर्बलता को साहित्यकार की दुर्बलता समझना ग़लत है। लेकिन इसके माने यह नहीं है कि जितने साहित्यकार हैं वे सभी दुर्बल नहीं या उनके साहित्य में ऐसी भावनाएं नहीं जो समाज को अग्राहय हों। प्रत्येक साहित्यकार के साहित्य में ऐसे स्थल आते हैं जहाँ साहित्यकार नहीं वरन् व्यक्ति साहित्यकार का स्वांग रचता है। साहित्यकार स्वयं अपने व्यक्ति के अहम् को देखकर आश्चर्य करता है। वह कहता है मेरा यह व्यक्ति जो पशु-प्रवृत्तियों से प्रभावित होता है, जो दूसरों की चीजें हड़पना चाहता है, जो दूसरे से बड़ा होना चाहता है, जो बड़ाई के माने दूसरों को छोटा समझने लगता है, फिर कुशलता के साथ नाटक करता है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी के कई साहित्यकारों को अपनी पुस्तकों की सुंदर आलोचना लिखाने के लिए विकल देखा है। यही कारण है कि आज का साहित्यकार दलबन्दियों में पड़ता है। आज का साहित्यकार अपने व्यक्ति की दुर्बलताओं का शिकार हो गया है। इसलिए वह प्रचार चाहता है। उसकी यह तीव्र आकांक्षा होती है कि लोग कहें कि तुम सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार हो। वह एकान्त में स्वयं ही कहता है मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, और इसी कथन की प्रतिध्वनि अट्टहास करके व्यंग करती है। तब साहित्यकार का 'मैं' उस एकान्त स्थान से बाहर आता है, नमस्कार करता है और फिर अपने को सर्वश्रेष्ठ कथाकार कहलाने के अनन्त जाप को शुरू कर देता है। साहित्यकार की यह दूसरी समस्या है।

साहित्यकार के 'मैं' के कारण तथा साहित्यकार के व्यक्ति के कारण नैतिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। साहित्यकार का 'मैं' यदि प्रबल हुआ तो वह सभी उचितानुचित उपायों द्वारा सर्वश्रेष्ठ कहलाने का प्रयत्न करता है और इसमें वह असफल भी रहता है, जैसा कि हम दैनिक जीवन के सम्पर्क में देखते भी हैं। लेकिन जिस साहित्यकार का 'मैं' विकसित होकर 'हम' बन जाता है, जो साहित्यकार समाज और लोक की वाणी का रूप धारण कर लेता है वह कभी अपनी प्रशंसा के लिए विकल नहीं रहता। वह किसी आलोचक से नहीं कहता कि मेरे लिए तुम अमुक पत्र में लेख लिख दो। मैं जानता हूँ हिन्दी साहित्य के कुछ श्रेष्ठ साहित्यकार कहे जाने वाले व्यक्तियों को जो अपनी पुस्तक की आलोचना स्वयं लिखकर दूसरों के नाम से प्रकाशित करते हैं, जो गरीब और दुर्बल आलोचकों की गरीबी से लाभ उठाते हैं। इसीलिए इस बात को इस रूप में रखना पड़ा। आज का साहित्यकार अपने से ऊपर नहीं उठ पाता। कुछ ऐसा वातावरण बन गया है कि वह शायद चाहते हुए भी 'मैं' के कीचड़ से नहीं निकल पाता।

आधुनिक हिन्दी साहित्यकार देखता है कि नकली साहित्यकार असली साहित्यकार घोषित किया जाता है और समाज उस घोषणा को स्वीकार कर लेता है। तब वह कहता है कि नकली साहित्यकार ने सारे वातावरण को गंदा कर रक्खा है। इस परिस्थिति के दो प्रभाव दिखाई पड़ते हैं। एक तो यह कि यदि साहित्यकार ईमानदार हुआ और उसकी ईमानदारी क्षणिक प्रलोभनों से नहीं प्रभावित होती, तब वह नकली

साहित्यकारों के दल में नहीं समाता। वह अपने पथ पर बढ़ता जाता है। दूसरा प्रभाव यह होता है कि कुछ साहित्यकार तात्कालिक लाभ उठाकर सर्वश्रेष्ठ घोषित होना चाहते हैं। इसलिए वे उस दल में सम्मिलित हो जाते हैं जिसके सदस्य एक दूसरे की प्रशंसा किया करते हैं। यदि साहित्यकार वर्मा से पूछा जाय कि सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार कौन है तो उत्तर होगा साहित्यकार शर्मा और यदि साहित्यकार शर्मा से पूछा जाय कि सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार कौन है तो वे कहेंगे कि साहित्यकार वर्मा। अर्थात् साहित्यकार शर्मा और वर्मा दोनों सर्वश्रेष्ठ हैं। वास्तविक साहित्यकार की यह तीसरी समस्या है। यह तीसरी समस्या भयानक है। इससे साहित्य की वास्तविक क्षति होती है और समाज की प्रगति में बाधा पड़ती है और आज यह समस्या प्रगति के पथ पर एक बड़ी चट्टान के रूप में पड़ी है, जिसे हटाने के लिए सिद्धान्तों का बल चाहिए न कि चिल्लानेवालों का और एक दूसरे की प्रशंसा करनेवालों का।

इस तीसरी समस्या के कारण जो परिस्थिति उपस्थित हो गई है उसी को हटाने के लिए प्रगतिवाद का जन्म हुआ है। प्रगतिवाद में 'मैं' को स्थान नहीं। प्रगतिवाद में 'समाज' ही 'मैं' बन कर आता है। प्रगतिवादी साहित्य में दलबन्दी के लिए स्थान नहीं। वहाँ तो समाज का हित, समाज की भावना, मानव-समाज के कल्याण का लक्ष्य सामने रहता है। प्रगतिवादी साहित्यकार बहुजन हिताय होता है। इसलिए प्रगतिवाद के क्षेत्र में नकली साहित्यकार नहीं टिक पाते। उनके चेहरे का मोमी नकाब सँचाई की आँच में पिघल जाता है। मगर फिर भी सनातन समस्या के रूप में कुछ ऐसे साहित्यकार हैं जो अपने को प्रगतिवादी कहते हैं। किंतु उनका प्रगतिवाद है क्या? मुलायम कोच पर बैठकर बावन रुपये की क़लम से लिखना—हम भूखे हैं, हम नंगे हैं। जिन प्रगतिवादी साहित्यकारों के घर में सूरज की रोशनी दिन में दस बजे पहुंचती है वे लाल-सवेरा और स्वर्ण-विहान की बातें करते हैं। इस मक्कारी को देखकर तबीयत खीझ उठती है। इनके कारण ईमानदार साहित्यकार गरीबी की जाल में फँसा रहता है और वह वहाँ नहीं पहुंच पाता जहाँ से वास्तविक बल मिलता है। अतः साहित्यकारों के परिणाम से लाभ उठाकर, उनका शोषण करने वाले आज अच्छे हैं और अपनी आर्थिक सबलता से स्वयं प्रगतिवाद के नामपर प्रगतिवाद की छीछालेदर करते हैं। इसे कैसे रोका जाय यह साहित्यकार की चौथी समस्या है।

और फिर इस समय इन समस्याओं पर विचार करते करते और इनकी कुरूपता देखकर जब हमारा मन साहित्य से हट गया है तब समाज की स्थिति क्या होगी जिसकी वकालत करने का साहित्यकार दावा करता है। नकली साहित्यकारों के हथकंडों से ऊबकर समाज ने साहित्य में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया है। आजकल हिन्दी के पत्रों में कोई अच्छा लेख भी प्रकाशित होता है तो पाठक उसे पढ़ता नहीं, यदि पढ़ता भी है तो उसकी इच्छा नहीं होती कि वह लेखक के पास दो पैसे का पोस्टकार्ड लिख कर उसे बधाई देदे। पाठक को जाने दीजिए आज का लेखक दूसरे लेखक की रचनाएं नहीं पढ़ता क्यों कि ईमानदारी की कमी के कारण एक लेखक दूसरे लेखक की कृतियों में रुचि नहीं रखता। और तो जाने दीजिए स्वयं सम्पादक महोदय जिनके पत्रों में लेख प्रकाशित होते हैं अन्य पत्रों को पलट कर देखते भी नहीं फिर जब ऐसी परिस्थिति है कि पाठक लेखक में दिलचस्पी नहीं रखता, एक लेखक दूसरे लेखक की रचनाएं नहीं पढ़ता, सम्पादक दूसरे पत्रों को नहीं देखता, आलोचक बिना पूरी पुस्तक पढ़े आलोचना लिखता है, तब क्या होगा? यह आज के साहित्यकार की पाँचवीं समस्या है।

ये तो हुई साहित्यकार की वे समस्याएँ जिसके लिए साहित्यकार का व्यक्तित्व उत्तरदायी है। पर इन समस्याओं का एक सामाजिक पक्ष भी है जो इन के लिए अधिक जिम्मेदार है। मेरा संकेत समाज की आर्थिक व्यवस्था से है। समाज की आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव साहित्यकार के जीवन पर पड़ता है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण साहित्यकार को वह नैसर्गिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त होती जिसमें उसकी प्रतिभा का पूर्ण-विकास संभव होता है। इसलिए साहित्यकार को पैसे के लिए लिखना पड़ता है। स्पष्ट है जो रचना पैसे के लिए होती है उसमें दाता की प्रवृत्ति और भावनाओं का ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए आप 'पहाड़ी'

जी को ले लीजिए। पहाड़ी जी हिन्दी के कहानी लेखक हैं और प्रकाशक भी। आप व्यापारिक व्यवहार में सिद्ध हैं। अतः जब आप 'माया' के लिए कहानी लिखते हैं तो उसके कथानक में रोमान्स रखते हैं, क्यों कि 'माया' का प्रकाशक सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं की कहानी पसन्द नहीं करता और जब 'हंस' के लिए कहानी लिखते हैं तो उसमें समाजवादी विचारों को प्रगट करते हैं। कुछ लेखक तो पैसे के लिए स्त्रियों के नाम से लिखते हैं और सम्पादक महोदय लेखिका को प्रोत्साहन देने के लिए रचना प्रकाशित कर देते हैं। यह सब इसलिए होता है कि साहित्यकार अपनी आर्थिक समस्याएं सुलझाना चाहता है।

अब हम साहित्यकार की समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्नों की ओर ध्यान देंगे। इंगलैंड के लेखकों ने सोवियत् लेखकों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए एक संस्था बनाई है। इस संस्था द्वारा ब्रिटिश साहित्यकार सोवियत् साहित्यकार से समस्याओं के सम्बन्ध में प्रश्न करता है और सोवियत् साहित्यकार अपने यहाँ के व्यवस्था के आधार पर उत्तर देता है। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से साहित्यकार की समस्याओंपर प्रकाश पड़ता है और साहित्यकार अपनी समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होता है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश साहित्यकारों की कुछ समस्याओंको प्रस्तुत करता हूँ जिनको सुलझाने का प्रयास सोवियत् साहित्यकारों ने किया हैः—

'सोवियत् लिटरेचर' के अप्रैल सन् ४७ के अंक में जे० बी० प्रिस्टले ने यह प्रश्न किया, मान लीजिए कि एक सोवियत साहित्यकार की रायल्टी के रूपये समाप्त हो गए हैं और वह अन्य कृति प्रस्तुत करने में असमर्थ है, तो ऐसी परिस्थिति में क्या होता है?"

इस प्रश्न का उत्तर मरियटा शागीन्यान ने इस प्रकार दिया, "एक सोवियत् साहित्यकार जिसे धन की आवश्यकता होती है, वह "साहित्यिक कोष" से कर्ज ले सकता है। इस साहित्यिक कोष में प्रत्येक प्रकाशक साहित्यकार की प्रकाशित रचना की दस प्रतिशत रायल्टी देता है और इसे साहित्यकार की रायल्टी में से नहीं काटता। प्रत्येक थियेटर की आमदनी का दो प्रतिशत् भी साहित्यिक कोष में जमा होता है। इस 'साहित्यिक कोष' द्वारा साहित्यकार की आर्थिक समस्याओं को सुलझाया जाता है। यदि साहित्यकार कर्जका धन वापस देने में असमर्थ है तो 'साहित्यिक का कोष है' उसे 'आर्थिक सहायता' मिलती है। इस धन को उसे लौटाना नहीं पड़ता।

इसी प्रकार जे० बी० प्रिस्टले ने एक दूसरा प्रश्न भी किया जो इस प्रकार है,—"इंगलैंड और अमेरिका के साहित्यकार अपनी कृतियों की रूपरेखा प्रकाशकों या उनके एजेन्टों के सामने रखते हैं और उस पर विचार विनिमय कर लेने के बाद लिखते हैं। सोवियत् साहित्यकार क्या करते हैं?"

सोवियत् साहित्यकार मारशक ने उत्तर दिया,— "अधिकतर सोवियत् साहित्यकार अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में प्रारम्भिक विचार विनिमय करते हैं। सबसे पहले इस प्रकार का विचार विनिमय 'यूनियन आफ सोवियत् राइटर, में और इस सङ्घ के विभिन्न विभागों में होता है, फिर प्रकाशक और साहित्यकार में विचार-विनिमय होता है। प्रकाशक का सम्पादक साहित्यकार की रचना के सम्बन्ध में उचित सलाह देता है। और उस सम्पादक का सम्बन्ध साहित्यकार की प्रत्येक रचना से होता है। लेकिन इस प्रकार का विचार-विनिमय अनिवार्य नहीं है। कुछ लेखक अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में बात-चीत करना पसन्द नहीं करते।" मारियटा शागीन्यान ने इसी प्रश्न के उत्तर में कहा, "मेरा अब भी उस पुराने सिद्धान्त में विश्वास है जिसके अनुसार जन्म के पूर्व बालक के सम्बन्ध में बातें करना मना है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्यकार की समस्याएं कैसी हैं और उन्हें सुलझाने के लिए कैसे प्रयत्न किए जा रहे हैं। भारतीय साहित्यकार अपनी समस्याओं को तभी सुलझा सकेगा जबकि एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था बनेगी जिसके अन्तर्गत जीवित रहना सम्भव हो, क्योंकि उस आर्थिक व्यवस्था में साधारण व्यक्ति भी कैसे जीवित रह सकता है जिसका आधार शोषण है, जिसमें एक का जीवन दूसरे की मृत्यु पर पलता है। अतः साहित्यकार की समस्या आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तन के साथ सुलझेगी और यह परिवर्तन अपने आप नहीं आयेगा। इसके लिए करना पड़ेगा, मरना पड़ेगा। क्या आज का साहित्यकार तैयार है? यह अन्तिम समस्या है।

नवीन सामाजिक रचना और गांधीजी

श्री "कुमार"

मनुष्य की व्यक्तिगत कठिनाइयों और जीवन-यापन के दुरूह साधनों की प्राप्ति के प्रयत्न ने, उसके सदियों के संचित अनुभवों ने और इन सभी के द्वारा निर्मित उसकी स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति ने उसे एक समुदाय में रहने को विवश किया, एक समाज का निर्माण हुआ और मनुष्य सामाजिक प्राणी बन बैठा। तत्पश्चात इस नवस्थापित समाज के समुचित संचालन हेतु, उन उच्च आदर्शों की स्थापना, उन शाश्वत धर्मों की प्रतिष्ठा और उन विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना पड़ा जिनके आधार पर सामाजिक व्यवस्थाओं का नियमन हो सके और सामाजिक शृंखलाएं स्थिर रह सकें ताकि समस्त मानव का व्यक्तिगत एवं सामाजिक उन्नति सम्भव हो। ये आदर्श व्यवस्थाएं, शाश्वत धर्म और सामाजिक कर्त्तव्य मौलिक रूप से सदा एक रहे और प्रारम्भिक मानव समाज से आज तक हम उनकी प्राप्ति के प्रयास में अग्रसर होते रहे, यद्यपि इनका व्यावहारिक स्वरूप समाज के क्रमिक विकास के साथ साथ नवीन युगों के अनुकूल परिवर्तित होता गया। इस परिवर्त्तन में एक बात स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है और वह है इन सच्चे धर्मों का सम्पत्तिजीवी वर्गों द्वारा उन्मूलन और इस सम्पत्तिजीवी वर्ग से उदात्त विचार वालों का सतत् संघर्ष, जो इन धर्मों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील होते हैं। ये धर्म ही अहिंसा और सत्य, न्याय और प्रेम के विशिष्ट सिद्धान्त हैं। यह संघर्ष इतिहास में सदा से वर्त्तमान है। वह वर्ग विशेष जो समय समय पर समाज का प्रभु बनता गया, अपनी सत्ता अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इन सिद्धान्तों का विशेष प्रकार से अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए निरूपण करता गया और सम्पत्ति विहीनों पर अपना आधिपत्य जमाये रक्खा। पर साथ ही उदात्त विचारों का भी आविर्भाव होता रहा जिसके आधार पर सम्पूर्ण जनता को अपने विचारों के प्रतीक उस विशेष युग प्रवर्त्तक के साथ इस सम्पत्तिजीवी वर्ग से संघर्ष करना पड़ा। हमारे देश का इतिहास इन दोनों विरोधी भावों के संघर्ष की परम्परा का द्योतक है। इस संघर्ष का जितना स्पष्ट स्वरूप इस सदी में दीख पड़ा उतना गौतम बुद्ध के बाद नहीं दीख पड़ा था। विगत सैकड़ों वर्षों से हमारे सामाजिक कर्णधारों ने जिस प्रकार इन शाश्वत धर्मों का स्वरूप विकृत कर अपना स्वार्थसिद्ध किया उसी को आमूल परिवर्त्तित कर सच्चे धर्मों की प्रतिष्ठा करने के लिए जिसमें समस्त मानव का कल्याण सम्भव हो, गांधीजी हमारे मध्य अवतरित हुए और जीवन पर्य्यन्त इसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते रहे।

पर यह धर्म-प्रतिष्ठा सम्भव कैसे हो? क्योंकि जिस प्रकार इस सम्पत्तिजीवी वर्ग ने सामाजिक व्यवस्थाओं का नियमन धर्म के विकृत स्वरूप द्वारा अपने स्वार्थ की दृष्टि से किया, उसी प्रकार उसने अपना स्वार्थ स्थिर रखने और अपनी सत्ता स्थायी बनाये रखने के लिए राज्य की प्रतिष्ठा भी कर रक्खी थी। सामाजिक विकास के इतिहास में 'राज की प्रतिष्ठा' इस बात की द्योतक थी कि व्यक्ति तथा समाज का जीवन भी उसी वर्ग विशेष द्वारा निर्धारित एवं संचालित होगा, जो सम्पत्तिजीवी और राज अधिष्ठित हैं। अतः धर्म के इस विकृत स्वरूप को हटाकर सच्चे धर्मों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए धर्म प्रवर्त्तक युग पुरुष को राजशक्ति से टक्कर लेना अनिवार्य हो जाता है, ताकि ऐसे राज की प्रतिष्ठा सम्भव हो जिसमें उन आदर्शों की स्थापना हो सके। गौतम बुद्ध, मुहम्मद और ईसामसीह के धर्म प्रवर्तन भी राज्यों के अनुकूल होने पर ही सम्भव हो सके। यही कारण था कि गांधीजी को भी उनकी मानव कल्याण की भावना ने, शाश्वत धर्मों की प्रतिष्ठा की अभिलाषा ने, स्थिर स्वार्थी वर्ग द्वारा अधिकृत राज-सत्ता से टक्कर लेनेको प्रेरित

किया, ताकि उस 'रामराज्य' की स्थापना सम्भव हो जिसमें सभी सुखी एवं स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर सकें। गांधीजी के राजनीति-प्रवेश के समय ब्रिटिश साम्राज्यशाही ही इस वर्ग के प्रतिनिधि स्वरूप अपनी सत्ता स्थापित किए हुए थी। अतः गांधीजी को उसीके विरुद्ध अपना संघर्ष प्रारम्भ करना पड़ा। परन्तु गांधीजी इस नवीन युग के प्रवर्त्तक थे। उनके पीछे सदियों का इतिहास, सिद्धान्तों का प्रतिपादन और उनका अनुगमन तथा आज तक के मानव समाज द्वारा अर्जित अनुभवों का संचित भंडार पड़ा था। अनेकों बार युग पुरुषों द्वारा इन शाश्वत धर्मों की प्रतिष्ठा और सम्पत्तिजीवी वर्ग द्वारा उसकी विकृति का प्रयत्न हो चुका था। अतः उन्होंने एक ऐसे अस्त्र का अवलम्बन किया, जिससे उनके आदर्शों की प्रतिष्ठा स्थायी रूप से हो सके। यह अस्त्र सत्याग्रह, आत्मबल अथवा दया-बल था। इन्हें ही उन्होंने स्वराज्य की कुंजी बतलाई। इन साधनों के अवलम्बन में लक्ष्य प्राप्ति के साथ साथ अपने विरोधियों में भी इन मानवीय गुणों को जगाने का प्रयास था जिससे सदाके लिए सच्ची शान्ति की प्रतिष्ठा सम्भव होती। पर जैसा कि कहा जा चुका है, उनके इन प्रयत्नों का सबसे बड़ा विरोधी यह सम्पत्तिजीवी वर्ग था जो इन शाश्वत धर्मों की प्रतिष्ठा नहीं चाहता, क्योंकि इससे उसका स्वामित्व और प्रभुत्व समाप्त होकर उसे भी सामान्य जनके स्तर पर आना पड़ेगा। इस वर्ग से गांधीजी को सङ्घर्ष करना पड़ा और यही वर्ग उनका हत्यारा भी बना।

गांधीजी के इस जीवन सङ्घर्ष में एक बात स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है कि जहां तक उनके सङ्घर्ष से इस वर्ग का स्वार्थ सिद्ध हो रहा था वहाँ तक तो इसने उनके सङ्घर्ष में हिस्सा भी बँटाया पर अन्य सभी क्षेत्रों में सदा विरोधी बना रहा। इस सम्पत्तिजीवी वर्ग में, जो नवयुग से प्रादुर्भूत औद्योगिक एवं व्यापारिक वर्ग था और जिसका स्वार्थ इसी में था कि विदेशी सत्ता की समाप्ति से विदेशी पूँजी का भी आधिपत्य जाता रहेगा और देश के उद्योग एवं व्यापार पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो सकेगा, उसने तो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय स्वातंत्र्य युद्ध में कुछ हिस्सा भी बँटाया पर अन्य सभी विशेषकर सामन्तों, जमींदारों महन्तों एवं रूढ़िवादी धर्म के ठेकेदारों ने तो राष्ट्रीय संग्राम का भी विरोध किया। आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में तो सभी ने विरोध ही किया। अतः इस स्थिरस्वार्थी वर्ग ने किस प्रकार हमारी प्रगति में बाधा पहुँचाया और गांधीजी के सङ्घर्ष को कहाँ तक विफल करने का प्रयत्न करता रहा, इसे हम पृथक पृथक् क्षेत्रों की विवेचना कर देखने का प्रयत्न करेंगे।

धार्मिक क्रान्ति

हमारे देश में धार्मिक सङ्घर्षों का सूत्रपात उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है, जब सम्पत्तिजीवी वर्ग के कुचक्र से चतुर्वर्ण की व्यवस्था प्रारम्भ हुई और जब इन सामाजिक सत्ताधारियों ने यह घोषणा की कि ऊँची श्रेणी की सभ्यता का अस्तित्व ऊँचे मस्तिष्क और ऊँचे चारित्र पर ही निर्भर है और यह ऊँचा चरित्र और मस्तिष्क कर्म से नहीं बल्कि जन्म से प्रारम्भ होता है अतः नीची सभ्यता वालों का सामाजिक बहिष्कार करो। यहीं से हमारी सामाजिक एकता भंग होती है। कालान्तर में ब्राह्मणों ने यज्ञ विधान, पौरोहित्य कर्म तथा परलोक का चित्र खींचकर समाज पर अपनी महत्ता स्थापित की। क्षत्रियों ने सैन्यबल और राज प्रतिष्ठा से सामाजिक प्रभुता स्थापित की। शेष समाज इनकी चक्की में पिसता रहा। महाकाव्य काल में यह क्रियाकाण्ड, रूढ़िवादिता, पौरोहित्य पाखंड, जातपांत व्यवस्था और स्वेच्छाचारी शासन अपनी पराकाष्ठा को पार कर चुका था अतः फिर उदात्त विचारों का उदय हुआ और गौतम तथा महावीर के नेतृत्व में जनता उठ खड़ी हुई तथा इन महाप्रभुओं को धराशायी होना पड़ा। बाद में बौद्ध धर्म में भी विकृतियां उत्पन्न हुईं, सम्पत्तिजीवियों के कुचक्र से विकृत हिन्दू धर्म के अवर्त में पड़ कर महायान बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा हुई। शैवों की तलवार ने बौद्ध धर्म के उदात्त विचारों का अन्त कर दिया। बुझते हुए दीपक की अन्तिम ज्योति हर्ष के रूप में जगमगा उठी, किन्तु उसके पश्चात् उसका सदा के लिए अवसान हो गया। शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन के सहारे हिन्दू धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की, जिसने निवृत्ति मार्ग का आश्रय ग्रहण कर लिया और हमारे

देश की सक्रियता ही जाती रही। मुसलमानों के आगमन से तो हमारे धर्म के ठेकेदारों ने उसे और भी सङ्कीर्ण बना लिया। उसकी सीमाएं आबद्ध हो गईं। संतयुग ने धर्म को सामाजिकता से पृथक कर दिया और भारतीय जनता फिर जाति-पाँति बन्धन, रूढ़िगत क्रियाकांड, जड़वादिता और अन्धविश्वास के चक्कर में फंस कर तड़पने लगी। ऐसी ही स्थिति में गांधीजी का आविर्भाव हुआ जिन्हों ने धर्म का स्रोत फिर सबके लिए खोल दिया। भारतीय रंगमंच पर आते ही उन्होंने घोषित किया "मेरी राय में हिन्दू धर्म की खूबी उसकी सर्व व्यापकता और सर्व संग्राहकता में है"। जाति-पाँति को उन्हों ने समाज को खा जाने वाला घुन बतलाया जो आदमियों को बरबाद कर देता है और उन्हें एक दूसरे से अलग करता है। हरिजनों की समस्या लेकर तो वे अनेकों बार अपना जीवन भी खतरे में डाल चुके थे। सन् ४४ में जेल से छुटकर पहली ही सार्वजनिक सभा में उन्हों ने कहा "हमें अस्पृश्यता सब से पहले दूर करनी है। यह हिन्दुत्व पर गहरा कलंक है। हमें सोचना है प्रत्येक भारतीय हमारा भाई और एक ही खून मांसका है। "गांधीजीने महाबलेश्वर के प्रसिद्ध मन्दिर के सम्बन्ध में लिखा "जब तक हरिजनों के लिए उसके द्वार निषिद्ध हैं, मैं प्रवेश नहीं करूंगा।" २२ अगस्त, १६४५ को मद्रास में उन्हों ने कहा "हमें नहीं भूलना चाहिए कि अस्पृश्यता निवारण बहुत ही कठिन कार्य है पर मुझे इसमें भी सन्देह नहीं ईश्वर इसे अवश्य दूर करेगा नहीं तो हिन्दू धर्म को ही खत्म कर देगा।"

मद्रास के दौरे के बाद जो अनुभव हुए और वहाँ के छूआछूत को देख कर जो प्रतिक्रिया हुई उसके सम्बन्ध में गांधीजी ने १० फरवरी १६४६ को अहमदाबाद में लिखा था कि "...जन्म नहीं बल्कि चरित्र ही प्रधान है। सभी सामाजिक कार्यों में भंगी ब्राह्मण के साथ रहे। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी जब मैं एक भंगी को कांग्रेस के अध्यक्ष पदपर सुशोभित देखूँगा। समाज के विभिन्न अंग एक वृक्ष की ही शाखाएं हैं और जब अस्पृश्यता दूर हो जायगी तो यह पार्थक्य भी दूर हो जायगा और कोई किसी से बड़ा न सोचेगा।" उन्होंने कहा—"मैंने प्रसिद्ध मीनाक्षी मन्दिर में इसीलिए प्रवेश नहीं किया क्योंकि उसमें हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध था।" इस प्रकार गांधीजी ने केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही धर्म का प्रचार नहीं किया बल्कि उसका अपने जीवन में स्वयं अवलम्बन किया। मई १६४७ में एक अमेरिकन पादरी के प्रश्न (हिन्दू धर्ममें जाति व्यवस्था का स्थान) के उत्तर में उन्होंने स्पष्ट रूपसे कहा—"हिन्दू धर्म जाति व्यवस्था में विश्वास नहीं करता। मेरा बस चले तो मैं इसे तत्काल ही समाप्त कर दूं। अस्पृश्यता तो समाज का अभिशाप है। यदि यह सिद्ध कर दिया जाय कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग है तो मैं स्वयं हिन्दू धर्म के विरुद्ध खुला विद्रोह कर दूगा।" इससे स्पष्ट है गांधीजी ने अन्तिम दम तक धर्म के इस वर्त्तमान स्वरूप को पूर्णतः बदलने का प्रयत्न किया। उनके इस प्रयत्न का विरोध इस सम्पत्तिजीवी वर्ग ने ही किया। कारण स्पष्ट है। आज भी हमारा देश सामंतशाही विभीषिकाओं से मुक्त नहीं हो सका है। ये सामन्त, धर्म के ठेकेदार महन्त, राजे और जमीन्दार, पण्डे और पुजारी, पुरोहित और व्यास क्या गांधीजी के उस सत्य धर्म की प्रतिष्ठा के बाद अपना वर्त्तमान स्वरूप रख सकेंगे? लाखों मन्दिरों की अतुल सम्पत्ति, महन्तों की विशाल गद्दियाँ, पंडों के मनमाने कृत्य क्या फिर सम्भव हो सकेंगे? क्या उन्हें भी समान जन की तरह अपने श्रम पर अवलम्बित नहीं होना पड़ेगा? अतः उनका स्वार्थ इसी में निहित है कि वर्त्तमान व्यवस्था अधिक से अधिक दिनों तक चलती रहे।

गांधीजी ने भी इस तथ्य को बड़े ही दुख से स्वीकार किया "यह दुखद और कटु सत्य है पर ऐतिहासिक सत्य है कि इन पुरोहितों ने जिन्हें धर्म का सच्चा प्रचारक होना चाहिए था, धर्म को विकृत ही किया है और उसे नष्ट कर रहे हैं।"

पर गांधीजी की वाणी ने वह जान फूँक दी है कि अब यह सङ्घर्ष रुक नहीं सकता और इस व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन होकर ही रहेगा। जब इस मुफ्तखोर वर्ग के हाथ से यह अतुल सम्पत्ति छीन ली जायगी और उन्हें भी उत्पादक श्रम करने को सामाजिक नियम बाध्य कर देगा तभी वे श्रम का महत्त्व समझ सकेंगे और गांधीजी के समान धर्म की प्रतिष्ठा सम्भव होगी।

गांधीजी के इस धार्मिक क्रांति और सम्पत्तिजीवियों द्वारा उसका विरोध देख लेने के बाद हम उनके हिंदू मुस्लिम एकता सन्बन्धी विचार पर गौर करेंगे और देखेंगे कि इस प्रयत्न को इस स्थिर स्वार्थी वर्ग ने किस प्रकार विफल करने की चेष्टा की है।

हिन्दू मुस्लिम एकता

भारतीय राजनीति में प्रवेश करते ही गांधीजी ने इस बात का अनुमान कर लिया था कि जबतक हिन्दू और मुसलमान परस्पर एक होकर सङ्घर्ष में भाग नहीं लेंगे तबतक देश का कल्याण नहीं। फरवरी १९२० को उन्होंने लिखा था 'हम विभक्त रहने पर सदा गुलाम बने रहेंगे। यह एकता सदा के लिए तथा सभी परिस्थितियों में हमारा लक्ष्य बनी रहेगी। बिना एकता के हमारी उन्नति सम्भव नहीं। जबतक हम एक दूसरे का गला काटने को तैयार रहेंगे तबतक कोई भी तीसरी शक्ति हमें गुलाम बना सकती है"। "मैं दोनों सम्प्रदायों के जोड़ने के प्रयत्न में हूँ और मैं इसके लिए खून देने को तैयार हूँ"। १९३० में गांधीजी ने यहाँ तक कहा कि 'मैं जरा भी नहीं हिचकूँगा यदि अल्पमत वाले ही शासन करें क्योंकि स्वतन्त्र सरकार में शक्ति जनता के हाथ में रहेगी।" इस एकता का साधन भी आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का ही समाधान था, इससे गांधीजी अनभिज्ञ नहीं थे। ४ जून १९३१की यंग इंडिया में गांधीजीने लिखा "यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि परस्पर विवाह और सहभोज से हिन्दू मुस्लिम एकता सम्भव नहीं। हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य का कारण आर्थिक और राजनीतिक है और इन्हीं कारणों को हटाना आवश्यक है।" १९४४ के बाद से तो गांधीजी के कार्य हमारे सन्मुख प्रत्यक्ष ही हैं। नोआखाली यात्रा, बिहार यात्रा और दिल्ली के अद्भुत कार्य इतिहास में सदा अमर रहेंगे। किन्तु गांधीजी के इन प्रयत्नों से सम्पत्तिजीवी वर्ग प्रारम्भ से ही सशंकित हो उठा और इसे विफल बनाने के लिए प्रयत्नशील हुआ। १९१९ में ही सर्वप्रथम जब गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जनवादी आन्दोलन प्रारम्भ किया और हिन्दू मुसलमान एक साथ सङ्घर्ष में आगे बढ़े उसी समय इस वर्ग के दलाल कांग्रेस से अलग हो गए। यह वर्ग संचेत हो उठा कि शक्ति जनता के हाथ में जा रही है। मुस्लिम लीग ने इस्लाम की रक्षा अल्पमत के स्वत्व के नामपर मुस्लिम छुटभइए पूँजीपतियों की रक्षा एवं स्वार्थपूर्ति का कार्य प्रारम्भ किया। हिन्दुत्व की रक्षा के नामपर १९२५ में ही राष्ट्रीय स्वयसेवक सङ्घ की स्थापना की गई और इस प्रकार इन दोनों संस्थाओं ने जनता को वरगलाना प्रारम्भ कर दिया। इन दोनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का सदा विरोध किया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मनोनीत गुरू गोलवेल्कर महोदय तो सभी जगह चिल्ला चिल्ला कर कहते थे राष्ट्रीय नेता कायर और देशद्रोही हैं। वे परमुखापेक्षी नेता विदेशी सिद्धान्तों की नकल कर भारतीय संस्कृति को जहन्नुम में भेज रहे हैं। विदेशीवादों ने इनका दिमाग खाख कर दिया है। "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कुचक्र राष्ट्रीय नेताओं को भी ज्ञात थे। १४ अक्टूबर १९४७ को ही मेरठ की सार्वजनिक सभा में गोविन्द सहायने कहा था "संघ वाले कहते हैं राजनीति से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। पर हम इन चीजों को खूब समझते हैं, हिटलर भी ऐसा ही कहता था। सुबह शाम संघ वालों की कवायद होती है साथ में बौद्धिक व्यायाम होता है। कांग्रेस तथा नेताओं को गालियां देना सिखाया जाता है और इस काम के लिए रुपया देते हैं पूँजीपति और नफाखोर।" दिल्ली में जब दंगा जोरों पर था उस समय 'दि हिन्दू आउटलुक' के सम्पादक श्री वी० जी० देशपांडेय ने, जो हिन्दू महासभा के मंत्री और संघ के बड़े सहायक हैं ९ सितम्बर १९४७ के अंक में नेहरू सरकार के विरुद्ध निम्नलिखित नारों को बुलन्द किया था "वर्त्तमान निकम्मी सरकार का खात्मा करके पक्के हिन्दुओं की सरकार बनाओ, भारतीय संघ को हिन्दू राज घोषित करो, देश को पाकिस्तान के खिलाफ युद्ध घोषित करने के लिए तैयार करो, सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर हिंदू नौजवानों को फौज में भरती करो, सभी मुसलमानों को पांचवा दस्ता समझो और इस्लाम धर्म को मानना गैरकानूनी घोषित करो। सङ्घ के 'आर्गनाइजर' नामक पत्र ने लिखा था "नेहरू और गांधी को आंगसान की तरह मौत के घाट उतारो"।

इस प्रकार हिन्दू तथा मुस्लिम सम्प्रदायवादी वैमनस्य के मूल में हिन्दू और मुस्लिम पूँजीपतियों का कुचक्र चल रहा था। मुस्लिम लीग ने अपनी फासिस्ट पाकिस्तानी सरकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली और सङ्घ हिन्द का शासन हस्तगत करने के प्रयत्न में जुटा रहा। पाकिस्तानियों की तरह सङ्घ का रास्ता निष्कण्टक न था। उनके मार्ग में कांग्रेस सदृश जनवादी संस्था और सच्ची शांति और जनवादी शक्ति के उपासक अविचल गांधी खड़े थे। सङ्घ वाले और भी आगे बढ़ने को प्रस्तुत हो गए। कतिपय नेताओं के बढ़ावा से उनके हौसले बढ़े। आखिर हमारे वे कतिपय नेता भी तो उस वर्ग के साये में थे। ८ जनवरी १९४८ को सरदार पटेल के एक भाषण ने पन्त और 'सहाय' की भी बोलती बन्द करदी। जनवाद को यह एक खुली चुनौती थी उन सम्पत्तिजीवियों की, जब कांग्रेस के मञ्चसे उसके नेता सरदार पटेल ने कहा "कांग्रेस में जिन लोगों के हाथ में शक्ति है वे न समझें कि डण्डे से संघ को कुचल देंगे। डण्डा का प्रयोग चोरों के लिए है। डण्डे से कुछ नहीं होने का। संघ चोर और लुटेरा नहीं। वे देश भक्त है।" ये शब्द उस समय निकल रहे थे जब उपरोक्त नारे सङ्घ की ओर से लगाए जा रहे थे। ऐसा क्यों न होता, हमें अभी युग की सब से महान् विभूति का बलिदान करना शेष था। वही होकर रहा।

किन्तु, क्या इस बलि से भी इस स्वार्थी वर्ग तथा उसके प्रतिनिधियों का कलेजा ठण्डा हुआ? ऐसे लक्षण नहीं दीख पड़ते। अभी हमें इस वर्ग के सङ्घर्ष में और भी होम करना है। अभी बिहार केशरी वहाँ के बकाश्त आन्दोलन से खीझकर चिल्लाते।हैं "राष्ट्रीय स्वयंसेवक सङ्घ और हिन्दू महासभा से बढ़कर खतरनाक जन्तुओं का दमन पहले आवश्यक है। ये जन्तु है सोसलिस्ट और कम्यूनिष्ट।" ठीक भी है इस मुफ्तखोर वर्ग के विरुद्ध जनवादी मोर्चा वही तो तैयार कर रहे हैं। आज बिहार में ५००० सोसलिस्ट कार्यकर्ता या जेलों में बन्द हैं या उनपर वारंट है, इसलिए कि वे किसानों के साथ हैं। यह है सम्पत्तिजीवी वर्ग का कुचक्र, जिसने युग की महानतम विभूति की बलि लेकर भी सन्तोष नहीं किया और अब समूचे राष्ट्र को निगल जाना चाहता है।

आर्थिक एवं राजनीतिक संघर्ष

आज के युग में आर्थिक एवं राजनीतिक सङ्घर्ष पृथक् नहीं किए जा सकते। राजनीतिक सत्ता वस्तुतः आर्थिक सम्बन्धों को स्थिर रखने के लिए ही एक स्वीकृत शक्ति है। गांधीजी ने जिस प्रकार अपने धर्मों की पूर्ति के लिए ही राजनीति में प्रवेश किया, उसी प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता ने भी उन्हें प्रेरित किया राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करने को। जहाँतक शुद्ध राजनीतिक स्वातन्त्र्य सङ्घर्ष का सम्बन्ध था, मध्यम वर्ग ने इसलिए सहयोग किया कि विदेशी शक्ति के अन्त से उन्हें ही देश के शोषण का पूर्ण अवसर उपलब्ध होगा। गांधीजी ने भी राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति को पहले विदेशी प्रभुत्व को हटाने में ही नियोजित किया, क्योंकि एक साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में जन-शक्ति नहीं लगाना चाहते थे। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई पर आर्थिक परवशता बनी ही रही। गांधीजी का अब अगला कदम था इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का। सम्पत्तिजीवी वर्ग इससे पूर्ण सचेष्ट था। इसीलिए वह भी सदा अपने सङ्घर्ष को सफल बनाए रखने के लिए तैयार था। गांधीजी ज्यों ज्यों स्वतन्त्रता प्राप्ति के निकट आ रहे थे, इस आर्थिक स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देने लगे थे। भारतीय उद्योग को बड़े पैमाने पर बढ़ाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने १९४५ में सर आर्देशर दलाल के नेतृत्व में इंगलैण्ड और अमेरिका को एक गैरसरकारी प्रतिनिधिमंडल भेजने की जो योजना बनाई थी उसके सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा था— "......बड़े बड़े व्यापारी, पूंजीपति और सरमायेदार सरकार के विरुद्ध बोलते और लिखते जरूर हैं, लेकिन करते हैं सरकार वाली ही। इसके द्वारा वे लाभ उठाते हैं चाहे वह लाभ सरकारके सम्मुख ५ प्रतिशत ही क्यों न हो। ब्रिटिश शक्ति द्वारा संचालित ब्रिटिश व्यापार प्रारम्भ से ही देश को गर्त्त में गिरा रहा है। एक उज्वल आशा यही है किसी भी तरह ये बड़े स्वार्थ वाले भी यह कहते हैं कि भारत अपने भाग्य निर्माण के लिए ब्रिटिश या अन्य किसी भी शक्ति से पृथक अपनी निर्वाचित राष्ट्रीय सरकार चाहता है। यह स्वतंत्रता केवल मांगने से नहीं मिलेगी। यह तभी प्राप्त होगी

जब ब्रिटिश सरकार के शोषण और लूट की साझेदारी ये बड़े या छोटे स्वार्थ वाले छोड़ देंगे। जबतक उनकी यह साझेदारी बनी है मौखिक विरोध का कोई मूल्य नहीं।" गांधीजी ने चेतावनी भी दी कि "इस तथाकथित गैरसरकारी डेपुटेशन को साहस नहीं कि अमेरिका या इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान करे जबतक कार्य-समिति जेलों में बन्द है।" बिड़ला द्वारा गांधीजी के इस वक्तव्य पर आपत्ति करने पर गांधीजी ने उत्तर दिया "मेरा वक्तव्य आवश्यक था। वह जल्दी की राय न थी बल्कि मेरा वही स्थिर विचार है। जब आप गैरसरकारी रूपसे जा रहे हैं तो फिर खेद की आवश्यकता नहीं।" इस उद्धरण से गांधी जी की विचार-धारा का पता चल सकता है। पंचगनी के १९४५ के दौरे में गांधीजीने कहा "धर्मतः रामराज्य पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य है। राजनीतिक रूपसे यह पूर्ण जनतंत्र है, जिसमें रंग, जाति, विश्वास और सम्पत्ति विहीन तथा सम्पत्तिजीवी आदि के आधार पर सभी विषमताएं दूर हो जाँयगी......इसमें अभय सुखी तथा पूर्ण संतुष्ट गांवों तथा गांवों के लोग वास करेंगे।......मैं इसे शीघ्राति शीघ्र प्राप्त करने में ही खुश हूँ।" कांग्रेस की स्थिति पूँजीपतियों एवं मजदूरों के संघर्ष के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि कांग्रेस की प्रतिज्ञा है कि मजदूरों की उनके सभी आततायियों से रक्षा करेगी। गांधीजी ने ३१।३।४६ के "हरिजन सेवक" में लिखा "किसी को भी उच्च वर्ग और आम जनता के, राजा और रंक के बीच बड़े भारी भेद को यह कहकर उचित नहीं मान लेना चाहिए कि पहले की आवश्यकता दूसरे से बढ़ी हुई है। यह बेकार की दलील और मेरे तर्क का मजाक उड़ाना होगा। आजके अमीर और गरीब के भेद से दिल को बड़ी चोट पहुंचती है। विदेशी नौकरशाही और देश के रहने वाले शहरी लोग गाँव के गरीबों का शोषण करते हैं। गाँव वाले अन्न पैदा करें और स्वयं भूखो मरें यह कितना शर्मनाक है!"

वास्तव में गांधीजी देश की गरीबी, भुखमरी और उत्पीड़न सेही प्रेरित होकर राजनीति में आए। १९१६ में चम्पारन के नीलहे जमींदारों के विरुद्ध कार्य करते समय किसानों की दशा देखकर उन्होंने कहा —'इसकी दवा एक मात्र है 'स्वराज्य' और तभी से 'स्वराज्य' के लिए उन्हों ने प्रतिज्ञा करली। किन्तु जिस प्रकार राजनीतिक स्वन्त्रता के लिए उन्होंने सत्याग्रह को शस्त्र बनाया, इस आर्थिक विषमता को भी दूर करने के लिए व्यक्तिगत आचरण और त्याग को अस्त्र बनाया। गांधीजी की यही ऐतिहासिक अपूर्व देन है कि उन्होंने समस्याओं का समाधान मानवीय गुणों के विकास तथा हृदय परिवर्त्तन में देखा। उन्होंने कहा "गरीबों का शोषण थोड़े से लखपतियों के विनाश से दूर नहीं होगा बल्कि गरीबों के अनभिज्ञता-निवारण तथा शोषकों से असहयोग करने से सम्भव होगा। मेरा विश्वास है अन्ततोगत्वा इसका परिणाम समान साझेदारी का स्वरूप होगा। पूँजी स्वयं बुरी वस्तु नहीं, उसका दुरुपयोग बुरा है। पूँजी की आवश्यकता तो किसी न किसी रूप में सदा बनी रहेगी।" साथ ही गांधीजी अपने इस ट्रस्टीशिप को भी जनतन्त्र के आधार पर अवलम्बित करना चाहते थे। "ट्रस्टी बनने वाले मालिक के उत्तराधिकारी को दरख्वास्त मन्जूर या नामन्जूर करने का अधिकार स्टेट के हाथ में रहेगा। मद्रास के मजदूरों के बीच भाषण देते हुए ३१ जनवरी १९४६ को उन्होंने कहा "......मैं अनेकों बार कह चुका हूँ यथार्थ रूपसे काम करने वाला ही स्वामी है, वह नहीं जिसकी मिल है। मैं स्वयं एक मजदूर की हैसियत से बोल रहा हूँ। कुछ दिनों पहले मैंने अपनी सम्पत्ति का स्वामित्व त्याग दिया है।......मजदूर ही कारखाने और मिलों पर अधिकार प्राप्त करेंगे और वे अधिक अनुशासित एवं बुद्धिमान सिद्ध होंगे।"

गांधीजी के ये सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त सम्पत्तिजीवी वर्ग को किस प्रकार मान्य होते। राजसत्ता अब उनके हाथ में आचुकी थी। अब तो सैनिक शक्ति से भी जन सङ्घर्ष का सामना करने को तत्पर थे। किन्तु गांधीजी स्थिर रहने वाले नहीं थे। जिस अमोघ अस्त्र से उन्हों ने ब्रिटिश शक्ति को कूच करने को विवश किया था उसी अस्त्र से वे आर्थिक समानता भी प्राप्त करने में सफल होते। ठीक मृत्यु के एक दिन पहले उन्होंने कांग्रेस का भावी कार्यक्रम बताते हुए लिखा था—"आज कांग्रेस को लोक सेवा का कार्य उठाना है। हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी है, पर आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है। हमें अब पंचायती राज्य कायम करने का प्रयत्न करना है।"

गांधीजी के इस आर्थिक सङ्घर्ष की बात पहले से ही परिलक्षित होने लगी थी। ५ सितम्बर १९४५ को आचार्य नरेन्द्र देव से पूना में वार्तालाप के सिलसिले में उन्होंने कहा था "यदि ट्रस्टी होने के पश्चात् भी वे स्वामी होना चाहते हैं तो हमें सत्याग्रह रूपी अस्त्र से उनका भी विरोध करना होगा।" १९४६ में वीरभूम के जिले में दौरा करते समय उन्होंने कहा "कांग्रेस के सदस्यों का कार्य व्यवस्थापक सभाओं के बाहर है और उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगजाना है।" नोआखाली की यात्रा के समय तिभागा आन्दोलन पर, बोलते हुए उन्होंने कहा "मैं इस आन्दोलन का स्वागत करता हूँ। मेरी राय है कि खेती की सारी उपज किसानों को होनी चाहिए। मेरे विचार में जमीन किसी की नहीं है, वह ईश्वर की है और जो आदमी उसे जोतने बोने में कोई मेहनत नहीं करता उसका कोई हिस्सा उसकी उपज में नहीं होना चाहिए। जमीन तो किसी आदमी की नहीं, परमात्मा की है जो हम सब लोगों का मालिक है। उसपर तो श्रमिक का ही हक है। मगर जबतक यह स्थिति न आजाय तब तक जमींदार का हिस्सा घटाने वाला आन्दोलन उचित ही होगा।" २२ फरवरी १९४६ को काफिलाटली में उन्होंने कहा "मैं भारत की ऐसी स्वाधीनता चाहता हूँ जिसमें न कोई करोड़पति हो, न कोई भिखारी रहे। कोई जात-पांत न रहे, सभी लोग एक जाति के रूप में रहें और पूरी एकता के साथ रहें। सभी चीजें राष्ट्र की रहें और राष्ट्र सबके लिए रहे। मैं तो ऐसी ही स्वाधीनता के प्रयत्न में अपना जीवन अर्पित कर देना चाहता हूं।"

अतः गांधी जी अब अपने महान् उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रयत्नशील थे। अभी सर्वप्रथम वे राष्ट्र का विनाश करने वाली साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। पर साथ ही साथ वे कांग्रेस की नवस्थापित सरकार और शासन सत्ता को भी सुधारने के प्रयत्न में लीन थे। अपने ही अनुयायियों द्वारा अपने सिद्धान्तों की हत्या देखकर उनका दिल तड़प रहा था। डा० पट्टाभि सीतारमैया का कांग्रेस की वर्त्तमान बुराइयों वाला लेख सभी के सम्मुख है। गांधीजी ने स्वयं अपने अन्तिम अनशन के एक दिन पूर्व १४ जनवरी १९४८ को देशभक्त कोन्डवेन्कटपय्या के लेख का उल्लेख किया था, जिसमें कांग्रेस के नैतिक पतन का विवरण दिया गया था। उस लम्बे लेख के उद्धरण की आवश्यकता नहीं। उससे हमें ज्ञात होता है कि मंत्रिमण्डल के सदस्य तक अन्याय-पूर्ण तरीकों से स्वार्थ सिद्धि में रत हैं। गांधी जी ने बड़ा ही दुख प्रकट किया। उन्होंने बहावलपुर के लोगों की शिकायत के सम्बन्ध में धीरज रखने का दिलासा देते हुए कहा—"मेरे दोस्तों, सरदार साहब केवल दोपहर को मिले। समय की कमी से आप की हालत उनके सामने नहीं रख सका। शायद इससे उनके बहुमूल्य समय की बचत हो हुई।" इस प्रकार गांधीजी के अन्तिम दिन बड़े कष्टमय थे। जैसा कि सरदार ने उनकी मृत्यु के पश्चात् अफसोस भी प्रकट किया कि 'उनका दिल पक चुका था'। पर यह दिल पकाने वाला आखिर कौन था? सम्पत्तिजीवी वर्ग ने देखा गांधीजी के अगले कदम से हमारी राजसत्ता ध्वंस हो जायगी। हमारा वर्ग-स्वार्थ, हमारा सामाजिक प्रभुत्व एवं शोषण का अधिकार और जन्मसिद्ध उच्चता का अधिकार समाप्त हो जायगा। हमारा कल्याण है इस महामानव का अस्तित्व समाप्त कर देने में, ताकि उसके नेतृत्व से भारत के करोड़ों नरनारी, शोषित और गरीब, दीन-हीन जनता वंचित हो जाय और निराश होकर बैठ जाय ताकि उनका वही शोषण चलता रहे।

पर हमें निराश नहीं होना है। व्यक्ति के अन्त से विचार संघर्ष का अन्त नहीं। महापुरुष का आगमन तो उस संघर्ष की भावना के निर्माण में निहित है। गांधीजी उस भावना का निर्माण कर गए हैं और भारतीय जनता को उनके पथ पर चलकर अपने अधिकार प्राप्त करने हैं। गांधीजी के सच्चे धर्मों की प्रतिष्ठा आर्थिक स्वतन्त्रता पर ही निर्भर है। जैसा गांधीजी ने कहा था "......सबेरे मजेदार कलेवा करके सुग्रास भोजन की प्रतीक्षा में बैठे हुए हम

जैसे लोगों के लिए ईश्वर के विषय में वार्तालाप करना आसान है, लेकिन जिन्हे दोनों वक्त भूखे रहना पड़ता है उनसे मैं ईश्वर की चर्चा कैसे करूँ। उसके सामने तो केवल दाल रोटी के ही रूप में परमात्मा प्रकट हो सकते हैं।" अतः हमें आर्थिक क्रान्ति के लिए तत्पर होना है। १३ दिसम्बर १६४१ को बारडोली में गांधीजी ने कहा था "जबतक मालदार लोगों और भूखी जनता के बीच चौड़ी खाइयाँ मौजूद हैं तबतक अहिंसक राज-पद्धति असम्भव है...अगर सम्पत्ति का तथा सम्पत्ति से होने वाली सत्ता का त्याग नहीं किया जायगा और सार्वजनिक हित के लिए उनका संविभाग नहीं किया जायगा, तो हिंसक क्रान्ति और रक्तपात आवश्यक है"।

अतः हमारा लक्ष्य स्पष्ट है। दिल्ली की राजगद्दी हस्तगत होने से ही सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं होगी। सामाजिक विषमता पूर्ववत ही विद्यमान है और उसे स्थिर रखने के लिए सुविधा प्राप्त वर्ग पूर्ण शक्ति से तत्पर है। पर गांधीजी ने हमें मार्ग बता दिया है। आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के लिए कार्य में जुट जाना है, जिसकी प्राप्ति के लिए राज्य क्रान्ति भी अवश्यम्भावी है। अभी तक हमने ब्रिटिश सत्ता से सङ्घर्ष किया, अब सङ्घर्ष करना है राष्ट्रीय सम्पत्तिजीवियों से, जिनके कुचक्र से महात्मा का निधन हुआ।
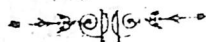
विश्व युद्ध की ओर

श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित एम. ए.

गत युद्ध से पीड़ित दुनियाँ की कारुणिक कराह अभी शान्त भी नहीं हो पाई है, शारीरिक और मानसिक घाव अभी भर भी नहीं पाए हैं, आर्थिक और राजनैतिक शोषण की अंत्येष्ठि क्रिया की अभी तैयारी भी नहीं हो पाई है, युद्ध-निरत सैनिकों की खूनी वर्दी अभी तक पूर्णतया उतर भी नहीं पाई है, विषैले और भयानक धूम्र से अभी विश्व का वातावरण स्वच्छ भी नहीं हो पाया कि संसार के युद्ध कला-विशारदों ने फिर नवीन महासमर का आवाहन करना प्रारम्भ कर दिया। आज दुनियाँ के प्रत्येक कोने से युद्ध की आवाज़ें आने लगी हैं। सैनिक योजनाएँ गम्भीरता पकड़ती जा रही हैं। आर्थिक और राजनैतिक सन्धियाँ पुनः परिवर्त्तित हो रही हैं; राजनैतिक चालों ने गुटबन्दी के कितने ही क्षेत्र प्रस्तुत कर दिए हैं। भावी सहयोग और मित्रता के लिए एक ओर धनागार खुल पड़े हैं तो दूसरी ओर सैनिक सङ्गठन की तत्परता बढ़ गई है। सारांश यह कि आज विश्व की अभूतपूर्व सतर्कता को देखकर यह विश्वास नहीं होता कि सचमुच गत युद्ध बन्द भी हुआ है। ज्ञात ऐसा होता है कि युद्ध के पश्चात् का यह काल एक छोटा विश्राम काल है जिसमें विभिन्न राष्ट्रों को पुनः नवीन जोश से रक्त बहाने के लिए तैयारी करने तथा सम्हलने का एक अल्पकालीन अवसर मिल गया है।

युद्ध समाप्ति के ठीक पश्चात् एक ओर विख्यात युद्ध-प्रिय श्री चर्चिल ने युनाइटेड (संयुक्त) यूरोप का नारा बुलन्द किया, यूनान का युद्ध महाशक्तियों द्वारा परोक्ष और अपरोक्ष रूप से जारी ही बना रहा, पैलेस्टाइन की समस्या दिनों दिन उलझन में पड़ती गई। जर्मनी के बँटवारे में अनैक्य के कारण ही विलम्ब की शरण लेनी पड़ी। टर्की, ईरान तथा मध्यपूर्व मुस्लिम देशों की राजनीति में भी भौतिक परिवर्त्तन कर डालने के स्थान पर वहाँ कूटनीति तथा दलबन्दी का आश्रय लेकर भिन्न-भिन्न स्वार्थों का सङ्घर्ष बढ़ा और आज भी संसार का यह भूभाग भावी महासमर का एक प्रधान क्षेत्र बनेगा यही सम्भावना है। एशिया की महान् भावी शक्ति भारत को टुकड़ों में विभाजित कर डालने की नीति भी इसी एँग्लो अमेरिकन-शोषण के इतिहास परम्परा की एक कड़ी है। इस अस्वाभाविक विभाजन का अस्तित्व उसी भावी नीति का प्रथम चरण है, जिस भावी नीति को सफल करने के लिए विश्व की पूँजीवादी महान शक्तियाँ भावी समर के संयोजन में दत्तचित्त हैं। काश्मीर का प्रश्न दलबन्दी और स्वार्थ प्रेरित अन्याय का पृष्ठपेषण ही बन गया है। बर्मा जैसे छोटे से देश में केरेन जैसे टुकड़े का अलग होने का दुःसाहस करना किन्हीं अपरोक्ष शक्तियों का ही गुप्त या खुला रहस्य ज्ञात होता है। दुनियाँ में नैतिकता और न्याय की दुहाई देने वाले राष्ट्रों ने इन्डोनेशिया जैसे प्रजातंत्रवादी देश को कुचलने और उसे साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों द्वारा दास बनाए रखने में जिस सहायता और सैनिक बल का खुले रूप से प्रदर्शन किया है, उसे देखकर यू. एन. ओ. (संयुक्त राष्ट्र सङ्घ) में बैठना भी ऐसे राष्ट्रों के लिए महान् शर्म और कलंक की बात है। अफ्रीका में अश्वेत जातियों के प्रति अमानवीय दुर्व्यवहार किए जाने के प्रतिशोध में श्वेत जातियों का अन्याय पक्ष का ही समर्थन करना किस नैतिकता और न्याय का सूचक है? इसके अतिरिक्त चीन का युद्ध किन शक्तियों द्वारा संचालित है? यह आज रहस्य की वस्तु नहीं। वह यू. एन. ओ. (संयुक्त राष्ट्र सङ्घ) के प्रमुख चौधरी-बन्धुओं का रक्तरंजित करामाती हाथ ही चीन की लड़ाई को सञ्चालित किए हुए है। युद्ध के पश्चात् एक ओर ये सब दुर्घटनाएँ जारी रहें और दूसरी ओर यू. एन. ओ. (संयुक्त राष्ट्र सङ्घ) का आदर्श भी

और मैं पास की आलमारी में टाँग दिया गया। सामने के काँच में मेरा धुँधला प्रतिविम्ब पड़ता था. उसे देख मैं दंग रह गया। मैंने देखा आखिर मेरा क्षत-विक्षत होना नितान्त व्यर्थ न गया। मैंने आकर्षक रूप धारण कर लिया था।

हफ्ते भर बाद वे सज्जन आए जिन्होंने मुझे उस तुंदिल सौदागर से खरीदा था। उन्होंने दर्जी की सहायता से मुझे पहना, ऊपर नीचे दोनों ने मुझे खींचा तान, फिर उन सजन ने मुस्कराकर मुझे उतार दिया। मैं पसन्द आ गया था। संभाल कर वे मुझे लेकर घर चले आए।

साफ सुन्दर घर था उनका और वहीं फिर सुन्दर आलमारी में मैं टँग गया। मैं उनका प्यारा सूट था और जब जब उन्हें विशिष्ट अवसरों पर जाना पड़ता वे मुझसे ही सजकर जाते। मेरे अन्य मित्र ईर्ष्या से स्वयं टंगे टंगे मुझे घूरते रहते। मेरे ऊपरी भाग पर पाउडर के कितने ही कण गिरते, सेन्ट की कितनी ही नीहारिकाएं छूटतीं और मेरा अन्तर-भीतर गमक उठता। मैं सुखी था गर्वोन्नत।

सन्ध्या समय वे कहीं जाते। एक दिन जब वे एक सुन्दर घर में गए, उन्होंने मुझे पहन रखा था एक तरुणी उनसे मिलने आई थी। शायद वह कुछ काल से नित्य उनसे मिलती आई थी। मैंने जो उनकी बातें सुनी वे रहस्य की थीं। उनका उद्घाटन मैं यदि जनसाधारण में करूँ तो निसंदेह स्वामीभक्त नहीं कहला सकता। इससे मैं चुप ही रहूगाँ। इतना कह देना काफ़ी होगा कि अनेक बार एक सुन्दर अल्हड़ तरूण चन्द्रमुख मेरे ऊपर दबता। उसकी सुरभि मुझे अनेक बार उन्मत्त कर देती। अनेक बार विशाल नीलोत्पल से निकले हुए अश्रुविन्दु मुझे सींच देते। अनन्त उच्छ्वास उन सुधा-सिक्त अधरों से उठते और मुझ पर बिखर जाते। उत्तप्त आहें असंयत अरमान लिए मुझे सेंकती रहतीं।

जिस रात तरुणी को कहीं जाना था, वातावरण अत्यन्त करुण हो उठा। मैंने संसार के अनेक कुतूहल दुःख सुख देखे थे परन्तु इस आगत बिछोह की पीड़ा मैं भी न सह सका। यद्यपि मैं न तरुण था न तरुणी, दर्शक मात्र था शायद उद्दीपक मात्र। पर वह पीड़ा भी अपने तक ही रखूगाँ क्योंकि मानव जिह्वा चंचल होती है, आपने कहीं इधर उधर कहना शुरू किया तो इस कनाट-सर्कस में उस सजीले युवक का पता लग जाना कुछ कठिन न होगा और इस मुँहा-मुँही में मेरा [illegible] धाका मारा जायगा। जिह्वा रहित होकर मैं इस तथ्य को समझता हूँ।

आज मैं स्वयं वह नहीं जो कभी था। धीरे धीरे मालिक ने मुझे छोड़ दिया। मालिक से उसके नौकर ने मुझे पाया, नौकर से भिखारी ने। उनके साथ की मेरी कहानी कठिन अनुभूति की है, दारुण व्यथा की। किन परिस्थितियों में नौकर काम करता है, किन परिस्थितियों में वह भिखारी हो जाता है, यह मैंने देखा। और उस भिखारी का घृणित, अपमान भरा जीवन, चारों ओर सदमे से आक्रान्त, आज भी मेरे मर्म को छू लेता है। मेरा कलेजा कितनी ही बार उसकी व्यथा और पाप से चाक हो गया, कितनी ही बार मैंने उसके आँसू सुखाए, उसके रक्त को पोंछा। वह समाज का मूर्तिमान पाप था, श्रीमानों की घृणित वासना की प्रसूति, उनके अनावृत लोमहर्षक रहस्य की पराकाष्ठा। पहले मैं फटा, मेरे टुकड़े हुए, मैं तार-तार हो गया। आज दूर इस कूड़े के ऊपर स्वयं कूड़ा बना बैठा हूँ। यहाँ भी कुछ बन्धु हैं, वे कहते हैं अगर कोई पारखी आया तो हमारा जीवन फिर नए सिरे से शुरू होगा, काग़ज बनकर। पर मुझे अब इसकी साध नहीं रही। इस छोटे से जीवन में ही जो मैंने देखा सुना, वह कुछ कम नहीं है। मुझ पर कितने ही रक्त के आँसू सूखे हैं, कितने ही उच्छ्वास बिखरे हैं। उल्लास की कितनी ही रंगरेलियों के बीच मानवता कुढ़ी और खिझी है। उठती साधों का स्वप्निल समाधियों का, अल्हड़ प्रणय का, अतर्क्य ईर्ष्या का, अथक विलास और अकथनीय वेदना का मैं मूर्तिमान साक्षी रहा हूँ। मेरी पृष्ठभूमि पर उस मानवता का अमिट इतिहास लिखा है जिसकी प्रेम और घृणा, उल्लास और विषाद, अट्टहास और रुदन, दया और क्रूरता की पेचों को मैं न सुलझा सका। उसे कुछ और करवटें बदलनी हैं, इस कूड़े के शिखर से जो समाज की कमजोरियों का उत्तुंग स्तूप है, तार तार होता हुआ भी देखूँगा, उसके संघर्ष की चीख हुंकारे सुनूगा।

जीवित अतीत

श्री महेन्द्रचन्द्र राय

हम कहा करते हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान मानो तीनों एक ही पर्याय के, एक ही जाति के हैं, कौलिन्य में मानों इनमें से कोई भी एक दूसरे से कम नहीं है, इनकी मर्यादा का जो कुछ तारतम्य है वह केवल [illegible]र्य-गौरव में ही। परन्तु यदि हम जरा रुक कर इनकी ओर देखें तो मालूम होगा कि ये बिलकुल एक जाति के नहीं हैं। वर्तमान के विषय में मतभेद होना सम्भव नहीं है, वर्तमान एकान्त रूप से ही विद्यमान है, उसका अस्तित्व प्रश्नातीत, तर्कातीत है; वह वास्तव है जिसके धक्के से विश्व कम्पायमान है। हमारे अस्तित्व का आधार ही यह वर्तमान है: यदि वर्तमान न होता तो हम किस पर खड़े रहते? इस वास्तव विश्व सत्ता के साथ वर्तमान की सत्ता अविच्छिन्न रूप से युक्त है। एक को छोड़ कर दूसरे की कल्पना ही असम्भव है।

परन्तु हम जो अतीत की चर्चा करते हैं, जिसे हम काल-पुरुष के एक अंग के रूप में कल्पना करते हैं, उस अतीत के साथ वर्तमान की सगोत्रीयता कहाँ है? गत कल की ही बात लीजिए। उसका अस्तित्व कहाँ है? क्या वह एकमात्र कल्पना और स्मृति के अन्दर ही नहीं है? क्या वास्तविक वर्तमान की सत्ता के साथ उसकी सत्ता का कोई भी सादृश्य है? मृत के साथ जीवित की सगोत्रीयता? वर्तमान कैसा भयानक रूप से जाग्रत, चञ्चल है, जीवन के सहस्र आवेगों से आन्दोलित, उन्मथित, प्रधावित वर्तमान, मेरी सत्ता आरूढ़ है। परन्तु वह गत कल का दिन? क्या उसमें आज कणमात्र भी जीवन है? मेरी स्मृति और कल्पना के बाहर कहीं भी उसका कोई चिह्न है? इस वस्तु जगत में कहीं भी उस गत दिन का जरा-सा भी आकार-चिह्न है? नहीं, नहीं, कहीं भी वह नहीं है! जो कुछ है, जो कुछ भी हम देख सुन रहे हैं, अपनी चेतना से स्पर्श कर रहे हैं, वह सभी वर्तमान है! गत दिन की मजाल नहीं है कि आज वह मेरे केशाग्रविन्दु को भी स्पर्श करे!

तो क्या कल कोई चीज ही नहीं है, क्या अतीत केवल स्वप्नमात्र है? क्या मनुष्य केवल वर्तमान के एक मुहूर्त की द्रुत धावमान तरङ्ग की चोटी पर ही खड़ा है? नहीं, यह भी सत्य नहीं है। हम जिस वर्तमान में हैं, वह वर्तमान अतीत और भविष्य का सङ्गम-विन्दु नहीं है, वह वर्तमान एक ऐसा अखन्ड काल है जिसके अन्दर तथाकथित भूत और भविष्य अविच्छिन्न हैं और इसी कारण चलमान वर्तमान के साथ साथ वह भूत और भविष्य भी प्रत्येक मुहूर्त के परिवर्तनशील स्रोत में चलमान होकर हैं; वे स्थिर अचञ्चल सत्ता के रूप में विराजमान नहीं हैं। इस अखण्ड वर्तमान का विन्दु के रूप में कल्पना न कर यदि एक अविभाज्य अनन्त के रूप में कल्पना करें तो भी बहुत गलती होने की सम्भावना नहीं है।

यह जो बीसवीं शताब्दी के प्रायः मध्यविन्दु पर इस समय हम दोलायमान हो रहे हैं, इस वर्तमान को दो दिशाओं से जो विगत अतीत और अनागत भविष्य लिपटे हुए हैं वे इस वर्तमान की सत्ता से विच्छिन्न होकर कहीं भी विराजमान हैं? 'अतीत युग' कहकर जिसे हम इतिहास के पन्नों पर लिपिबद्ध करते जा रहे हैं, उसका अस्तित्व कहाँ पर है? किसी समय के किसी मनुष्य के जीवन में जो सत्य था, वास्तव था, जीवन के स्पंदनसे स्पंदित था, जो अतीत सम्भवतः एक दिन हमारे जीवन में भी वर्तमान के रूप में था, वह अतीत आज कहाँ है? अतीत की जो कुछ भावना कल्पना थी, क्या आज कहीं भी वह उस समय के वास्तविक रूप में विद्यमान है? साफ कहा जा सकता है कि नहीं, वह अतिथि नहीं है। तो आज जिसे हम अतीत के नाम से चिह्नित कर रहे हैं, वह कौन-सा

अतीत है ? वह अतीत हमारी स्मृति में, हमारी भावना कल्पनाओं में मानस-सत्ता के रूप में विराजमान है और हमारी चेतना के साथ रासायनिक संयोग से मिश्रित है ; वह अतीत एक परिपूर्ण मानसिक सत्ता है जो हमारी वर्तमान सत्ता का ही एक अविच्छेद्य अंश है, इस दृष्टि से उसका 'अतीत' नाम ही भूल है। अन्यकाल के वर्तमान का एक काल्पनिक अपरिवर्तनीयता में प्रतिष्ठित कर हम उसे अतीत कहकर जो गौरवान्वित करते हैं, उस अतीत का कोई भी अस्तित्व हमारी चेतना में नहीं रह सकता, वह बिलकुल काल्पनिक है। परन्तु जो अतीत अपनी सभ्यता, संस्कृति, रीतिनीति संस्कारों को लेकर हमारी वर्तमान चेतना में—नाना संस्कारों में, भाव और चिन्ताओं में, कर्म और अनुभूतियों में—संचारित है वह अतीत हमारे वर्तमान का ही एक अंश है और वर्तमान की तरह ही वह अतीत भी अत्यन्त सचल और प्राणपूर्ण है और दूसरे कारण परिवर्तन-विवर्तनशील है।

नद-नदी पर्वत-प्रान्तर परिपूर्ण एक विचित्र भूदृश्य के बीच से एक द्रुतगामी यान चला जा रहा है और हम अगणित मानवयात्री उस यान के आरोही बनकर जा रहे हैं। जिस कारण से भी हो हमारे मनमें एक संस्कार बना हुआ है कि यह भूदृश्य एक स्थिर और अपरिवर्तनीय सत्ता लेकर विराजमान है और हम लोग इसके एक हिस्से से दूसरे हिस्से की ओर बढ़ते चले जारहे हैं। स्थूल जगत् के भूदृश्य के बारे में सम्भवतः यह कुछ सत्य भी हो सकता है, परन्तु जरा ध्यान देने से हम समझ सकते हैं कि वहाँ के लिए भी यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। कल्पना कीजिए कि किसी ट्रेन के डिब्बे में बैठकर हम उस भूदृश्य के बीच में से चले जा रहे हैं, खिड़की के सामने के भूदृश्य को हम वर्तमान कह सकते हैं। प्रति मुहूर्त यह वर्तमान किसी अज्ञात लक्ष्य की ओर चला जा रहा है और साथ ही साथ यही वर्तमान अतीत में शामिल होकर पीछे के भूदृश्य में परिणत होता जा रहा है। परन्तु इस मुहूर्त में हम लोगों ने जिस वर्तमान को प्रत्यक्ष किया, क्या कुछ देर बाद इस वर्तमान का वही रूप हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है ? नहीं, ध्यान देने से ही हम देखेंगे कि पिछड़ा हुआ वह वर्तमान प्रतिमुहूर्त नए नए परिप्रेक्षित (perspective) में आश्चर्यजनक रूपान्तर प्राप्त हो रहा है। पिछला भूदृश्य वैज्ञानिक Abstraction में कितना भी अपरिवर्तित क्यों न माना जाय, कार्यतः वास्तव अनुभव में वह प्रतिमुहूर्त हमारे सामने नए नए शक्ल में उपस्थित होता रहता है। हमारी चेतना की अभियात्रा जिस मानस-भूदृश्य में से हो रही है, उस ओर ताकने से ये बातें और भी स्पष्ट साबित होंगी।

एकदिन जीवन में किशोरावस्था वर्तमान थी। वह अवस्था वयोवृद्धि के साथ साथ विपरीत दिशा में अपसृत होती जा रही है। जीवन यात्रा के भिन्न-भिन्न समय पर उस किशोरावस्था की ओर हमने दृष्टिपात किया है और आज भी कर रहे हैं; किन्तु क्या कोई ऐसा कह सकता है कि किशोरावस्था की जो सत्ता हमारे वर्तमान के साथ युक्त है, जिसे हम आज के वातायन से देख रहे हैं, किशोरावस्था बिलकुल प्राथमिक अपरिवर्तित रूप में आज भी हमें विमोहित कर रही है? क्या जीवन के मोड़ों पर पचोस, तीस, चालीस और पचास के मोड़ पर उस किशोरावस्था ने भिन्न-भिन्न रूप में, भिन्न भिन्न तात्पर्य के लिए हमारी दृष्टि को आकर्षित नहीं किया है ? एक समय जिस जगत् की प्रशंसा में हम मगन थे आज उसी समय की याद से हम वे लज्जा से सिर झुकाते हैं, इस का कारण तो यही है कि उस समय के जगत् ने आज हमारे सामने अपने चेहरे को बदल लिया है, उसका रूपान्तर हो गया है। अर्थात् मेरी इस सचल चेतना की दृष्टि में कोई भी काल अचलता की महिमा में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता है, जीवन-गति के अनिवार्य प्रभाव से, पारस्परिक आपेक्षिक संस्थिति और परिप्रेक्षित (Perspective) के परिवर्तित होने के कारण, गत जीवन का प्रत्येक अंश रूपान्तरित होता जा रहा है। मैं बैठा नहीं हूँ, इसी कारण मेरा अतीत भी स्थिर नहीं रह सकता।

घटना मात्र ही आपेक्षिक है, अथच जभी हम किसी घटना के बारे में, खास कर अतीत घटना के बारे में, आलोचना करते हैं तो अपने अनजाने में उसके परिप्रेक्षित-मुक्त निरापेक्षिक (absolute) रूप की कल्पना कर बैठते हैं। और कभी वास्तव-बोध के प्रदर्शन के लिए उस घटना को केवल किसी विशेष

काल के फ्रेम में मढ़ाकर भूतकाल की प्रदर्शनी में सजाकर रख देते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हमारे जीवन की सभी घटनाएँ जहाँ पर वर्तमान चेतना के साथ युक्त हैं वहाँ पर घटनाएँ नित्यप्रति परिप्रेक्षित और आपेक्षिक संस्थिति के बदलने के साथ ही साथ नवीन रूप धारण करती जा रही हैं। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि जिस जीवन में अतीत का रूपान्तर नहीं होता है वह जीवन गतिहीन है अचलता अर्थात् मृत्यु ने उस जीवन का ग्रास कर लिया है।

मैंने पहले ही बतलाया है कि हम लोग जिस वर्तमान में हैं, वह वर्तमान भूत, भविष्य से सम्मिलित एक अखण्ड काल है, इसीलिए वहाँपर वर्तमान के गतिवेग से हमारे तथाकथित भूत और भविष्य दोनों नित्य आन्दोलित हैं, इसी से हमारे अग्राभिसार के साथ साथ केवल विगत काल ही का रूपान्तर नहीं हो रहा है, बल्कि उसके साथ साथ अनागत काल का भी रूपांतर होता जा रहा है। किशोर बालक की दृष्टि में उसका भविष्य जिस रूप को लेकर दिखाई दिया था, क्या परिणत जीवन में विभिन्न मोड़ों पर वही भविष्य स्पष्टतर रूप में दिखाई देता है ? कभी भी नहीं। भावी काल प्रत्येक मोड़ पर अचिन्तित रूप में आविर्भूत होता गया है ! अतीत काल की दृष्टि कभी भी भावी काल को प्राणहीन प्रस्तर मूर्ति में बाँध नहीं सकी। वर्तमान के सचल और सजीव चरणों के स्पर्श से अहल्या का शाप मोचन हुआ है।

कोई भी योग अथवा सम्बन्ध एकतरफा नहीं है, सम्बन्धमात्र में ही दोनों पक्ष अपेक्षित हैं। हमारे तर्कशास्त्र में जो कर्ता है वह केवल कर्ता ही है और जो कर्म है वह केवल कर्म ही है, परन्तु जीवन शास्त्र को यह एकतरफा सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं है। जीवन में प्रत्येक सम्बन्ध दोनों ओर क्रियाशील है। एक व्यक्ति परिवर्तन को सङ्घटित करता है और दूसरे प्रान्त में दूसरा व्यक्ति परिवर्तित हो रहा है, यह परिपूर्ण सत्य नहीं है। जीवन दर्शन में यह भी सत्य है कि जो परिवर्तन कर रहा है वह भी फिर उसी के साथ ही साथ दूसरे प्रान्त में संघटित परिवर्तन के द्वारा स्वयम् परिवर्तित होता जा रहा है।

'जारे तुमि नीचे फेलो,
से तोमारे बांधिबे जे नीचे
पश्चाते रेखे छो जारे,
से तोमारे पश्चाते टानिछे।'

(जिसको तुम नीचे गिराते हो, वह तुम्हें नीचे बाँध रखेगा।

जिसको तुम पीछे रखे हो, वह तुम्हें पीछे खींचता है।)

रवीन्द्रनाथ की इस वाणी का अन्तर्निहित सत्य यही है। मेरा भूतकाल मेरे वर्तमान को अनुरंजित कर रहा है यह जैसा सत्य है वैसा ही सत्य यह भी है कि मेरा वर्तमान भी मेरे अतीत को अनुरञ्जित कर रहा है। भूत, भविष्य और वर्तमान के सम्मिलन में यह जो अखंड वर्तमान है उसका सारा हिस्सा ही एक सक्रिय और सचल सत्य है : एक ही रक्तधारा इसमें सर्वत्र संसारित हो रही है, इसमें कहीं भी अलंघ्य दीवारों का अवरोध नहीं है। वर्तमान का अपना रंग भावीकाल के मुखपर प्रतिफलित और उसी भावीकाल के चेहरे को देखकर वर्तमान की धमनी कभी तो आशा और उल्लास से द्रुत-स्पंदित होती है और कभी उसके चेहरे पर दुश्चिन्ता और हताशा की कृष्ण-च्छाया को देखकर वर्तमान की नयनज्योति स्तिमित, अवलुप्त-सी भी हो जाती है !

ऐसा सुना जाता है कि किसी समय पर्वतों के पंख थे, उन सब उड़ने वाले पर्वतों के स्थिति-परिवर्तन के साथ साथ उस समय का भूदृश्य निरन्तर रूपान्तरित होता था, उसकी कल्पना करते हुए कैसा विस्मय मालूम होता है ! दुर्भाग्य से पर्वतों के छिन्न पक्ष अस्तित्व ने आज पृथिवी के भूदृश्य को अनेकों अंशों में अपरिवर्तनीय और स्थिर कर दिया है। हम लोगों में बहुतेरों को ऐसा विश्वास है कि हमारा अतीत भी वैसा ही एक छिन्न-पक्ष पर्वत की तरह जीवन के एक दिगन्त पर अविचल स्थैर्य के साथ प्राणहीन प्रस्तर-मूर्ति जैसा खड़ा है। किन्तु मेरा यह विश्वास है कि यह उसका एक बहाना मात्र है, वर्तमान का इशारा मिलते ही वह अपने संकुचित पंखों को फैला कर भूत-दिगन्त को भी आश्चर्यजनक रूप से रूपान्तरित कर सकता है।

किसी भी जीवन-यात्री के लिए यह सत्य उपेक्षणीय नहीं है।

भूत और भविष्य के साथ वर्तमान के केवल काल-क्रमिक सम्बन्ध को न देखकर यदि एक प्राणपूर्ण दैहिक संयोग स्वीकार किया जाय तो उसके साथ कुछ भ्रमात्मक संस्कारों का त्याग करना भी अनिवार्य हो जाता है। अतीत की अचलता पर विश्वासी कितने जीवनों का म्रियमाण और हताशापूर्ण रूप मैंने देखा है। उन लोगोंने यह सोचा है कि उनके अवाञ्छित अतीत का दुर्भाग्य उनके सारे भविष्य के ऊपर एक अनिवार्य बोझ होकर रहेगा; उन लोगों ने यह सोचा है कि जिस अतीत ने एक बार उनके ललाट पर कलंक की टीका लगा दी है, वह अतीत फिर कभी भी उनको आशीर्वाद नहीं दे सकता। परन्तु हमें समझना चाहिए कि अतीत भी विवर्तनशील है, उसकी वाणी अपरिवर्तनीय नहीं है। किसी समय का अभिशप्त वर्तमान कितना भी दुःख का कारण क्यों न हो, अतीत के रूप में भी वह उसी अभीशप्त रूप को लिए खड़ा रहेगा, ऐसी बात नहीं है। जीवन के विश्लेषण-विचार के द्वारा प्रत्येक जीवन पथिक को इस निर्णय पर पहुंचना होगा। स्मरण रखना होगा कि जीवन-तरणी को चलाने में भूत और भविष्य डाँड़ों का काम कर सकते हैं, परन्तु उसका पतवार वर्तमान को ही पकड़ना पड़ेगा।

यदि व्यक्ति के जीवन के बारे में ऊपर की बातें सत्य हों तो व्यष्टि के—समाज और जाति के—जीवन के सम्बन्ध में यह बातें और भी सत्य हैं और इस सत्य की उपलब्धि करना प्रत्येक समाज और जाति के लिए आवश्यक भी है। इतिहास को हम लोग अपरिवर्तनीय तथ्यों का एक अचल पर्वत जैसा कल्पना करने के अभ्यस्त हैं और इसलिए जाति और समाज के क्षेत्र में हमारी विकास-धारा भी व्याहत और विकृत हुई है। जो इतिहास केवल Chronicle नहीं है, जो इतिहास जीवन के साथ, चेतना के साथ युक्त है, वह इतिहास केवल तथ्यों का सङ्कलन नहीं है। जीवन के साथ युक्त होकर तथ्य तात्पर्य को प्राप्त होकर मनुष्यों को कर्म में प्रेरित करते हैं और इसी प्रकार से तथ्य मनुष्यों के जीवित इतिहास के अंग स्वरूप हो जाते हैं। यह जो तात्पर्य युक्त तथ्य जीवन के साथ युक्त होकर गतिवेग को प्राप्त होता है, इसी को हम इतिहास का सत्य कह सकते हैं। सुतराम् इतिहास एक अचल अपरिवर्तनीय तथ्यों का पहाड़ नहीं है, सचल सत्य का चलता हुआ सजीव रूप ही यथार्थ इतिहास है। अतीत युग का जो तथ्य आज भी वर्तमान जीवन से विच्छिन्न होकर तात्पर्यहीनता के अन्धकार में पड़ा हुआ है, उस तथ्य को हम इतिहास नहीं कह सकते। तथ्य जीवन के स्पर्श से तात्पर्य-युक्त हो उठता है और इसी से एक ही तथ्य जीवन के विभिन्न अध्यायों में विभिन्न तात्पर्य लेकर भिन्न भिन्न प्रकार की प्रेरणाओं का उद्गमस्थल हो उठता है।

इतिहास कोई एक अपरिवर्तनीय वस्तु नहीं है, इसीलिए कभी भी उसके चरम तात्पर्य को प्राप्त करना संभव नहीं है। कालान्तर के साथ साथ इतिहास का भी रूपान्तर अनिवार्य है। इसीलिए किसी भी जाति अथवा समाज का इतिहास नए नए युगों के आविर्भाव से केवल वृद्धि ही को प्राप्त नहीं होता, परन्तु अतीत इतिहास नवीन तात्पर्य को प्राप्त होकर नवीन रूप भी धारण कर लेता है। जाति का ऐतिह्य (Tradition)—उसकी भाषा साहित्य और संस्कृति—वर्तमान में केवल नवीन को ही उत्पन्न नहीं करता, परन्तु, साथ ही साथ वर्तमान के प्रकाश में विगत युग की साहित्य-संस्कृति भी नवीन रूप धारण करती है। अतीत के बहुत से सत्य इसी कारण आज सत्य नहीं हैं और अतीत में जो उपेक्षित और अनादृत थे, वे भी वर्तमान के जीवन-सत्य में विधृत हो नवीन गरिमा को प्राप्त होकर प्राणवन्त हो रहे हैं। आज के जीवन के साथ जो कुछ मिल कर चलने में असमर्थ होंगे वह सब अकृतार्थ होकर झर जाँयगे, मर जाँयगे—कूड़ा करकट में परिणत हो जाँयगे। परन्तु इतिहास के लिए सब कुछ वर्जित नहीं होंगे, उसका बहुत-सा हिस्सा फिर नवीन तात्पर्य को लेकर वर्तमान को समृद्ध कर देगा।

साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में इतिहास का यह रूपान्तर लक्षणीय है। प्राचीन युग का जो साहित्य अपने जन्म काल में विशेष तात्पर्य और विशेष आवेदन (Appeal) लेकर तत्कालीन समाज-चित्त को आलोड़ित किए था, क्या आज भी वह साहित्य वर्तमान काल के मानव चित्त को उसी तात्पर्य से मुग्ध

करने में समर्थ हो रहा है? सम्भवतः नहीं। तथापि आधुनिक मन के लिए भी प्राचीन साहित्य का, कला का आवेदन (Appeal) बिलकुल व्यर्थ नहीं होता। वर्तमान के नवीन परिप्रेक्षित (Perspective) में भी विगत युग की साहित्य-कला हमारे मन को मुग्ध कर रही है। परन्तु इससे उन साहित्यकलाओं की अपरिवर्तनीयता प्रमाणित नहीं होती, इससे उन साहित्य और कलाकृतियों की सजीवता ही प्रमाणित होती है। अक्षय प्राण-शक्ति के कारण वह साहित्य कला आज भी हमारे मन में नवीन रूपान्तर प्राप्त कर रही है और इसी से वह आज भी जगत् के चिरन्तन साहित्य कला में सम्मिलित होने का दावा भी कर सकती है। लेकिन इधर आधुनिक युग के साहित्य में भी ऐसे दृष्टान्तों की कुछ कमी नहीं है जो उस प्राण-धर्म के अभाव के कारण अभी हमारी चेतना में से लुप्त होकर कूड़ा-करकट में शामिल हैं।

कालिदास के युग के जीवन-परिवेश में उनके काव्य का जो रसास्वाद था, एस्कीलास सोफोक्लीस के युग में उनके नाटक जनगण के चित्त में जो अवर्णनीय भावों का आलोड़न उत्पन्न करते थे, शेक्सपीयरीय युग में उनके नाटक दर्शकों के हृदय में जो अपूर्व जीवन-बोध उद्दीप्त करते थे, वैष्णव-युग में विद्यापति आदि कवियों के पद जिस प्रकार की रसोन्मादना से रसिक-चित्त को विमोहित किया करते थे, वे सभी अपने अपने युग के जीवन-परिवेश (Atmosphere) में एक आश्चर्य-जनक वास्तविकता लिए दर्शक और श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित होते थे, इसमें सन्देह नहीं है। और उन युगों की दृष्टि में तत्कालीन साहित्य का जो रूप प्रत्यक्ष हुआ था, आजकल के हम लोग ठीक उसी रूप को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, इसमें भी सन्देह नहीं। किन्तु तथापि उन साहित्यों में ऐसा कुछ जीवन सत्य का संचार हुआ था, जिसके कारण वह आज भी जीवित है और नवीन युग के नवीन परिवेश में भी वह हमारे जीवन से विच्छिन्न नहीं हुआ है। इसीलिए हमारे हृदय के साथ युक्त होकर प्राचीन साहित्य कला की कृतियाँ नवीन रूप धारण कर आज भी हमारे हृदय को रसाभिषिक्त कर रही हैं। इसी प्रकार से अतीत के ऐतिह्य और उसकी संस्कृति हमारे वर्तमान में नवीन रूप धारण कर सकती हैं, इसीलिए अतीत हमारे लिए मृत नहीं है।

यदि अतीत को जीवनगति का परिपन्थी न होना हो, तो उसे अवश्य ही रूपान्तर करना पड़ेगा। इसीलिए जहाँ जहाँ हम अतीत को पूर्व-परिवेश में प्रतिष्ठित करने का प्रयास—अर्थात प्राचीन युग की जीवनधारा को पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा देखते हैं वहीं पर हम जीवनगति की अवरुद्धता भी देखते हैं। इसीलिए बीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में जो लोग औपनिषदिक जीवन-व्यवस्था का अथवा राम-राज्य का अथवा मोहम्मदीय विधि-व्यवस्था का स्वप्न देखते हैं, वह यथार्थ में स्वप्न ही देखते हैं। वास्तविक जीवन के अनिवार्य प्रवाह-वेग में ये स्वप्न अवश्य ही फेन की तरह बह जायंगे। अतीत की विधिव्यवस्था में, सभ्यता संस्कृति में जो सत्य था वह उन युगों के परिवेश और परिप्रेक्षित में एक विशेष रूप में प्रकट हुआ था, चलमान जीवन के विंश शताब्दीय परिप्रेक्षित में भी जो लोग उसी रूप को पुनः देखने के लिए प्रयासी हैं, वे केवल आसमान में सुनहले स्वप्न के बीज बो रहे हैं। वे अतीत की केंचुली के मोह में मुग्ध होकर पड़े रहेंगे, लेकिन मोह मुक्त होकर जो अतीत अपनी प्राण-शक्ति से रूपान्तरित हो वर्तमान जीवन के साथ युक्त हो कर अभिनव रूप में अग्रसर हो चलेगा, वह उस अतीत को कभी भी पहचान नहीं सकेंगे।

अतीत के मोहान्ध पुजारियों की तरह अन्ध भविष्य के पूजारियों को भी कम नुकसान नहीं उठाना पड़ता। वर्तमान के अग्राभियान के साथ साथ पश्चात का भूदृश्य जैसे रूपान्तरित होता जाता है वैसे ही सामने का भूदृश्य भी। १७५७ ई० में भारतीयों के मन में स्वदेश का जो स्वप्न था, १८५७ ई० के साथ उसका सादृश्य कहाँ है? १६०५ ई० के साथ १६४६ ई० का भावी स्वदेश का अन्तर अवश्य ही होगा। देश में भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न भविष्य का चित्र सामने खड़ा हुआ है और कालान्तर के साथ-साथ परिवर्तन होने के कारण भविष्य ने भी भिन्न रूप धारण कर लिया है। ऐसा होने पर भी जो लोग पूर्व युग के भविष्य को ही आज भी वास्तविक रूप में पाने का

दुःस्वप्न देख रहे हैं उनके प्रयास अवास्तविक होने के कारण ही व्यर्थ होंगे, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है।

अतः यदि जीवन को—चाहे वह व्यष्टि के क्षेत्र में हो, चाहे समष्टि के क्षेत्र में—वास्तविक सार्थकता की ओर अग्रसर होना है तो उसे वर्तमान के साथ अतीत समन्वित कर. अखंड वर्तमान की उपलब्धि को प्राप्त करना होगा ही। अतीत को वर्जन करना नहीं, बल्कि वर्तमान में उसे यदि रूपान्तरित न किया जायगा तो वह अतीत एक दुर्वह शव की तरह हमारी यात्रा को व्याहत करता रहेगा। उसी तरह किसी एक समय के भविष्य को ही चिरजीवन का भविष्य न मान कर उसे जीवन के नए नए पर्यायों में नवीन रूप में प्रत्यक्ष करने के लिए भी दृष्टि को उद्यत रखना पड़ेगा।

वर्तमान काल की दृष्टि भूमि के परिवर्तन के साथ ही साथ अतीत घटना और तथ्यों के आपेक्षिक आकार आयतन और गुरुत्व में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है, आशा है यह अब स्पष्ट हो गया है। अतीत का यह रूपान्तर अनिवार्य है, इसीलिए अतीत का अपरिवर्तनीय इतिहास होना संभव नहीं है। जिस दिन अतीत वर्तमान था, उस दिन की दृष्टि में उस अतीत का क्या रूप था उस विषय में आलोचना करना अथवा उस रूप का मानस प्रत्यक्ष करने की चेष्टा अनुचित है, ऐसा मेरा आशय नहीं है। मेरा वक्तव्य तो यह है—जो अतीत मेरे वर्तमान काल के लिए अतीत है वह अतीत दस, बीस अथवा पचास वर्ष पहले का अतीत नहीं हो सकता; जीवन के सचल सत्य होने के कारण ही नहीं हो सकता। सुतराम् वर्तमान जीवन के साथ जिस अतीत का वास्तविक सम्बन्ध है, उस अतीत को वर्तमान के परिप्रेक्षित में ही उसको उसके नवीन रूप में देखना होगा, इसीलिए प्रत्येक युग में इतिहास को, अतीत के इतिहास को फिर से तैयार करना पड़ता है और तभी वह इतिहास बाधा न होकर वर्तमान की यात्रा में सहायक हो सकता है। इसी कारण से वर्तमान के प्रयोजन और तकाजे से, प्रत्येक युग में अतीत के ऐतिह्य को साहित्य, संस्कृति और सभ्यता को नवीन रूप धारण कर भविष्य की ओर अग्रसर होना पड़ता है। जो अतीत मृत है, जो अतीत एकान्त रूप से दृष्टि के बाहर हो गया, उस अतीत के बोझ को लिए फिरना जीवित का धर्म नहीं है, वह अतीत बिलकुल ही मुर्दा है, वह अशोच्य है, उसके लिए वे शोक करते हैं जो मूढ़ हैं। मुर्दे को दफ़नाने का भार मुर्दों ही पर छोड़ देना चाहिए। जो अतीत मृत नहीं है, जो आज भी वर्तमान की चेतना में, उसकी स्मृति और कल्पना में विद्यमान है, वह अतीत जीवित है और जीवित होने के रास्ते से भावी काल की ओर जीवन की पूर्ण परिणति के अन्वेषण में अग्रसर होता जा रहा है।
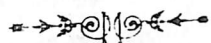
भाषा, साहित्य, धर्म बनाम संस्कृति

श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

किसी भी जाति की संस्कृति का अपने जाग्रत और उन्नत राष्ट्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। संस्कृति के पारिभाषिक विश्लेषण से इसकी व्यापकता भाषा, साहित्य, भावाभिव्यक्ति की अभिव्यंजनात्मक प्रणाली, वैज्ञानिक साधन-सम्पन्नता, विविध ललित कला, रहन-सहन और अनेक छोटे-मोटे चारित्रिक विकास तक फैली हुई है। जिस देश की उन्नत संस्कृति से राष्ट्र का चारित्रिक विकास नहीं होता—समाज या व्यक्ति का जीवन मूर्द्धन्य नहीं बनता, उस संस्कृति-सम्पन्नता का कोई मानी नहीं है। 'इस्लाम खतरे में है' और 'हिन्दू धर्म डूब रहा है' का नारा देकर इस्लाम और हिन्दू-संस्कृति के उद्धारक आज जो तमाम देश में मानवता के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं; यह संस्कृति-संरक्षकों का काम नहीं है। यह तो मानवता और सम्पूर्ण संस्कृति-संहारकों का ही काम हो सकता है। ऐसे लोगों से रक्षित संस्कृति कभी संस्कृति नहीं कहला सकती। आज पुरानी संस्कृति की रक्षा के मानी हैं—दासता और पारस्परिक वैमनस्य का बाजार खड़ा करना। भला जरा गौर तो कीजिए कि जाग्रत जीवन और उन्नतशील राष्ट्र का प्रतीक पुरानी संस्कृति की रक्षा है या नवोत्कर्ष संस्कृति का निर्माण? सच पूछिए तो आज हमें नवीन और एक शक्तिशाली राष्ट्र-निर्माण के लिए नई संस्कृति का सृजन करना है। जिस पुरानी संस्कृति के लिए हम जमीन आसमान एक किए हुए हैं, उसकी एकरूपता पर हमें गौर करना है—हमें देखना है कि उसका कौन-सा ऐसा एक रूप है जिसे हम छोड़ नहीं सकते हैं?

जिस साधन के सहारे संस्कृति अपनी सम्पन्नता बतला सकती है, वह है किसी राष्ट्र का साहित्य। साहित्य एक ऐसा व्यापक और सर्वमान्य बटखरा है जिससे भाषा, कला, संगीत, विज्ञान, सांस्कृतिक विकास आदि सबका माप आसानी से हो सकता है। साहित्य के इतिहास का अध्येता यह अच्छी तरह जानता है कि भाषा और साहित्य का उत्कर्ष नित-नूतन भावनाओं के सामंजस्य में, 'क्षण-क्षण नवीनता प्राप्त करनेवाली' कमनीयता में तथा विविध प्रकार की हृदयाह्लादिनी सरसता में निहित है। किन्तु यह वैशिष्ट्य तो नित्य प्रयोग की और क्रमोन्नति की साधना में अन्तर्निहित है। स्थिरता और पुनरावर्त्तन तो शब्द और साहित्य के लिए वह विषभरी गुड़ की डली है, जिसे बेवकूफ चूहे आसानी से निगल कर ऐंठ जाते हैं। जिस तरह सृष्टि की सार्थकता सृजन और मरण में—बचपन, जवानी और बुढ़ापे में—सन्निहित है, उसी तरह साहित्य की सार्थकता भी गतिशीलता और नित्य नवोत्कर्ष में वर्तमान है। किसी राष्ट्र का नवोत्कर्षशील साहित्यिक विकास ही संस्कृति का मूलाधार है। प्रकृति और मानव का संघर्ष ही हमारी सांस्कृतिक चेतना का द्योतक है तथा प्रकृति पर विजय पाना ही हमारी संस्कृति-सम्पन्नता का एकमात्र सम्मान है। इसके विपरीत परावर्त्तन और जड़ता के उपासक भाषा, साहित्य और संस्कृति के हत्यारे हैं। बौनों में नन्हें बच्चों का भोलापन और सुकुमारता निरखने वाले कलापारखी ही साहित्य और संस्कृति में पुनरावर्त्तन के उपासक हो सकते हैं।

ऐसा देखा जाता है कि काल क्रम और सामाजिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक आदि परिवर्त्तनों के अनुसार साहित्य को कौन कहे शब्दों ने भी अपना स्वरूप ही नहीं बल्कि अर्थ, भावाभिव्यंजन एवं ध्वनि में भी परिवर्त्तन किया है। एक समय था जब 'जाति' शब्द से केवल पदार्थ और व्यष्टि में निहित उसकी विशेषता का ही बोध होता था—भिन्न वस्तुओं से उसका विलगाव सूचित करता था; किन्तु समयानुसार भौतिक

वातावरणों के परिवर्त्तन के साथ साथ जाति शब्द भी अपने ध्वन्यात्मक अर्थ को लेकर 'समुदाय' का बोधक हो गया। जहाँ वह पहले सूर्य, चाँद, आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि जैसे एकत्व बोधक शब्दों में ही अपनी व्यापकता बनाए हुए था; वहाँ अब वह वर्ग-विभेद के अनुसार समूह वाचक शब्दों का बोधक हो गया। इतना ही नहीं, कुछ दशाब्दियों बाद वही 'जाति' शब्द—यद्यपि समूह वाचक शब्दों का बोधक रहा—तथापि वर्ग-विभेद का प्रतिनिधित्व भी करने लगा। किन्तु इतना ही नहीं, कुछ शताब्दियों बाद आज तो उसी शब्द का एकमात्र सर्वव्यापी प्रयोग घृणा, अहंकार और पारस्परिक पार्थक्य सूचित करने वाले अर्थ में ही व्यवहृत हो रहा है। इस शब्द की आधुनिक अर्थबोधकता को कौन अस्वीकार कर सकता है। जब अबोध और मूक जनता के बलिदानों के ऊपर अपनी नींव कायम करने वाले बड़े-बड़े देशसेवी नेता भी आज जाति-भेद की चक्की में राष्ट्र की रीढ़ को पीस रहे हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य में कितनी तरह की भाषाओं ने अपने स्वरूप का परिवर्त्तन कर करके नई भाषाओं और उच्च साहित्यों को जन्म दिया है, यह किससे छिपा है? कोई भी ऐसी भाषा का उच्च साहित्य नहीं जो शुरू से आजतक नहीं बदला हो और अपने मूल रूप में ही साहित्य का सृजन करता हो।

हमारे अति प्राचीन साहित्य में अग्नि, सूर्य, वायु पृथ्वी इन्द्र, वरुण, सोम आदि देवताओं की बड़ी महिमा गाई गई है। तत्कालीन परिस्थिति में इन से बढ़कर मनुष्यों का उपकार करने वाली कोई चीज नहीं थी। समाज का जीवन ही नहीं, राष्ट्रका भी जीवन इनपर अवलम्बित था। हमारी सारी संस्कृति इनकी उपासनाओं और वातावरणों से आच्छन्न है। हमारे आहारों में मांस, अन्न और अनेक व्रीहियों तथा पेय में सोम-रस की प्रचुरता थी;अतः हमारा साहित्य इनकी आख्यायिकाओं का भंडार है। आवास के लिए पर्वतों और वनों का महत्त्व कम नहीं था। नदियों की उपयोगिता तो आज भी किसी से छिपी नहीं है। किन्तु आज न तो हमें अपने भोजन के लिए सारा दिन वन्य पशुओं के पीछे दौड़ना पड़ता है और न उनको पकानेके लिए लकड़ियों और पत्थरों को रगड़कर आग निकालना है। आप साहित्य तथा संस्कृति के इतिहास में पायेंगे कि जिन चीजों को लेकर वैदिक साहित्य और संस्कृति महिमान्वित हैं, उनकी मान्यता उपनिषद् कालीन साहित्य और संस्कृति में टिमटिमाती—बिलकुल क्षीण नजर आती है। उस समय की संस्कृति और साहित्य के निर्माता बड़े मनोयोग से आध्यात्मिकता के साथ-साथ भौतिकता का भी विश्लेषण करते नजर आते हैं। किन्तु जिस तरह वे आध्यात्मिक तत्त्व-चिंतन में कामयाब दीख पड़ते हैं उस तरह भौतिक विश्लेषण में नहीं। इसका एक मात्र कारण है कि आधुनिक जगत की तरह भौतिक विश्लेषण के लिए वे इतना साधन-सम्पन्न नहीं थे। मगर उपनिषद् काल के कुछ शताब्दियों बाद भौतिक तत्त्व के विश्लेषण और अन्वेषण में भी भारतीयों ने कमाल हासिल किया। वह आज के संसार के लिए भी महान आश्चर्य का विषय है। तात्पर्य यह कि हमारे साहित्य और संस्कृति का इतिहास बतलाता है कि वैदिक काल में जिन चीजों की पूजा करना, स्तुति करना और महिमा के गीत गाना ही साहित्य और संस्कृति की विशेषता थी; उपनिषद् काल और उसके बादवाले समय में उनका तत्त्व-चिन्तन और विश्लेषण करना ही साहित्य और संस्कृति की विशेषता रही। सामाजिक संस्कृति के लिए, उपनिषद्-कालीन साहित्य में, नारी और विवाह का महत्त्व बहुत बड़ा पाया जाता है। प्रश्नोपनिषद् (१—४५) में तो यहाँ तक कहा गया है कि "जो नियमपूर्वक सन्तान के लिए मैथुन कर्म में प्रवृत्त होते हैं (प्रजातिव्रतं चरन्ति) तथा उससे पुत्र एवं पुत्री उत्पन्न करते हैं; वे मोक्ष के अधिकारी होते हैं।" उस समय समाज को मजबूत करने के लिए, राष्ट्रोन्नति के लिए, जन-संख्या वृद्धि की आवश्यकता थी। जो काम पूर्वज अधूरा छोड़ जाते थे, उनको पूरा करना उनकी संतानों का कर्त्तव्य होता था। पितृ-ऋण से मुक्त होने का एक मात्र उपाय यही था। उस संस्कृति में नारी कहीं भी ओछी नहीं बतलाई गई है। उस समय नारियों की महिमा गाई जाती थी। शुद्ध तथा श्रेष्ठ रक्त के लिए—देश में उन्नत सन्तान पैदा करने के लिए—मनु भगवान् का आदेश था कि नीच कुल

की श्रेष्ठ कन्याओं से भी सन्तान वृद्धि करो। हमारी संस्कृति की ऐसी मर्यादा थी जो आगे चलकर यहाँ तक गर्हित हो जाती है कि स्त्रियाँ मायाविनी, नरक की खान सर्पिणी, कर्त्तव्यच्युतकारिणी आदि उपनामों से विभूषित हुई। हमारा साहित्य अब यही बतलाता है कि इन से दूर रहने में ही मानव का कल्याण है। बड़े-बड़े सन्तो ने यही उपदेश दिया है। हमारी संस्कृति में ऐसा परिवर्त्तन भारतीय वातावरण की भिन्नता से ही हो जाता है। बहुत-सी हमारी ऐसी प्राचीन संस्कृतियाँ हैं जिनकी रक्षा करना हमारे लिए असभ्यता, कदर्यता तथा बर्बरता का सूचक होगा। अश्वमेध, गोमेध, नरमेध की प्रणाली का निर्वाह करना तथा इन यज्ञों के नाम पर वध किए गए पशुओं का मांस भक्षण करना आज कोई भी सांस्कृतिक चेतना वाला व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। इतना नहीं शव-दाह के समय जीवित राजगवी (गौ) का चमड़ा उधेड़ कर कफन का काम लिया जाता था—शव को सर से पैर तक ढँक दिया जाता था[१]। जान पड़ता है, आजकल के पीताम्बर की पवित्रता उस समय राजगवी का चर्म ही अपनाए हुए था। खून से लथ-पथ चमड़े से ढंकने के बाद दाह-संस्कार करने वाला व्यक्ति प्रार्थना करता था—"हे मृतात्मा की सहगामिनि, मैंने आपके द्वारा प्रेतात्मा के पाप का इस प्रकार शोधन किया है, जिससे वृद्धावस्था अथवा पूर्वावस्था का कोई पाप हमारे पास न फटक सके।" [तैत्तिरीय आरण्यक ६।१।२।१२] इस तरह गो वध की प्रणाली हमारे प्राचीन साहित्य में भरी पड़ी है। महाकवि कालिदास ने भी अपने प्रसिद्ध खण्डकाव्य 'मेघदूत' में रन्तिदेव नामक राजा की ऐसी ही कीर्त्ति-रूपा 'चर्मण्वती' नदी का वर्णन किया है[२]। वह नदी रन्तिदेव के गवालम्भ यज्ञ में वध की गई गायों के देह के ढेर चमड़ों में रक्त के बूँद-समूहों से प्रवाहित मानी गई है।

रामायण काल और महाभारत काल के बहुत पहले से ही देव, पैशाच गन्धर्व, स्वयंवर आदि अनेक वैवाहिक प्रथाएँ प्रचलित थीं। इनके अलावा सगोत्र विवाह, गुरुपत्नी, गुरुकन्या, बहन आदि के साथ सहवास एवं बहु-पुरुष गामिनी तथा अज्ञात कुल-शील पुरुषों से सन्तानोत्पादिनी नारियों की गाथाएँ निस्संकोच भाव से भारतीय साहित्य में उद्गीत हैं। विधवा-विवाह के लिए तो एक दम छूट थी। छूट ही नहीं, चिन्तारूढ़ विधवा तक को खींच कर बाहर लाया जाता था और पुनर्विवाह करने के लिए वह बाध्य की जाती थी। सती होनेवाली विधवा से दाह संस्कार करनेवाला, हाथ जोड़कर आग्रहपूर्वक कहता था—"हे नारि, अपने मृतक पति की बगल में क्यों पड़ी है? उठ, जीवित पुरुषों के पास चल। तेरा जो भी पाणि-पीडन करना चाहे, उसे पति बना लेना तेरे लिए उचित होगा। [तैत्तिरीय आरण्यक ६।१।३४।] और तब वह स्त्री प्रसन्नता-पूर्वक चिता से निकल कर इच्छानुसार दूसरे पति का वरण कर लेती थी। मौर्य काल के बाद तक हमारे समाज में यह प्रथा प्रचलित थी कि जिस स्त्री का पति ज्यादा दिन परदेश में रह जाता था, वह कामाग्नि में जलती न रह कर दूसरे पति का वरण कर लेती। किन्तु हम तो उस सती प्रथावाली संस्कृति की रक्षा करना चाहते हैं जिसके अनुसार अबोध और अबला नारियाँ जबर्दस्ती उठाकर पति की चिता में झोंक दी जाती थीं। हमारे साहित्य में इन दो विरोधी संस्कृतियों के उज्ज्वल पृष्ठ दूर से ही चमक रहे हैं।

धार्मिक संस्कृति के लिए भी भारतीय इतिहास बतलाता है कि जब ब्राह्मणों के आधिपत्य और यज्ञों में उनकी हिंसा-प्रणाली से सृष्टि का दम घुटने लगा—समाज और राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध-सी हो चली, तब भगवान् बुद्ध ने अहिंसा का झंडा फहराकर उनके आधिपत्य का ध्वंस किया। मगर बुद्ध के चेलों की अहिंसक प्रवृत्ति से सारा राष्ट्र बिलकुल पंगु हो गया—संन्यासियों और भिक्षुणियों से भारत के तमाम विहार पट गए। तब, फिर ब्राह्मणों ने इन पर हमला कर दिया और बौद्ध धर्म की धज्जियाँ उड़ा डालीं। उन्होंने फिर वैदिकी हिंसा को जीवित करना चाहा। किन्तु इस बार जिन राजाओं की सहायता से उन्होंने ऐसा किया, उन्हीं राजाओं के हाथ में सारा आधिपत्य (ब्राह्मणों के

१ अथैनं चर्मणा सशीर्षं बाल पादयेन उत्तर लोम्ना प्रोर्णाति। (तैत्तिरीय आरण्यक ६।१।२।२०)

२ स्रोतो मूर्त्या परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम्। मेघदूतम्

हाथों से छिन कर) चला गया । इस प्रकार समय की प्रगति के साथ-साथ भारतीय धर्म में भी परिवर्तन होते रहे—धार्मिक संस्कृति की कभी एक रूप-रेखा नहीं रही है ।

भाषा और साहित्य भी, जो संस्कृति के मूलाधार हैं । ऐतिहासिक वातावरण के साथ-साथ बदलते रहे हैं—परिस्थिति के अनुकूल इनका निर्माण होता गया है । हाँ, अपनी पूर्वावस्था की संस्कृति से इनका संस्कृत रहना आवश्यक रहा है । महाकवि कालीदास के पहले भारतीय साहित्य में जो दृश्यकाव्य की महत्ता थी, वह श्रव्यकाव्य के लिए बिलकुल दुर्लभ थी । समाज के उत्थान और मनोरंजन के लिए दृश्य काव्य की विशेषता सर्वोपरि थी । किन्तु यह भी सत्य है कि इन नाटकों के खेलने के लिए पर्वत-गुफाओं से नाट्य-शालाओं का काम लिया जाता था । रामगढ़ पहाड़ की 'सीता बेंगा गुफा' इतिहासज्ञों के कथनानुसार एक ऐसा ही प्रेक्षागार है । उसकी दीवारों पर खुदे चित्रों की सुन्दर कला इस बातका जीवित उदाहरण है । तत्कालीन दृश्य काव्य, चित्र कला और वेश-भूषा से पता चलता है कि समाज की तमाम बातों में शृंगार रस—यानी सेक्स—की प्रधानता थी । यद्यपि महाकवि कालीदास ने, युगपरिवर्तन के साथ-साथ अपने पूर्व की काव्यकला की दिशा बदलकर श्रव्यकाव्य की धारा प्रवाहित की, तथापि उनपर भी दृश्यकाव्य की मोहकला तथा शृंगार का संस्कार गहरे रूप में रहा । आगे चलकर आप देखेंगे कि काव्य-कला में जब श्रव्यकाव्य की विशेषता हुई तब अनेक मार्ग की ओर से वह कला गुजरती नजर आती है । भवभूति, दण्डी, बाणभट्ट, माघ, श्रीहर्ष, जयदेव आदि कवियों की काव्य-शैलियाँ इस बात की सुन्दर प्रमाण हैं । साहित्य-मीमांसकों की राय में भी काव्यकला की कभी एक रूपता नहीं देखी गई है ।

उसके अलावा, जब देश पर मुसलमानों का प्रभाव बढ़ा, तब तो भाषा और साहित्य तथा संस्कृति में महान परिवर्त्तन हुए । मुसलमानों के शासन काल में ही हिन्दी फूली-फली । हिन्दी की गर्भावस्था से लेकर शैशवावस्था तक पुरानी संस्कृतियों के हिमायती लोग संस्कृत भाषा को जीवित रखने के लिए पूरी आधी शताब्दी तक जी तोड़ परिश्रम करते रहें और इस अवधि के बीच उनके द्वारा संस्कृत के कई उत्तम काव्य भी रचे गए । फिर भी वे हिन्दी को किसी तरह भी अपदस्थ नहीं कर सके । ऐसे लोग गोस्वामी तुलसीदास पर भी बराबर वार करते नजर आते हैं; पर वे समय के तकाजे को कैसे टाल सकते ।

आज जो हिन्दुओं में रहन-सहन, पहनाव-उढ़ाव की प्रणाली प्रचलित है और जिसकी रक्षा के लिए हम जान देने और लेने पर उतारू हैं, ये चीजें कब हमारी थीं? ये तो शकों, हूणों और मुसलमानों और उनकी संस्कृतियों की देन हैं । इसी तरह शुरू से लेकर आज तक का हिन्दी-साहित्य भी आप की आँखों के सामने अपना खुला पृष्ठ लेकर, अपनी विविधता और गतिशीलता का परिचय दे रहा है ? वीर गाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल, भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग और आज का प्रगतिशील युग उसी के चिह्न हैं । हिन्दी में भी ऐसे हिमायतियों की कमी नहीं रही है जो पुरानी प्रणालियों को कायम रखने के लिए एँड़ी-चोटी का पसीना एक न किए हों । शृंगार और विरह, प्रेम और भक्ति के तो अलग-अलग सम्प्रदाय ही खड़े हो गए । मगर ये सारे सम्प्रदाय ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रभाव में ही उगते नजर आते हैं । यही कारण है कि हिन्दी में जहाँ आज से कुछ ही वर्ष पहले एकांगिता का दोष था, वहाँ आज उसमें एक साथ ही भावों का गांभीर्य, रहस्यात्मक दार्शनिकता, छायात्मक कला-चातुर्य, जीवन की सभी पूर्ण अनुभूतियों को अभिव्यंजित करनेवाली प्रणालियाँ, छन्दों की बहुविध गतिशीलता आदि अनेक गुण नजर आते हैं । इन तमाम बातों में—(मैं यही कह रहा हूँ)—चाहे, भाषा, शब्द, साहित्य, धर्म चाहे इनके समन्वायात्मक रूप संस्कृति, ये कहीं भी अवरुद्ध नहीं दिखाई पड़ते । कोई भी इन्हें एक रूप देकर सजाये न रख सका; इनमें कहीं भी एक रूपता और एक रसता नहीं मिलती; क्योंकि इनका निर्माण भौतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर होता है । हम इन्हें ऐतिहासिक वातावरण, भौगोलिक परिवर्तन और विविध भौतिक परिस्थियों से दूर नहीं रख सकते ।

आज हिन्दुस्तान के लोग लाखों की संख्या में संसार भर में फैले हुए हैं । आज यहाँ के नवयुवक विद्यार्थी दुनियाँ के सभी देशों से शिक्षा प्राप्तकर भारत लौट रहे हैं । आज यहाँ के व्यापारी सारी दुनियाँ से व्यापारिक सम्बन्ध रख रहे हैं । फिर यह कब संभव है कि आज भी हमारी संस्कृति आज से दो हजार वर्ष की संस्कृति बन कर रहे ? आज हम सारी दुनिया की भाषा, संस्कृति, साहित्य, रहन-सहन और खान-पान से परिचित हैं । आज हमें अपने खेतों को खुरपी और कुदाल से न खोदकर उनमें ट्रैक्टर चलाना है । हमें आज खेतों की सिंचाई के लिए वर्षा का भरोसा न करके; समुद्रों, नदियों, झील-झरनों को बाँध कर—जमीन के अतल गर्भ से पम्पों से पानी निकाल कर खेतों को लहलहाना है । आज हमें बैलगाड़ी पर या पाँव पियादे बदरीधाम नहीं जाना है आज तो हमें चन्द घंटों में ही सारी पृथ्वी को छान देना है । हमें अब पत्थरों के हथियार से न लड़कर एटम बम चलाना और उसका प्रतिकार करना है । सच पूछिए तो आज हमें आकाश में महल बनाना है; समुद्रों को पाट देना है । पर्वतों को समतल मैदान बनाकर खेती करना है । स्वर्ग में दीपक जलेगा, संसार के तमाम रंकों को राजा बनाना है । दुनिया में कोई भी रोगी, कमजोर और आलसी न होगा । हमें अशिक्षा और अस्वस्थता को अपने कोष से बिलकुल निकाल देना है । दूध, दही, मक्खन और रोटी को नल के जल की तरह सुलभ बनाना है । अब हमारे सामने सिर्फ पुरानी संस्कृति की रक्षा का सवाल ही कहाँ उठता है । हमें तो उस नूतन संस्कृति का निर्माण करना है, जिसमें संसार भर के मानव एक सूत्र में बँधे रहेंगे और उनके साहित्य भाषा, रहन-सहन तथा सभ्यता एवं संस्कृति में विलगाव, घृणा, हिंसा या किसी तरह के ओछापन का नाम न होगा ।

ज. बच्चों और माताओं के लिए उचित प्रबंध हो।

झ. मजदूरों को आवश्यक शिक्षा मिले उनके घर बार का, मनोरंजन का और सांस्कृतिक विकास का प्रबंध हो।

ञ. शिक्षा, विशेषकर व्यावसायिक शिक्षा, पाने का सब को समान रूप से अवसर मिले।

४. इस सम्मेलन का विश्वास है कि विश्व के उत्पादन के साधनों का पूर्णरूप तथा विस्तृत रूप से उपयोग (जो कार्य कि इस घोषणा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है) अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय सक्रिय प्रयत्नों द्वारा ही सफलता पूर्वक हो सकता है। इसके अन्तर्गत विशेष कर निम्न लिखित उद्देश्यों की पूर्ति होगी—

क–उत्पादन के विस्तार और खपत के लिए कार्रवाई।

ख–बड़े आर्थिक उतार-चढ़ाव की सम्भावनाओं को कम करना।

ग–विश्व के मुख्य उपजों के भाव (rate) को स्थाई रूप देने के लिए अल्पतर उन्नत प्रदेशों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को उन्नत बनाना।

घ–स्थिर तथा विशेष उन्नत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना।

आई० एल० ओ० (अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ) और इस प्रकार के अन्य अन्ताराष्ट्रीय संघों जो कि विश्व के समस्त जातियों के लोगों की शिक्षा तथा स्वास्थ्य की उन्नति और कल्याण के इस महान उत्तरदायित्व में भाग लेने योग्य समझे जाते हैं, यह सम्मेलन उन्हें अपना पूरा पूरा सहयोग प्रदान करेगा।

५. सम्मेलन का दृढ़ विश्वास है कि इस घोषणा के सभी सिद्धांत संसार समस्त जातियों के लोगों पर सामान्य रूप से लागू होते हैं। कौन-सा सिद्धांत कहाँ और किस प्रकार लागू होगा यह उस प्रदेश के लोगों के सामाजिक अवस्था तथा आर्थिक उन्नति पर निर्भर करेगा। ये सिद्धांत परतंत्र तथा स्वराज्य प्राप्त सभी जातियों के लिए तीव्र गति से लागू हो यह समस्त सभ्य जगत के लिए एक चिंता का विषय है।

साम्प्रदायिक समस्या—एक समाजवादी दृश्यस्वरूप

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

जैसे जैसे प्रगतिशील तथा स्वतंत्र विचार की शक्तियाँ ज़ोर पकड़ती हैं इन नई चुनौतियों, नई विचार-धाराओं को रोकने तथा पीछे हटाने के लिए प्रतिक्रिया-शील शक्तियाँ उसी अनुपात में शक्ति संचित कर आगे बढ़ती हैं। विभिन्न देशों में ये अपना भिन्न भिन्न रूप धारण करती हैं। किन्तु इसका सबसे आम तथा सरलता पूर्वक साध्यरूप धार्मिक तथा जातीय है। इसे दोनों का भ्रष्ट रूप कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। हमने देखा है कि विगत वर्षों में वैज्ञानिकों के शान्ति-पूर्ण कठिन प्रयास के फलस्वरूप विज्ञान ने महान उन्नति की है। किन्तु मनुष्य-विज्ञान, जाति-विज्ञान के अनुसंधानों का दुरुपयोग करके ही ये बर्बरतापूर्ण शक्तियाँ सबल हुई हैं। उदाहरणस्वरूप नाजियों को लीजिये या एशिया तथा अफ्रीका की रंगीन जातियों का कुचला जाना, अमेरिका में हबशियों तथा भारत में हरिजनों के साथ भेद-भाव, विश्व-व्यापी यहूदियों का विरोध आदि सभी स्थितियों में वही जातीय तथा धार्मिक प्रतिक्रिया पाई जाती है। ये सब उन्हीं महान् सत्यों के भ्रष्टरूप हैं जिनका दुरुपयोग वर्गीय तथा साम्प्रदायिक हितों के लिए हुआ है।

प्रायः इस गिरी हुई स्थिति का उपयोग कोई एक तीसरा दल ही अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए करता है। अंग्रेजों ने सदैव से यही चाल खेली है—एक जाति-वालों को दूसरे के विरुद्ध खड़ा किया, एक धर्मवालों को दूसरे धर्मवालों से लड़ाया; घूस, पक्षपात को प्रोत्साहन दिया तथा विशेष स्थिर-हितवालों को प्रश्रय दिया, यहाँ तककि १८५७ के भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम द्वारा निर्मित महान् भारत की राष्ट्रीय एकता को धूल में मिला दिया। जैसे जैसे समय बीतता गया राष्ट्रीय एकता भंग करने के लिए जो खाई बनाई जा रही थी, उसे और अधिक चौड़ी करने तथा स्थाई रूप देने के लिए वैधानिक विधि प्रयोग में लाए गए। उदाहरणार्थ—साम्प्रदायिक निर्वाचक संघ की स्थापना; धारा सभाओं का साम्प्रदायिक संगठन; नौकरी आदि में, शिक्षालयों, संस्थाओं, सहायतार्थ दान आदि के स्वीकृति आदि सभी में साम्प्रदायिक अनुपात वगैरह। इस प्रकार के अनेक अस्वस्थ दुराचरणों द्वारा अंग्रेजों ने राष्ट्रीय एकता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

यद्यपि जनता का उन्माद उद्दीप्त करने के लिए धार्मिक पक्ष का ही प्रायः प्रयोग किया जाता है किन्तु आजकल साम्प्रदायिकता ने एक बर्बरता पूर्ण राजनीतिक रंग-रूप धारण कर लिया है। यह पक्ष दिन प्रति-दिन दृढ़ होता जा रहा है किन्तु, साथ ही, साम्प्रदायिकता का वास्तविक रूप भी स्पष्ट होता जा रहा है। वह अपनी पूर्ण नग्न स्थिति में एक दुर्दमनीय राजनीतिक तथा सामाजिक प्रतिक्रियाशील शक्ति है जिसमें धार्मिकता तथा सभ्यता नाममात्र को छू भी नहीं गई है। जिन भावनाओं का अंग्रेजों ने पहले पहल दुरु-पयोग करके इतने बड़े देश पर आधिपत्य जमाया वे ही तरीके अब साम्प्रदायिक नेताओं द्वारा उनके अपने वैयक्तिक हितों की सिद्धि के लिए प्रयोग में लाए जा रहे हैं।

मुस्लिम लीग ने मुस्लिम जनता को सुधारने के लिए कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया। लीगी मंत्रिमण्डल इस प्रकार की किसी सेवा का श्रेय नहीं ले सकता। उनका एकमात्र उद्देश्य, प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप में अंग्रेजों को भारत में टिकाए रहना, उनकी सत्ता बनाए रखने में सहायता देना और, साथ ही, स्वतंत्रता आन्दोलन में राष्ट्रीयता की प्रगति में विशाल चट्टानें रखना ही रहा है। लीग की ये प्रवृत्ति इसलिए है

कि उसके संगठन का आधार ही बुरा है—इसके नेता विशेष हितोंवाले हैं। अतः वह भारतीय जनता की सेवा स्वभावतः कर ही नहीं सकती। यदि कांग्रेस, अपने प्रारम्भिक काल से ही, जमींदारों का विरोध करके अपने को किसानों के साथ पूर्णतः अभिन्न बना दिए होती और लीगी साम्प्रदायिकता का साहसपूर्वक प्रतिकार किए होती तो लीग की शक्ति नाममात्र को ही होती। किन्तु कांग्रेस इस प्रकार के किसी वैज्ञानिक कार्यक्रम को लेकर न चली और परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम जनता मध्यकालीन धर्मांधता तथा युक्तिहीन धार्मिक व्यग्रता का शिकार बन गई जिनके लिए दिन प्रतिदिन के जीवन-संग्राम में कोई भी स्थान नहीं होता।

दूसरी ओर हिन्दुओं का यह हाल हुआ कि कुछ तो अज्ञानवश और अधिकांश कांग्रेस जैसी राष्ट्रवादी शक्तियों के पास किसी निश्चित कार्यक्रम के न होने के कारण वे भी मुसलमानों की ही भाँति युक्तिहीन धर्मान्धता के मझार में इस बुरी तरह गिरे कि अब वे बदलती हुई दुनियाँ का सामना करने तथा उसके विचार को समझने के सर्वथा अयोग्य हो गए हैं। उन्होंने किसी तरह अतीत के कुछ प्रजानायकों की शरण ले ली है। और वर्तमान के जटिल समस्याओं को भ्रांतिपूर्ण तथा चकाचौंध कर देने वाले अतीत के परदे से ढँकना चाहा है! वे अतीत का अतिमनोरम नक्शा पेश कर के जीवन के कटु सत्यों को अंधकार में लाने के लिए भूतकाल के वीरों की प्रेतात्माओं से प्रोत्साहन लेने का प्रयत्न करते हैं। और इस प्रकार आवेग तथा भावुकता का वातावरण-सा तैयार कर रखा है। दुर्भाग्यवश जैसे जैसे मुस्लिम लीग अपने आक्रमणात्मक ढंग पर आगे बढ़ती गई उसी वेग से हिंदुओं की अपनी मृगतृष्णा (हिंदू राज्य) की प्राप्ति की इच्छा भी बढ़ती गई जिसने अपने जाल में उन अपरिपक्व नौजवानों को फँसा लिया जो पराभूत करने वाले कठोर वर्तमान से निराश होकर अतीत में रहने लगे हैं—कम से कम कल्पना के जो क्षण बीतते हैं वह उनके लिए सुरक्षा तथा आराम के होते हैं। इसी प्रकार पराजित तथा सुक्लांत जर्मनी के खण्डरों पर नाजीवाद की नींव खड़ी की गई थी जिसमें बूढ़े, जवान सभी के कानों में, समान रूप से उनके आर्य पूर्वजों के विजयनाद सुनाई देने लगे थे। भारतीय युवक जो कि इसी प्रकार के अतीत का शिकार हो रहा है उसे इस खतरे से सावधान रहना चाहिए। भारत अपने अतीत काल के कारनामों से, जो कि इस समय केवल स्मृति मात्र हैं चाहे वे कितने ही शानदार क्यों न रहे हों, अपनी रक्षा नहीं कर सकता। वर्तमान विपत्ति का सामना अतीत को पुनः उज्ज्वल बनाकर, उसकी महिमा गा कर नहीं किया जा सकता। ऐसे कठिन समय में आवश्यक तो यह है कि वर्तमान स्थिति को खूब अच्छी तरह समझा और आँका जाय; हिम्मत और साहस के साथ देश की नाव उचित मार्ग से ले जाई जाय।

वर्तमान विश्व की समस्या की जड़ में खास बात यह है कि इस समय की आर्थिक व्यवस्था अतार्किक तथा न्याय विरुद्ध है, जिसने हमारे समाज को तुच्छ बना दिया है, जिसमें अनैतिकता का राज्य है और न्याय छू तक नहीं गया" है। वास्तव में इसका आधार ही समाज विरोधी है जिसके अन्दर अत्याचार, अपराध तथा युद्ध के अतिरिक्त कुछ भी जन्म नहीं ले सकता। भारत की समस्या अन्य देशों से विशेष भिन्न नहीं है क्योंकि प्रत्येक देश असंख्य असंतुष्ट और निराश व्यक्तियों से भरे हुए हैं। एक समाज जिसका आधार ही हिंसा पर हो, थोड़े से लोगों द्वारा अधिकांश का शोषण होता हो, दिन-रात परिश्रम करने पर भी जीवन की अत्यावश्यक वस्तुएँ, यहां तककि पेट भर भोजन भी न मिलता हो, अपनी प्रतिभा देखाने का अवसर ही न मिलता हो, ऐसा समाज सब का शत्रु है। इसके सामाजिक दुराचार श्रमिक जनता को बिना जाति-पाँति और धर्म के भेद-भाव के कुचल देने वाले हैं। इसी प्रकार गरीबी पर भी किसी विशेष जाति का एकाधिकार नहीं है। यह शोषित जनता के साथ समान रूप से है क्योंकि शोषक वर्ग—जमींदार तथा पूँजीपति वर्ग—प्रत्येक जाति वालों में हैं। प्रत्येक समुदाय का शोषण स्थिरस्वार्थ वालों द्वारा समान रूप से होता है। जितना कि एक हिन्दू ज़मीदार एक हिन्दू किसान पर जुल्म करता है उससे कम, किसी भी स्थिति में भी, एक मुसलमान ज़मीदार एक मुसलमान किसान पर जुल्म नहीं करता; न ही हिन्दू या मुस्लिम

मालिक किसी मजदूर को केवल इसलिए अधिक मजदूरी देता है कि वह हिन्दू या मुसलमान है, अर्थात् उसकी जाति का आदमी है। हिन्दू मालिक हिन्दू मजदूर को हिन्दू होने की हैसियत में उतनी ही मजदूरी देता है जितना कि किसी और जाति का मालिक देता। ये कुछ ऐसे प्रमाण हैं जिनके संबंध में कोई मतभेद अथवा तर्क मुश्किल से हो सकता है। मालिक अपने नोकरों से बिना किसी जाति-पाँति तथा धर्म के भेद-भाव के पूरी पूरी मेहनत लेता है। बंगाल के हिन्दू जमीदारों ने अपने मुस्लिम किसानों का, पंजाब के मुसलमान ज़मीदारों ने हिंदू किसानों का तथा सिंध के मुसलमान जमींदारों ने अपने मुस्लिम किसानों का शोषण समान रूप से किया है। धर्म तथा संस्कृति से वर्ग चरित्र में परिवर्तन नहीं होता—यही साम्प्रदायिक आन्दोलनों की आंतरिक दुर्बलता है। यह मूढ़ जनता के केवल अन्धविश्वास पर ही जीवित रह सकता है, किंतु सामाजिक चेतना-युक्त" और समझदार जनता के आगे इनकी दाल नहीं गलती और मुँह की खाना पड़ता है। बंगाल के मुस्लिम व्यापारियों के हृदय में बंगाल के अकाल के समय तनिक भी दया न आई। जबकि उनके लाखों मुसलमान तथा हिंदू भाई भूखों मर रहे थे उहोंने बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ पैदा कर लीं। जब अकाल आता है वह जातियों में भेद-भाव नहीं करता—समान रूप से सब को निगल जाता है। बंगाल के मुसलमान एक ऐसे समय पतंगों की तरह नष्ट हो रहे थे जब कि वहाँ मुस्लिम मंत्रिमण्डल था। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकता इन समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती। अब इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि साम्प्रदायिक नीति का एकमात्र लक्ष्य वर्तमान सामाजिक ढाँचे को जिसमें उनकी स्वार्थ-सिद्धि संभव है, बनाए रखना तथा शोषित जनता के सबल होने तथा संगठित होने के सभी प्रयत्नों को नष्ट करना है ताकि वे वर्तमान जर्जर तथा गलित ढाँचे (व्यवस्था) को खत्म न कर सकें।

मिथ्यापूर्ण विषयों को उभाड़ कर वे, शोषित जनता की बढ़ती हुई जाग्रति और शक्ति को नष्ट करने के लिए, उसे गलत रास्ते की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार की एक चाल है 'दो राष्ट्र' का सिद्धांत जिसे मुस्लिम जनता को घबड़वाने के लिए मुस्लिम लीग ने तुरंत स्वीकार कर लिया और समाज की वास्तविक समस्याओं पर विचार तक नहीं किया। मुस्लिम जनता को बताया गया कि उनकी सारी मुसीबतों की जड़ में है एक हिंदू राज के बनने की संभावना और यदि वे अपने लिए अलग से भूमि पा जाँय तो उनकी सारी दुर्गति छूमंतर में नष्ट हो जायगी। अतः बिना किसी समुचित राजनीतिक तथा आर्थिक शिक्षा के मुसलमानों के लिए स्वाभाविक है कि वे पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए उन्मत्त हो जाँय और वे बर्बरता पूर्ण कार्य कर बैठें।

हमारा एक ऐसा देश है जिसमें अनेक प्रकार के रीति-रिवाज, भाषाएँ, धर्म, संप्रदाय, रहन-सहन, खान-पान की विधियाँ हैं। ये सभी भूतकाल में हमारी सभ्यता को बढ़ाने वाली शक्तियाँ सिद्ध हुई थीं—विनाश की नहीं। जहाँ कि मनुष्य उत्तरोत्तर एक विश्व सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहा है वहाँ यह मान लेना चाहिए कि इस प्रकार के राष्ट्रीय विभेद भी एकता को खण्डित करना नहीं चाहते वरन् सब मिलकर एक बहुरंगी चित्र अथवा कोई मनोरम स्वर का रूप धारण कर लेते हैं। हमें अपने इस अनेकरूपता पर गर्व करना चाहिए क्यों कि यह हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक महान उत्पादक रुचि की सूचक है। हमें दीनता से यह न कहना चाहिए (जैसा कि हम आज कहते हैं) कि यह सब अँग्रेजों द्वारा हममें छोटेपन की भावना पैदा करने के लिए, हमारा आत्मविश्वास खत्म करने के लिए पैदा किया गया है।

मनुष्य सदैव से विचरने वाला जंतु पैदा हुआ है। वह इस विशाल संसार में बड़े तथा छोटे समूहों में एक जगह से अपने को उखाड़ता तथा दूसरी जगह बसाता रहा है। कितने ही छोटे बड़े समूह एक जलवायु को छोड़ दूसरे जलवायु में बसे हैं, समय बीतने पर वे अपने उत्पत्ति के मूल स्थान को भूल से जाते हैं—एक हलकी स्मृति मात्र रह जाती है जिसे बाद में पुरातत्त्व ऐतिहासिक लेखों द्वारा ही जाना जाता है। यह बात आज के साधारण मनुष्य के लिए, सिवाय प्राचीन काल के इतिहास लेखकों के, किसी विशेष महत्व तथा

दिलचस्पी की नहीं है। इसी प्रकार भारत के मुसलमान आज उतने ही भारतीय हैं जितना कि हिंदू हैं। इनमें से कोई आवाखी नहीं है। उनकी भाषा भी हिंदूओं से भिन्न नहीं है। न तो सभी मुसलमान उर्दू बोलते हैं न उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा ही है। मस्जिदों तथा मुकबरों में उसी प्रकार भारतीत कला अंकित है जिस प्रकार मंदिर और स्तूपों में। इनके बीच कोई भेद नहीं है। यदि इस प्रकार के भेद हैं तो वे स्थिर स्वार्थ-वालों के मस्तिष्क की उत्पत्ति हैं जो कि मनगढ़ंत, निर्मूल तथा मिथ्यापूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, हमें इस देश की आबादी के स्थानान्तरगमन पर एक बार विचार कर लेना चाहिए। बड़े बड़े कारबारी शहरों में पैदा हुए खोजा, बोरह या मेमीन पूर्वी बंगाल या पंजाब के ग्रामीण क्षेत्रों में क्या करते हैं? इसी प्रकार समुद्र किनारे के रहने वाले मोपला लोग अपना स्थान छोड़कर सीमाप्रांत के पहाड़ी भागों में क्यों रहने लगे जिनके रीति-रिवाज, भाषा आदि सभी विचित्र हैं और मालाबार के लोगों से काफी मिलते जुलते हैं?

इस्लाम धर्म के अनुसार समाज वर्गविहीन होना चाहिए। किसी के पास वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए क्यों कि वह तो समाज तथा राज्य की होती है। ऐसे राज्य में मानी बात है कि सत्ता जनता के हाथ में रहेगी और अन्तिम निर्णय भी जनता के ही हाथ रहेगा।

किंतु आज बात इसके सर्वथा विपरीत हैं। चाहे साम्प्रदायिक नेतृत्व हिंदू की हो या मुसलमान की दोनों ही के ऊपर नियंत्रण रखने वाली शक्ति स्थिर-स्वार्थ वालों की होती है जो कि अपने हित-सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं अतः सर्वथा प्रतिक्रियावादी होते हैं।

हमारा मुख्य उद्देश्य है इस प्रकार के ढाँचे को आमूल नष्ट कर देना और इसके बदले एक स्वस्थ राष्ट्रीयता की स्थापना करना। क्यों कि ऐसा न होने पर राजनीतिक शक्तियाँ अपना स्थान सरकार में बना लेंगी और इसका दुरुपयोग अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए करेंगी। सम्प्रदायवादी अपने सम्प्रदाय वालों के हित के लिए कभी भी काम नहीं कर सकते। अनुभव ने बताया है कि किसी व्यक्ति अथवा दल द्वारा साम्प्रदायिक नेतृत्व इसीलिए किया जाता है ताकि वह अपने हाथ में राज-सत्ता ले सके। यह हिटलर के उस नाजीवाद का भारतीय रूप है जहाँ कि नीली आँखों और भूरे बाल वालों को, केवल सत्ता हस्तगत करने तथा दल विशेष के स्वार्थ-सिद्धि के लिए। जानबूझकर, एक जाति का बताया गया था इस कार्य से उन्होंने लाखों देशवासियों के हितों पर कुठारघात किया और विरोध करने वालों का सर्वनाश तक कर दिया। यह साम्प्रदायिकता की तार्किक चरमसीमा है जिसके विरुद्ध हमें अपनी संगठित राष्ट्रीय शक्ति खड़ी करनी है। सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने आज अपने को इनसे सम्बद्ध कर दिया है और इसी के पीछे पंक्ति बना कर खड़ी हैं। इस समय हमारा कर्तव्य है कि हम इनका भण्डाफोड़ करें।

आज हम विशुद्ध तर्क तथा विज्ञान के विश्व में रहते हैं, इसमें अन्धविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है। भावुकता के पीछे भी युक्तिसंगत तर्क की आवश्यकता पड़ती है। वर्तमान अस्तव्यस्तता का, वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा, बड़ी कुशलता एवं सुगमता से सामना हो सकता है। जहाँ इस प्रकार का प्रयोग नहीं होता—जैसी स्थिति कि इस समय भारत की है—राजनीतिक और सामाजिक अस्तव्यस्तता अवश्यंभावी हो जाती है। असंगत उन्मत्तता के साथ युक्तिसंगत तर्क काम ही नहीं दे सकता। तर्कहीन मस्तिष्क के लिए बर्बरता का ही अन्तिम उपाय होता है। यह नैराश्य की अवस्था का ही अस्त्र होता है। जब प्रतिक्रिया किसी भी प्रकार प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों का सामना नहीं कर पाती तो उसके सामने दो ही रास्ते होते हैं—एक तो यह कि वह अपना अस्तित्व खत्म कर दे या उन्मत्त हिंसा का शरण ले जिसके परिणामस्वरूप, कम से कम, कुछ समय के लिए क्रान्तिमार्ग में बाधा पड़ जाती है और थोड़ी शक्ति भी नष्ट होती है। जितना ही प्रतिक्रियावादी अपने को असुरक्षित समझेगा उतना ही भयानक रूप से हिंसा के लिए उसका आह्वान होगा। साथ ही, जितना नीचा जनता का बुद्धिस्तर होगा उतनी ही सरलता से जनता प्रतिक्रियावादी जाल में फँसेगी।

इससे स्पष्ट है कि आज जो हिंसा की लहरें देश को टक्करें मार रही हैं या तो किसी तीव्र हिंसा की लहरें हैं और टकरा कर लौट जा रही हैं या निर्दय-चित्त के लिए केवल अनुप्रेरणा मात्र हैं। पुरानी व्यवस्था और उसकी सुरक्षा के साधन धार में विनष्ट हो जाने के लिए छोड़ दिए गए हैं। अब हमें उन सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधारों की ओर अधिक तत्परता से प्रयत्नशील होना चाहिए जिन पर कि हमारा दृढ़ तथा सुनिश्चित ढाँचा खड़ा होगा, जिसमें इस प्रकार के रास्ते बनाए जायँगे जिनमें से, समय के गति के साथ, आवश्यकता पड़ने पर और नए नए मार्ग निकाले जा सकें। इस बात का पूरा पूरा प्रयत्न होना चाहिए, चाहे वह सरकारी हो, सामूहिक हो अथवा व्यक्तिगत रूप से हो, कि लोगों में वैज्ञानिक विश्लेषण की भावना तथा युक्तिसंगत विचार पैदा हों। राष्ट्रीय कार्यों को देश व्यापी प्रोत्साहन मिलना चाहिए। जनता के संगठनों की ओर और भी ध्यान देना चाहिए जिनका क्षेत्र अबतक अत्यन्त सीमित रहा है तथा जिन पर स्थानीय वातावरण का ही रङ्ग है। जहाँ पर अभी तक साम्प्रदायिकता की आग नहीं भड़की है वहाँ की जनता में शिक्षा का प्रसार बड़ी मात्रा में होना चाहिए। इसके द्वारा जनता को उसके वास्तविक सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का ज्ञान हो जायगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब साम्प्रदायिकता की आग लगी रहती है तो उन्मत्त जनता का ध्यान भावावेश में लपटों की ही ओर केन्द्रित रहता है। फिर भी जितना उद्धार हो सके करना चाहिए। परन्तु हमारा दीर्घकालीन बृहत् कार्यक्रम उन्हीं ओर अधिक वेग से प्रयोग में लाया जायगा जहाँ अभी तक आग पहुंची ही न हो। इसके विपरीत यदि इस प्रचण्ड तूफान में हम, सुलगते हुए तिनकों की तरह, अपने को इसके लहरों में डाल देगें तो हम पर और भी बड़ी विपत्ति आ सकती है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस समय भारत अस्तव्यस्तता के काल से गुजरने वाला है। किन्तु चाहे यह लहर कितनी वेगपूर्ण तथा व्यापक हो हमें घबराना नहीं चाहिए और जहाँ तक संभव हो अपने मस्तिष्क को समरूप से रखना चाहिए। क्यों कि यह एक ऐसी अवस्था है जिसके अन्दर से हमें गुजरना ही है। इसी कारण हमें भविष्य की ओर मुँह करके सुनिश्चित तथा रचनात्मक पक्ष की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। हमारी भूत की विफलताएँ हमें भविष्य में सफल बनाने के लिए विपद-सूचक-संकेत-स्तंभ तथा अनुभव रूपी आकाशदीप का काम करेंगी। समाज में सरलता पूर्वक परिवर्तन लाने के लिए पहले आवश्यक यह है कि उन सभी सामाजिक दुराचारों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय जिनसे झगड़े फसाद उत्पन्न होते हैं। अनुभव स्वयं जनता को बता देगा कि कौन-कौन-सी बातें उनके अन्दर गलत हैं और उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है। इस कार्य को भाषणों, पुस्तकों तथा सिनेमा की सहायता से उतनी सुगमता से कार्यान्वित नहीं किया जा सकता जितना कि स्वयं कि जनता सुखी होने पर हो सकता है। सामाजिक सुख के साथ आर्थिक चिंता दूर होने पर वह स्वयं शान्ति की पोषक हो जायगी और समाज की रक्षक बन जायगी।

ज न वा णी

मई १९४८

विषय-सूची

व्यवस्थापक "जनवाणी",

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशंस लिमिटेड,

गोदौलिया, बनारस।

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग एक प्रति का ।।।)

काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष २ भाग १] मई १९४८ [अङ्क ५ पूर्णाङ्क १७

माँग लो !

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'

मुझ से स्वरका दान माँगलो,
स्वर के लिए तीरसे तीखे चुभनेवाले गान माँगलो ।

जग का कर्णधार भी भूले
डाँड़ कहाँ, पतवार कहाँ है
कफन फाड़कर मुर्दे बोलें—
"दो मेरी तलवार कहाँ है ?"

इन गीतोंके लिए अमरताका मुझ से वरदान माँगलो ।

मंजिल दूर, थक गया राही
गति अवरुद्ध होगई—हारा,
दूर, दूर वह बहुत दूर है
उसका लक्ष्य और ध्रुवतारा ।

उखड़ गई जो साँस पथिक, मुझसे आँधी-तूफान माँगलो ।

हटकर देगा राह हिमालय
झुक कर गगन चरण चूमेगा,
यह भूगोल तुम्हारी गतिके
साथ साथ सादर घूमेगा ।

झुके न, चूर भलेही हो ऐसा मुझसे अभिमान माँगलो ।

मुझसे स्वरका दान माँगलो ।

कश्मीर का इतिहास

(प्राचीन काल से १३३९ ई० तक)

श्री भगवतशरण उपाध्याय

कालिदास, कल्हण, बिल्हण, कैयट, मम्मट का काश्मीर आज रक्त से नहा रहा है। जोतराज, वल्लभ, उद्भट, वामन, दामोदर गुप्त, आनन्दवर्धन् का काश्मीर आज चोटों से आकुल है। भारत का वह मुकुट-मणि आज संकट में है, यद्यपि उसकी रक्षा में भारत तत्पर है और उसके नौजवान उस खुशनुमा घाटी के लिए बलिदान पर बलिदान कर रहे हैं, जिसकी कोख से 'प्रत्यभिज्ञा' का जन्म हुआ और जिसकी धरा पर जहाँगीर का शालमार लहलहाया। पामीरों की वह सुन्दर उपत्यका, प्रकृति की वह लाड़ली घाटी आज विपदाग्रस्त है। उसका इतिहास आँखों में उठता है और काँप कर खो जाता है। और इसलिए कि वह ओझल न हो जाय नीचे दिया जाता है।

जो काश्मीर आज दक्षिण में पंजाब से उत्तर में पामीर तक और पूर्व में तिब्बत से पश्चिम में यारखुन तक फैला हुआ है, वह कभी अपेक्षाकृत काफ़ी छोटा था। प्राचीन काल में उसका विस्तार केवल उस उर्वर सुनहरी घाटी पर था जिसे वितस्ता (झेलम) की उपरली धारा और उसकी सहायक नदियाँ सींचती हैं। और यह विस्तार अनेक बार इस घाटी के वीर नृपतियों की विजयों से बढ़ जाया करता था। भारत और अन्य देशों से ऊँचे पर्वतों द्वारा विलग्न होने के कारण वह केवल अपने जगत में फूलता फलता रहा, संसार से पृथक् उसकी अपनी संस्कृति, अपनी भाषा हुई और बहुत कम भारत के इतिहास ने उसे प्रभावित किया। उसका वह इतिहास रोमाञ्चक और लोमहर्षक है।

प्राचीन काल में उसपर चार राजकुलों ने शासन किया और अपनी सुकुमार प्रजा पर लहू का भी वर्षण किया अमृत का भी। इन चारों से पहला तो करकोटकों का था, दूसरा उत्पलों का, तीसरा पर्वगुप्त का, चौथा लोहरों का। परन्तु इन राजकुलों के विवरण देने के पहले उसके पूर्वेतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना उचित है।

इस मनोरम घाटी के प्राचीन इतिहास की सामग्री विशेषतः कल्हण की उस अनमोल राजतरंगिणी में संग्रहीत है, जिसे उसने ११५० ई० में समाप्त किया था। अपने और अपने शीघ्र-पूर्व के काल के लिए तो यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय और विश्वसनीय है, परन्तु सातवीं सदी ईस्वी के पूर्वेतिहास पर निश्चय वह उचित तथा सच्चा प्रकाश नहीं डालती। कल्हण की राजतरंगिणी के अतिरिक्त जोनराज की भी एक द्वितीय राजतरंगिणी है, परन्तु वह न तो कल्हण के ग्रन्थ-सी प्रामाणिक ही है न उपादेय, यद्यपि इसे कश्मीर का इतिहास संकलित करते समय छोड़ा नहीं जा सकता और अनेक स्थलों पर तो इसकी आवश्यकता नितान्त अनिवार्य हो जाती है। इन राजतरंगिणियों के अतिरिक्त कश्मीरी राजाओं के अभिलेखादि भी हैं, जिनसे इतिहासकार लाभ उठा सकता है, और उठाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अशोक के समय काश्मीर की घाटी मौर्यों के साम्राज्य में थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्यूकस से हिन्दूकुश, हेरात, कन्दहार तथा बलोचिस्तान के चार प्रान्त छीन लिए थे। कश्मीर अशोक के समय में गन्धार की राजधानी तक्षशिला के केन्द्र से शासित होता था। अशोक ने स्वयं वहाँ अनेक स्तूप और विहार बनवाए और उसकी राजधानी श्रीनगर को बसाया। हुएन्-त्सांग तो यहाँ तक कहता है कि उस बौद्ध सम्राट ने सारे कश्मीर को बौद्ध संघ

को दानकर दिया था। अशोक की मृत्यु के पश्चात् यह स्वतंत्र हो गया, उसी प्रकार जिस प्रकार वीरसेन के नेतृत्व में गन्धारा। कश्मीर का पहला स्वतत्र राजा अशोक का पुत्र स्वयं जलौक हुआ जिसने अपने भतीजों के शासन-काल में संभवत, कान्यकुब्ज (कनौज) तक धावे किए—कम से कम ऐसी तरंगिणियों की धारणा है। कई शताब्दियों बाद इस देश पर कुषाण सम्राटों—कनिष्क और हुविष्क—ने राज किया परन्तु निःसन्देह कश्मीर गुप्त सम्राटों की साम्राज्य-सीमा के बाहर था। फिर उत्तर—गुप्त-काल में हूणराज मिहिर कुल ने भारत से परास्त होकर वहाँ शरण ली और प्रवंचना से अपने आश्रयदाता से उसका राज्य छीन लिया। तब कुछ काल के लिए—अर्थात उसके जीवन भर—वह धरा हूणों के शासन में आई।

१

पहला राजकुल जिससे ऊपर के इस संक्षिप्त विवरण के बाद कश्मीर के इतिहास का आरंभ होता है करकोटक था। कश्मीर का क्रमिक इतिहास वस्तुतः सातवीं सदी ईस्वी के उस गोतर्द कुल के अन्त से शुरू होता है जो प्रायः पौराणिक है अर्थात् जिसके ऐतिह्य में अनेक स्थल पर सन्देह किया जा सकता है। परन्तु उस सदी के आरंभ में कश्मीर की गद्दी पर दुर्लभवर्धन बैठा। दुर्लभवर्धन हर्षवर्धन का समकालीन था और उसने ३६ वर्ष तक शासन किया। उसके शासन-काल में हर्ष ने उसे बाध्य कर बुद्ध का दाँत ले लिया और उसे कनौज में सुरक्षित किया। हुएन-त्सांग ने संभवतः इसी राजा के दरबार में ६३१ ई०—६३३ ई०—तक दो वर्ष आनन्दपूर्वक बिताए थे। उस यात्री के विवरण से पता चलता है कि कश्मीर तबतक प्रबल हो चुका था और उसने अनेक राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इनमें से एक सिंहपुर (केतास), दूसरा उरशा (हज़ारा), तीसरा पुञ्च और चौथा राजपुर (राजोरी) था।

करकोटक राजकुल का सबसे शक्तिमान राजा ललितादित्य मुक्तापीड था जिसने लगभग ७२५ ई० से ७६० ई० तक राज किया। उस का विशद वर्णन राजतरंगिणी में दिया हुआ है, परन्तु निश्चय वह प्रशस्तिवाचक है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ७३३ ई० में उसने कनौज के यशोवर्मन् को परास्त किया। इसी प्रकार, उसकी पंजाब के एक भाग, तुखारिस्तान (वक्षु की उपरली घाटी), दरद देश (दरदिस्तान), आदि की विजय सही मानी जा सकती है। गौड़ के राजा तथा भोटों (तिब्बतियों) को भी उसका हराना लिखा है। निःसन्देह ललितादित्य प्रबल नृपति था और उसका उल्लेख चीनी इतिहासकारों तक ने किया है। उसने चीन के सम्राट् हुएन्-त्सुंग (७१३–५५ ई०) के पास अपने राजदूत भेजे थे। कश्मीर के ऊपर चीन का बहुत काल तक दबदबा बना रहा। ललितादित्यके बाद दूसरा पूर्वगामी चन्द्रापीड का ७२० ई० में चीनी सम्राट की अनुमति से राज्यारोहण हुआ। ललितादित्य ने काश्मीर में सूर्य का प्रसिद्ध मार्त्तण्ड मन्दिर बनवाया। इसके अतिरिक्त उसने भूतेश का शिव-मन्दिर और परिहास केशव का विष्णु-मन्दिर भी बनवाया। इस निर्माण-कार्य में उसने अन्य धर्मावलम्बियों की भी सहायता की और हुष्कपुर तथा अन्य अनेक स्थानों में उसने बौद्धों के विहार भी बनवाए।

इस कुल में एक और यशस्वी राजा हुआ—वह ललितादित्य का पौत्र जयापीड विनयादित्य था जिसने ७७९ से ८१० ई० तक राज किया। उसने भी पिता की ही भाँति अनेक प्रदेशों की विजय की। उसने कनौज के किसी राजा को परास्त कर उसे सिंहासनच्युत कर दिया था। कनौज का यह नृपति आयुधों में से कोई जान पड़ता है। वह संभव वज्रायुध अथवा इन्द्रायुध में से कोई था। राजतरंगिणी में उसके पितामह की विजयों की ही भाँति उसकी विजयों का भी वर्णन सविस्तर दिया हुआ है। अन्य विजयों के साथ पौण्ड्रवर्धन अर्थात् उत्तर बंगाल के राजा जयन्त तथा नैपाल की विजय का भी उल्लेख हुआ है। जयापीड साहित्यकों का संरक्षक था। अलंकार शास्त्रों के रचयिता और समीक्षक उद्भट तथा वामन और कुट्टनिमतंम् के प्रणेता दामोदरगुप्त जयापीड के ही सभासद थे। अनवरत युद्धों से उसका कोष रिक्त हो गया और अपने शासन के अन्त में वह अर्थलोलुप तथा अत्याचारी हो गया।

जयापीड के बाद भी इस कुल के कुछ राजाओं

ने कश्मीर पर राज किया परन्तु उसकी शक्ति निरन्तर क्षीण होती गई और नवीं सदी ईस्वी के मध्य के लगभग उत्पलों ने उसका अन्त कर दिया।

२

पश्चात्कालीन करकोटकों के शासन काल में देश लूट-मार और कष्ट से विह्वल हो उठा। उसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी जब ८५५ ई० में अवन्तिवर्मन उत्पल ने अपने नए राजकुल की प्रतिष्ठा की। गद्दी पर बैठते ही इस नृपति ने देश की आन्तरिक शान्ति, शासन-व्यवस्था और अर्थार्जन की ओर दृष्टि की। पहले उसने 'डामरों' का बल तोड़ने का प्रयत्न किया। डामर अभिजात वर्गीय दस्यु थे जिनके उपद्रव से कश्मीर क्षतविक्षत हो रहा था। अवन्तिवर्मन् ने उनका दमन किया। फिर उसके मन्त्री सुय्य ने प्रजार्थसाधक अनेक निर्माण-कार्य किए जिनमें प्रमुख सिंचाई के लिए नहरों का निकलवाना था। वितस्ता (झेलम) में बहुत बाढ़ आया करती थी। उसने उसके प्रवाह का मार्ग ही बदल दिया और उसके हट जाने से सारे दलदल कृषि के कार्य में आ गए। इन कार्यों से देश में समृद्धि हुई जिससे एक खारी चावल जिसका मूल्य पहले २०० दीनार थे केवल ३६ दीनारों में मिलने लगा। अवन्तिवर्मन् ने अनेक मन्दिर बनवाए और ब्राह्मणों को प्रभूत दान दिया। अनेक विद्वानों को उसकी संरक्षा प्राप्त थी। ध्वन्यालोक का रचयिता आनन्दवर्धन् उसी का समकालीन था। अवन्तिवर्मन् का बसाया हुआ अवन्तिपुर (वन्तपोर) अभी तक खड़ा है।

८८३ ई० में अवन्तिवर्मन् की मृत्यु के बाद फिर देश में उपद्रव शुरू हुए और सिंहासन के लिए संभाव्य उत्तराधिकारियों और अन्य महत्वकांक्षियों में कलह आरंभ हो गया। अन्त में अवन्तिवर्मन् का पुत्र शंकरवर्मन् उस संघर्ष में सफल हुआ और गद्दी पर बैठा। वह पिता की भाँति शांतिपूर्वक न था। गद्दी पर बैठते ही उसने युद्धों में भाग लेना शुरू किया और स्वयं दूर दूर तक की युद्ध-यात्राएँ कीं। वितस्ता और चंद्रभागा (चिनाब) नदियों के बीच के देश दर्वाभिसार पर उसने आक्रमण किया तथा अपनी शक्ति का त्रिगर्त (कांगड़ा) को परिचय दिया। उसने गुर्जरनृपति अलखान और लल्लीय शाही की सम्मिलित सेना को परास्त किया। पंजाब में गुर्जर प्रतीहार नरेश मिहिर भोज ने कुछ प्रदेश जीते थे, शंकरवर्मन ने उनको तत्कालीन प्रतीहार नृपति महेन्द्रपाल प्रथम से छीन कर ठक्किय सामन्त को दे दिया। उरशा (हज़ारा) से लौटते हुए शंकरवर्मन् ६०२ ई० में मार्ग में ही मर गया। उसके युद्धों से कोषरिक्त हो गया था जिसे उसने क्रूर कर-विधान से भरना चाहा। इसके लिए उसने अनेक अत्याचार किए। उसने मन्दिरों को लूटा और यज्ञानुष्ठानों तक पर शुल्क लगा दिया। उसकी इस शोषक-नीति से प्रजा अत्यन्त दरिद्र हो गई। संरक्षा के अभाव में विद्या और साहित्य का भी ह्रास हुआ।

शंकरवर्मन् के पश्चात् उसका पुत्र गोपालवर्मन् गद्दी पर बैठा। गोपालवर्मन् निःशक्त हुआ और उसके शासन की बागडोर उसके मंत्री प्रभाकर देव ने ले ली। प्रभाकर देव ने शाहियों के साथ युद्ध में बड़ा नाम कमाया। जिस शाही राजा को उसने परास्त किया वह अल्बेरूनी का सामन्द (सामन्तदेव) था। उसने सामन्द को गद्दी से उतार कर शाही राज्य तोरमाण-कमलुक (कमलू) को दे दिया। ६३६ ई० में उत्पलों का अन्त हुआ। परन्तु गोपालवर्मन् की मृत्यु (६०४ ई०) से ही देश में फिर उपद्रव शुरू हुए जिनका अन्त इस राजकुल के साथ ही हुआ। यह प्रायः ३५ वर्षों का युग तन्त्रिनों और एकांगों के संघर्ष का युग है। इनमें से तन्त्रिन् पैदल सैनिकों के संगठित दल थे और एकांग एक प्रकार के सैनिक पुलिस। तन्त्रिन् तो इतने शक्तिमान् हो गए थे कि कश्मीर के सिंहासन पर राजा को बिठाना और उतार देना उनके बाएँ हाथ का खेल हो गया था। और उस अभागे देश की यह परिस्थिति उसके राजाओं की दुर्बलता तथा धन लोलुपता के कारण ही हो गई थी। पार्थ के शासन-काल में ६१७–१८ ई० में वहाँ भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। कल्हण लिखता है कि यद्यपि असंख्य प्राणी भोजनाभाव में मरते जा रहे थे, राज कुल अपने आराम को ही देखता था और मंत्री तथा तन्त्रिन् मँहगे दामों अपना अन्न बेचकर धन बटोर रहे थे। इन राजाओं में उन्मत्तावन्ती (९३७–३९ ई०) दुःशीलता और दुराचार का अवतार था। उसने जयेन्द्र विहार में अपने पिता पार्थ की हत्या करदी और अपने सारे भाइयों को मरवा डाला। उन्मत्तावंती क्रूर कृत्यों में आनन्द मानता था। कल्हण लिखता है कि गर्भवती स्त्रियों के गर्भ काट बच्चा निकाल लेना उसका विशेष मनोरंजन करता था। सौभाग्य वश वह शीघ्र ही मर गया और उसके पुत्र शूरवर्मन् द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् ६३९ ई० में उत्पल राजकुल के हाथ से कश्मीर का राज्य निकल गया।

३

शूरवर्मन द्वितीय के बाद ब्राह्मणों ने गोपालवर्मन् के मंत्री प्रभाकर देव के पुत्र यशःकर को राजा चुना। यशःकर योग्य शासक था और उसके नौवर्षीय (९३९–४८ ई०) शासन में शांति और सुख लौटा। कश्मीर फिर एकबार समृद्ध हुआ। परन्तु उसके पुत्र संग्राम को ९४९ ई० में ही उसके मंत्री पर्वगुप्त ने मार कर गद्दी छीनली और एक नए राज-कुल का आरंभ किया। इस कुल में दिद्दा अद्भुत योग्यता महत्वाकांक्षा और शक्तिवाली रानी हुई। वह भीम शाही की नतिनी और लोहरा राजा सिंहराज की कन्या थी। उसका नाम संसार की उन इनीगिनी रानियों में है जिन्होंने अपनी बुद्धि का अद्भुत परिचय दिया। वह राजा क्षेमगुप्त (९५०–५८ ई०) की पत्नी थी, परन्तु उसकी महत्वाकांक्षा इतनी प्रबल थी कि उसने कश्मीर गद्दी के लिए अपने पति तथा पुत्रों तक को मरवा डाला। वह ९८० ई० से १००३ ई० तक कश्मीर की गद्दी पर रही, परन्तु क्षेमगुप्त की पत्नी, राज-माता तथा अपने अधिकार से उसने कश्मीर की राजनीति को प्रायः पचास वर्षों तक प्रभावित किया। उसके शासन-कालमें निरन्तर दरबारी षड्यंत्र होते रहे और ब्राह्मणों तथा डामरों ने बराबर उसके विपरीत आचरण किए, परंतु दोनों की शत्रुता के बावजूद भी उसने अपनी शक्ति बनाए रखी और दोनों को कुचल डाला। तुंग नामक एक खस से दिद्दा का असाधारण प्रेम था और उसी की सहायता से उसने अपनी अनेक राजनीतिक हत्याएँ कीं। उसी की सहायता से उसने सुदीर्घ काल तक शासन भी किया। अपनी मृत्यु के पहले उसने कश्मीर की गद्दी भी अपने पितृ कुल को देदी। विरोध के बावजूद भी उसने अपने भतीजे और लोहरा राजा विग्रहराज के भाई संग्रामराज को कश्मीर के सिंहासन पर बिठा दिया।

४

संग्रामराज के साथ कश्मीर में एक नए लोहरा राजकुल का आरंभ हुआ। संग्राम दुर्बल था और उसके शासन के पूर्वकाल में तुंग ने ही राज कार्य चलाया। तुंग १०१४ ई० में महमूद ग़ज़नी के विरूद्ध भी लोचनपाल शाही को सहायता को गया परंतु हिंदू-संघ इस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ। सुल्तान ने १०२१ ई० में कश्मीर जीतने का भी प्रयत्न किया। वह पहाणों की छाया में बढ़ा भी परंतु लोहकोट का दुर्ग सर न करने के कारण ही वह लाहौर की ओर लौट गया। संग्रामराज १०२८ ई० में मरा।

इसके बाद का कश्मीरी इतिहास अल्प कालिक शासनों की सुव्यवस्था को छोड़ प्रायः अर्थ-लोलुपता, दुःशासन, अत्याचार और हत्या का ही है। इतना सुरम्य देश अपने राजाओं के नाते इतना अभागा कभी न हुआ। उनमें से एक हर्ष (१०८९—११०१ ई०) जिसने अपना शासन सुंदर रीति और विद्या तथा कला की सुरक्षा से आरंभ किया, अंत में अत्यंत विलासी क्रूर-हृदय और अधार्मिक हो गया। उसने सेना के ऊँचे पद तुरुष्कों (मुसलमानों) को दिए और मदिरों को लूटने तथा मूर्तियों को अपावन करने की उसने अद्भुत योजनाएँ प्रस्तुत कीं। अनेक प्रकार से उसने प्रजा से धन वसूला; अंत में शक्तिमान् डामरों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और देश फिर एकबार हत्या और लूटका क्रीड़ास्थल हो गया। अंत में उच्छल ने गद्दी पर अधिकार कर लिया; परन्तु उसके हाथ में भी राजदण्ड टिक न सका और निरन्तर बदलता रहा। प्रजा कष्ट और दुर्व्यवस्था से त्राहि-त्राहि कर उठी। इसी प्रकार हिन्दू शासन १३३९ ई० तक किसी न किसी प्रकार कायम रहा फिर उस साल शाहमीर में श्रीसस्दीन नाम से अपने राजकुल की कश्मीर में प्रतिष्ठा की। पूर्वकालीन मुस्लिम शासन में ब्राह्मणों ने अपना राजनीतिक प्रभाव बनाए रखा और संस्कृत उस घाटी की मुख्य भाषा बनी रही।

कश्मीर का यह प्रायः सात सदियों का संक्षिप्त इतिहास है, रोमाञ्चक रक्तिम, करुण, दारुण।

गए हैं। के. एम. मुंशी ने भी—'लोपामुद्रा' नामक उत्कृष्ट नाटक लिखा है। श्री कृष्णलाल श्रीधराणी अमेरिका जाकर गुजराती भाषा भूल गए थे, किंतु जाने के पहले उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें 'मोरनां इंडा' 'पद्मिनी वडलों' नामक नाटक भी हैं। मेघाणीने भी 'वंठेला' नाटक लिखा है। श्री उमाशंकर और रमणलाल देसाई ने भी नाटक लिखे हैं।

कविता और गीत लेखकों में प्रो० दिवेटिय का तो एक युग ही गिना जाता है। उनकी कविता के विषय हैं—"प्रकृति के सुंदर अंग, ईश्वर,प्रेम, जन्म और मृत्यु जैसे प्रसंग, कविमानस की दिव्यता, मनुष्य प्राकृत स्वभाव का तिरस्कार"[1] इत्यादि। अर्थात् उन्होंने भव्य विषयों को ही कविता योग्य माना किंतु इसकी प्रतिक्रिया शीघ्र ही हुई। कवि श्री नानालाल ने काव्य के लिए नये नये विषय चुने हैं। उनकी कविता भावना प्रधान है। श्री ब. क. ठाकोर की कविता विचार प्रधान होने के कारण उसे अवगत करने के लिए बुद्धि की कसरत करनी पड़ती है। अतएव कवि नानालाल के समान उनकी कविता सर्वभोग्य न होकर अल्पभोग्य हुई है, किन्तु वर्तमान में अधिकांश कवि श्री ठाकोर के मार्ग का अनुसरण करते देखे जाते हैं। उनका कहना है कि वस्तुतः कविता में ऊर्मि, कल्पना और बुद्धि इन तीनों का संगम ही पर्याप्त नहीं किन्तु प्रतिभा की भी आवश्यकता है। आधुनिक कवि मानस को विषय संकोच सह्य नहीं, विचार संकोच भी अब नहीं। रूसी क्रान्ति के बाद जो नई प्रगतिशील विचारधारा प्रवाहित हुई है, यदि कवि इससे अपने को अछूता रखने का प्रयत्न करता है, तो उसकी कविता अल्पभोग्य ही रहती है। अतएव प्रायः सभी कवि प्रगतिशील विचार धारा को अपना कर कविता करते हैं। उनमें मेघावी, माणेक, सुन्दरम्, उमाशंकर आदि कवियों ने अच्छी सफलता पाई है।

हास्यरस के लेखकों में श्री ज्योतीन्द्र दवे का स्थान अद्वितीय है। "वे दूसरे लेखकों की तरह अशिष्ट, कृत्रिम या असामान्य परिस्थिति को हास्य का विषय नहीं बनाते।" उनके लेखों का संग्रह 'रंग तरंग' नाम से कई भागों में प्रकाशित हुआ है।

अर्थशास्त्र और राजनीति के विषय में लिखने वालों में श्री नरहरि परीख का स्थान गांधीवादी अर्थ शास्त्रियों में प्रथम पंक्ति में है। डुंगरशी सपट ने भी अपनी विविध विषय गामिनी लेखनी के कारण काफी प्रसिद्धि पा ली है। उन्होंने अर्थशास्त्र के विषय में काफी लिखा है।

साहित्य विवेचन के लेखकों में श्री रामनारायण पाठक, विजय राय वैद्य, प्रो० जोशी, श्री विश्वनाथ भट्ट इत्यादि का स्थान है। विवेचन के क्षेत्र में 'गुजरात साहित्य सभा अच्छा कार्य करती है। वर्ष भर के साहित्य की समालोचना का एक ग्रन्थ प्रति वर्ष यह सभा किसी अच्छे विवेचक के द्वारा प्रस्तुत करती है। सन् ३३ से यह कार्य अविच्छिन्न चल रहा है।

तत्त्वज्ञान के लेखकों में श्री आनन्दशंकर ध्रुव का स्थान अभी किसी ने लिया नहीं, किन्तु यह संतोष का बात है कि राधाकृष्णन् के ग्रंथों का अनुवाद सिद्ध-हस्त लेखक श्री चन्द्रशंकर के द्वारा हो रहा है। जीवन धर्मकी गुत्थियों को सुलझाने वाले लेखकों में पूज्य महात्मा गांधी का स्थान अद्वितीय है और भविष्य में भी रहेगा। इसी विषय में गांधीजी के अनुयायी लेखकों में श्री काका कालेलकर, महादेव भाई और मशरूवाला का स्थान प्रथम पंक्ति में है और अन्य भी कई लेखक उनकी शैली और विचारों को अपना कर सर्वोदयकारी साहित्य के सर्जनमें संलग्न हैं।

वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रो० नायक शाह, डा० पाठक आदि के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, किन्तु अभी इस क्षेत्र में कुछ भी नहीं हुआ है यह कहा जा सकता है।

संशोधन के क्षेत्र में श्री दुर्गाशंकर शास्त्री ने भारतीय और गुजराती इतिहास की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है और आयुर्वेद का इतिहास भी संशोधनात्मक ढंगसे लिखा है। आयुर्वेद के क्षेत्रमें एक और लेखक श्री इन्द्रजी हैं, जिन्होंने वनस्पति शास्त्र जैसे ग्रन्थ का आधुनिक ढंगसे प्रणयन किया है। श्री बापालालों वैद्य का अभिनव रस-शास्त्र अपने विषय का अपूर्व ग्रन्थ हाल में ही प्रकाशित हुआ है।

1. अर्वाचीन काव्य साहित्यना वहेणो—पृ० १५

हिन्दी-साहित्य—वर्तमान प्रमुख प्रवृत्तियाँ

श्री शिवनाथ एम० ए०

वर्तमान हिन्दी-साहित्य एक युग के पश्चात्—अर्थात् छायावाद-रहस्यवाद युग के बाद—पुनः द्विवेदी-युग तथा भारतेंदु-युग की भाँति विशेष रूप से लोक सामान्य जीवन की ओर उन्मुख हुआ। किसी भी युग का और किसी भी प्रकार का साहित्य इस जगत् और जीवन की परिसीमा से परे जाकर निर्मित नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्यकार इस लोक का ही प्राणी होता है, कुछ क्षणों के लिए वह किसी अन्य लोक में जाता भी है तो इस लोक के सहारे ही। मतलब यह कि वह आकाश में इसी कारण उड़ सकता है कि वह इस पृथ्वी का प्राणी है। तो साहित्यकार अपने युग के समाज और जीवन की उपेक्षा नहीं कर पाता, उसके युग का समाज और जीवन उसे किसी न किसी रूप में प्रभावित करता ही है, वह अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रभावित हो सकता है। परंतु वर्तमान युग के साहित्य की दृष्टि अपने युग के समाज और जीवन पर अधिक है; इसी कारण मैंने उसके विशेष रूप से लोक सामान्य जीवन की ओर उन्मुख होने की बात कही है। छायावाद रहस्यवाद युग की अपेक्षा अत्यधिक रूप से लोक सामान्य जीवन की ओर उन्मुख होनेके कारण ही संभवतः वर्तमान युग को प्रगतिशील युग और इस युग साहित्य को प्रगतिशील साहित्य कहा गया। मेरी धारणा है कि प्रत्येक नवीन काल युग का साहित्य अपने पूर्व काल अथवा युग के साहित्य की बीती परंपरा से अलग हट कर चलने के कारण और साहित्य की नवीन वस्तु तथा इस वस्तु की नवीन रचना-पद्धति की स्थापना करने के कारण प्रगतिशील साहित्य होता है। ऐसी स्थिति में हिंदी-साहित्य के प्रत्येक नवीन काल अथवा युग का साहित्य प्रगतिशील साहित्य कहा जा सकता है। इस प्रकार मैंने प्रगतिशीलता को नवीनता का पर्याय माना है।

वर्तमान युग के साहित्य को प्रगतिवादी साहित्य भी कहा जाता है। मेरा मत है कि वर्तमान युग में जो साहित्य लोक-सामान्य जीवन को दृष्टि-पथ में रख कर निर्मित हो वह प्रगतिशील साहित्य कहा जाय और जो साहित्य लोक-सामान्य जीवन को दृष्टि-पथ में रख कर निर्मित होते हुए भी स्पष्ट रूप से मार्क्सवाद की विचार-धारा में प्रवाहित होकर निर्मित हो उसे प्रगतिवादी साहित्य कहा जाय। प्रगतिशील और प्रगतिवादी साहित्य में इस प्रकारका अंतर स्थापित किया जा सकता है। परंतु यह तो मेरी धारणा है। सभी इसे स्वीकार करें, यह आग्रह कैसे करूँ।

२

छायावाद-रहस्यवाद युग के अधिकतर साहित्य की सीमा छोटी थी, उस वैभवशाली युग के महत्त्व को स्वीकर करते हुए भी अब इसे तो मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार वर्तमान युग में साहित्य जब व्यष्टि से हटकर समष्टि की ओर आया, तब उसमें लोक सामान्य समाज और जीवन की प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्त होने लगीं तब यह भी आवश्यक समझा गया कि वह अधिक से अधिक पाठक, श्रोता और दर्शक तक पहुंचाया जाय, वह अधिक से अधिक लोगों के लिए बोधगम्य हो। अभिप्राय यह कि इस युग में साहित्य की वस्तु जब विशेष से हटकर सामान्य को लेकर चली तब वस्तु-रचना पद्धति भी सामान्योन्मुख हुई। उसमें ऐसे तत्त्वों को निहित करने की ओर साहित्यकारों की दृष्टि गई, जिससे साहित्य अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचाया जा सके। इसी लक्ष्य के दृष्टि-पथ में होने के कारण वर्त्तमान युग में वस्तु-रचना- पद्धति में पर्याप्त सारल्य आया है। और यही कारण है कि छायावाद-रहस्यवाद युग में अभिव्यंजना के संपूर्ण संभार का उपयोग करने वाले

पन्त निराला आदि साहित्यकारों ने भी अभिव्यंजना की सरलता को वर्तमान युग में अपनाया है। छायावाद रहस्यवाद युग का अभिव्यंजनागत घन-घटाटोप आज छूट चुका है। हम देखते हैं कि वर्तमान युग के प्रायः सभी साहित्यकार कलागत सरलता की ओर उन्मुख हैं।

साहित्य की कलागत इस सरलता के कारण कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ संमुख आईं। कुछ साहित्य समीक्षकों ने वर्तमान साहित्य को–विशेष रूप से काव्य को—कला की दृष्टि से उच्च कोटि में नहीं रखा। उनका ऐसा करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक भी है। छायावाद-रहस्यवाद-युग का कला-संभार देख लेने के पश्चात् वर्तमान युग की सरल कला ऐसे लोगों को मुग्ध नहीं कर सकी। इस युग के साहित्यकारों की दृष्टि सरल कला की ओर होने के कारण कला—संभार पर न टिकी रही। पंत ने कहा—

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार—
वाणी मेरी: चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।

स्पष्ट है कि साहित्यकारों की दृष्टि अपनी बात को जनता तक पहुंचाने पर विशेष है, अलंकार-कला पर कम। और है भी तो सरल कला पर, क्योंकि बिना कलापर दृष्टि रक्खे, साहित्य का निर्माण संभव नहीं।

प्रभूत कला-संभार का उपयोग न होने के कारण वर्तमान युग के साहित्य का कुछ अंश प्रचारवादी भी कहा जाता है। कुछ अंशों में यह आरोप सत्य भी है, क्योंकि साहित्य के ऐसे अंश में प्रस्तुत करने के ढंग की कमी है, अर्थात् वस्तु-रचना-पद्धति की कमी है। यहाँ वस्तु-रचना-पद्धति की कमी और कला की सरलता को एक ही नहीं मान लेना चाहिए। दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। सरल कला में भी उत्तमोत्तम वस्तु-रचना-पद्धति की क्षमता हो सकती है। अभिप्राय यह कि कला की कमी कहने के ढंग की कमी—के कारण वर्तमान युग के साहित्य का कुछ अंश प्रचारवादी-सा लगता है। जो लोग साहित्य को प्रचार का साधन मानकर उसकी रचना करते हैं,वहां मैं उनकी बात नहीं कर रहा।

वर्तमान युग के साहित्यकार अपने साहित्य को अधिक से अधिक श्रोता, पाठक और दर्शक तक पहुचाने के लक्ष्य को दृष्टि-पथ में रखकर उसका निर्माण करते हैं, परंतु वह अभी कम ही लोगों तक पहुच पाता है। यह साहित्यकारों का दोष नहीं, जनता की शिक्षा की कमी—उसकी शिक्षा के निम्न स्तर का दोष है।

जो हो, वर्तमान साहित्य का अधिक अंश ऐसा है जो अपने ही कला-सौंदर्य के कारण युगों तक अपने पाठकों को प्रभावित करता रहेगा।

(३)

वर्तमान साहित्य सलक्ष्य निर्मित हो रहा है और उसका लक्ष्य वर्तमान समाज और जीवन की आशा-निराशा, अभिलाषा-आकांक्षा उनके सुख दुःख की अभिव्यक्ति है। इसी कारण वह यथार्थवादी अधिक है। जहां वह आदर्शवादी भी है वहां यथार्थवाद की पीठिका पर आधृत होकर ही। वर्तमान साहित्य हमारा समाज और जीवन कैसा है, इसे भी चित्रित कर रहा है और उन्हें कैसा होना चाहिए, इसका आभास भी वह देता है। वर्तमान साहित्यकार का लक्ष्य वही है जो वर्तमान राजनीतिक, समाजनीतिक, कर्मनीतिक आदि का। आज सभी अपने अपने प्रस्थान से एक ही लक्ष्य दर्शन पर दृष्टि रखते हैं। सभी का दर्शन समान है। सभी मानव समाज की सुख, समृद्धि के लिए अपनी अपनी शक्ति और अपने अपने साधन के अनुसार प्रयत्नशील हैं। सभी चाहते हैं कि मानव को जीवनोपाय के समुचित और पर्याप्त साधन प्राप्त हों। मानव मानव समान समझे जायँ। आजका शिष्ट साहित्यकार भी अपने साहित्य द्वारा यही विचार-धारा प्रवाहित करता है। कुछ साहित्यकारों ने भावी समाज और जीवन के चित्रों का आभास भी अपनी-अपनी कल्पना के आधार पर दिया है, जिनमें सुख, समृद्धि, साम्य, एकता आदि की उभरी रेखाएँ हैं। पंत की रचनाओं में ऐसे स्थल अनेक हैं।

(४)

परिस्थितिवश वर्तमान हिन्दी-साहित्य ने विदेशी विचार धारा में भी मार्जन किया है—विशेष रूप से समीक्षा-क्षेत्र में। इस युग में ऐसा होना स्वाभाविक-सा हो गया है। हम देखते हैं कि आज देश विदेशी

भौगोलिक सीमाएँ टूट चुकी हैं। एक देश की राजनीति, अर्थनीति आदि का प्रभाव दूसरे देशों पर पड़ता है। एक देश की विचारधारा का प्रभाव दूसरे देशों पर पड़ता है। यहाँ यह निवेदन करना भी आवश्यक है कि कहीं के असत्य के ग्रहण का पक्षपाती कोई नहीं है। मगर सत्य का ग्रहण तो कहीं से भी किया जा सकता है—चाहे वह स्वदेश का हो अथवा विदेश का सत्य को तो देश की सीमा के परे माना ही जा सकता है।

वर्तमान हिन्दी-साहित्य के कुछ साहित्यकारों ने मार्क्स के समाज-दर्शन को सही रूपों में संमुख रखा है और वे उसका समर्थन करते हैं। मार्क्स का समाज-दर्शन इतिहास की घटनाओं के सत्य पर आधृत है। यह बात दूसरी है कि अपने दर्शन की स्थापना करते हुए मार्क्स की दृष्टि संभवतः एक ही देश के इतिहास पर विशेष थी। परंतु उसके ही अध्ययन से उसने जो सिद्धांत निकाले हैं वे किसी न किसी रूप में सर्वत्र लागू हो सकते हैं।

किसी दर्शन के अध्ययन - मनन में तटस्थता और सहानुभूति की कमी के कारण उसे कुछ का कुछ समझा जा सकता है। मार्क्स-दर्शन के विषय में भी किन्हीं अंशों में ऐसा ही हुआ है। मार्क्स के दर्शन में समाज की अर्थ व्यवस्था का आधार प्रधान है। साहित्य की मीमांसा में भी वह आर्थिक आधार को प्राधान्य देता है। यहाँ स्मरण यह रखना है कि वह अर्थ को प्राधान्य अवश्य देता है, यद्यपि अन्य तत्त्वों से भी उसकी दृष्टि विमुख नहीं है। आज साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्स के आर्थिक आधार का कहीं कहीं उसके द्वारा अनभीष्ट अर्थ लगाया जाता है। समझा यह जाता है कि साहित्य के आर्थिक आधार का यह अभिप्राय है कि साहित्य-निर्माण में साहित्यकार अधिक से अधिक धन—यदि अधिक से अधिक नहीं तो केवल धन—पर दृष्टि रखता है; अर्थात् साहित्य-निर्माण द्वारा वह धन चाहता है, वह अर्थ-लोलुप होता है। परंतु साहित्य के आर्थिक आधार का यह अभिप्राय तो नहीं है। इसका अभिप्राय तो यह है कि किसी युग की उन्नत, अवनत आर्थिक प्रवृत्ति तथा परिस्थिति के आधार पर उस युग की संस्कृति बनती है, उस युग के व्यक्ति का हृदय और मन बनता है, उस युगके साहित्य की प्रवृत्तियाँ बनती हैं। ऐसी स्थितिमें किसी युग के साहित्य की मीमांसा करते समय हमें उस युग की उन्नत, अवनत आर्थिक प्रवृत्ति तथा आर्थिक परिस्थिति के आधार पर निर्मित उस युग के समाज, संस्कृति, साहित्य-प्रवृत्ति आदिकी मीमांसा करनी होती है। निवेदन यह करना है कि मार्क्स-दर्शन के आधार पर भी साहित्य-समीक्षा हो सकती है। मार्क्स का आर्थिक आधार भी समीक्षा की एकपद्धति है। यही एक मात्र पद्धति है, इसे तो मैं भी स्वीकार नहीं करता।

वर्तमान हिन्दी-साहित्य के समीक्षा के क्षेत्र में आज नवीन और प्राचीन-समीक्षा-पद्धतियों में समन्वय करने की अत्यन्त आवश्यकता है और हम देखते हैं कि इसी का अभाव है। कोई नई समीक्षा-पद्धति को ही सब कुछ समझता है और कोई प्राचीन समीक्षा-पद्धति को। युग के अनुकूल दोनों पद्धतियों से भला-भला ग्रहण कर समीक्षा का नवीन मान स्थापित करना आवश्यक प्रतीति हो रहा है। परंतु इस नवीन मान को ग्रहण करनेवाले समीक्षकों की संख्या बहुत ही कम है। यदि ऐसा हो जाय तो नवीन और प्राचीन दोनों समीक्षा-पद्धतियों में निहित सत्य की उपेक्षा न हो पाए।

(५)

स्वतंत्र भारत में श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'स्वर्ण किरण' का उदय किया है, जो हमारे साहित्य के उज्ज्वल भविष्य का संदेश वहन करने के साथ ही हमारे सुखी और समृद्ध भविष्य समाज तथा जीवन का संदेश भी वहन करती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा भावी साहित्य तटस्थ हो राष्ट्र की संस्कृति की अभिव्यक्ति की ओर मुड़ेगा। अबतक वर्तमान हिन्दी-साहित्य देश के वाह्य संघर्षों को व्यक्त करता रहा है और आगे इसके अंतस्—इसकी संस्कृति—को व्यक्त करेगा।

हमारे देश का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

महात्मा गांधीजी के शहीद हो जाने के दूसरे दिन ही आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने ३१ जनवरी को लखनऊ रेडियो से भाषण देते हुए कहा था :—

"जो भारतवर्ष के भविष्य के लिए सचेष्ट हैं जो चाहते हैं कि उसकी उन्नत अवस्था हो, जो आज उसको पतन की अवस्था से बचाना चाहते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि वे संघबद्ध होकर, इस राजनीति के पचड़े को छोड़ना हो तो उसको भी छोड़कर, इस देश में एक ऐसे जीते जागते सांस्कृतिक आन्दोलन का प्रचार करें, जिस आंदोलन के बल पर महात्माजी की शिक्षा इस देश में टिक सके"

इसके पूर्व बन्धुवर बेनीपुरी जी ने "हिमालय" के अक्टूबर ४६ के अङ्क में लिखा था:—

"हम साहित्य को अपने जीवन में वह स्थान नहीं देते, जिसका वह हकदार है, हम साहित्य को एक फालतू चीज़ समझते हैं—फुर्सत की, तफरीह की चीज़ मानते हैं। साहित्य की इस उपेक्षा के लिए कुछ तो हम साहित्यिक खुद दोषी हैं—हम स्वयं अपने अस्तित्व का महत्व और गम्भीरता अनुभव नहीं करते...फिर हमारा यह युग राजनीति का युग है। कल तक हम पर बलिदान का भूत सवार था, आज प्रभुता की चुड़ैल सवार है।"

जहाँ आचार्य जी ने सांस्कृतिक आन्दोलन को इतना अधिक महत्व दिया है कि वे उसके लिए 'राजनीति के पचड़े' को भी छोड़ देने के पक्ष में हैं, वहाँ श्री बेनीपुरी जी जीवन में साहित्य के गौरवपूर्ण स्थान को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक प्रतीत होते हैं। जहाँ आचार्य जी राजनैतिक दलबन्दियों या वाद-विवादों को 'पचड़े' के नाम से पुकारते हैं वहाँ बेनीपुरी जी Power politics 'सत्ता हड़पने की राजनीति' को "प्रभुता की चुड़ैल" बतलाते हैं। वास्तव में उपर्युक्त दोनों वाक्यों में देश के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक शरीर को लगे हुए भयंकर रोग का निदान कर दिया गया है। अब प्रश्न यह है कि रोग दूर कैसे हो? प्रभुता की चुड़ैल देश के सिर से उतरे किस प्रकार? और सांस्कृतिक आंदोलन का संचालन किस ढंग से हो?

चूँकि यह प्रश्न इस महादेश के करोड़ों मनुष्यों के जीवन से सम्बध रखता है, इसलिए इस पर भिन्न भिन्न रुचि के व्यक्तियों द्वारा प्रकाश पड़ना चाहिए। एक तटस्थ साहित्यिक के नाते हम भी अपने विचार जनता के सम्मुख रखते हैं।

पहली बात जो हमें निवेदन करनी है वह यह है कि हम साहित्य तथा संस्कृति को किसी वाद विशेष के सीमित दायरे में न बाँधें। ये दोनों चीजें प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील हैं और ये किसी प्रकार का बंधन स्वीकार नहीं कर सकतीं। जो कोई भी दल चाहे वह साम्यवादी हो अथवा समाजवादी या गांधीवादी—साहित्य और संस्कृति के गले अपनी साम्प्रदायिक कंठी-घंटी बाँधने का प्रयत्न करेगा, वह इन दोनों महान् वस्तुओं का कचूमर तो निकाल ही देगा, साथ ही वह अपने को उपहासास्पद भी बना लेगा। दूसरी बात यह है कि हम इन चीज़ों को एक ही ढाँचे में ढालने की फालतू कोशिश न करें। इस रंग-बिरंगी दुनिया से यदि हमने वैचित्र्य को नष्ट कर दिया और एक रसता लाने के लिए प्रयत्न किया तो स्पन्दनशील हृदय हमारे हाथ से निकल जायगा तथा शुष्क निर्जीव शरीर ही हमारे पल्ले पड़ेगा। विविध जनपदों के स्वतंत्र जन-

पदीय कार्यक्रम को स्वीकार कर लेने से ही इस वैचित्र्य की रक्षा हो सकती है। तीसरी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि हम सम्पूर्ण साहित्यिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों को केवल दो-एक स्थानों में ही केन्द्रित न कर बैठें। काम करने के दो तरीके हैं एक तो यह कि हम प्रारम्भ में छोटे छोटे साहित्यिक केन्द्र कायम करें और तत्पश्चात् उनके प्रांतीय अथवा अखिल भारतीय संघ का निर्माण करें। यह पद्धति वैज्ञानिक है और पहले नींव रखकर उस पर भवन बनाने की तरह सर्वथा स्वभाविक भी है। दूसरी पद्धति है पहले अखिल भारतीय केन्द्र की स्थापना कर उसके द्वारा समस्त शक्तियों को संचालित करने की। इस ढंग से स्थानीय संस्थाओं का महत्व जाता रहेगा और वे केन्द्रिय संस्था की पुतली मात्र रह जायँगी। यही नहीं इसका एक दुष्परिणाम यह भी होगा कि राजनैतिक क्षेत्रों की तमाम बुराइयां केन्द्रिय संस्था में घुस पड़ेंगी और वह दल-बन्दियों के दल-दल में जा फँसेगी।

संक्षेप में हमारे मौलिक सिद्धांत ये हैं :—

(१) साहित्य और संस्कृति को हम वाद विशेष की चहार दीवारी में न बांधें।

(२) इनके वैचित्र्य की रक्षा के लिए जनपदीय कार्य-क्रम को पूर्ण रूपेण अपनावें।

(३) केन्द्रियकरण के बजाय विकेंद्रीकरण की नीति से काम लें। इन सिद्धांतों के निश्चित कर लेने के बाद कार्यपद्धति का प्रश्न उपस्थित होता है। सर्व प्रथम हम अपने इस विश्वास को लिपिबद्ध कर देना चाहते हैं कि कोई भी सरकार किसी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन का विधिवत् संचालन कदापि नहीं कर सकती। किसी भी प्रगतिशील चीज़ का ग्रन्थिबंधन राज्य जैसी स्थायित्व प्रेमी संस्था से नहीं किया जा सकता। इसलिए सरकारी सहायता लेते समय हमें अत्यंत सतर्क रहना चाहिए। हम स्वयं सरकारी सहायता को सर्वथा अवांछनीय मानते हैं, पर साथ ही साथ हमारा यह भी अनुभव है कि बड़े पैमाने पर काम करने के लिए वर्तमान परिस्थिति में सरकारी सहायता अनिवार्य है। सरकारी कन्ट्रोल को बचाते हुए यदि वह मिल सके तो कोई मुजायका नहीं।

आयोजना

साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए एक आयोजना बनाने का काम एक छोटी-सी कमेटी के सुपुर्द कर देना चाहिए। उस कमेटी में निम्नलिखित सदस्य रक्खे जा सकते हैं :—

डाक्टर राजेंद्रप्रसाद
सर राधाकृष्णन्
श्री पुरुषोत्तमदास टंडन
महापण्डित राहुल सांकृत्यायन
आचार्य नरेन्द्र देव
श्री अमरनाथ झा
काका कालेलकर
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
मौलवी अब्दुलहक साहब
श्री फूलनप्रसाद वर्मा
मौलाना सुलेमान नदवी
डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी
डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल
डाक्टर ताराचन्द
श्री के. एम. मुंशी
श्रीमती सोफिया वाडिया
श्री माधवराव विनायक किबे
श्री धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी

इनमें तामिल तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के एक एक प्रतिनिधि और जोड़े जा सकते हैं।

यदि स्वयं आचार्य नरेन्द्र देव जी ही इस समिति का मंत्रित्व स्वीकार करलें और अपने कई उपमंत्रियों को इन महानुभावों के पास भेज भेजकर उनके विचारों का संग्रह करालें तो आयोजना के तय्यार होनेमें विशेष विलम्ब न होगा। इस आयोजना को हमें पहले देश की समस्त साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के सम्मुख रखना चाहिए और तत्पश्चात प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार के सामने भी। पर इस महायज्ञ को सफलता

पूर्वक सम्पन्न वही कर सकते हैं जो राजनैतिक पचड़े से अपने को बचा सकें। जब तक चुनाव के रणक्षेत्र, जिनमें पार्टी के लम्बकर्णोंको विरोधी दल के घोड़ों पर भी तर्जीह दी जाती है, विद्यमान हैं और हमारे बड़े से बड़े नेता उन सब असांस्कृतिक चालबाज़ियों का प्रश्रय लेते हैं, जिनका उपयोग निम्न श्रेणी के राजनैतिक कार्यकर्ता किया करते हैं, तब तक कोई सांस्कृतिक आन्दोलन जड़ नहीं पकड़ सकता।

वर्तमान परिस्थिति में हमें ऐसी स्कीम उपस्थित करनी चाहिए, जो व्यवहारिक हो और जिसमें राष्ट्र-भाषा अथवा प्रान्तीय भाषाओं के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न किया गया हो। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित प्रस्ताव उक्त कमेटी के सम्मुख रख सकते हैं:—

(१) दक्षिण भारत की भाषाओं के अध्ययन के लिए दिल्ली में एक महाविद्यालय की स्थापना की जाय।

(२) इम्पीरियल लाइब्रेरी की तरह की एक महान लाइब्रेरी स्थापित की जाय, जिसमें देशी भाषाओं के ग्रन्थ रहें और जहाँ से ये ग्रन्थ रुपया जमा कर देने पर उधार दिए जा सकें।

(३) भारत की भिन्न भिन्न भाषाओं में अंग्रेजी विश्वकोष जैसे सन्दर्भ ग्रन्थों के निर्माण के लिए सहायता दी जाय।

(४) प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय पुस्तकालय स्थापित किया जाय।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों तथा पत्रकारों के लिए सुविधाएँ दी जावें। विदेशी भाषाओं के अध्ययन अध्यापन का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

(६) प्रान्तीय सरकारों द्वारा जनपदीय कार्यक्रम को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) पत्रकार विद्यालयों को आर्थिक सहायता दी जाय।

(८) देश के भिन्न भिन्न पत्रकार-संघों को उनके महत्त्व के अनुरूप समान रूप से सुविधाएँ दी जावें।

(९) प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन हों और साहित्यिक संग्रहालयों को सहायता दी जाय।

(१०) साम्प्रदायिकता का विष दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा एक संस्था की स्थापना की जाय।

(११) प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों में साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिए एक मन्त्री अलग ही रक्खा जाय। साहित्य और कला विभाग स्थापित हो। स्वर्गीय अरण्डेल ने अपने एक लेख में यह उपयोगी प्रस्ताव रक्खा था।

(१२) छोटे छोटे सिपाहियों की दृष्टि से भारतीय स्वाधीनता संग्राम का एक विस्तृत इतिहास लिखाया जाय।

मुख्य प्रश्न

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमें हल करना है वह यह है कि जिस संस्कृति का हम निर्माण करने जारहे हैं वह ग्रामीण होगी या शहरी? इस केन्द्रीय प्रश्न के हल होने पर ही हमारे सांस्कृतिक जीवन के अन्य प्रश्न निर्भर होंगे। यह विषय इतना व्यापक है कि विशेषज्ञ विचारक ही इस पर अधिकारपूर्ण सम्मति दे सकते हैं।

१. हमारे राष्ट्र की आत्मा का रूप क्या होगा?

२. प्राचीन संस्कृति का कितना सुरक्षित हिस्सा रहेगा और नवीन संस्कृति की क्या क्या बातें उसमें जोड़नी होंगी?

३. शस्त्रास्त्रों की हिंसामयी बाढ़ में हमारी अहिंसा तथा अपरिग्रह की नौकाओं की रक्षा कहाँ तक हो सकेगी?

४. इस महाद्वीप में जिन भिन्न भिन्न संस्कृतियों का संगम हुआ है उनको संघर्ष से कैसे बचाया जाय और उनमें समन्वय कैसे स्थापित किया जाय?

५. क्या गांधीवाद और समाजवाद का समन्वय सम्भव है?

६. हमारा अनुमान है कि १० वर्ष के भीतर ही इस देश से निरक्षरता दूर हो जायगी और उस समय पांठकों की संखया में कई करोड़ की वृद्धि हो जायगी। उनके लिए अभी से हमें कैसा साहित्य तय्यार करना चाहिए?

७. इस देश को डिक्टेटरी से कैसे बचाया जाय?

जिस देस में 'तन मन धन गुसाईं जी के अर्पन' करने का सिद्धान्त सैकड़ों वर्षों से प्रचलित रहा हो और जहाँ गुरुडम के भक्तों के उर्वर हृदय क्षेत्र में उसके उगने तथा पनपने के पूरे पूरे साधन उपस्थित हों, वहाँ इस ख़तरे को कैसे रोका जाय?

इन सभी प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद ही आयोजना तय्यार हो सकती है। तत्पश्चात् सच्चे साहित्यिक तपस्वियों तथा सांस्कृतिक मनीषियों को जुटाने का सवाल उठेगा। यह कोई आसान काम नहीं।

तालाब खुदने से पूर्व ही आकूदने वाले मगरों से साहित्य-सरोवर और सांस्कृतिक-सरिता की रक्षा कैसे हो सकेगी?

वाल्मीकि और व्यास, अश्वघोष और कालिदास, कबीर तथा तुलसी, महात्मा जी तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की विचार धाराओं से परिपूर्ण भागीरथी को भारत के ग्राम-ग्राम तक पहुंचने के लिए सहस्रों कार्यकर्ताओं की मनोवृत्ति को बदलने का कार्य क्या आसान है? मानव जीवन के लिए क्या चीजें महत्वपूर्ण हैं और क्या उपेक्षणीय और वास्तविक आनन्द किन वस्तुओं में है; साधारण जनता को यह समझाना अत्यन्त कठिन कार्य है।' प्रारम्भ में ही हमें ऐसे अनेक तपोवन और आश्रम स्थापित करने होंगे, जहाँ हमारे विशेषज्ञ बिना किसी चिन्ता के अपना कार्य कर सकें।

यद्यपि कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें सरकारें ही आसानी से कर सकती हैं, तथापि यदि हम सरकारों के भरोसे बैठे रहे तो यह सांस्कृतिक महायज्ञ कभी भी पूर्ण न हो सकेगा। आवश्यकता इस बात की है हम लोगों में से जिसे भी जिस विषय की लगन हो, वह बिना किसी नेता का मुंह ताके अपने स्थान से उसका कार्य प्रारम्भ करदे। परमुखापेक्षिता दुनिया का सबसे बड़ा पाप है। अपने विश्वासों तथा सिद्धांतों के लिए मर मिटने वाले व्यक्ति ही नवीन संस्कृति का निर्माण कर सकेंगे।

[अपने विश्वासों को कार्यरूप में परिणत करो और दुहरी जबान से न बोलो] अमरीकन ऋषि एमर्सन का यह कथन हमारा मोटो (आदर्श वाक्य) होना चाहिए।

बुद्धिवादियों की नैतिकता

भदन्त शान्ति भिक्षु

सभी देशों के लोगों में जातिभेद, कुलभेद, प्रदेश-भेद आदि कारणों से अनेक प्रकारके आचार विचार प्रचलित हो जाया करते हैं और वहाँ के लोग उन्हीं आचार विचारों को मानना चरित्रगत नैतिकता समझते हैं। यदि कोई उन आचार विचारों और मूढ़ विश्वासों को नहीं मानता तो उसको आचारहीन मान कर, उसके मत्थे अनैतिकता का कलंक थोप कर सब तरह से बदनाम किया जाता है। इस बात में भारत शायद सब से आगे है। एक चिर से भारत जिस धर्म बंधन में बंधा है और आज भी जो बंधन चोट पर चोट खाकर नहीं टूट रहा है, उसके अनुसार नैतिकता का अर्थ परंपरागत विश्वासों और आचारों को ढोते जाना ही है। मनुने कहा है—

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ [२।१८]

—वर्ण और अन्तर वर्णों का जिस देश में जो परंपरागत आचार है वह सदाचार कहलाता है।

सदाचार की इस संकीर्ण परिधि से निकलने की भारत ने अनेक बार चेष्टा की है पर वह सफल नहीं हुई। उस असफल चेष्टा के विचारों की झलक हमें बौद्ध ग्रन्थों में दिखाई पड़ती है। मध्ययुगीन संतों के वचनों में भी उसकी छाया है पर वह उतनी प्रबल नहीं है जितनी कि बौद्ध वाङ्मय में। बौद्ध विचारधारा के अनुसार आचार एवं नैतिकता के उस रूप को यहाँ प्रस्तुत करना होगा जो किसी देश-जाति-कुल की सीमा में बंद न होते हुए भी भारत की उपज है तथा जिसपर भारत को आत्माभिमान है।

जहाँ कहीं आचार और नैतिकता का प्रसंग आया है, बौद्ध वांगमय में दस कुशल कर्मपथों की चर्चा है। वे हैं—

१	पाणातिपाता वेरमणी	= प्राणि हिंसा से विरति
२	अदिन्नादाना वेरमणी	= चोरी से विरति
३	कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी	= व्यभिचार से विरति
४	मुसावादा वेरमणी	= असत्य भाषण से विरति
५	पिसुनवाचाय वेरमणी	= चुगली से विरति
६	फरुसवाचाय वेरमणी	= कटु वचन से विरति
७	सम्फप्प लापा वेरमणी	= बकवाद से विरति
८	अनभिज्झा ”	= अति लोभ से विरति
९	अब्यापाद ”	= वैमनस्य से विरति
१०	सम्मादिट्ठि ”	= मिथ्या दृष्टि से विरति

इन दस कुशल कर्मपथों में अंतिम कुशल कर्मपथ सम्मादिट्ठि (सम्यग् दृष्टि) अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—क्यों कि वह मानव जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालता है। संसार में जितने धर्म या मज़हब हैं उन सबने जीवन संबंधी परिपूर्ण सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। वर्तमान धर्मों पर यदि हम एक सरसरी निगाह डालें तो हमें इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ता है। हर एक धर्म का अपना संगठन है और उस संगठन के भीतर एक चिर से वे ह्रास एंव विकास की कड़ियाँ पूरी करते आरहे हैं तथा अब भी जो वे जी रहे हैं, उससे स्पष्ट है कि उनके भीतर जीवनतत्त्व विद्यमान है और जब तक वह जीवनतत्त्व रहेगा तब तक उनकी मृत्यु नहीं हो सकती। यह सब होते हुए भी धर्मों और पन्थों में एक प्रकार का मारक-तत्त्व भी है जिसने संसार में अनेक अनर्थ किए और अब भी कर रहे हैं। वह मारकतत्त्व है विचारधारा में

तथा लौकिक व्यवहार में संकीर्ण होना। मनु के हिसाब से श्रुति और स्मृति की अवज्ञा करने वाले का बहिष्कार कर देना चाहिए [२।११]। ईसाई धर्म और इसलाम की संकीर्णता मनु से कम नहीं है किन्तु इन दोनों धर्मों में मनु के धर्म की अपेक्षा संहारक तत्त्व अधिक हैं। मनु का धर्म औरो की अपेक्षा श्रुति और स्मृति न मानने वाले का सामाजिक बहिष्कार कर उनको नष्ट नहीं करता प्रत्युत बने रहने देता है। उसकी धर्म व्यवस्था में द्विजों का प्राधान्य होने के कारण अद्विजों के नैतिक चरित्र बनाने के लिए उसे न तो चिन्ता है और न आवश्यकता। फलतः उसका मार्ग इतना संकीर्ण है कि उस पर सब चल नहीं सकते और चलना भी चाहें तो चलने की अनुमति नहीं है। पर ईसाई धर्म एवं इसलाम का परिचालन ऐसे विश्वासों से होता है कि उनके साथ दूसरे विश्वासों को टिकाया नहीं जा सकता। एकेश्वरवाद के समर्थक होने के कारण दोनों धर्मों में बहुत से देवी-देवताओं को स्थान नहीं मिलता। साथ ही साथ अपने धर्मप्रवर्तकों के प्रति अंधश्रद्धा और मूढ़ विश्वास के कारण उनके अतिरिक्त और किसी को उनके धर्म में मान और सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता। ईसाई ईश्वर-पुत्र को छोड़ दूसरे को वह गौरव नहीं दे सकते। मुसलमान ईश्वर-दूत का तो आदर कर सकते हैं पर और कोई दूसरा उनकी दृष्टि में उतना आदर का पात्र नहीं हो सकता। फलतः यह दोनों धर्म जहाँ पनपते हैं वहाँ की संस्कृति प्रायः नष्ट हो जाती है, जो लोग इन धर्मों में दीक्षित होते हैं वे अपनी समूची परंपरा से हाथ धो लेते हैं तथा नये सिरे से ईसा और मुहम्मद द्वारा प्रवर्तित पगडंडी से चलना आरंभ करते हैं। इन धर्मों की तुलना में भारत का हिन्दू (पौराणिक) धर्म अनेक अंशों में उदार है। सभी प्रकार के विश्वास रखने वालों को उसमें स्थान है। उसमें जातिगत संकीर्णता को छोड़ कर और सब तत्त्व ऐसे हैं जो एक व्यापक धर्ममें होने चाहिए। पर बौद्ध विचार धारा इन सब धर्मों की विचार धारा से कहीं अधिक उदार और प्रगतिशील है। उसमें धार्मिक या सदाचारी व्यक्ति बनाने के लिए किसी देवी, देवता, ईश्वर-पुत्र, ईश्वर-दूत, ईश्वर, महेश्वर की दासता की ज़रूरत नहीं पड़ती है। यही नहीं बुद्धिवादी के लिए बुद्ध की भी दासता जरूरी नहीं। बुद्धिवादी बुद्ध का दास नहीं होता प्रत्युत उसका दावा होता है कि वह स्वयं बुद्ध (पूर्ण विकसित पुरुष) बनेगा। फलतः बुद्धिवादी नैतिकता को उस मापदंड से नहीं मापता जिससे देवी-देवता-ईश्वर-महेश्वर के उपासक, ईश्वर-पुत्र और ईश्वर-दूत के अनुगामी मानते हैं। प्राचीन बुद्धिवादियों ने नैतिकता को दस कुशल कर्मपथों द्वारा मापा है।

इन दस कुशल कर्मपथों में से वह सम्यग् दृष्टि के द्वारा जीवन के विषय में विचार करता है। जीवन के विषय में विचार करते हुए वह मिथ्या दृष्टि से बचता है। मिथ्या दृष्टि क्या है? "दान कुछ नहीं...सुकृत दुष्कृत कर्मों का कोई फल नहीं...यह लोक नहीं पर-लोक नहीं, माता नहीं, पिता नहीं...," [मज्झिमनिकाय पृष्ठ १६९] मिथ्या दृष्टि का जो यह रूप प्रस्तुत किया गया है, उसमें भारत के परंपरागत विश्वास की झलक है। परलोक और कर्मफल को न मानना यहाँ मिथ्या दृष्टि कहा गया है। फलतः सम्यग् दृष्टि उस विचार धारा को कहना होगा जिसमें परलोक और कर्मफल मान्य हो। आत्मवाद और ईश्वरवाद को न मानने वाले बुद्धिवादी के लिए परलोक और कर्मफल के सिद्धांत को सम्यग् दृष्टि कहना बुद्धि का अपमान सा जान पड़ता है। परलोक किसने देखा? जब परलोक नहीं रहा तो सुकृत दुष्कृत कर्मों के फलस्वरूप सुगति और दुर्गति की चर्चा ही क्या? पर ऊसर ऊपर से विचार करने पर बुद्धिवादी पर जो आक्षेप किया जा रहा है वह सच्चा नहीं है। कर्म और परलोक हो या न हो पर बुद्धिवादी यह स्पष्ट देखता है कि इनके कारण लोग बहुत कुछ लोक में सत्कर्म करते हैं। फलतः एक ऐसा विश्वास जो सत्कर्म में प्रेरक होता है, वह बुद्धिवादी के लिए सम्यक् है। पर यदि ऐसे विश्वास का लोग अनुचित लाभ उठाना चाहें तो बुद्धिवादी उसे नहीं मानेगा। पुराने समय में तथा आजकल भी लोग अपने दुःख को करनी का फल मानकर अकर्मण्य बन उसका प्रतिकार नहीं करते। पर बुद्धिवादी दुःखों का कारण पूर्व कर्म को न मान कर इसकी विवेचना करता है। मिलिंद प्रश्न में संयुक्तनिकाय के आधार पर यों विवेचन किया गया है—

"सभी वेदनाओं का मूल कर्म नहीं है। वेदनाओं के होने के आठ कारण हैं, जिनसे संसार के सभी जीव सुख दुःख भोगते हैं। वे आठ कौन से हैं?—१ वायु का बिगड़ जाना, २ पित्त का प्रकोप होना, ३ कफ का बढ़ जाना, ४ सन्निपात दोष हो जाना, ५ ऋतुओं का बदलना, ६ खाने पीने में गड़बड़ होना, ७ वाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव (उपक्रम), ८ कर्मफल।...जो ऐसा मानते हैं कि कर्म ही के कारण लोग सुख दुःख भोगते हैं...उनका मानना गलत है।...यदि सभी दुःख कर्म ही के कारण उत्पन्न होते तो उनको भिन्न-भिन्न प्रकारों में नहीं बाँटा जा सकता।...वात के प्रकोप के दस कारण होते हैं— १ सर्दी, २ गर्मी, ३ भूख, ४ प्यास, ५ अति भोजन, ६ अधिक खड़ा रहना, ७ अधिक परिश्रम करना, ८ बहुत तेज़ चलना, ९ वाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव, १० कर्मफल।......भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्ट अपने-अपने कारणों से ही उत्पन्न होते हैं। इस तरह कर्मफल से होने वाले कष्ट थोड़े हैं, अधिक तो और दूसरे कारणों से ही उत्पन्न होते हैं (अप्पं कम्मविपाकजं बहुतरं अवसेसं)। मूर्ख लोग सभी को कर्म के फल से होने वाला समझ लेते हैं।" [पृष्ठ १६८-१६९]

इस विवेचन से बहुत स्पष्ट है कि एक ही सिद्धांत को भिन्न भिन्न दृष्टियों से देखने में बहुत अन्तर पड़ जाता है। उसी चीज को मनुष्य अपने हित के लिए भी बरत सकता है और अहित के लिए भी। सुई से पोशाक भी बन सकती है और उससे उँगली भी चुभोई जा सकती है। परलोक और कर्मफलवाद मानने वाली जनता के बीच बौद्ध विचारधारा प्रस्तुत करते समय बुद्धिवादी जनता के विश्वास से इनकार नहीं करता, प्रत्युत उस विश्वास को इस ढंग से नष्ट करता है कि उसका उपभोग भी हो और दूषित प्रभाव भी न पड़े। उपमा के द्वारा कहें तो बुद्धिवादी विश्वास को भुने चने के समान बना देता है जिसका आत्मवाद तो लिया जा सकता है पर जिसे उगाया नहीं जा सकता। बुद्धिवाद में परलोक और कर्मफल को भी उसी तरह कर दिया गया है। परलोक और कर्मफल के नाम पर यदि कोई ऐसी शिक्षा दे कि चुपचाप अपना दुःख भोगते रहो, जिस अवस्था में हो उसी में पड़े रहो; तो बुद्धिवादी स्पष्टतया कारणों का विश्लेषण कर कहता है कि तुम्हारा अधिकांश दुःख पूर्व कर्मजनित नहीं है, उसके कारण इस संसार में हैं, इनके दूर करने का प्रयत्न करो। जहाँ कहीं दुःख का लौकिक कारण नहीं दिखाई देता; उस स्थान के लिए बुद्धिवादी पूर्व-कर्म को रख छोड़ता है। फलतः जनता को इस बात के लिए क्रोध भी नहीं होता कि उसके विश्वास एवं धर्म पर आक्रमण हो रहा है तथा वह उस विश्वास के दुष्परिणाम से भी बच जाती है। परलोक और कर्मफल ही नहीं प्रत्युत वह सभी धारणाएं जिनपर जनता को विश्वास है, लोक निरुक्ति के रूप में स्वीकार कर, उनकी बुद्धिवादी व्याख्या करता है। बौद्धों का आत्मवाद इस बात का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। परलोक और कर्मफल मान कर भी नित्य आत्मा को स्वीकार नहीं किया और इसलिए स्वीकार नहीं किया कि लोग अहंता और ममता के वश होकर युद्ध और कलह में न लग जाँय। यों अनात्मवाद को स्वीकार कर भी बुद्ध ने कह दिया कि इसका प्रयोजन सिर्फ आत्मावाद से उत्पन्न झंझटों से बचने के लिए है, यदि कोई उन झंझटों से निकल चुका है, तो फिर उसके मानने का कोई अर्थ नहीं रहता। मज्झिमनिकाय के महातण्हा सख्य सुतंत में इसी के संबंध में एक घटना का उल्लेख है। साति केवट्टपुत्त भिक्षु को यह धारणा हो गई कि जन्म-मरण में संसरण करने वाला विज्ञान (आत्मा) वैसे का वैसा, नित्य कूटस्थ बना रहता है। दूसरे भिक्षुओं ने समझाया कि भगवान् ने विज्ञान को हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने वाला कहा है, वह कूटस्थ नहीं है। फिर भी उसने अपनी विचारधारा न छोड़ी। तब लोगों ने उसका उल्लेख भगवान् से किया। भगवान् ने उसे बुलाया और समझाया कि "जिस प्रत्यय से विज्ञान उत्पन्न होता है उसकी वही संज्ञा होती है, चक्षु के निमित्त से रूप में जो विज्ञान उत्पन्न होता है चक्षुविज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। श्रोत्र के निमित्त से शब्द में जो विज्ञान उत्पन्न होता है श्रोत्र विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है, घ्राण के निमित्त से गंध में जो विज्ञान उत्पन्न होता है, घ्राण विज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। जिह्वा के निमित्त से रस में जो विज्ञान उत्पन्न होता है रस ही

उसकी संज्ञा होती है। काया के निमित्त से स्प्रष्टव्य में जो विज्ञान उत्पन्न होता है, कामविज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है। मन के निमित्त से धर्म (अभ्यंतरिक अनुभूति) में जो विज्ञान होता है मनोविज्ञान ही उसकी संज्ञा होती है।...'भिक्षुओ, इन पाँचों स्कन्धों को उत्पन्न देखते हो।' 'हाँ भंते।' 'भिक्षुओ, अपने आहार से उन्हें उत्पन्न हुआ देखते हो।' 'हाँ भंते।' 'भिक्षुओं, जो उत्पन्न होने वाला है, वह अपने आहार के निरोध से निरुद्ध होने वाला होता है—इसे देखते हो।' 'हाँ भंते।'...'भिक्षुओं, यह उत्पन्न है—इसे ठीक से अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न?' 'हाँ भंते।'...'भिक्षुओ, तुम इस ऐसे परिशुद्ध, उज्ज्वल, दृष्टि में आसक्त न होना, न रमना, मेरा धन है न समझना, ममता न करना बल्कि भिक्षुओ, कुल्लूपम धम्मं देसितं आजानेय्याथ नित्थरणत्थाय नो गहणत्थाय मेरे उपदिष्ट धर्म को बेड़े के समान समझना (जो) पार होने के लिए है, पकड़ रखने के लिए नहीं।" इतने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धिवादी जीवन को एक विशेष ढंग से सोचता है। जनता के विश्वासों एवं परंपरा संबंधी धारणाओं को ध्वंस्त नहीं करता, प्रत्युत उन्हें दोषरहित बना इस योग्य बना देता है कि जन समाज का विकास ठीक-ठीक हो सके।

जीवन को जो क्रमसे विकसित कर उसे बुद्ध या पूर्ण विकसित व्यक्ति के रूप में परिणत करना चाहता है, उनकी नैतिकता के आदर्श में भी विशेषता होनी चाहिए। ऊपरी धर्माडम्बर से वहाँ नैतिकता को नहीं मापा जा सकता, बल्कि नैतिकता वहाँ कुशल कर्मपथों से मापी जाती है। कुशल कर्मपथों पर दृष्टि डालने से किसी भी पन्थ का व्यक्ति कह सकता है यह तत्त्व उसके संप्रदाय में भी है। पर इन कुशल कर्मपथों के व्यावहारिक दृष्टिकोण में बहुत भेद दिखेगा। बुद्धिवादी कुशल कर्मपथों के शील को अपर्यन्तशील मान कर चलता है। अपर्यन्त शील उस शील को कहते हैं जिसका किसी प्रसंग में त्याग न किया जाय। पर लोग इन शीलों का पालन एक संकुचित क्षेत्र में ही करते हैं! संकुचित क्षेत्र में व्यवहार किए जाने वाले शील को सपर्यन्त शील कहते हैं। सपर्यन्त शील कौन सा है? लाभपर्यन्त शील, यशः पर्यन्त शील, बांधव पर्यन्त शील, अंगपर्यन्त शील और प्राणपर्यन्त शील 'सपर्यंत शील' हैं। लाभ पर्यन्त शील कौन सा है? इस संसार में कितने ही लोग लाभ हेतु, लाभ के कारण ग्रहीत शिक्षापद का उलंघन करते हैं। यशः पर्यन्त शील कौन सा है? इस संसार में कितने ही लोग यश के हेतु, यश के कारण ग्रहीत शिक्षा पद का उल्लंघन करते हैं। बान्धव पर्यन्त शील कौन सा है? इस संसार में कितने ही लोग बांधवके हेतु, बांधवहित के कारण ग्रहीत शिक्षापद का उल्लंघन करते हैं। अंग पर्यन्त शील कौन सा है? इस संसार में कितने ही लोग अंगरक्षा के कारण ग्रहीत शिक्षापद का उल्लंघन करते हैं। प्राणपर्यन्त शील कौन सा है? इस संसार में कितने ही लोग प्राणरक्षा के हेतु, प्राणरक्षा के कारण ग्रहीत शिक्षापद का उल्लंघन करते हैं। यह सपर्यन्त शील हैं। [दे० विशुद्धिमग्ग, प्रथम प्रकरण] सपर्यन्त-शील की सीमा इतनी ही नहीं है। भारत में सपर्यन्त-शील की भावना के कारण ही मुस्लिम लीग ने 'सीधी कार्यवाई' छेड़ी तथा नोआखाली, बिहार और पंजाब में खून की होली खेली गई। काश्मीर पर गुण्डों का आक्रमण हो रहा है तथा हैदराबाद में मुसलमानों के रज़ाकार संगठन ने खून खच्चर करने की ठान ली है। महात्मा गांधी की हत्या हिन्दुत्व के नाम पर हुई। इसे 'मज़हब'—पर्यन्तशील कहना होगा। देश की रक्षा और देशाभिमान के नशे के कारण पिछले महायुद्ध में जो कुछ हुआ वह तो अभी स्मृति-पथ से उतरा भी नहीं है और संसार में अशांति के लक्षण दिखाई पड़ने लगे हैं। यह देश पर्यन्तशील की कृपा है। देश के लिए हिंसा करना उचित हो तो स्वदेश के लिए लूट-पाट, व्यभिचार, असत्य भाषण और मद्य का पीना तथा पिलाना भी उचित होना चाहिए। न्यूनाधिक परिणाम में अनेक राष्ट्रों ने यह किया है. कर रहे हैं। राजनीतिज्ञ लोग देश का बहाना कर खुलकर झूठ बोलते हैं और उनकी झूठी बातें इतिहास में दर्ज होकर अमर बनती जा रही हैं। राजनीति के दांव पेंच में फँसकर परस्पर आक्रमण होते हैं। आक्रमण करने वाले जहाँ आक्रमण करते हैं, गाँव-नगर जला देते हैं, स्त्री-बच्चों की हत्या करते हैं और उनके इन सब कुकर्मों की बातों को देशाभिमान में प्रमत्त नेता ही नहीं देशा-

भिमान-मद में विसंज्ञ जनता भी नज़रअन्दाज़ कर डालती है। वर्ग-स्वार्थ के कारण अनेकों राजनीतिक दल बनते हैं। प्रत्येक वर्ग अपने वर्गीय स्वार्थ के कारण दूसरे वर्गों को मिटा डालना चाहता है, जिसके लिए तरह तरह के षड्यंत्र, हिंसा और रक्तपात होता है। यह वर्ग पर्यन्त शील हुआ। आज संसार में वर्ग पर्यन्त-शील के कारण पूंजीवाद बढ़ रहा है, अशांति दिखलाई पड़ती है।

इस तरह सपर्यन्त शील का पालन करने के कारण जो मनुष्य-समाज में दोष आए हैं, उन्हें तभी दूर किया जा सकता है, जब शील को अपर्यन्त शील मान कर पालन किया जाय। अपर्यन्त शील का पालन करने के लिए किसी धर्म-बंधन, जाति-बंधन, कुल-बंधन या वर्ग-बंधन की जरूरत नहीं पड़ती। जो इस प्रकार के बंधनों में बंध कर शील का पालन करना चाहते हैं वे बौद्ध विचारधारा के हिसाब से शीलवान नहीं हो सकते। क्योंकि उनका शील तो अत्यंत सीमित है। यदि शील के इस व्यापक रूप को न माना जाय तब तो सभी शीलवान् हो जायँगे। कसाई भी तो शील का पालन करने वाला कहा जायगा, क्योंकि वह भी अपने स्त्री-पुत्रों का वध नहीं करता। अपने स्त्री पुत्रों के प्रति उसका ममत्व बोधिसत्व के ममत्व से कम नहीं होता। पर शील का संकुचित क्षेत्र में व्यवहार करना दुःशीलता का कारण बन जाता है। लोग अपने समाज, देश, या वर्ग तक तो शील का पालन करते हैं और दूसरे समाज या देश या वर्ग का उच्छेद कर सभी शीलों का उलंघन करते हैं। यदि सभी राष्ट्र अपर्यन्त शील का पालन करने लगें तो बड़ी बड़ी लड़ाइयां और रक्तपात बंद हो सकते हैं। इने गिने व्यक्ति यदि अपर्यन्त शील का भंग भी करें तो उससे नाम मात्र की हानि ही हो सकती है और विशेष कुछ नहीं बिगड़ सकता। पर यदि संगठित राष्ट्र अपर्यन्त शील का भंग करने पर उतारू रहें तब तो विश्वशांति सर्वथा असम्भव है।

महात्मा के महाप्रयाण के बाद

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

१

महात्माजी को एक पढ़े-लिखे हिंदू युवक ने गोली मार दी—यह समाचार कुछ ऐसा विचित्र और अप्रत्याशित था कि शायद ही किसी ने सुनते ही विश्वास कर लिया हो। मुझे भी शुरू में विश्वास नहीं हुआ, परन्तु बहुत शीघ्र इसकी सचाई का प्रमाण मिल गया। महात्माजी को सचमुच ही किसी ने गोली मार दी थी, सचमुच ही वे सदा के लिए हमें छोड़ कर चले गए थे, सचमुच ही पशुता ने मनुष्यता के अमर पौधे को चर डाला था, सचमुच ही भारतवर्ष का भविष्य कुछ समय के लिए अंधकार से आच्छन्न हो गया था, सचमुच ही हिंदू धर्म के सिर पर वह कलंक लग गया था जो उसके हजारों वर्ष के इतिहास में अपरिचित था। महात्माजी सचमुच मार डाले गए। उस दिन और उसके दूसरे दिन भी हम लोग देर तक रेडियो सुनते रहे। इस घृणित हत्या ने संसार को बुरी तरह आलोड़ित कर डाला। हम रेडियो पर महात्माजी के प्रति प्रदत्त 'श्रद्धाञ्जलि' अर्थात् गुणगान सुनते रहे। बोलने वालों में किसी की वाणी रुद्ध हो जाती थी, किसी की तेज, किसी के स्वर में शोक का वेग प्रबल होता था, किसी के में क्रोध का—हम सुन रहे थे। न जाने क्यों सुनना उस दिन अच्छा लग रहा था। मन मानों अपने को कहीं उलझा रखना चाहता था। मानो अपने को भुलाने के लिए ही हम दूसरों की बातों में उलझे हों। बड़ी देर तक यही अवस्था रही—"अंखिन में जो सदा रहते तिन की अब कान कहानी सुन्यो करें।"

फिर आपस में चर्चा होने लगी। समाचार पत्रों के लंबे-लंबे पृष्ठों पर यह काली कहानी छपी और श्रद्धाञ्जलि का तांता चलता रहा। किसी किसी की श्रद्धाञ्जलि का स्वर दबा हुआ पाया गया, लोग नाराज़ हो गए, किसी किसी ने भावावेग में बहुत कुछ कह डाला, लोग कुछ प्रसन्न हो गए। यह सिल-सिला भी कुछ दिन चलता रहा। फिर देशव्यापी धर पकड़ शुरू हुई। अभी भी किसी को ठीक पता नहीं है कि षड़यंत्र का क्या और कैसा रूप है, पर है वह बहुत व्यापक। किसी ने इस दल को डाँटा किसी ने उस दल को। शोक, क्रोध और घृणा एक के बाद एक आती रही और जाती रही। आज भी मन मुक्त नहीं हुआ है। महात्मा जी को खो कर हमने सचमुच क्या खो दिया है यह आज भी ठीक ठीक समझ में नहीं आ रहा है। इतना भर निश्चित है कि हम अनाथ हो गए हैं। हम संसार की दृष्टि में गिर गए हैं और कहीं भी सहारा नहीं खोज पा रहे हैं। निरपेक्ष और अनाविल दृष्टि से देखने की स्थिति में हम आज भी नहीं हैं। कब होंगे इसका भी कोई ठिकाना नहीं है।

२

एक व्यक्ति कितना महान् और कितना व्यापक प्रभावशाली हो सकता है! महात्माजी भारतीय जनता की समस्त आशा आकांक्षाओं के साक्षात् विग्रह थे। मैं केवल हैरान होकर सोचता हूं कि क्या बात ऐसी रही जिसने इस शीर्णकाय मनुष्य को इतना श्रद्धेय, इतना महिमाशाली और इतना प्रिय बना दिया था। महात्माजी के प्रति प्रकट की गई श्रद्धाञ्जलियों का विश्लेषण करता हूं तो मेरा आश्चर्य ही बढ़ता है। लोगों ने उनके जीवन के अनेक गुणों की याद में आंसू बहाए हैं। उनका अपूर्व त्याग, उनकी अद्भुत सत्यनिष्ठा उनका असाधारण विवेक, उनकी अपार प्रेम-धारा, उनकी अनन्य भक्ति—सब की ओर लोगों का ध्यान गया है। शोक भी कैसा पावक-धर्म है। जिन लोगों के मुंह से हम कभी प्रेम और सत्य की बात सुनने की आशा नहीं कर रहे थे, वे भी द्विधाहीन कंठ से इनकी महिमा घोषित कर रहे हैं। जिन कूटनीति विशारदों के मुख से कभी उच्छ्वास और आवेग का एक भी शब्द नहीं सुना गया, उन्होंने भी अपना मौन भंग किया है। किसी किसी के गले में निश्चित रूप से आवेग पिच्छिल भाषा सुनी गई है। महात्मा ने जी कर जो आश्चर्य दिखाया था, मरकर उसके कई गुना आश्चर्य दिखाया! यह सब कैसे संभव हुआ? क्या

नये समाज में नारी का स्थान

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

समाज को स्वस्थ आधार पर संगठित करने के लिए दिन पर दिन इस बात की अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि व्यक्तियों के संवेगों तथा समूह की आवश्यकताओं में सामंजस्य पैदा हो। यही बात समाज के अन्दर तथा मनुष्यों के नित्य के पारस्परिक व्यवहार में होना चाहिए। समाज के एक वर्ग का दूसरे वर्ग से इतना घनिष्ट संबंध होता है कि इस घनिष्टता के अभाव में पारस्परिक कल्याण संभव हो ही नहीं सकता। एक के रीति-रिवाज पर दूसरे का प्रभाव पड़ता है और कोई भी वर्ग दूसरे से अलग रह ही नहीं सकता। अतः एक सामाजिक आदर्श के निर्माण के लिए एक सामूहिक आदर्श की कसौटी होनी चाहिए क्योंकि समाज एक अविभाज्य शरीर की भाँति है।

किन्तु दुर्भाग्यवश समाज के विभिन्न अंग असंतुलित अथवा असम हैं। उनके रीति-रिवाज एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं। अतः परिणामस्वरूप विभिन्न अंगों में सदैव लड़ाई-झगड़ा चला ही करता है। इसलिए इन विघटनकारी शक्तियों का, जो कि समाज के सम-स्थिति, ऐक्य और शान्ति को नष्ट करते हैं, अंत करने तथा झगड़े की जड़ खत्म करने के लिए यह आवश्यक है कि एक सुनियोजित योजना तैयार की जाय जिससे सम्पूर्ण समाज एक इकाई के रूप में कार्य कर सके।

समाज के विभिन्न अंगों में नारी एक ऐसी अंग है जो कि सामाजिक शरीर के साथ नहीं चल रही है। उसका स्वाभाविक विकास रुक गया है तथा उसकी उन्नति का मार्ग अनगिनत अलंघनीय चट्टानों से अवरुद्ध है। प्राचीन सड़े-गले रीति-रिवाज जिनका इस समय कोई मूल्य नहीं—कोई अर्थ नहीं—आज नारी को अपने प्रचण्ड बोझ के नीचे दबाए हुए हैं। यह समस्या केवल नारी की ही नहीं वरन् गृह तथा बच्चों की भी है। यूँ कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह समस्या समस्त समाज की है।

यह स्थिति संसार भर में देखी जा सकती है। किन्तु फिर भी भारतीय पृष्ठभूमि पाश्चात्य से भिन्न है। प्राचीन काल में भारत जब आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था, समाज में शान्ति, ऐक्य और अनुशासन था, नारी को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यथेष्ट स्वातंत्र्य प्राप्त था।

मशीन के आगमन ने निर्वाह के पुराने साधनों को समूल नष्ट कर डाला। उस समय तक, आज जैसा, गृह तथा वाह्य कार्यों का भेद स्पष्ट नहीं था, क्योंकि जीवन की आवश्यकताएँ कुटुम्ब द्वारा सामूहिक रूप से पूरी की जाती थीं। समाज अनेक छोटी जातियों और समुदायों में विभाजित था और नित्य के सभी कार्य गृह-कार्यों से सम्बंधित थे। अतः कार्यों के बीच की सीमाएँ अत्यंत तरल थीं और स्त्री-पुरुषों के बीच श्रम विभाजन विशेषरूप से निर्दिष्ट नहीं था। प्रत्येक कुटुम्ब अत्यंत केन्द्रीभूत होने के कारण बहुत बड़ा हो गया था। नर-नारी खेतों और गृह-उद्योगों में साथ साथ काम करते थे। किन्तु मशीन के आविष्कार ने इन सब उद्योग-धंधों को बड़े पैमाने का बना दिया, जिसके परिणामस्वरूप इतना बड़ा परिवर्तन हुआ कि खाना खाना, पकाना तथा वास आदि सम्बंधी सभी कार्य पब्लिक (सार्वजनिक) हो गए। जब स्त्रियों ने देखा कि उनके गृह-उद्योग बड़ी मात्रा के सामूहिक उत्पादन का मुकाबला नहीं कर सकते, तो उन्हें अन्य मनुष्यों की भाँति मशीन की दासता स्वीकार करनी पड़ी। इसके फलस्वरूप पहले के शान्तिपूर्ण जीवन को गहरा धक्का लगा। इसका अर्थ हुआ पैत्रिक रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों का समाप्त होना, बच्चों के साथ उपेक्षा का व्यवहार होना और अस्वस्थ गन्दे कमरों (स्लमों) में रहना आदि। ये परिवर्तन इतने वेग से हुए कि लोगों

को सँभलने का तथा समाज को अपनी आर्थिक स्थिति ठीक करने का अवसर तक न मिला। इन सब समस्याओं का हमारे निकट भविष्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

इतिहास में स्त्री को पहली बार दोहरे काम का भार सहना पड़ा। आगे चलकर गृहकार्य तथा व्यावसायिक कार्य एक दूसरे से भिन्न हो गए और उनके बीच एक बड़ी खाई बन गई। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के कार्यों के बीच भी एक बड़ा अन्तर पैदा हो गया। अब स्त्रियों को घर पर अकेले सारा काम करना पड़ा—यहाँ तक कि वही उनका उचित कार्यक्षेत्र मान लिया गया। साथही आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसे जीविकोपार्जन के लिए घर की चहारदीवारी पारकर बाहर काम करना पड़ा। परिणामस्वरूप गृहकार्यों की आर्थिक महत्ता जाती रही और कुटुम्ब की आधारभूत मितव्ययिता से इसका संबंध विछिन्न हो गया। इस प्रकार स्त्रियों ने अपना आर्थिक स्वातंत्र्य खो दिया। हमने देखा है कि स्त्रियों को अपनी कमाई की स्वीकृति पाने के लिए काफी लड़ना झगड़ना पड़ा है। अतः भविष्य के किसी भी पुनर्निर्माण कार्य को इसी आधार पर शुरू करना पड़ेगा। एक प्रतियोगिता-मूलक समाज में काम का मूल्यांकन उसके बाज़ार में लगने वाले भाव पर निर्भर करता है। अतः आज-कल की अर्थशास्त्रीय भाषा में ऐसे कार्यों का मूल्यांकन जरा कठिन काम है, यद्यपि इनमें सब से अधिक श्रम लगता है। और वे सबसे अधिक अव्यवस्थित उद्योगों में से हैं। वास्तव में एक स्त्री किसी भी बड़ी मात्रा के उद्योग-धंधे के मजदूर से, अपने घरेलू कार्यों पर अधिक समय, शक्ति तथा कुशलता खर्च करती है। उसके अवकाश अनगिनत, उसके घंटे असीम तथा उसकी जिम्मेदारी मजबूरी की है। यद्यपि समाज ने उसपर अत्यंत कष्टपूर्ण कर्म तथा महान उत्तरदायित्व का भार छोड़ा है फिर भी वह उसके कुछ जन्मसिद्ध अधिकारों को भी स्वीकार करने से घबराता है। एक मजदूर जिसकी नौकरी तथा जिसका अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित है, उसका आर्थिक तथा सामाजिक पद दोनों ही, एक गृहिणी से केवल इसलिए अधिक है कि स्त्री को मेहनत की कोई साप्ताहिक मजदूरी तथा मासिक वेतन नहीं मिलता। इस मिथ्या धारणा के फलस्वरूप ही स्त्री ने अपनी आर्थिक स्वतंत्रता खो दी है और इस समय पुरुष पर एक बोझमात्र रह गई है। अतः यह भावना कि—'पुरुष स्त्री को सँभालता है' भ्रामक है। इसी के परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुष संबंधी सामाजिक असमानताएँ पैदा हुईं—जैसे बड़ी मात्रा के उद्योगों में स्त्रियों की कम मजदूरी तथा ऊँची नौकरियों में कम वेतन। स्त्री का मूल्य केवल आर्थिक अथवा शारीरिक ही नहीं है, वरन् सामाजिक भी है, क्यों कि वह समाज में स्थायित्व लानेवाली तथा संस्कृति की संरक्षक है। अतः भविष्य के समाज का एक मौलिक आधार यह होना चाहिए की नारी को पुरुष पर भारस्वरूप तथा निरर्थक न मान कर उसे उसके परम्परागत कार्य के आधार पर ही एक स्वतंत्र आर्थिक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाय। अन्य सभी बातें इसी मौलिक आधार के स्थापित हो जाने पर ठीक हो जाँयगी, क्योंकि जहाँ नारी को गृह में एकबार पुरुषों के समान अधिकार मिला स्वभावतः उसे अपनी सम्पत्ति पर स्वामित्व का जन्मसिद्ध अधिकार मिल जायगा।

आजके समाज में एक विचित्र विधि-विरोध यह है कि समाज सर्वहारा वर्ग की स्त्रियों के लिए बेगार प्राकृतिक बताता है, मध्यम वर्गीय स्त्रियों के स्वतंत्र रूप से गृह कार्य के अतिरिक्त कोई अन्य काम करने पर रोष प्रकट करता है और बाधक बनता है। जहाँ भी उसने अपने लिए रास्ता निकाल लिया है उसे आर्थिक रूप से दबे रहना पड़ता है। अतः भविष्य के समाज में नारी को पुरुष के साथ समान रूप से कोई भी व्यवसाय चुनने का अधिकार तथा समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार मिलना चाहिए जो कि वर्तमान लिंग-भेद से रहित होना चाहिए।

इससे एक और नया प्रश्न उठता है। पुरानी व्यवस्था टूटने तथा नई व्यवस्था के उभड़ने का अर्थ है संयुक्त कुटुम्ब प्रथा का टूटना, क्योंकि नई संतति अपने पूर्वजों के पेशों में दिलचस्पी बिलकुल नहीं लेती और अपने को नई परिस्थितियों के अनुरूप बनाना चाहती है और इस ओर प्रयत्नशील है। इसका अर्थ हुआ प्राचीन केन्द्रीभूत कुटुम्ब से अलग होना। स्त्रियों के हक

में इसका बुरा प्रभाव पड़ा। स्त्री, यद्यपि अभी पुरुषों से कम, व्यष्टिवादी होती जा रही है। शीघ्रता से बदलती हुई परिस्थितियों के कारण नई तथा पुरानी संतति के बीच की खाई चौड़ी होती जा रही है। अतः आज की नारी अपने लिए अपना अलग से गृह चाहती है, जिससे उसकी जिन्दगी पुराने रूढ़िवादी रीति-रिवाजों के हथकंडों से मुक्त हो जाय। किन्तु अनुभव बता रहा है कि यह समस्या उतनी सरलता से हल होने को नहीं। बड़े कुटुम्बों में कार्य का विभाजन था और किसी एक स्त्री पर सारा बोझ नहीं था, बल्कि बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ युवा स्त्रियों को विशेषरूप से जब वे माँ होतीं—कामों में हाथ बटाती थीं। इस से एक महत्वपूर्ण लाभ यह होता था कि युवा स्त्री धीरे धीरे जीवन के कठिन कर्तव्यों को समझ जाती थी, गृहिणी तथा माँ के समस्त उत्तरदायित्व से परिचित हो जाती थी। इस प्रकार की शिक्षा कौटुम्बिक जीवन के लिए अनिवार्य थी। आज अधिकांश तरुणियों को इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त नहीं होती। उनके यौवन का प्रथम भाग शिक्षा के नियम पूर्ण जीवन में ही बीत जाता है और इसके ठीक बाद उन्हें सीधे एक गृहिणी के उत्तरदायित्व को उठाना पड़ जाता है। आजकल स्कूल कालेजों में आमतौर से मातृ-कला तथा गृह-विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जाती है, यदि कहीं दी भी जाती है जो नहीं के बराबर। इस प्रकार की शिक्षा की जान-बूझ कर उपेक्षा की जाती है और युवा स्त्री बिना शिक्षा के मातृत्व के महान उत्तरदायित्व को ढोने के लिए छोड़ दी जाती है। दूसरी ओर मजदूर वर्ग की स्त्रियाँ घर के बाहर काम करने के लिए मजबूर रहती हैं, जिसका कुपरिणाम यह होता है कि वे अपने बच्चों की देखभाल तक ठीक से नहीं कर पातीं। बच्चा या तो मुहल्ले पड़ोसियों की कृपा पर छोड़ा रहता है या तो अपने बड़े भाई बहनों के हाथ में जोकि स्वयं इस कार्य में फंसे रहने के कारण स्कूल तक नहीं जा पाते। अन्य वर्गों में कुछ ही ऐसी स्थिति में होते हैं जो कि नौकर रख सकते हों। आम्तौर से उन्हें स्वयं अपना सारा काम अपने हाथों करना पड़ता है। इनकी औरतें बिना किसी सहायता के घर का सारा काम काज सँभालती हैं—सभी कठिनाइयों का सामना करती हैं। इस तरह जीवन की आवश्यकताएं अत्यधिक जटिल हो गई हैं, जिनके पूरा करने के लिए काफी श्रम तथा समय की आवश्यकता है। पुरुष अपनी शिक्षित पत्नी से आवश्यकता से अधिक कार्य की आशा करता है, फलस्वरूप उसके सिर पर बड़ा कार्य आ पड़ता है। इस वर्ग की स्त्रियाँ अपने विवाह के ५ से १० वर्ष के अन्दर नित्य की गृह चिन्ताओं के भार से बिलकुल थकित हो जाती हैं। उनके पास न इतना समय ही रहता है न शक्ति ही कि वह किसी बौद्धिक कार्य में आनन्द ले सकें। शनैः शनैः वह मृत्यु तुल्य आलस्य में पड़ जाती हैं और उनकी बुद्धि मन्द पड़ जाती है। इस प्रकार यदि वह बिलकुल निरक्षर नहीं हो जातीं तो कम से कम शीघ्र अपना सारा पढ़ा लिखा भूल जाती हैं।

इधर लगभग एक दशक पूर्व मध्यम वर्गीय स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी, जबकि नौकरों की मजदूरी कम थी और वे पर्याप्त संख्या में मिल सकते थे। किन्तु आज मजदूर न पैसा खर्च करने पर मिल सकता है और न प्रेम से ही। यह संग्राम दिन पर दिन तीव्र होता जा रहा है। लोगों की धारणा थी कि युद्ध के बाद नौकर सरलता से मिलेंगे, किन्तु उनका विचार सर्वथा त्रुटिपूर्ण सिद्ध हुआ। जैसे जैसे देश की औद्योगिक उन्नति होगी, जैसा की पाश्चात्य में हुआ है, यह समस्या और भी जटिल तथा तीव्र होती जायगी। हमें ऐसी स्थिति को अवश्यम्भावी मानकर किसी सुनिश्चित योजना का निर्माण करना चाहिए।

आज कल अधिकांश व्यक्ति, विशेषरूप से पुरुष, आधुनिक लड़कियों पर यह आरोप लगाते हैं कि वे गृह तथा मातृत्व के उत्तरदायित्व को उठाने के सर्वथा अयोग्य हैं। ऐसे आरोप द्वेषपूर्ण हैं तथा रूढ़िवादिता के कारण ही गलाया जाता। यदि वह ऐसी हों भी तो पुरुष इस बात की प्रशंसा नहीं कर पाते कि आज की लड़कियाँ बौद्धिक कार्यों में कितनी कुशल हैं, ऐसी कठिनाइयों का सामना कितने साहस के साथ करती हैं जैसी स्थिति कि पहले की औरतों के सामने कभी आई ही न थीं। पहले की स्त्रियाँ बड़े कुटुम्ब में रहती थीं, जहाँ कि उनकी हर प्रकार की परवाह होती थी किन्तु आज की लड़की को दूर दूर अपरिचित स्थानों में रहना पड़ता है—वह वहाँ की भाषा तक से प्रायः परिचित नहीं होती और अक्सर बिलकुल अकेले रहना पड़ता है—बिना किसी कुटुम्ब के सम्पर्क तक के। आजकाल् की शिक्षाप्रणाली इतनी त्रुटिपूर्ण है कि जिसके कारण आज अधिकांश कुटुम्ब छिन्न-भिन्न होते दिखाई देते हैं। ऐसा इसलिए है कि स्त्री अपने को नित्य के कार्यों के करने के योग्य इस प्रकार नहीं बना पा रही है कि वह अपने लिए कुछ समय तथा शक्ति बचा सके। उसे तनिक फुर्सत नहीं मिलती और वह काम के भार से दबी रहती है, केवल इसलिए कि उसको इस प्रकार के जीवन के लिए तैयार नहीं किया जाता, उचित शिक्षा नहीं दी जाती। इस नये संसार में हमारा पुराना कौटुम्बिक ढाँचा टूट चुका है, उसकी व्यवस्था खत्म हो चुकी है, किन्तु उसके स्थान को लेने के लिए कोई ढाँचा व्यवहार में अबतक नहीं आया।

संक्षेप में, नित्य के जीवन की समस्याएं ये ही हैं। और नारी-संसार् की तो मुख्य समस्याएं यही कही जा सकती हैं। इनका सामना भावी समाज के निर्माण की एक वैज्ञानिक तथा सुनिश्चित योजना बना कर होना चाहिए।

इस प्रकार पुरानी दुनिया गुजर चुकी है और उसके स्थान पर नई दुनिया है। किन्तु हमने अपने को आज तक न तो बौद्धिक रूप से न व्यावहारिक रूप से ही इसके उपयुक्त बनाया है। जैसा कि हमने देखा है अत्यावश्यक यह है कि गृह कार्यों का उचित रूप से ख्याल किया जायँ। स्त्रियों को बाहर नौकरी करने के लिए मजबूर करने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। बल्कि हमें स्त्रियों को अपनी स्वेच्छा पर छोड़ देना चाहिए। यहाँतक कि रूस में जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ काम करना ही होता है, साधारण समय में गृहिणियों को घरेलू कामों के अतिरिक्त कोई अन्य काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जाता। ऐसा होना भी चाहिए। यदि किसी स्त्री को गृहकार्यों के अतिरिक्त बाहर काम करना ही पड़े, जैसा कि बहुतों को करना पड़ता है, तो उसके साथ भेद-भाव के व्यवहार को न रखना ही काफी नहीं है, बल्कि समाज तथा सरकार को उन्हें अधिकाधिक स्वेच्छापूर्वक काम करने की सुविधा देना चाहिए। नए सामाजिक ढाँचे में कौटुम्बिक भत्ता तथा बच्चों का बोनस (पुरस्कार) मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में बेवरिज योजना द्वारा आशाजनक शुरुआत हुई है और कनाडा में बच्चों को बोनस मिलने की योजना भी बन चुकी है। इसके अनुसार प्रत्येक कुटुम्ब को नये शिशु के आगमन के दूसरे क्षण से ही शिशु बोनस मिलने लगेगा। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि माँ अब बच्चे की देखरेख भली प्रकार करेगी। और इस प्रकार उसे दूसरा काम करने के लिए मजबूर भी नहीं होना पड़ेगा। बेवरिज योजना में विवाह तथा मातृत्व की भी व्यवस्था है, ये प्रस्ताव बड़े सुन्दर तथा उपयोग के हैं। इस सामाजिक बीमा के अनुसार यदि एक लड़की ने एक ही जगह अपने विवाह के समय तक काम किया है, तो उसे विवाह के समय तथा बच्चा होने पर लाभ मिलना चाहिए, क्योंकि इन अवसरों पर उसके ऊपर अधिक खर्च आ पड़ता है। यह एक सुन्दर व्यवस्था है, जिसे प्रत्येक राज्य को अपनाना चाहिए। स्वीडेन जैसे देश में जहाँ कि मकान सहकारी योजना के अन्तर्गत मिलते हैं :लोगों को मकान कुटुम्ब के छोटाई बड़ाई के आधार पर मिलते हैं—धन के आधार पर नहीं। इस प्रकार मकान का किराया यदि आय का दशांश है, तो तीन चार व्यक्तियों के कुटुम्ब को केवल इसलिए बड़ा मकान मिलना कि उनकी आय अधिक है और बड़े कुटुम्ब को इसलिए छोटा मकान मिलना कि उनकी आय कम है न्याय के सर्वथा विपरीत तथा असंगत-सा है। अतः व्यवहार की वर्तमान पद्धति को किसी सुन्दर तथा युक्तिपूर्ण योजना से बदलना चाहिए। छोटे बड़े मकान छोटे बड़े कुटुम्ब के आधार पर दिए जाने चाहिए—कम या ज्यादा आय का आधार गलत है। केवल इसी आधार पर स्वास्थ्यपूर्ण जीवन सम्भव हो सकता है, जीवन शान्ति तथा आराम के साथ व्यतीत हो सकता है। किन्तु इन बातों की ओर अभी तक जरा भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

इनके अतिरिक्त एक साधारण स्वस्थ समाज में शिशुपालन शालाएं, शिशुगृहों तथा शिशु पाठ-

शालाओं का होना आवश्यक है, क्योंकि स्त्री चाहे घर में रहे अथवा नहीं बच्चों के लिए एक ऐसे सुरक्षित स्थान का होना आवश्यक है। इससे माँ अपने बच्चे को सुरक्षा के साथ तथा चिंता-रहित होकर छोड़कर बाहर जा सकती है। ऐसी स्थिति में बच्चा माँ के ऊपर बोझ नहीं रहता। इसके अतिरिक्त शिशुगृहों तथा शिशु पाठशालाओं में बच्चे एक संगठित रूप से रहना सीख जाते है; उनमें अनुशासन पालन की भावना आ जाती है और उनमें सुन्दर स्वस्थ चरित्र पैदा हो जाता है। खास तौर से जब किसी स्त्री पर एक बड़े कुटुम्ब का भार होता है, वह चिड़चिड़ी हो जाती है और बच्चों को निर्दोष पीटती है। इन संस्थाओं के रहने पर बच्चे अनुचित मार से बचे रहते हैं। इस प्रकार की संस्थाएं पूरे समय काम करने वाली स्त्रियों के तो अत्यधिक काम की होती हैं।

इसके अलावा पाश्चात्य के बड़े बड़े उद्योग-धंधों वाले देशों में घरेलू काम करने वाले नौकरों की बहुत कमी है, अतः उन्होंने अपने को उसी परिस्थिति के अनुरूप ढाल लिया है। लड़कियों को छोटेपन से ही गृहप्रबंध का कार्य सिखाया जाता है और इस प्रकार की शिक्षा में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए उन्हें इस प्रकार की अन्य उच्च शिक्षण संस्थाओं में भेजा जाता है। इसके उपरांत स्त्री-पुरुष के बीच कार्य का पुराना विभाजन अब त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो रहा है, क्योंकि हम देख रहे हैं कि बहुत बड़ी संख्या में स्त्रियाँ उन कामों को सफलतापूर्वक कर रही हैं, जिन्हें हम आज तक पुरुषों का ही जानते थे। अतः नारी को इस दोहरे उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिए रसोई तथा शिशु-गृह आदि जैसी संस्थाओं का प्रबंध राज्य की ओर से हो और पुरुष घर के कार्यों में समुचित रूप से हाथ बटाएँ। ऐसा होना भी चाहिए क्यों कि जब स्त्रियाँ पुरुषों के कामों में हाथ बटा रही हैं तो कोई कारण नहीं कि पुरुष भी उनके कार्यों में हाथ न बटाएँ। अमेरिका में गृह विज्ञान का अध्ययन जितनी संख्या में लड़कियाँ करती हैं लगभग उतनी ही संख्या में पुरुष भी। पुरुष स्त्रियों के साथ साथ दरजे में शिशु-पालन का पाठ पढ़ते हैं। इस प्रकार पुरुष अपनी स्त्री के साथ उसके घर के कामों में केवल हाथ ही नहीं बँटाता, वरन् मनोवैज्ञानिक रूप से उसे उसके नित्य के कुछ नीरस कार्यों से छुटकारा भी दे देता है जिससे उसका पारिवारिक जीवन अधिक सुखमय हो जाता है। राज्य द्वारा प्रबंधित रसोई आदि की व्यवस्था होने के पहले इस प्रकार की मानसिक तथा शारीरिक अवस्था अनिवार्य है।

पश्चिम के नौकर-रहित समाज ने श्रम बचाने की जो दूसरी विधि निकाली है, वह छोटे छोटे मशीनों के उपयोग की है। ये बड़े उपयोग की होती हैं और अनावश्यक श्रम-व्यय से भी बचाती हैं। किन्तु इनका उत्पादन ऐसे परिमाण में होना चाहिए कि सभी वर्ग के लोग सरलतापूर्वक खरीद सकें।

प्रत्येक शिक्षण संस्था में गृह-विज्ञान तथा मातृकला की शिक्षा समुचित रूप से मिलनी चाहिए। यह पुराना ख्याल कि यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है और थोड़ा अधिक विचार करने से कुशलता आजायगी, त्रुटिपूर्ण है। आज का जीवन अत्यंत जटिल है और अब पुरानी विधियाँ प्रभाव-रहित हो चुकी हैं। अतः आधुनिक जीवन व्यतीत करने के लिए समुचित शिक्षा (ट्रेनिंग) की आवश्यकता है। वास्तव में यह प्रश्न शिक्षा संबंधी समस्याओं को उभाड़ देता है। क्यों कि केवल शिक्षा द्वारा ही विधान के विधियों को व्यावहारिक जीवन में लागू किया जा सकता है। और बिना किसी समुचित शिक्षा के स्त्रियाँ न तो 'वास्तविक रूप से स्वतंत्र हो सकती हैं न इन सारी सुविधाओं का लाभ ही उठा सकती हैं। वर्तमान शिक्षाप्रणाली, जोकि एकमात्र पुरुष के ही आधार पर है, मौलिक रूप से त्रुटिपूर्ण है। अतः आज की सहशिक्षण संस्थाएँ वास्तव में पुरुषों की ही हैं जहाँ स्त्रियों को भी पढ़ने की अनुमति मिल गई है। शिक्षा जीविका के लिए मिलनी चाहिए और जीवन स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर सद्भावना तथा सहयोग का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार की शिक्षा की दिशा में समुचित प्रयत्न होना चाहिए। इसके अतिरिक्त योग्य स्त्रियों को प्रत्येक संस्थाओं में उसी प्रकार नौकरियाँ मिलनी चाहिए जैसे कि इस समय पुरुषों को मिल रही हैं। स्त्रियों को भी पुरुषों के समान शिक्षा सम्बन्धी उत्तरदायित्व मिलना चाहिए—विशेष रूप से

ऊँची शिक्षा में जहाँ कि अभी तक पुरुषों का ही प्राधान्य रहा है। केवल इसी सिद्धांत पर स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध स्वस्थ हो सकता है और आज का दूषित वातावरण दूर हो सकता है। ऐसी ही स्थिति में हम स्त्री-पुरुष के सहयोग के प्रश्न को (जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में) सिद्धांत तथा व्यवहार में पूरी तरह हल कर सकते है और नई संतति को जीवन के जटिल समस्याओं का सामना करने योग्य तथा कौटुम्बिक जीवन की कला में निपुण बना सकते हैं।

स्त्रियों की गृह-धंधों के उपरांत अन्य कार्यों में भाग लेने की प्रवृत्ति का स्वागत है, क्योंकि संसार तो कुटुम्ब का विकसित रूप ही है। इससे स्त्रियों पर लगे पुराने प्रतिबंधों के कारण हुए संकीर्ण कार्यक्षेत्र विस्तृत होंगे। उनके इस कार्य से बहुत से महत्वपूर्ण समस्याओं पर स्वस्थ प्रभाव पड़ेगा। स्त्रियाँ भी निस्सन्देह समस्या के हल में अपने आदर्शों तथा बुद्धि को लगावेंगी। वास्तव में किसी भी समस्या का संतोषजनक हल स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सहयोग के अभाव में हो ही नहीं सकता। भविष्य के समाज को स्त्रियों को प्रत्येक क्षेत्र में प्रोत्साहित करना चाहिए, क्योंकि वर्तमान व्यवस्था में स्त्रियों को पुरुषों के समान सम्मान प्राप्त नहीं है। उन्हें उत्तरदायित्व उठाने योग्य नहीं समझा जाता है, बच्चों की तरह बिना सहायता न रह सकने वाला समझा जाता है। हमारे चन्द ऐसे कानून हैं जो स्त्रियों को आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार नहीं देते इससे ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं। स्त्रियों की वर्तमान नागरिकता का आधार भी इस बात को स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार पत्नी होना ही नागरिक अधिकार प्राप्ति का आधार है।

हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन का आदर्श विधि तथा व्यवहार दोनों रूपों में दूषित है। जहाँ भी रूढ़िवादी रीति-रिवाजोंको विधि से शक्ति दी गई है वहाँ का सामाजिक वातावरण अत्यंत दूषित है, रहने योग्य भी नहीं है। पुरुषों के विपरीत नारी सामाजिक सदाचार तथा आदर्शों को प्रश्रय तथा स्थायित्व देनेवाली होती है। इस सत्य को लोग भूल जाते हैं कि समाज दो घोड़ों के रथ के समान होता है और उसकी प्रगति स्त्री पुरुष दोनों पर निर्भर करती है। यदि एक मनमानी करने के लिए छोड़ दिया जाय तो दूसरे की उन्नति अवश्य रुक जायगी। जबकि दोनों में से एक समान नैतिक आधार की मांग करता है तो इसका अर्थ दूसरे के अनुशासन को भंग करना नहीं होता, बल्कि दोनों पर समान अनुशासन लागू होने की माँग करना होता है जैसा कि महात्मा गान्धी ने कहा है—

"स्त्री पुरुष की सहयोगी होती है, जिसकी बौद्धिक शक्ति पुरुषों के समान ही होती है। उसे पुरुष के छोटे से छोटे कार्य में सहयोग देने का हक है और पुरुषों के समान ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार भी प्राप्त है ... केवल कुछ गन्दे रीति रिवाजों के आधार पर ही अनेक नितांत निकम्मे पुरुष स्त्रियों से अधिक अधिकार का उपयोग करते हैं—जिसका उन्हें कोई भी अधिकार नहीं होना चाहिए। हमारे बहुत से आन्दोलन स्त्रियों की इस गई गुजरी अवस्था के कारण ही विफल हुए हैं। और हमारे बहुत से कार्यों का उचित फल नहीं निकलता। ... वे अद्वितीय जोड़े हैं। एक दूसरे की सहायता करते हैं, एक के अभाव में दूसरे के जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसका अर्थ स्वभावतः यह निकलता है कि जो कार्य एक के लिए हानिकारक है वह दूसरे के लिए भी उसी प्रकार हानिकर है।"

आज की यह धारणा बिलकुल निर्मूल तथा खतरनाक है कि मनुष्य उस समय तक विलासी रहता है जबतक कि उसकी पत्नी अपनेको कड़े अनुशासन में रखे रहती है। भविष्य में दोनों के लिए समान नैतिक प्रतिबंध लगने चाहिएँ ताकि दो में से कोई भी उसे सरलता से भंग न कर सके। जो कार्य कि एक के वास्ते अनुचित है दूसरे के लिए उचित हो ही नहीं सकता। जन्म जैसी मृत्यु भी स्वाभाविक है, इसलिए विधवा को पचास तरह के कठोर अनुचित नियमों में रखना घोर अन्याय के अतिरिक्त और क्या है? इसके अलावा स्त्रियों के लिए एक विवाह का प्रतिबन्ध लगाना तथा पुरुषों को बहुविवाह करने की अनुमति देना कहाँ का न्याय है। कल के समाज में दोनों के

लिए एक विवाह का कानून होना चाहिए। साथ ही विशेष परिस्थितियों में तिलाक के लिए भी व्यवस्था होनी चाहिए। आजकल के विवाह के कानून असंगत तथा अन्यायपूर्ण हैं, क्योंकि इसमें मरे हुए तथा पागल से संबंध स्थापित होने के विरुद्ध—जो कि सामाजिक दृष्टि से अत्यंत हानिकारक है—कोई भी कानून नहीं है। इसके अनुसार दो समझदार व्यक्ति (यदि उनका जीवन एक साथ प्रेम के साथ न कटता हो) एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। यदि विवाह समाज में एक आवश्यकता, जैसा कि हमारा भी विश्वास है, है तो उसे स्त्री-पुरुष की स्वेच्छा पर छोड़ देना चाहिए—जबर्दस्ती से नहीं होना चाहिए। क्योंकि तब वह मनुष्य की गहरी आवश्यकताओं पर अथवा मानवीय सबंधों के उचित नियंत्रण के लिए अनिवार्य सामाजिक यंत्र न हो एक जबर्दस्ती की प्रथा हो जाती है। इस प्रकार का संबंध आपस में प्रेम, सम्मान तथा पारस्परिक कृतज्ञता पर होता है। जहाँ कि प्रेम का स्रोत नहीं है, अथवा सूख चुका है, केवल समाज का डर ही दोनों को साथ रखता है। ऐसा राष्ट्र कभी भी शक्ति सम्पन्न नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थितियों में एक पुरुष का अपनी स्त्रीपर उसी तरह किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता जैसे कि एक साम्राज्यवादी देश का उसके उपनिवेश पर अधिकार नहीं होता। महात्मा गान्धी ने भी कहा है कि—

"मेरी राय में वैवाहिक अवस्था उतनी ही अनुशासन की है जितनी कि कोई अन्य अवस्था। वैवाहिक जीवन का उद्देश्य पारस्परिक हित की उन्नति हो जाता है। जहाँ एक साथी अनुशासन भंग करता है दूसरे का भी अधिकार तुरंत उससे सम्बन्ध तोड़ लेने का होता है। यहाँ अनुशासन 'भंग' से तात्पर्य नैतिक अनुशासन से है—शारीरिक नहीं......पति-पत्नी एक दूसरे से अपने अपने उद्देश्य पूरा करने के लिए अलग होते हैं जिनके लिए उनका किसी समय गठबंधन हुआ था। हिन्दू धर्म हर एक को समान मानता है। निस्सन्देह व्यवहार सिद्धांत से बिलकुल भिन्न है और इसी के कारण उस में बहुत-सी बुराईयाँ पैदा हो गई हैं।"

इसके उपरांत तिलाक-विरोधी कानून न तो वैवाहिक जीवन को सुखद बना पाता है और न सफल ही, इस तरह की धारणा भ्रामक है। किन्तु जब तक कि पुरुष के लिए एक दूसरा स्तर है और स्त्री के लिए दूसरा तब तक समाज के लिए हमेशा खतरा बना रहेगा और स्त्रियों की पुरुषों के विरुद्ध संग्राम का पथ अवरुद्ध रहेगा। नये समाज में स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान नैतिक उत्तरदायित्व होना चाहिए और दोनों का आदर्श समान होना चाहिए। और इसी आधार पर अन्य सभी कानून बनना चाहिए।

इतिहास में व्यक्ति की महत्ता*

श्री "विदग्ध"

इतिहास में व्यक्ति का स्थान क्या है?—इस पर कुछ गवेषणा हुई है, कुछ हो रही है। परन्तु इतिहासकारों के विचार इस सम्बन्ध में काफी विवादास्पद हैं। कारलाइल ने लिखा कि "इतिहास महापुरुषों के कृत्यों का विवरण है।" परन्तु अपने जिस 'हिरोज़' में उसने यह प्रसिद्ध वक्तव्य लिखा, उसी में आगे चल कर उसने अपने विचार कम से कम कुछ अंशों में परिवर्तित कर दिए। क्योंकि उसने लिखा कि डिवाइन कमेडिया दाँते की रचना है; परन्तु तथ्य तो यह है कि वह दस शताब्दियों में प्रस्तुत हुई है, केवल उसे समाप्त भर दाँते ने किया है। इसी प्रकार सदा होता है। शिल्पी, अपने धातुओं के साथ, सुनार अपने औज़ारों के साथ अथवा प्रवंचक साधनों से स्वयं क्या कर पाता है। प्रस्तुत वस्तु में वास्तव में उसका कितना अपना है! सारे अन्वेषक जो इस प्रकार काम करते हैं अथवा हम सब के सब केवल शृङ्खला की कड़ियाँ हैं। दाँते मध्य युग का प्रतिनिधि है। जिन विचारों को तत्कालीन जनों ने फैलाया और जिनके उसूलों का उन्होंने अपने जीवन में निर्वाह किया, वस्तुतः वे केवल उसी युग के नहीं युग युग के हैं। और उनका संगीत शाश्वत है। दाँते के ये उन्नत विचार जो भयानक भी हैं सुन्दर भी हैं, उन सारे भले मानुसों के क्रिश्चियन-चिन्तन का परिणाम हैं जो उसके पहले इस धरा पर रह कर चले गए थे। सही, उनके विचार बहुमूल्य हैं, परन्तु क्या उसके विचार भी बहुमूल्य नहीं? यदि वह बोला न होता तो बहुत कुछ अज्ञात और मूक रहा होता; सही, वह मरा नहीं केवल ध्वनिहीन हो गया। परन्तु जीता है वह निश्चय।

कारलाइल का यह दूसरा विचार उसके उस पहले प्रसिद्ध वक्तव्य से कहीं सुधरा हुआ और सही है, जिसे हमने आरम्भ में उद्धृत किया है। इस विचार धारा से कारलाइल स्वयं अपने उस निश्चय को कि इतिहास महान् व्यक्तियों की कहानी है, काट देता है और स्वयं वह स्थापित करता है कि इतिहास की कहानी वस्तुतः जन समुदायों के पारस्परिक सम्बन्ध और संघर्ष से प्रसूत होता है। तथ्य तो यह है कि महापुरुष अपने आप अकेले नहीं खड़े होते, नहीं खड़े हो सकते, वरन् वे उस प्रवाह से प्रसूत होते हैं, जिसका उद्गम सचेत सजग सक्रिय मानवता है। यह सही है कि महापुरुष जनता को अपने इशारों पर ले चलते हैं और जनता अपने नेता का अदम्य उत्साह से अनुसरण करती है, परन्तु यह किसे मान्य न होगा कि वही जनता उनको भी अपने प्रवाह से ऊपर फेंकती है जो कालान्तर में उसका नेतृत्व करते हैं। किन्तु जिस सरल विधि से हम अपने इस निष्कर्ष पर पहुंच गए, वास्तव में वह इतना आसान है नहीं। पहले इस पर पर्याप्त वाद विवाद हो चुका है। चिन्तकों के अनेक वर्गों ने इस विषय पर निरन्तर कथोपकथन किए हैं और उनके कथोपकथनों का केन्द्र अथवा परिणामतः प्रश्न रहा है—पहले वृक्ष अथवा बीज? इस कारण इस विषय पर विचार करना अब भी उपादेय है। सिडनी हूक ने "हिरोज़ इन हिस्ट्री" में यह प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है कि महापुरुष एक घटना है। वह लिखता है कि "युद्धों और

* सिडनी हूक की 'हिरोज़ इन हिस्ट्री' की समीक्षा।

क्रान्तियों के युग में जनता का भाग्य उस निश्चय पर अवलम्बित रहता है जो एक व्यक्ति अथवा सम्भवतः कुछ एक करता है।" परन्तु निःसन्देह हूक यह भूल जाते हैं कि 'वह व्यक्ति' स्वयं एक प्रश्न है—एक समस्या।" या तो ऐतिहासिक घटना और सामाजिक विकास की प्रमुख धारा अंत्याज्य है अथवा सर्वथा नहीं। यदि वह अत्याज्य है तब तो कोई वर्तमान नेतृत्व पूर्णतः आज अथवा कल के प्रमुख ऐतिहासिक रूप को निश्चित करने में केवल गौण साधन है। और यदि अत्याज्य नहीं है, तब तो स्वतः यह प्रश्न उठता है कि नेतृत्व विशेष किस सीमा तक हमारी ऐतिहासिक स्थिति और हमारे भविष्य का निर्माता है?'

हूक साहब का विचार इस सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट है—इस्काइलस, दाँते, शेक्सपियर, मिल्टन और इस प्रकार के अन्य व्यक्ति 'जाइन्ट' (देव) हैं इतिहास के उर्वर युगों की प्रसूति नहीं। वे अपने अधिकार से खड़े हैं।

वैज्ञानिक क्षेत्र में यह साधारणतः माना जाता है कि महापुरुष अपने से अधिक अपनी पृष्ठभूमि के ऋणी होते हैं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इस क्षेत्र में भी हूक साहब ने अपनी सूझ दी है—"न्यूटन और लाइबनित्स दोनों के अभाव में अथवा किसी अन्य मेधा के अभाव में यह स्वीकार करना रहस्यपरक होगा कि कोई अन्य व्यक्ति जन्म लेकर उनका स्थान ग्रहण कर सका होता, निश्चय ही उनके काम को पूरा कर सका होता।"

परन्तु वास्तव में इतिहास के क्षेत्र में सिडनी हूक ने विशेषकर अपने सिद्धांत का निरूपण किया है यद्यपि इस सम्बन्ध में उसका सारा दृष्टिकोण हीगेल के 'सामाजिक विनिश्चयवाद' की कथित अनित्यता पर अवलम्बित है। वह कहता है; "हम हीगेल की दलील से धोखे में नहीं पड़ सकते।" "उसका सारा दर्शन एक असाधारण प्रयत्न है जिससे मनुष्य के वैयक्तिक उत्तरदायित्व को प्रकृति और इतिहास के अवैयक्तिक और सामूहिक सम्पूर्णता के मत्थे मढ़ दिया जाय...चुने हुए कुछ महापुरुष बिना चुने अनेक महापुरुषों की भाँति ही वस्तुतः कुछ निर्णय नहीं करते, वे केवल अपने उन चरितों का उद्घाटन करते हैं जो पहले से ही उन्हें वितरित कर दिए गए है। संसार का इतिहास वहीं रहता फिर भी वहीं रहता, यदि उसके महापुरुषों का जन्म न हुआ होता।" परन्तु सही बात तो यह है कि हीगेल का यह विचार ही नहीं है। उसका मन्तव्य तो यह है कि 'हीरोज़' (महापुरुष) जरूर होते। हूक साहब फिर लिखते है कि "हीगेल में सामाजिक विनिश्चयवाद के विभिन्न प्रकारों में समान रूप से पाए जाने वाली सभी मान्यताएँ हैं।" ये मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

१. "कोई व्यक्ति इतिहास का आरम्भ से निर्माण नहीं करता। वह सदा अपने युग और संस्कृति से सीमित रहता है...! संस्कृति केवल एक दिशा में विकास की प्रेरणा देती है। अन्य सम्भाव्य विकल्पों की उसमें गुञ्जायश नहीं।"

२. "जो कुछ भी मनुष्य अथवा महापुरुष अपने कृत्यों के रूप की कल्पना करते हैं, उसमें और उन कृत्यों के वास्तविक तथ्य में एक अन्तर होता है।"

३. "महत्ता का युगप्रवर्तक प्रभाव तभी संभव है जब संस्कृति उसके लिए प्रस्तुत अथवा परिपक्व हो।"

४. "अतः महापुरुष उन ऐतिहासिक और सामाजिक शक्तियों की एक 'अभिव्यक्ति', 'प्रतिनिधि', 'प्रतीक', 'साधन' मात्र है जिनकी धाराओं से वह यश और विजय प्राप्त करता है। यदि हम उसकी महत्ता के उद्गम तथा कारण को पकड़ना चाहें तो उसका चरित अथवा शुद्ध वैयक्तिक आचरण अपेक्षाकृत गौण सिद्ध होंगे।"

इन सिद्धान्तों और विचारों को परिणामतः हूक साहब ने अस्वीकृत कर दिया है और इन्हीं की भाँति रूढ़िवादी 'मार्क्सवाद' को भी उन्होंने त्याज्य कहा है। वे लिखते हैं कि 'रूढ़िवादी मार्क्सवाद की शक्ति उन दो बातों में निहित थी जो उसे हीगेल और स्पेन्सर के विचारों से विलग करते हैं। इन दोनों विद्वानों की रायमें विकास का सिद्धांत एक आध्यात्मिक सिद्धांत था जिससे कथित तर्कपूर्ण विचारों द्वारा सामाजिक विनिश्चयवाद

प्रगट हुआ। मार्क्सवादियों के अनुसार विनिश्चयवाद का सिद्धांत ऐतिहासिक अनुभूति की शिला-भित्ति पर खड़ा है।

इसके बाद एंगेल्स का मार्क्सवादी विचार दिया गया है। जिसकी पुष्टि स्टार्केन बर्ग को भेजी उसकी चिट्ठी के उद्धरण से की गई है।

"यह कि एक विशेष पुरुष ही और अन्य नहीं, एक विशेष युग" में, विशेष देश में उत्पन्न होता है, निश्चय सर्वथा संयोग की बात है। परन्तु यदि हम उसे छोड़ भी दें तो उसके स्थान की पूर्ति की आवश्यकता बराबर होती है और उसका स्थानापन्न कोई हो ही जाता है; जल्दी या देर में उस स्थान की पूर्ति के लिए कोई न कोई मिल ही जाता है। यह कि कोर्सिका का निवासी वह एकमात्र नैपोलियन ही फ्रांस का डिक्टेटर हो गया जिसकी अनिवार्यता फ्रेञ्च प्रजातंत्र के युद्धों ने प्रस्तुत कर दी थी—एक संयोग की ही बात थी। परन्तु नैपोलियन के अभाव से कोई और उसका स्थानापन्न हो जाता, यह इससे सिद्ध है कि जब जब, उस विशिष्ट मानव की आवश्यकता हुई तब तब वह मिल ही गया, सीजर, आगस्टस्, क्रामवेल" हूक साहब के इस उद्धरण के प्रतिवाद हैं। उनका कहना है कि महान आवश्यकताएँ सदा रहती हैं, परंतु महापुरुष सदा नहीं होते। हम पूछ सकते हैं कि जर्मनी की फासिस्ट विरोधी शक्तियों की एकता की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए भला कोई महापुरुष क्यों नहीं पैदा हो गया?

हूक साहब का विचार है कि एंगेल्स कहता है कि यदि शेक्सपियर पैदा न हुआ होता तो कोई और हुआ होता—"कुछ अच्छा या कुछ बुरा।"

इसके बाद सिडनी हूक अपना विचार प्रगट करते हैं "सामाजिक विनिश्चयवाद ने हमें एक बात सिखाई है। वह यह है कि जबतक समय नहीं आता (समय की परिणति नहीं होती) तब तक महापुरुष अपने इतिहास को प्रभावित नहीं कर सकता।" महापुरुष अपने 'विस्तार में विभिन्न हो सकते हैं (अर्थात् अपने कृत्यों में वे एक दूसरे से भिन्न आचरण कर सकते हैं) परंतु वे नितान्त ऐसे नहीं होते। वे अद्भुत हो सकते हैं और इस कारण जब विकास के वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत हों (जिसकी संभावना से हूक साहब की राय में मार्क्सवाद इन्कार करते हों), वे इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। तथापि डा० फिशर के बावजूद भी इतिहास अनजानी अथवा असम्भाव्य घटनाओं का क्षेत्र नहीं है। इसके विरोध में यह निश्चय पूर्वक भविष्य कथन नहीं किया जा सकता, इसलिए कि महापुरुष, "घटना प्रवर्तक पुरुष" सीजर, क्राम्वेल, नेपोलियन, इतिहास के पथ का नवनिर्माण नहीं करते।

इस विचार को रूसी क्रान्ति के एक अध्याय के सन्दर्भ से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। "इस अध्याय का विचार यह है कि यदि यह क्रान्ति एक आदमी (लेनिन) की अभिप्राप्ति न होती तो आज हम एक दूसरी ही दुनियाँ में रहते होते।" हूक साहब कहते हैं कि रूसी क्रान्ति अनिवार्य न थी और लेनिन के अभाव में वह घट नहीं सकती थी।

हूक साहब की पुस्तक—इतिहास में महापुरुष—के अन्तिम अध्याय हमें एक अप्रत्याशित निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं। हीरो अथवा "घटनाओं का भावी निर्माता पुरुष प्रजातंत्रीय शासन में सर्वथा अनावश्यक है। उस सीमा तक जहाँ तक हमने प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों को अंगीकार किया है हम वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक कार्यों को सर्वथा घटना-निर्माता अथवा अनियंत्रित पुरुष के हाथ में नहीं दे सकते। प्रजातन्त्र प्रिय होने के नाते जो कुछ भी योजनाएँ हम बनाते हैं, वह सारी एक स्वतंत्र समाज के लिए बननी चाहिए जिसमें प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक नीति का निर्णय करने में योग दे सके।"

अब हम इस सम्बन्ध में हूक साहब के अव्यवस्थित उद्वेलित असम्बद्ध विचारों पर अपना मन्तव्य प्रगट करेंगे। यह सम्भव है और हम सब को अधिकार है कि हम हीगेल, स्पेन्सर, मार्क्स और एंगेल्स के विचारों से सहमत न हों, परन्तु हम में से कोई यह कह कर एंगेल्स की भद्दी भूल न करेगा कि यदि शेक्सपियर न होता तो उसके स्थान पर दूसरा

शेक्सपियर होता। और यह कहने का किसी को वस्तुतः अधिकार भी नहीं है। क्या सचमुच इस दूसरे 'शेक्सपियर' का कुछ अर्थ भी है? एलिज़ाबेथ के इंगलैन्ड से भिन्न किसी देश में कोई महाकवि पैदा हो सकता है, पैदा हो सकता था और हुआ, जैसे भारत में तुलसीदास अथवा उत्तरकाल में रवीन्द्रनाथ, और यह जरूरी नहीं था कि वह शेक्सपियर ही हो, जो हुआ भी नहीं। इसी प्रकार वही शेक्सपियर प्राचीन ग्रीस में संभवतः होगा (अथवा अपेक्षाकृत उससे बड़ा छोटा हो सकता था) अथवा वही रोमन समाज में वर्जिल होता। दूसरे शब्दों में एक अन्य ऐतिहासिक युग में उत्पन्न होकर, अपनी प्रतिभा के अनुरूप उत्पन्न होकर, वह महाकवि अपने समसामयिक समाज को शेक्सपियर से भिन्न रूप में प्रदर्शित करता। उसके शब्द अपने होते, उसके नाट्यतत्व अपने होते; उसके सामाजिक साहित्य का परिमाण अपना होता। इसके विरुद्ध यदि शेक्सपियर न हुआ होता तो क्या होता? एलिज़ाबेथ कालीन इंगलैन्ड में अन्य कवि और नाटककार भी तो थे। कुछ अजब न था कि लीस्टर किसी को अपनी संरक्षा की शक्ति देता जो प्रतिभा में संभवतः शेक्सपियर से भी बढ़ जाता। परन्तु फिर भी किसी प्रकार वह शेक्सपियर न हो पाता, होता वह उससे अन्य ही कोई। एक बात और मान लें कि शेक्सपियर के बाद जगत ने दूसरा महाकवि रवीन्द्रनाथ को ही पैदा किया, उसी प्रकार जैसे होमर के बाद शेक्सपियर हुआ था, तो आखिर काल की इस दूरी में उस उचाई के कवि का अभाव सिद्ध हो ही जाता है और निश्चय भी है कि इस बीच इस प्रकार के कवि कम हुए यद्यपि सर्वथा उनका अभाव न रहा। इसी प्रकार शेक्सपियर को एक और लम्बे कालान्तर में घटाकर हम यह सोच सकते हैं कि होमर के बाद रविन्द्रनाथ ही महाकवि हुए और यदि ऐसा होता (अर्थात् शेक्सपियर न हुआ होता) तो हमें शेक्सपियर के अभाव की बात का खटकना तो दूर रहा उसका विचार ही नहीं उठता, ठीक वैसे ही जैसे शेक्सपियर और टैगोर के बीच के काल के सम्बन्ध में।

इस्काइतस के अभाव में भी महान् नाटक लिखे जाते; मिल्टन के अभाव में भी गद्य और पद्य दोनों द्वारा क्रामवेल के इंगलैंड की महत्ता गाई जाती; डिकेन्स मर्के के अभाव में विक्टोरिया के इंगलैंड की सामाजिक विभीषिकाएँ निश्चय उद्घाटित की जातीं। इसके विरुद्ध, ये सारे लोग अपने अपने युग की पृष्ठभूमि पर खड़े हैं। उन्होंने अपने जमाने और संस्कृति को अपनी कृतियों में प्रतिबिम्बित किया और ऐसा करके उन्होंने उनको और साथ ही हमें भी ऊँचा उठाया। उन्होंने जो कुछ करना चाहा उसमें और जो वे कर सके उसमें, दोनों में अन्तर भी था। शेक्सपियर ने विश्व को समकालीन इंगलैण्ड के मध्यवर्गीय परिस्थितियों के प्रति विदग्ध करना चाहा और उसका आवरण हटा उसे नंगा कर उसे रख दिया। यदि वह हिन्दुस्तान अथवा नवीं सदी में हुआ होता तो यद्यपि यह सभंव है कि वह नवीं सदी के हिन्दुस्तान को अपनी प्रतिभा द्वारा प्रतिबिम्बित कर देता, परन्तु निश्चय वह सोलहवीं सदी के इंगलैंड को खोल कर हमारे सामने न रख सकता। अतः शेक्सपियर के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष सही है कि वह "उन ऐतिहासिक तथा सामाजिक शैलियों का निमित्त मात्र था जिनकी धारा द्वारा उसने यश और विजय की प्राप्ति की।" निश्चय इस सम्बंध में हीगेल का ऊपर उद्धृत विचार भी विशेष अनुपयुक्त नहीं।

फिर इस पर भी विचार करना है कि सामाजिक विनिश्चयवादी, विकास की केवल एक दिशा को देखते हैं। 'उनके लिए सही वैकल्पिक मार्ग नहीं है।' इसमें सन्देह नहीं कि वे साधारणतः एक ही उपादेय और उचित विकास को दिशा को देखते हैं। इस सम्बंध में 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' में स्पष्टतः कहा गया है: "स्वतंत्र और दास......स्वामी भी और नौकर......, एक शब्द में शोषक और शोषित, सर्वथा एक दूसरे के विरोध में खड़े थे, और निरन्तर परस्पर संघर्ष करते रहे, जिसका अन्त या तो समाज की एक नई क्रान्तिवादी व्यवस्था के संगठन से हुआ अथवा दोनों वर्गों के समान संहार में।" इस प्रकार जहाँ तक वैकल्पिकता की बात है, परिस्थिति के अनुकूल कई सम्भावनाएँ हो सकती हैं, दो तो सदा हैं।

हूक साहब का विचार है कि एंगेल्स की राय में जर्मनी की शक्तियों का एका करने के लिए किसी महापुरुष को होना चाहिए था। परन्तु हूक साहब ने एंगेल्स की चिट्ठी का अर्थ समझने के समय जामुन की जड़ तो पकड़ ली पर बन्दर उनके हाथ से छूट गया। स्टार्केनवर्ग वाली एंगेल्स की चिट्ठी के वाक्य का अर्थ एंगेल्स के शब्दों से ही स्पष्ट है। वह लिखता है कि "वह (अर्थात् महानेता) अंततोगत्वा उठ खड़ा होगा"। हूक साहब इस 'अन्ततोगत्वा' का अर्थ न समझे। 'अन्ततोगत्वा' का अर्थ विशेषकर इतिहास में 'अन्ततोगत्वा' अर्थात् कालान्तर में है। पूँजीवाद, हूक साहब को समझना चाहिए था रात भर में समाप्त होने वाली चीज नहीं, वह सोते का स्वप्न नहीं है जागरण का कटु सत्य है। इसका संहार एक लम्बे सचेत अध्यवसाय का परिणाम है। और अपने निश्चित और उचित परिणाम तक पहुंचने की इसकी दौरान में खूनी परिस्थितियाँ भी हैं, दारुण यातनाएँ भी।

और हूक साहब भूल गए कि एंगेल्स ने इसके अतिरिक्त कुछ और भी कहा है, जिसे उन्हें उद्धृत करना चाहिए था। स्टार्केनवर्ग वाली चिट्ठी के जिस प्रसंग को हूक ने उद्धृत किया है उस प्रसंग के आरम्भ में ही एंगेल्स ने लिखा है, "जनता अपना इतिहास आप बनाती है।" यदि हम केवल हूक को पढ़ें तो एंगेल्स के साथ अत्यन्त अन्याय हो जायगा क्योंकि उससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि उस मेधावी का विचार है कि इतिहास को मनुष्य बनाता नहीं उसके लिए वह बना बनाया प्रस्तुत रहता है। एंगेल्स अपने विचार को दूसरी चिट्ठी में जिसे उसने १८९० में ब्लोच को लिखा था, स्पष्टतः इस प्रकार व्यक्त करता है :—

"आर्थिक परिस्थिति आधार है परन्तु ऊपरी अट्टालिका के विभिन्न अंग—वर्ग युद्ध के राजनीतिक रूप और उसके परिणाम, सफल युद्ध के पश्चात् विजयी वर्ग द्वारा प्रतिष्ठित संविधान आदि—विधान के रूप—और फिर इन संघर्षों के योद्धाओं के मस्तिष्क में प्रतिबिम्ब; राजनीतिक, वैधानिक, दार्शनिक सिद्धांत, धार्मिक विचार और उनके सिद्धांतों में विकास—भी अपना प्रभाव उनके रूप को निश्चित करने में डालते हैं। इन सारे अवयवों की पारस्परिक प्रतिक्रिया होती है, जिसमें घटनाओं के अनन्त विस्तार में आर्थिक आन्दोलन अंत में अपनी आवश्यकता स्थापित कर देता है......... हम अपना इतिहास आप बनाते हैं।"

यदि इस उद्धरण के बाद भी हूक द्वारा प्रस्तुत समस्या के सम्बंध में मार्क्सवादियों के दृष्टिकोण में अब भी संदेह रह गया हो तो उसका निराकरण स्वयं मार्क्स के वक्तव्य से किया जा सकता है, जो इस प्रकार है :—

"संसार का इतिहास-निर्माण अत्यन्त सरल हो जाय यदि संघर्ष केवल ऐसे अवसरों पर किया जाय जब विजय के योग अधिक हों। दूसरी ओर, यदि अप्रत्याशित घटनाओं का उसमें समावेश न हो तो निश्चय वह अत्यन्त रहस्यमय हो जाय। स्वयं इन घटनाओं का स्थान विकास के साधारण क्रम में है और इनकी कमी की पूर्ति अन्य घटनाएँ करती जाती हैं। परन्तु तेजी और शिथिलता इन्हीं घटनाओं पर अधिकतर अवलम्बित रहती हैं और इन घटनाओं में उन व्यक्तियों के 'चरित की घटना' का भी समावेश होता है जो उस आन्दोलन की अगली पंक्ति में रहते हैं।"

प्लेखनाव का सप्तवर्षीय-युद्ध के 'कारणों' के संबंध में निष्कर्ष इस प्रकार है—'सामाजिक विकास में व्यक्ति का आचरण केवल तभी कारण हो सकता है जब पारस्परिक सामाजिक संबंध उसका कारण होना अंगीकार करें, अर्थात् सामाजिक संगठन का वह रूप जो प्रतिभावान और अप्रतिम व्यक्तियों का समाज के निर्माण में योग निरूपित करता है। परन्तु जहाँ कुछ सामाजिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति का आचरण इतिहास का निर्माण करता है, दूसरे राष्ट्रों का भाग्य आकस्मिक घटनाओं से बदल भी सकता है। परंतु इससे प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन नहीं रोका जा सकता, क्योंकि आकस्मिक घटना सापेक्ष है।' प्लेखनाव दृष्टान्ततः यूरोपियनों, मेक्सिकोवासियों के समक्ष आकस्मिक अभि-

प्राप्ति पेश करते हैं, जो उस अनाकस्मिक समुद्रतरण का परिणाम थी, जिसने पंद्रहवीं सदी में पश्चिमी यूरोप के प्रयास को अनुप्राणित किया था।

प्लेखनाव ने सही कहा है कि "प्रभावशाली व्यक्ति घटनाओं के वैयक्तिक रूप अथवा उनके कुछ परिणामों को बदल सकते हैं, परंतु वे उनके साधारण प्रभाव को नहीं बदल सकते क्योंकि उसकी प्रजनक अन्य शक्तियाँ होती हैं।"

हम हूक के एक प्रश्न का उत्तर दे कर इस समीक्षा को समाप्त करेंगे—यदि लेनिन न होता तो क्या क्रांति सफल होती? हूक का विश्वास हैकि नहीं।

यह भले प्रकार संभव है कि लेनिन बिना कभी रूसी क्रांति सफल होती। जो अन्य स्थलों पर हुआ कम से कम रूस में भी होता ही—अर्थात् ज़ारशाही समाज की कुचेष्टाओं और अनाचार, जनता का उनके प्रति असंतोष और क्रांतिकारी आंदोलन का परिणाम यही होता कि किसी न किसी अवसर पर रूसी क्रांति घटित होती।

परंतु इसका अर्थ इतिहास में व्यक्ति का प्रभाव कम करना नहीं है। स्वतंत्र समाज की ओर मानवता की प्रगति प्रत्येक गलती, प्रत्येक ग़फलत का मतलब जनता की दारुण विपत्ति है। यदि एक संघर्ष में हार जाने का यह निष्कर्ष निकाला जा रहा है कि नेताओं ने मेधा का परिचय न दिया और अगले संघर्ष में नये और प्रखरतर मेधावी नेताओं के नेतृत्व से क्रांति सफल होगी तो इसका अर्थ यही है कि व्यक्ति की महानता का अंत नहीं हो रहा है न वह व्यक्ति विशेष की ही है। वह मानवता के विकास से स्वयं विकसित होती रहती है, सब में थोड़ा बहुत उसका भाव है और मानवता अपनी प्रगति में उसकी सक्रिय निश्चयात्मक योग पायेगी।

सामाजिक क्रान्ति का एक क़दम

बैजनाथ सिंह 'विनोद'

इधर भारतीय समाज के विकास से सम्बन्ध रखने वाले कुछ प्रस्ताव और व्याख्यान सामने आए हैं। उनमें से भी हम उन्हीं बातों की आलोचना यहाँ करेंगे, जिनका एकान्तभाव से भारतीय समाज से सम्बन्ध है। इनमें से एक तो है डॉ० अम्बेडकर का "हिन्दू कानून में सुधार बिल" और दूसरा उनका लखनऊ वाला भाषण। डॉ० अंम्बेडकर आधुनिक भारत के महान मेधावी व्यक्तियों में से एक हैं। उनके कार्यों का भारतीय समाज पर प्रभाव पड़ता है। इसीलिए उनकी बातों की आलोचना करना हमारा कर्तव्य भी हो जाता है।

डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दू कानून में सुधार का जो बिल हिन्द पार्लयामेंट में पेश किया है, वह भारतीय समाज के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें कुछ बातें ये हैं:—

१. उत्तराधिकार में पुत्र के बराबर पुत्री का भी अधिकार।
२. विवाह में जाति बन्धन की अमान्यता
३. तलाक की मान्यता
४. दहेज पर कन्या का पूरा अधिकार—अर्थात् १८ साल से नीचे वधू की उम्र पर दहेजकी रकम ट्रस्ट समझी जायगी। इसके बाद वधू का उसपर पूरा अधिकार होगा। और
५. बहु विवाह का अन्त—एक ही विवाह का जायज़ रहना।

इनमें एक बात तो ऐसी है, जिसका हिन्दू समाज के निम्न स्तर में प्रचलन है और उस प्रचलन को हिन्दू कानून में स्वीकार कर लिया गया है—वह है तलाक की मान्यता। बाकी बातें हिन्दू समाज के लिए कुछ अंशों में नई कही जा सकती हैं। और इनमें भी विशेषरूप से विवाह में जाति बन्धन की अमान्यता ऐसी बात है, जिससे इस बिल का महत्त्व व्यापक और क्रान्तिकारी हो जाता है।

'विवाह में जातिबन्धन की मान्यता' ही हिन्दू समाज की आचार पद्धति का वह केन्द्र है, जिस पर जातिवाद आधारित है। यदि 'विवाह में जाति-बन्धन की मान्यता' को खतम कर दिया जाय तो जातिवाद की जड़ ही कट जाती है। एक यही वह आचारपद्धति है, जिसने हिन्दू समाज के सभी सुधारों को निरर्थक कर दिया। वर्णव्यवस्था का कर्मणा सिद्धान्त हिन्दू समाज की इसी आचार पद्धति से प्रभावहीन और बेकार हो जाता रहा है। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध भगवान महावीर ने बहुत प्रयास किए। किन्तु धीरे धीरे इसी आचार पद्धति के कारण जैन धर्म व्यवहार में जातियों को मानने लगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जन्मना वर्णव्यवस्था का घोर विरोध किया और आज भी आर्यसमाजी सिद्धान्त रूप में कर्मणा वर्णव्यवस्था में विश्वास करते हैं. किन्तु ९९ प्रतिशत आर्यसमाजी विवाह में जाति बन्धन की मान्यता के कारण ही स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तों से कोसों दूर जा पड़े हैं। जातिभेद, के विरुद्ध जितने भी आन्दोलन भारतवर्ष में चले सब की असफलता का एक बड़ा कारण विवाह में जातिबन्धन की मान्यता' ही है। यदि हम संसार के और देशों पर नजर डालें तो मालूम होगा कि अन्य देशों में जातियाँ और जनपद मिलकर एक राष्ट्र में संगठित हो गए; किन्तु अंग्रेजों के आने के पूर्व भारतवर्ष में राष्ट्रीयता नहीं थी और आज भी उसमें कमजोरी है। हमारी राष्ट्रीयता की कमजोरी का प्रमुख कारण हिन्दू समाज का जातिभेद है। इस जातिभेद को कायम रखने वाला सामाजिक आचार है विवाह में जातिबन्धन की मान्यता। डॉ० अम्बेडकर के बिल में इस मान्यता

को खत्म कर दिया गया हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि यह बिल हिन्दू समाज में क्रान्ति का प्रारम्भक है—इसके द्वारा हिन्दू समाज में क्रान्ति का प्रारम्भ होता है।

बिल की कुछ धाराओं का सम्बन्ध स्त्रियों की आर्थिक स्थिति से है। किन्तु यह आर्थिक स्थिति वह है जिसे हम समाज के निर्माण में पाते हैं। यदि हम इतिहास के प्रारम्भ से अब तक भारतीय नारी की स्थिति पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि इतिहास के अनेक युगों में भारतीय नारी ने अनेक उत्थान और पतन देखे हैं। जहाँ वैदिक काल में वह पूर्ण स्वतंत्र थी, अपने अधिकार से वह यज्ञानुष्ठानों में भाग लेती थी, पिता की सम्पति में हिस्सा पाती थी, वहाँ सूत्र तथा धर्मशास्त्र के काल में उसकी स्थिति गिर चली और फिर वह दिनों दिन गिरती ही गई। उसका स्थान शूद्रों, दासों और मवेशियों में जा पहुंचा। न वह सामाजिक और धार्मिक क्रियाओं में अपने अधिकार से भाग लें सकती थी, न अपने पिता या पति की सम्पत्ति में कोई हिस्सा। धर्मशास्त्र ने उसे पिता, पति या पुत्र द्वारा संरक्षिता माना। अब न तो वह अपना पति चुन सकती थी, न किसी प्रकार का कानूनी अधिकार रखती थी और न अपने भरण पोषण के लिए कोई स्वाधीन व्यापार कर सकती थी। कहने के लिए स्त्रियों का अधिकांश स्त्री-धन तक सीमित था : पर यह स्त्री-धन अपने आप में एक मज़ाक था। मिताक्षरा और दायभाग की विरासत सम्बन्धी टीकाओं तथा विविध व्यवहार-कल्पतरुओं में भारतीय बेजबान नारी की और भी छीछालेदर हुई।

आधुनिक युग में स्व० राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भारतीय स्त्रियों की स्थिति सुधारने में प्रशंसनीय कार्य किया। सतीदाह की अमानवी प्रथा का अन्त और विधवाओं को विवाह का अधिकार इन्हीं महानुभावों के कार्यों का फल है। इधर के दो दशकों में भारतीय समाज ने और भी प्रगति की। १९३० के सत्याग्रह संग्राम ने भारतीय समाज को नाना दिशाओं में सोचने के लिए मजबूर किया। स्त्रियों की भी एक अखिल भारतीय संस्था कायम हुई। भारतीय समाज ने नई सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में नारी की स्थिति पर फिर से विचार किया। सन् १९४५ में डा० देशमुख ने स्त्रियों के सम्बन्ध का एक बिल असेम्बली में पेश किया। परंतु सगोत्र और असगोत्र के चक्कर में पड़कर, उस की पूरी छीछालेदर हो गई। गोत्र और प्रवर के सम्बन्ध में अवैज्ञानिक तथा रूढ़िग्रस्त भावनाओं ने हिन्दू समाज की प्रगति में फिर रोड़ा अँटकाया। पर यह पिछली बातें हैं—बीते युग की कहानी हैं।

डॉ० अम्बेडकर ने जो बिल पेश किया है, उसके द्वारा कन्या को उसके भाई के बराबर पिता की सम्पत्ति में अधिकार दिया गया है। उसमें स्त्री के सीमित अधिकार का पूर्णाधिकार में परिवर्तन है। इसके द्वारा पत्नी को यह भी अधिकार है कि वह विशेष हालतों में पति से अलग रहती हुई भी पति से गुंजारा प्राप्त कर सकती है दहेज में प्राप्त सम्पत्ति पर भी स्त्री का ही अधिकार इस बिल द्वारा माना गया है। डॉ० अम्बेडकर के बिल की यह विशेषता है कि इसके द्वारा स्त्री की आर्थिक स्थिति ऊँची कर दी गई है। इस बिल से स्त्रियों की आर्थिक हीनता का अन्त हो जाता है। स्त्रियों की आर्थिक स्थिति को उन्नत करने का जहाँ तक प्रश्न है, कोई भी विचारशील व्यक्ति उसका विरोध न करेगा। हम डा० अम्बेडकर के इस बिल की सरहना करते हैं। किन्तु हम यह भी चाहेंगे कि स्त्रियों की स्थिति सुधार के उत्साह में बहकर सामाजिक सन्तुलन को बिगड़ने भी न दिया जाय। यह हम इसलिए कह रहे हैं कि बिल में हमे ऐसा दोष दिख रहा है। जैसे यदि कन्या को पिता के धन में पुत्र के बराबर धन मिले, तो पुत्र को भी माता के धन में कन्या के बराबर धन मिले—यह विधान सुन्दर लगता है। किंतु कन्या को पिता, माता और पति सबके धन में अधिकार प्राप्त हो, पर पुत्र को पिता और माता की सम्पत्ति में ही अधिकार हो, यह ठीक नहीं लगता। यदि पत्नी को पति की सम्पत्ति में अधिकार दिया जाता है, तो पति को भी पत्नी की सम्पत्ति में अधिकार देना चाहिए। किन्तु शायद ऐसा लगता है कि पति कमाने वाला है और पत्नी अर्थोपार्जन में आगे नहीं आ सकती, इसलिए पत्नी को विशेषाधिकार दिया गया है। यदि यह सच है तो ठीक नहीं। ऐसा विशेषाधिकार

देना तो यह मान लेना है कि स्त्रियाँ अर्थोपार्जन के क्षेत्र में पुरुषों से हीन हैं। सिद्धान्ततः यह बात गलत है।

दहेज पर कन्या का अधिकार मानकर और उसके लिए ट्रस्ट की व्यवस्था करके किसी अंश में दहेज की प्रथा का भी नियन्त्रण किया गया है। बौद्ध और जैन साहित्य से यह पता लगता है कि प्राचीन काल में दहेज में प्राप्त सम्पत्ति पर कन्या का अधिकार होता था। किंतु धीरे धीरे वह खतम हो गया। अब तो लड़के की शादी भी अर्थोपार्जन का साधन माना जाने लगा है। विवाह के पूर्व ही इसकी शर्तबन्दी भी करवाई जाती है। किंतु यदि ठीक अर्थों में सम्पत्ति पर कन्या का अधिकार हो जायगा, तो शायद इस दहेज के लोभ का अन्त भी हो जाय।

जहाँ तक तलाक का संबंध है वह हिन्दू समाज के निम्नस्तर में प्रचलित है। वहाँ बिरादरी की पंचायत के सामने, और उसकी स्वीकृति से तलाक होता है। तलाक के बावजूद किसी प्रकार का पतन उनमें नहीं दिखता। किन्तु यह बात भी है कि तलाक देना उनके अंदर भी अच्छा नहीं माना जाता। उनमें भी तलाक उसी हालत में होता है, जब पति-पत्नी का एक साथ रह सकना कठिन हो जाता है। अतः सिद्ध है कि तलाक परस्पर असन्तुष्ट जोड़ों को तोड़ कर सन्तोष पूर्वक रहने और नये जोड़ों के निर्वाचन का साधन है। यह आदर्श स्थिति नहीं है। इससे हीनता का ही बोध होता है। किंतु कलह पूर्ण और असन्तुष्ट गृहजीवन से यह अच्छा है। पति-पत्नी एक साथ रहने के लिए मजबूर हों और एक साथ रहकर आपस में लड़ाई झगड़ा करके अपने जीवन को नरक बना लें, इससे यह अच्छा है कि वह तलाक द्वारा एक दूसरे से अलग हो जाँय। सिद्धान्त रूप में तलाक असन्तुष्ट जोड़ों को तोड़ने का साधन है और इस रूप में तलाक का उपयोग समाजके लिए कल्याणकारी होगा। किंतु तलाक का कानून बनाते समय सरकार को बहुत सावधानी रखने की भी जरूरत है। यदि वैवाहिक जीवन में एक दूसरे के प्रति क्षमा, प्रेम और निर्वाह की भावना का समाज से अंत हो जायगा, तो सारा समाज ही नरक बन जायगा। इसलिए सामाजिक जीवन की सुन्दरता और सामंजस्य का ख्याल रखते हुए सरकार का कर्तव्य है कि वह तलाक को प्रोत्साहन न दे। प्रत्येक पढ़े लिखे पुरुष को पढ़ी लिखी स्त्री नही मिलती या जिस तरह की तितली की चाह आज के युवकों के मन में रहती है, वह उनको नहीं मिलती, तो भी दाम्पत्य जीवन में कटुता आ जाती है। किंतु यह कटुता वासना-विलास जन्य है। इसकी दवा एकमात्रसंयम है। यदि ऐसी स्थिति में संयम की उपेक्षा करके तलाक को प्रोत्साहन दिया जायगा, तो सारा भारतीय समाज नरक बन जायगा। अतः हम सरकार से अनुरोध करेंगे कि वह बहुत नियन्त्रण के साथ ही तलाक का कानून बनाए। बल्कि हम तो यह कहेंगे कि किसी व्यक्ति के एक बार के बाद जो तलाक के मुकदमें अदालत में आवें अर्थात् जो एक से अधिक बार तलाक देना चाहें, उनको सामाजिक दृष्टि से हीन करने के लिए सरकार उन पर बस के जुर्माना करे। शायद सोवियत् रूस में ऐसी व्यवस्था है भी। ऐसा करने से जहाँ एक ओर तलाक का अधिकार लोगों को प्राप्त रहेगा, वहीं बार बार तलाक देना प्रतिष्ठाहानि का कारण भी माना जायगा। बहुत सम्भव है कि ऐसी व्यवस्था से सामाजिक जीवन का सन्तुलन कायम रह सकेगा।

डॉ० अम्बेडकर के बिल में हिन्दू समाज में प्रचलित बहु-बिवाह का अंत कर के एक बिवाह की प्रतिष्ठा की गई है। संसार के सभी सभ्य देशों में एक बिवाह की ही प्रतिष्ठा है। बहु पत्नीत्व तो आदिम बर्बर युग का अवशेष है। इतिहास से यह भी मालूम होता है कि सभ्यता के उषाःकाल में संतान की विपुल वृद्धि के लिए बहु-पत्नीत्व भी एक साधन था। उस काल में संतान की विपुल वृद्धि भी आवश्यक थी। किन्तु आज ऐसी स्थिति नहीं है। आज की स्थिति में तीन से ऊपर संतान माता पिता के लिए अभिशाप हैं। इसीलिए आज सन्तति नियमन के यान्त्रिक साधन अनैतिक नहीं माने जाते। ऐसी हालत में बहु-पत्नीत्व समाज का वह सब से बड़ा पाप है, जिसके भार से समाज डूब जायगा। अतः डॉ० अम्बेडकर के बिल में बहु-विवाह को रोकने की जो व्यवस्था है

वह हिन्दू समाज के लिए मंगलकारी है। एक और दृष्टि से भी इस पर विचार किया जा सकता है। स्व० राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक आंदोलनों के फलस्वरूप हिंदू समाज में बहु-विवाह को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा है। आज एक पत्नी के रहते दूसरी शादी करने वाले को लोग चरित्रहीन और दुष्ट मानते हैं। एक पत्नी के रहते दूसरी शादी करने वाले का सामाजिक सम्मान और विश्वास घट जाता है। इससे साबित होता है कि हिन्दू समाज विकास की उस मंजिल पर है, जहाँ एक विवाह की प्रतिष्ठा अनिवार्य है। इसलिए भी डॉ० अम्बेडकर के इस बिल को मंजूर कर लेना चाहिए।

डॉ० अम्बेडकर के 'हिन्दू कानून में सुधार बिल' का समर्थन करते समय हमारे मन में एक समाजशास्त्रीय प्रश्न आता है। वे कौन से मूल कारण हैं, जिनसे हिन्दू समाज में नाना जातियों की सृष्टि हुई और जातिवाद तथा छुआछूत को मिटाने के लिए बड़े से बड़े आन्दोलनों के बावजूद भी जातियों के कायम रखने वाली वैवाहिक आचार पद्धति—स्वजाति में विवाह—का प्रचलन ज्यों का त्यों रहा? हमारे मित्र पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने सिद्धों, नाथों और संतों के गम्भीर अध्ययन के बाद इसका जवाब दिया है कि आर्थिक विषमता की सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण ही हिन्दु समाज में जाति भेद और उसकी आचार पद्धति कायम है। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ० भूपेन्द्रनाथ दत्त ने भी अपने "दी स्टडी इन इंडियन सोशल पालिटी" में यही लिखा है। हम अपने अध्ययन से भी इसी नतीजे पर हैं। ऐसी हालत में डॉ० अम्बेडकर का अछुतों के लिए दिया हुआ लखनऊ का व्याख्यान हमारी समझ में नहीं आता। हमारे मन में डॉ० अम्बेडकर के प्रति आदर है। हम उनकी मेधा के कायल हैं। इसीलिए हम उनकी अवैज्ञानिक बात का विरोध करते हैं। हम उनसे और अछूत बंधुओं से यह निवेदन करेंगे कि राजनीतिक तिकड़मों से जरा ऊपर उठकर मानव-कल्याण की बातों को सोचें। अछूतों की अछूतता को, उनके अलग अस्तित्व के अर्थ में कायम रखकर, राजनीतिक पार्टियों से सौदा करना, भारतीय समाज का पतन है। भारतीय समाज की समस्या अधिकतम अछूतों की और जातिभेद की समस्या है। इस समस्या का अर्थनीतिक और समाजशास्त्रीय समाधान जिन उपायों से हो सके, उसी का अवलम्बन सबको लेना चाहिए। भारतीय समाज के संतुलन को कुंजी ही अछूतों के हाथों में नहीं है, जिसकी ओर डॉ० अम्बेडकर ने इशारा किया है; हमारा तो मत है कि यदि अछूत उचित रूप से संगठित हो जाँय तो भारतीय समाज का भविष्य भी उन्हीं के हाथों में होगा। और हम यह देख रहे हैं कि संसार में सभी जगह मानव समाज का विकास बड़ी तेजी से उसी दिशा में हो रहा है जहाँ शोषितों और पीड़ितों के हाथों ही संसार का नवनिर्माण होगा।*

* नोट—इस लेख का प्रमुख अंश आल इण्डिया रेडियो लखनऊ से प्रसारित है, जिसे यहाँ उद्धृत करते समय हम रेडियो विभाग के अनुगृहीत हैं। —सम्पादक

पहिली मई

श्री निरंकार देव 'सेवक' एम. ए.

आज मई का पहिला दिन है,
दिन मजदूर किसानों का!

और सभी दिन पूंजीपति के
निर्दय अत्याचारों के,
और सभी दिन भूपतियों के
दारुण दुर्व्यवहारों के,

और सभी दिन जमीन्दार के
दौलत के दीवानों के,
और सभी दिन ताकतवर के,
अन्यायी हत्यारों के!

किंतु आजका दिन दुनियां में
अमर हुए बलिदानों का!
आज मई का पहिला दिन है
दिन मजदूर किसानों का!

हिलीं आज के दिन महलों की
ऊंची ऊंची दीवारें,
हिलीं आज के दिन सूरज से
बातें करतीं मिनारें!

मिली धूल में आज महत्ता,
ऊँचे ओहदे वालों की,
उठीं आज के दिन घर घर से
महाक्रान्ति की हुकारें!

आज जगा था जोश अचानक
अध-कुचले अरमानों का!

आज मई का पहिला दिन है,
दिन मजदूर किसानों का!

आज कमर कस जनता अविचल
निश्चय का व्रत धार चली,
आज कमर कस जनता करती
भीषण जय जय कार चली,

आज कमर कस जनता लड़ने
मरने को तैयार चली,
आज कमर कस जनता लेने—
को अपने अधिकार चली।

आज नहीं था मोह किसी को
अपने जीवन प्राणों का!
आज मई का पहिला दिन है,
दिन मजदूर किसानों का!

आज दबी कुचली इच्छाओं
की धाराएं फुट चलीं,
सदियों से जुलमों को सहने
की सीमाएं टूट चलीं,

आज उमंगों ने लहरों का
वेग नहीं नापा तोला,
बँधीं रहीं जो सदियों तट पर
वे नौकाएं छूट चलीं,

आज नहीं था पतवारों को
भय आंधी तूफ़ानों का!

आज मई का पहिला दिन है,
दिन मजदूर किसानों का !

आज मजूरों की आखों में
सपने नए समाए थे,
आज मजूरे अपने मन में
दुनिया नई बसाए थे,
पहिली बार आज ली टक्कर
मजदूरों ने मालिक से,

आज मजूरों की बस्ती पर
विप्लव के घन छाए थे !
बदल रहा था आज मुक़द्दर
झोपड़ियों-खलिहानों का !
आज मई का पहिला दिन है,
दिन मज़दूर किसानों का !

आज गरीबों के सीने पर
गोली गई चलाई थी,
आज गरीबों ने सीने पर
हँस कर गोली खाई थी,
आज उड़ाया गया निहत्थों-
को तोपों तलवारों से,

आज गरीबों ने मर कर भी
अपनी आन निभाई थी,
हाथ रँगा था आज खून से
निर्बल के बलवानों का !
आज मई का पहिला दिन है,
दिन मजदूर किसानों का !

दुनियाँ के मजदूर किसानों !
फिर वह प्रण दुहराओ तुम,
साथी अमर शहीदों का यह
शुभ त्यौहार मनाओ तुम,
उत्पादन के हर साधन पर
अब अधिकार तुम्हारा हो,
सब इन्सान समान विश्व में,
यह आवाज उठाओ तुम !
क्यों इन्सान बिताए जीवन,
कोई कूकर-श्वानों का !
आज मई का पहिला दिन है,
दिन मजदूर किसानों का !

साहित्यिक प्रगति

श्री सीताराम जायसवाल

आधुनिक आलोचना

आधुनिक आलोचना पर विचार करते समय 'आधुनिक' से तात्पर्य उस काल से है जिसकी छाया अब भी समाज पर पड़ती है, जो समाज से अनुप्राणित है, जिससे समाज अनुप्राणित हैं। 'आधुनिक' शब्द नवीनता के स्थायी रूप को व्यक्त करता है, क्षणिक को नहीं। उसमें परम्परा और परिस्थिति का सामंजस्य उपस्थित होता है। 'आधुनिक' कल अतीत होगा मगर फिर भी उसका रूप इतना आकर्षक और सुन्दर है कि समाज और साहित्य उसके साथ चल पड़ता है। आधुनिक का प्रभाव अतीत की सीमित दृष्टि से शुभ नहीं। लेकिन विकास और व्यवस्था के आधार पर आधुनिक अभिनंदनीय है।

आधुनिक आलोचना के सम्बन्ध में आधुनिक युग के जीवन और दर्शन, इच्छाओं और संकल्पों पर विचार करना होगा। संसार के विकास के क्रम, सभ्यता और संस्कृति को देखना होगा। अतः आधुनिक आलोचना की भूमिका में सांस्कृतिक परम्परा, सामाजिक विकास और युगधर्म अथवा समकालीन चेतना का ध्यान आवश्यक है। बिना इस परम्परा के आधुनिक आलोचना का आधार प्रशस्त हो ही नहीं सकता। लेकिन इस तथ्य को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। अतीत के गौरव और परम्परा के मोह के कारण भूत के आधार पर वर्तमान का मूल्यांकन किया जाता है। आज का अतीत जो कल का वर्तमान था कुछ मूल्यों को निर्धारित कर सका था समाज के हितके लिए। उन मूल्यों का सामयिक उपयोग और महत्त्व था। उनमें इतना स्थायित्व भी था कि जीवित रह सके और उसी के बल पर आज जीवित है भी। पर इतना स्वीकार कर लेने के पश्चात् आज की परिस्थिति में अतीत के उन मूल्यों का प्रयोग कैसे किया जा सकता है? युग बदला, समाज विकास के पथ पर एक कदम आगे चला, उसकी भावनाओं ने नवीन रूप धारण किया। अतः वर्तमान समाज की अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए, उसकी सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अतीत के मूल्यों में आवश्यक संशोधन अनिवार्य है। इस तथ्य को वह वर्ग स्वीकार नहीं करता जो एक प्रकार की व्यवस्था के आधार पर पोषित है और परिवर्तन अथवा संशोधन में अपने स्वार्थों का अहित देखता है। इसलिए वर्तमान की इच्छा और आवश्यकता की पूर्ति अतीत के आधार पर करने वाला वर्ग आधुनिक चेतना का विरोधी है। उसका विरोध उसके स्वार्थों के कारण होता है और वह विरोध स्वाभाविक प्रक्रिया का रूप धारण करके गति को नहीं देख पाता। गति, चेतना और क्रियाशीलता से प्रभावित समाज अतीत के मोह में नहीं पड़ता। वह तो गति को जीवन का चिन्ह मानता है और नवीन जो 'आधुनिक' का अंकुर है उसका स्वागत करता है।

हिन्दी साहित्य की आधुनिक आलोचना में दो धाराएं स्पष्ट हैं। आधुनिक आलोचना की एक धारा संस्कृत-साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों को लेकर चलती है। इस धारा के आलोचकों का मत है कि आधुनिक अलोचना का रूप संस्कृत-साहित्य शास्त्र के अनुसार ही होना चाहिए। वे आज भी केवल 'रसमय वाक्य' को काव्य कहते हैं। लेकिन रस किस सामाजिक श्रेणी का हो इस पर विचार नहीं करते। यदि रस के स्वरूप को विस्तारपूर्वक समझ सकें तो उन्हें ज्ञात होगा कि रस सिद्धान्त उन्हें सीमित होने के लिए नहीं कहता, क्योंकि 'रस न सामान्य है, न विशेष, रस न द्रव्य है, न गुण और न इन सबसे परे। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने रस को अपने काल की विशिष्ट परिभाषा ब्रह्मानंद के बराबर बताया है।' (रस-सिद्धान्त और प्रगतिवाद : विनोद)।

अतः आधुनिक आलोचना का एक वर्ग समय की गति को छोड़कर, समाज की परिस्थितियों को भूल कर संस्कृत साहित्य के रूढ़ आलोचना सिद्धान्तों को लेकर चल रहा है। यह वर्ग अबतक न जान पाया कि प्राचीन आलोचना के सिद्धान्त गलत नहीं, गलत है वह अर्थ जो उनसे आज निकाला जाता है, गलत है उनकी गठन शैली जो उन्हें सत्य से दूर रखती है। इस प्रकार आधुनिक आलोचना में प्राचीनता के प्रेमियों का समुदाय आज भी अपने श्रेणीगत स्वार्थों के कारण नवीन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता।

दूसरी ओर आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारधारा के आलोचक हैं। इस वर्ग के आलोचकों का कथन है कि मार्क्स के दर्शन ने जीवन और साहित्य के सत्य को एक नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। मार्क्स के दर्शन के अध्ययन के द्वारा यह ज्ञात होता है कि जग का जीवन एक विकास के पथपर चलता है। यह विकास का पथ कैसा है और इस पथ पर चलने के लिए किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, इसे भी जाना जा सकता है। इस प्रकार आधुनिक आलोचना में मार्क्सवादी विचारधारा के कारण नये सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। 'रस' के सम्बन्ध में मार्क्सवादी आलोचकों का यह मत है कि फ्रायड ने आधुनिक मनोविज्ञान में नये प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिया है कि रस का वह रूप नहीं हो सकता जैसा कि रस-सिद्धान्त के पोषक मानते हैं! मार्क्सवादी विचारधारा के कारण आधुनिक आलोचना में साहित्य और साहित्यकार का मूल्यांकन उसके आर्थिक व्यवस्था के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार आधुनिक अलोचना में दूसरी धारा सामाजिक विकास को लेकर चलती है। अतः दो विरोधी धाराओं के कारण आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है।

आधुनिक आलोचना की इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है रस-सिद्धान्त और मार्क्सवादी सिद्धान्त का समन्वय। इस समन्वय की पहली पूर्ति है 'रस' के वास्तविक रूप से परिचय। 'रस-सिद्धान्त और प्रगतिवाद' पर विचार करते हुए 'विशाल भारत' के अप्रैल ४६ के अंक में श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' ने लिखा था कि 'प्रगतिवाद रस-सिद्धान्त का विरोधी नहीं है, बल्कि उसके विकास का हिमायती है। अगर वह विरोधी है. तो रस-सिद्धान्त के सीमित और क्षमताशील श्रेणी के लिए ही प्रयुक्त होने का। प्रगतिवाद चाहता है कि रस-सिद्धान्त विकसित होकर जन-चित्त की इच्छा-आकांक्षाओं को वहन करने लायक हो। वह जन-चित्त से अनुप्रमाणित हो और जन-चित्त उससे अनुरंजित हो। रस-सिद्धान्त प्रगतिवाद का विरोधी हो ही नहीं सकता। कारण, प्रगतिवाद उसके विकास का पथ प्रशस्त करता है।'

आधुनिक आलोचना में रस-सिद्धान्त के निरूपण के साथ समाज की विकासशीलता का भी अध्ययन आवश्यक है। वर्तमान आलोचकों का यह वर्ग जो संकुचित रस-सिद्धान्त को मानता है, मार्क्स के दर्शन से अपरिचित होने के कारण आधुनिक साहित्य के साथ न्याय नहीं कर पाता। इसलिए आधुनिक आलोचना की दृष्टि से रस-सिद्धान्त को इतना विस्तृत करने की आवश्यकता है कि वह सामाजिक विकास को ग्रहण कर सके।

*

सावधानी की आवश्यकता

विश्वभारती पत्रिका के खंड ६ अंक २ में आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने 'सावधानी की आवश्यकता' बताई है, इसलिए कि आज का साहित्यकार अपने आत्म-विश्वास को उतना नहीं रख पा रहा है, जितना कि वह पहले रख पाता था। इसका कारण यह है कि 'सैकड़ों वर्ष की गुलामी से कुचला हुआ मनोभाव उत्तरदायित्व देखकर बिदक गया है।...शत्रुओं की कूट बुद्धि पर, प्रतिद्वंद्वियों की चालबाजियों पर और अपनी मूर्खता पर हमें बहुत ज्यादा विश्वास है और अपनी दृढ़ता पर, अपनी नीति पर और अपने अधिकार पर बहुत कम।' वास्तव में आज हमारे जीवन में संदेह की मात्रा बढ़ गई है और विश्वास कम हो गया है। ऐसा इसलिए हो रहा है कि हमारे विश्वास का आधार इतना मजबूत नहीं था कि वह संदेह के आक्रमणों को रोक सकता। हम किसपर विश्वास करते थे? किस लक्ष्य की प्राप्ति में लीन थे? स्वतंत्रता के संग्राम में देश एक ऐसी भावना लेकर जूझ पड़ा था जो उस समय बुद्धि की बात, और भविष्य की बात भी नहीं

सुनती थी। अतः परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्रता के नाम पर हमें एक बड़ा 'धोखा' मिला और उस 'धोखे' का रूप कितना भयानक है! आज 'स्वतंत्रता' तो मिल गई पर जन-सामान्य के जीवन पर सुख की छाया भी नहीं पड़ी है। इन परिस्थितियों के बीच संदेह और विश्वास का संघर्ष उपस्थित हो गया है। आचार्य जी ने ठीक ही कहा है कि 'आज हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमारे युवकों में मनुष्यता के लिए बलि होने की उमंग पैदा करे, अन्याय से जूझने का उत्साह पैदा करे और अपने अधिकारों के लिए मिट जाने के लिए अकुंठ साहस का संचार करे।'

आगे चल कर द्विवेदी जी ने एक सामयिक प्रश्न की ओर संकेत किया है। आज का युग प्रमुख रूप से प्रगतिवादी है। यह बात तो मान ली गई है, और वे दिन लद गए जब प्रगतिवाद के अस्तित्व तक को भी स्वीकार नहीं किया जाता था। इसलिए इस प्रगति काल में जो साहित्यिक रचनाएं प्रकाशित हो रही हैं वे अपने को 'प्रगतिशील' कहती हैं। लेकिन प्रगतिवाद को ठीक ठीक न समझने के कारण ऐसी रचनाएं भी 'प्रगतिशील' घोषित कर दी जाती हैं जो प्रगति के पथ से कोसों दूर हैं। आचार्य जी लिखते हैं कि 'आज समय आ गया है कि इन रचनाओं का विश्लेषण करके ठीक ठीक समझ लिया जाय कि 'प्रगतिशील' वस्तुतः कौन-सी है और केवल अधकचरे आधुनिक विचारों को हवा में से पकड़ कर ऊपर से अपना कारबार करने वाली रचनाएं कौन हैं।' और प्रगतिवादी रचना के सम्बन्ध में भी आचार्य जी ने अपना मत स्पष्ट कर दिया है—'मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं हूँ जिनमें संसार को नये सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़संकल्प न हो। जो रचनाएं केवल हमारी मानसिक चिंताओं का विश्लेषण करने का दावा करके हमें जहाँ का तहाँ छोड़ देती हैं उनमें गति ही नहीं है। उन्हें प्रगतिशील तो कहा ही नहीं जा सकता।' अतः आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम तथाकथित 'प्रगतिशील' रचनाओं को वास्तविक प्रगतिवादी साहित्य से अलग रखें।

*

साहित्य और मनोविज्ञान

द्विवेदी जी ने अपने इसी लेख में मनोविज्ञान का जो प्रभाव साहित्य पर पड़ा है उसे भी दिखाया है। मनोविज्ञान को लेकर जो गलत धारणाएं साहित्य में आ गई हैं उसका एक कारण तो यह है कि फ्रायड के मनोविज्ञान को ठीक ठीक समझा नहीं गया है। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक विचारों का अध्ययन किए बिना कई साहित्यकार अपने साहित्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टि का प्रयोग करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि मनोविज्ञान के नाम पर ऐसी वस्तुएँ साहित्य में आ गई हैं जो मनोवैज्ञानिक तो हैं ही नहीं, साथ ही हानिकर भी हैं। इस प्रकार के अधकचरे मनोवैज्ञानिक विचारों का बड़ा घातक असर हमारे साहित्य पर हो रहा है।

लेकिन एक दूसरा पक्ष भी है जिसका आधार मार्क्सवाद है। मार्क्सवादी साहित्य के सम्बन्ध में आचार्य जी का मत है कि - 'मार्क्सवादी साहित्य कितने भी दुर्धर्ष जड़-विज्ञान के तत्ववाद पर आधारित क्यों न हो वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता। सिद्धांत रूप में वह चाहे जो भी स्वीकार क्यों न करता हो, साहित्य में वह मनुष्य को दृढ़चित्त बनाने का कार्य करता है।' मार्क्सवादी साहित्य की इस विशेषता का उल्लेख करने के बाद ही द्विवेदी जी आज के साहित्य के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रगट कर देते हैं—'खेद है कि सभी मार्क्सवादी इस बात में पूरे नहीं उतरते। कभी कभी एक ही स्थान पर एक तरफ तो वे ऐसी धारणा का निर्माण करते हैं जो कठिनाइयों से जूझता है और दूसरे ही क्षण मानस विश्लेषण करके उसे प्रसुप्त वासनाओं का प्रतिफलन मात्र बता देते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इस श्रेणी के साहित्यिक अभी भी अपने कर्तव्य साफ़ नहीं समझ रहे हैं।' वास्तव में प्रगतिवादी साहित्य की आज यही एक बड़ी समस्या है। प्रगतिवाद का सिद्धान्त स्पष्ट है; लेकिन उसका व्यवहार साहित्य में जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा है। यदि प्रगतिवादी साहित्यकार इस समस्या को सुलझा सके और घातक 'प्रयोग' की प्रवृत्ति को छोड़कर 'प्रगति' की प्रवृत्ति अपना सके तो एक नये समाज के

निर्माण में सहायक हो सकेंगे। आज भी देश में जाति-भेद और छुआछूत की विचित्र प्रथाएँ हैं। इसे दूर करने का प्रयत्न क्यों नहीं नये लेखक करते। द्विवेदी जी चाहते हैं कि नये साहित्यकार इस जाति-भेद और छुआछूत को नष्ट कर नई संस्कृति की रचना करें। वे लिखते हैं—'अपने देश के तरुण साहित्यकारों से मेरा अनुरोध है कि वे अपने देश को उसके समस्त गुण-दोषों के साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें जो इस जीर्ण देश में ऐसे नवीन अमृत का सँचार करे कि वह एक दृढ़चेता व्यक्ति की भाँति संसार से घृणा और अन्याय को मिटा देने के लिए उठ खड़ा हो।......तरुण साहित्यकार के लिए आज स्वर्ण संयोग प्राप्त है।......इस समय दुविधा और झिझक की जरूरत नहीं है।......अपनी आँखों से अपने वृद्ध जर्जर देश को देखना है और दृढ़ चरित्रता के अमृत से सींचकर इसे महत्तर बनाना है। साहित्यिक प्रयोग करते समय हमें बार बार यह बात सोच लेनी चाहिए।'

इस प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तरुण साहित्यकारों का पथ-निर्देश किया है और प्रगतिवाद का समर्थन करते हुए उसे आशीर्वाद दिया है।

*

नाटक की उत्पत्ति

'नाटक की उत्पत्ति मानव जीवन की क्रीड़ात्मक सत्ता से हुई है। यह क्रीड़ात्मकता मानसिक और शारीरिक दोनों ही हो सकती है। 'नाटक की साहित्यिक आधार भूमि से उतर कर हमें उसकी उत्पत्ति मानव जीवन की प्रारम्भिक स्वच्छंद क्रीड़ाओं और प्रवृत्तियों में खोजना है। इस प्रकार इस विषय में मनोविज्ञान और प्राणि-विज्ञान के वंशानुगत आधार पर विचार करना होगा।' आगे चल कर 'नाटक की उत्पत्ति' के सम्बन्ध में श्री रघुवंश 'पारिजात'—२, में अन्यत्र लिखते हैं—'नाटक की रचनात्मकता में कथा वस्तु का महत्वपूर्ण विकास मनोवेग के क्षेत्र से जीवन के व्यापक परिस्थितियों के अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण हुआ है। समाज विकास के साथ जीवन का रूप बहुत कुछ निर्धारित होता है...आधुनिक युग अपने जीवन की समस्याओं की उलझन में अधिक तार्किक हो गया है, उसकी मनोभावनाएं भी इन्हीं समस्याओं में उलझी रहती हैं, उसका कोई अलग अस्तित्व नहीं। इसी कारण वह अपनी समस्याओं और जीवन के मानसिक अनुकरण द्वारा ही आत्मतुष्टि और सुखानुभूति प्राप्त करता है।'

इस प्रकार लेखक ने नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण से विचार किया है। समाज के विकास के साथ साथ नाटकों के विकास को मनोवैज्ञानिक भूमि पर रख कर लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्ति और समाज का साहित्य की दृष्टि से क्या सम्बंध है और उसका साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ता है।

नाटक ही में सम्पूर्ण कलाओं का योग होता है। नाटक एक केन्द्र विन्दु है जहाँ पर काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, वास्तुकला आदि की रश्मियां केन्द्रित होकर एक ऐसे दृश्य का निर्माण करती हैं जिसमें देश, काल और समाज अन्तरलीन हो जाता है। अतः नाटक में यह शक्ति कहाँ से आई, कैसे आई और उसका विकास किस प्रकार हुआ इन सभी दृष्टियों से श्री रघुवंश एम० ए० का लेख पठनीय है।

*

पाश्चात्य आलोचना

'पाश्चात्य आलोचना : पृष्ठभूमि प्रवृत्तियाँ' दृष्टिकोण' के फरवरी, सन् ४८ के अंक में श्री श्रीकांत गोविन्द ने लिखा है। लेखक के अनुसार 'वर्तमान अंग्रेजी समीक्षा का बीज अर्नाल्ड के इन तीन शब्दों (जीवन की समालोचना) में निहित है।' लेकिन 'रस्किन ने कला को सुन्दरता से संबद्ध करके उन समीक्षकों का पथ प्रशस्त किया जो कहा करते थे कि कला कला के लिए है' इस प्रकार लेखक गोर्की, मोपासाँ, जोला इत्यादि के यथार्थवाद का उल्लेख करते हुए अंग्रेज़ी कविता की रूमानी परम्परा पर प्रकाश डालता है। इसके बाद लेखक महोदय वर्तमान पाश्चात्य आलोचना का आरम्भ टी० एस० एलियट से मानते हैं। एलियट के विषय में लेखक का विचार है कि वह एक ऐतिहासिक आलोचक है। 'ऐतिहासिक आलोचक' से आपका तात्पर्य ऐसे आलोचक से है जो इतिहास की

परम्परागत शृंखला में कलाकार को देखता है। इस प्रकार की आलोचना आपको पसन्द है और आप लिखते हैं—'हिन्दी साहित्य में यदि इस तरह की आलोचना करनी हो तो सोहनलाल द्विवेदी के वीर रस, और स्वदेश-प्रेम की कविता का विश्लेषण चन्दबरदाई, भूषण, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर इत्यादि लेखकों की वीर काव्य परम्परा के संमुख रख कर ही होगा।' लेखक के इस मत से सहमत होने में कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। आलोचना के लिए ऐतिहासिक परम्परा आवश्यक है, पर साथ ही हम उन परिस्थितियों को भी नहीं भुला सकते जिनसे कवि प्रभावित होता है। इसलिए परम्परा और परिस्थिति का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि उसे अलग नहीं किया जा सकता। जहाँ लेखक महोदय आलोचना के लिए केवल ऐतिहासिक परम्परा की आवश्यकता समझते हैं, वहीं मैं सामाजिक विकास और सामाजिक परिस्थितियों को अनिवार्य मानता हूँ। बिना ऐसा माने न परम्परा का कोई अर्थ होता है और न इतिहास का। अतः आलोचना के लिए, अतीत की सामाजिक विकास की उन दशाओं का अध्ययन करना होगा जिनके आधार पर साहित्य का रूप निखरता रहा है और जिनकी भावनाओं को साहित्य व्यक्त करता रहा है।

'पाश्चात्य आलोचना' के सम्बन्ध में लेखक ने प्रमुख आलोचकों के सैद्धान्तिक वाक्यों का उल्लेख किया है, निरूपण और विवेचना नहीं। मगर फिर भी इस लेख की उपयोगिता इस दृष्टि से अवश्य है कि पाश्चात्य आलोचना के सम्बन्ध में रूढ़िवादियों द्वारा फैलाए गये भ्रम को दूर करने में सहायक होता है।

*

संस्कृतियों का अंतरावलम्बन

'संस्कृति एक प्रकार का मानसिक विकास है, एक विशिष्ट दृष्टिकोण, जो सभ्य मानव में हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। यह एक प्रकार का संस्कार है, मानसिक निखार और यह संस्कार व्यक्तिगत भी हो सकता है, सामूहिक भी।' इस प्रकार 'संस्कृति' के सम्बन्ध में श्री भगवतशरण उपाध्याय ने 'प्रतीक—५' में 'संस्कृतियों का अंतरावलम्बन' लिखते हुए कहा है। इस लेख में यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'संस्कृति तत्वतः एक की नहीं, अनेक की है, उसकी अभिसृष्टि बहुमौखिक और मिश्रित है। वह एक अविशेषित परम्परा है जिसका निर्माण मनुष्य अपने सामाजिक विकास के क्रम में अपने व्यवहारिक जीवन में अनायास करता जाता है।......वस्तुतः संस्कृति एक देशीय नहीं अन्तर्देशीय, अन्तर्जातीय, अंतः सामाजिक है। संस्कृतियों के स्वावलम्बन का कोई अर्थ नहीं होता, उनके अंतरावलम्बन मात्र की वैज्ञानिकता सिद्ध है, ग्राह्य है।' इसके बाद कई प्रमाणों द्वारा इस मत को सिद्ध किया गया है। वेश-भूषा, कला, साहित्यादि पर विचार करने के पश्चात् विद्वान् लेखक ने भारत के ज्योतिष, ललित कलाओं आदि पर विदेशी प्रभाव भी दिखाया है। यह एक ऐसा विषय है जिसे भारतीय संस्कृति के अंधभक्त नहीं समझ पाते। इसलिए उपाध्याय जी ने इस विषय पर अपने विचार व्यक्त कर 'संस्कृति' का उपकार किया है। अनेक प्रमाणों और तर्कों द्वारा श्री भगवतशरण उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—

"संस्कृति केवल कुछ काल तक ही एक देशीय रह सकती है, अपने विकास-क्रम के युगांत-संधियों के अल्पकाल मात्र में। शीघ्र फिर वह अपने प्रवाह में चल पड़ती है। समष्टि और समन्वय उसके शारीरिक अवयव हैं। शरीर की ही भाँति उसके भी संधियाँ हैं, अनंत जहाँ एकैक संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ है। परन्तु जैसे नदियों के संगम के पूर्व की पृथक धारा में संगम के बाद मिलकर एक हो जाती है, संस्कृति भी अनेक समाजिक धाराओं का सम्मिश्रित प्रवाह है, अविच्छिन्न और स्वभाविक।"

*

जीवित अतीत

अप्रैल, ४८ की 'जनवाणी' में श्री महेन्द्रचंद्र राय ने अपने लेख 'जीवित अतीत' में भूत-भविष्य-वर्तमान पर विचार करते हुए यह व्यक्त किया है कि वास्तविक अतीत वही है जो जीवित है—हमारे संस्कारों में, हमारी इच्छाओं और भावनाओं में। इस प्रकार अतीत पर एक नवीन दृष्टि से विचार करने पर प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष उपस्थित नहीं होता। वरन् नवीन को समझने में सहायता मिलती है। वर्तमान सांस्कृतिक

समस्या को सुलझाने के लिए 'जीवित अतीत' का दृष्टिकोण अभिनंदनीय है। साहित्य और संस्कृति का जो 'अतीत' से सम्बन्ध है उसके विषय में श्री राय का विचार है कि 'प्राचीन युग का जो साहित्य अपने जन्मकाल में विशेष तात्पर्य और विशेष आवेदन (Appeal) लेकर तत्कालीन समाज-चित्त को आलोड़ित किए था, क्या आज भी वह साहित्य वर्तमान काल के मानव-चित्त को उसी तात्पर्य से मुग्ध करने में समर्थ हो रहा है? संभवतः नहीं।' और सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो अतीत के सम्बन्ध में है वह इस प्रकार है—'यदि जीवन को—चाहे वह व्यष्टि के क्षेत्र में हो, चाहे समष्टि के क्षेत्र में—वास्तविक सार्थकता की ओर अग्रसर होना है तो उसे वर्तमान के साथ अतीत समन्वित कर अखंड वर्तमान की उपलब्धि को प्राप्त करना होगा ही। अतीत को वर्जन न करना नहीं, बल्कि वर्तमान में उसे यदि रूपान्तरित न किया जायगा तो वह अतीत एक दुर्वह शव की तरह हमारी यात्रा को व्याहत करेगा।'

इस प्रकार हम अतीत के दो रूपों से परिचित होते हैं। एक तो जीवित जिससे हमारी सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक विकास को गति प्रदान होती है और दूसरा मृत जो रूढ़ियों का रूप धारण करके उन्नति के मार्ग में बाधाएं उपस्थित करता है। अतीत के प्राण से अपरिचित व्यक्तियों का समूह यह नहीं जानता कि उसका अतीत मृत है अथवा जीवित। भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था, साहित्य में रस-सिद्धांत का संकुचित रूप, सामाजिक विकास की अवहेलना, आर्थिक विषमता को भाग्य का पर्यायवाची मानना आदि मृत अतीत के प्रतीक हैं। लेकिन जो समुदाय अतीत में से उन वस्तुओं को लेता है, जिनसे वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिलती है और जो भविष्य के अंधकार को दूर करती हैं, उनमें वह क्षमता उत्पन्न होती है जो नव-संस्कृति के निर्माण में सहायक होती है।

आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम अतीत के वास्तविक रूप को ग्रहण करें और उसके जीवन से परिचित हों, जिससे वर्तमान सांस्कृतिक समस्या सुलझ सके। समन्वय के लिए अतीत और वर्तमान का सम्बन्ध भी अत्यंत आवश्यक है। इसलिए जब कि हम नये समाज की रचना में लगे हुए हैं, नया विधान प्रस्तुत कर रहे हैं, उस समय जीवित अतीत का बल हमारे लिए वांछनीय है।

सम्पादकीय

साहित्य और सरकार

केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें इस समय योजनाओं की भरमार कर रही हैं। तरह-तरह की योजनाएँ पेश की जा रही हैं और उन पर लाखों नहीं करोड़ों और अरबों के खर्चे का ब्यौरा रखा जा रहा है। बाँध, बिजली, खाद, सड़क, अस्पताल, लोहा, जस्ता—कौन से क्षेत्र हैं, जिनपर एक बड़ी योजना हमारे सामने नहीं है। अगर कोई योजना नहीं सामने आई है, तो साहित्य की। अगर देश में मानसिक पुनर्जीवन लाना है, तो साहित्य के सृजन, प्रकाशन और वितरण के लिए भी हमें एक योजना बनानी पड़ेगी। व्यक्तिगत रूप से साहित्य का जो सृजन हो रहा है, हमारे लिए यही सब कुछ नहीं है। आज उन्हीं विषयों पर लोग लिखते हैं और सबसे बढ़कर उन्हीं विषयों पर किताबें छपती हैं, जिनकी माँग और खपत बाजार में है। पिछले दस वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों की सूची तैयार कीजिए। आप आश्चर्य करेंगे, उच्च कोटि का साहित्य कितना कम निकल पाया है! फिर बहुत सी ऐसी पुस्तकें हैं, जिनका सृजन या प्रकाशन व्यक्तिगत रूप से किया नहीं जा सकता। एक उदाहरण लीजिए। वेद से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की संस्कृत की जितनी सुन्दर रचनाएँ हैं, उनका हिन्दी-अनुवाद तुरंत प्रकाशित किया जाना चाहिए। अपने साहित्य की परम्परा को जाने बिना हम आगे के लिए सम्यक् साहित्य का सृजन नहीं कर सकते। फिर उनमें जो अनमोल रतन भरे पड़े हैं, उनसे हम भारतीय जनता को कब तक वंचित रखेंगे? क्या हमारे लिए यह शोभनीय है कि कालिदास की शकुन्तला का भी कोई अनुवाद हमारे पास नहीं,—हम राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद पर ही सन्तोष किए बैठे हैं! यों ही यूरोपीय भाषाओं के साहित्य में जो कुछ सुन्दर और कल्याण-प्रद है, उन्हें भी हिन्दी में आना चाहिए। शेक्सपीयर का 'हेमलेट' गेटे का 'फोस्ट' और रोम्यां रोलां का 'जान क्रिस्तोफ' हिन्दी में हम नहीं पा सकते—क्या यह हमारे लिए लज्जा का विषय नहीं है? फिर इन यूरोपीय भाषाओं में विज्ञान सम्बंधी जो व्यापक साहित्य है—उन्हें हिन्दी में लाए बिना हम उन्नति के क्षेत्र में कितने कदम आगे बढ़ सकेंगे? युक्तप्रान्त, मध्य प्रांत और बिहार की सरकारें यदि मिल कर एक पंचवर्षीय योजना साहित्यिक प्रकाशन के लिए बनावें और जिसे कार्य रूप में परिणत करें, तो हिन्दी भाषी जनता का महान कल्याण हो। क्या माननीय सम्पूर्णानन्द जी इस ओर ध्यान देंगे? अर्थात् वे आगे बढ़ें तो बिहार और मध्यप्रान्त की प्रान्तीय सरकारों से भी उन्हें पूर्ण सहयोग मिलेगा, हमें इस बारे में जरा भी सन्देह नहीं है।

—रामवृक्ष बेनीपुरी

राष्ट्रभाषा की प्रतीष्ठा का प्रश्न

राष्ट्रभाषा के प्रचार में यह भाव निहित था कि वह राष्ट्र की राजकीय भाषा बनेगी। यही तर्क महात्मा गांधी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नेता राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्बन्ध में देते रहे हैं। अबतक यही प्रचारित किया गया है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी को अंग्रेजी की जगह पर प्रतिष्ठित किया जायगा। भारतवर्ष के स्वाधीन होते ही हिन्दी को अंग्रेजी की जगह पर प्रतिष्ठित करने का प्रश्न भी आ गया। किन्तु अबतक भारतीय यूनियन ने यह निश्चय नहीं किया कि भारतीय यूनियन की राजकीय भाषा—राष्ट्रभाषा—क्या होगी? जैसे उसने स्वराज्य मिलने के पूर्व स्वराज्य प्राप्त भारतवर्ष के विधान का कोई ख़ाका नहीं बनाया था, जैसे उसने अबतक भारतवर्ष के पुनर्निर्माण का—भारतीय समाज के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक निर्माण का—कोई निश्चित नक़्शा नहीं बनाया है, वैसे ही उसने यह भी घोषित नहीं किया कि भारतीय यूनियन की राजकीय भाषा क्या होगी—राष्ट्रभाषा क्या होगी। परिणाम यह है कि राष्ट्रभाषा क्या होगी,-इस घोषणा के अभाव में ऐसा साहित्य किसी भी भारतीय भाषा में अप्राप्त है जिसके द्वारा विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा दी जा सके। भारतीय यूनियन के इस बुनियादी विभ्रम या 'गोल' का प्रभाव आज स्पष्ट हो गया है।

अभी अभी डॉ० ताराचन्द्र जी की अध्यक्षता में भारतवर्ष के शिक्षा विशारदों का एक सम्मेलन नई दिल्ली में हुआ था। उसने यह योजना बना दी कि कैसे उस योजना के लागू होने के समय से शुरू कर ५ वर्ष में भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा "राष्ट्रभाषा" द्वारा दी जा सकती है। किन्तु चूंकि भारतीय यूनियन की भाषाविषयक नीति अभी 'गोल' है, इसलिए इस सम्मेलन ने भी गोल शब्द "राष्ट्रभाषा" का प्रयोग किया—उसने यह नहीं कहा कि किस भाषा में। भारतीय यूनियन की योजनारहित नीतिका यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।

महाभारत में कहा गया है "राजा कालस्य कारणम्" और आज हम कह सकते हैं 'राष्ट्रम् कालस्य कारणम्'। अव्यवस्थित नीतियों वाला राष्ट्र कभी अच्छे काल का निर्माण नहीं कर सकता, इसे यहीं हम बताते हैं। कांग्रेस ने अपनी ओर से राष्ट्रभाषा की निश्चित घोषणा नहीं की थी। दो लिपियों वाली लँगड़ी भाषा हिन्दुस्तानी राष्ट्र की भाषा हो सकती है, इसे न हम मानते हैं और न अबतक किसी ने सम्पूर्ण राष्ट्र से मनवाया। किन्तु सम्भावना उसकी बराबर बनी रहने दी गई। उसी दिशा में राष्ट्रीय कहा जाने वाला प्रयत्न भी किया गया। इस अनिश्चय से उत्पन्न वातावरण के कारण प्रकाशकों ने किसी भी भारतीय भाषा में ऐसे साहित्य का अनुवाद भी नहीं करवाया जिसे विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा सके। इसी अनिश्चय के कारण ऐसा कोष भी नहीं प्रस्तुत हो सका, जिसके अन्दर विज्ञान और कला के पारिभाषिक अंग्रेजी शब्दों का अर्थ हो। इसी अनिश्चय के कारण हिन्दी की साहित्यिक संस्थाओं ने प्रचारात्मक कार्य पर ही विशेष जोर दिया, सृजनात्मक कार्य पर नहीं। फलस्वरूप आज किसी भी भारतीय भाषा में (हैदराबाद की राजभाषा उर्दू को छोड़कर) ऐसे साहित्य का अभाव है, जिसके द्वारा विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा दी जा सके। अहिन्दी भाषा समूह में यह भाव काम कर रहा था कि उन में से किसी को राष्ट्रभाषा का पद न प्राप्त हो सकेगा और हिन्दी भाषा के सामने हिन्दुस्तानी का खतरा था। राष्ट्रीय नेताओं की इस दुर्बलता ने, राष्ट्रीय नेताओं के इस अनिश्चय ने भारत राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास को अवरुद्ध कर दिया।

अब आज इस सांस्कृतिक गति अवरोध का दूसरा अध्याय खुल रहा है। डा० ताराचन्द जी की अध्यक्षता में होनेवाले शिक्षाशास्त्रियों के सम्मेलन ने योजना बना दी की ५ साल के अन्दर अंग्रेजी को हटाकर "राष्ट्रभाषा" को विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम

बनाया जा सकता है। किन्तु राष्ट्रभाषा क्या हो, इसका निश्चय अभी भारतीय संघ को करना है। इसका निश्चय करने में अभी समय लगेगा। इसके बाद असली प्रश्न सामने आयेगा कि राष्ट्रभाषा में उच्च शिक्षा दे सकने लायक साहित्य ५ साल के अन्दर कैसे तैय्यार होगा। फिर विविध विषयोंके साहित्यके अनुवाद और निर्माण के लिए योजना बनाने वाली समितियाँ बनेगीं। फिर गजगति से समितियों का काम चलेगा। समितियाँ अपनी योजना बनाकर आई० सी० एस० सेक्रेट्रियों को देंगी 'सेक्रेट्री' अपने लाल फीता के पाल में योजना को पकायेंगे। इसके बाद विश्वविद्यालयों के अन्दर नाना विषयों को पढ़ाने लायक साहित्य का अंग्रेजी से अनुवाद शुरू होगा; विद्वानों द्वारा विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने लायक साहित्य का निर्माण कार्य शुरू होगा। और फिर इस बीच यदि विश्व युद्ध की विभीषिका न आई तो ऐसा साहित्य छपकर तैय्यार हो सकेगा।

अब विज्ञ और सुधी-जन सोच लें कि सरकारी गति के हिसाब से इस सारी प्रक्रिया में कितना समय लगेगा,—अर्थात् कितने वर्ष तक स्वाधीन भारत राष्ट्र विदेशी भाषा अंग्रेजी का गुलाम रहेगा? अर्थात् कितने वर्ष बाद भारत राष्ट्र की अपनी राष्ट्रभाषा प्रतिष्ठित हो सकेगी?

—बैजनाथसिंह "विनोद"

एक सांस्कृतिक महोत्सव

श्री जगदीश चन्द्र माथुर, आई० सी० एस० के प्रयत्नों से कुछ वर्षों से वैशाली में एक महोत्सव मनाया जा रहा है। इस साल २१ अप्रैल को, जिस तिथि पर जैनधर्म प्रवर्त्तक महावीर का स्वर्गवास हुआ, यह महोत्सव श्री राहुल सांस्कृत्यायन की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि ऐसे महोत्सवों की ओर लोगों का ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा है। हमारे देश में व्रतों, त्योहारों, तीर्थों और उत्सवों की भरमार है, किन्तु वे सबके सूत्र धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। चूँकि धर्म का रूप विकृत हो गया है, इसलिए इन सबका रूप भी भ्रष्ट हो जाय, तो क्या आश्चर्य? इसलिए या तो इनके रूप को सुधारा जाय, या नये तीर्थों, त्योहारों और उत्सवों की सृष्टि की जाय। कुछ चीजें ऐसी भ्रष्ट हो जाती हैं कि उनके सुधार की चेष्टा करना व्यर्थ हो जाता है। लाख चेष्टा करके भी हम काशी और प्रयाग के तीर्थ का रूप बदल नहीं सकते। यों ही जन्माष्टमी और रामनवमी में हम क्या सुधार करेंगे—या कर सकेंगे? इसका उत्तर तुरंत देना आसान काम नहीं है। ऐसी स्थिति में हम कुछ नये सांस्कृतिक तीर्थों और उत्सवों की सृष्टि करें, तो बहुत ही सुन्दर हो और यदि उसी के लिए प्राचीन आधार मिल जाय, तो सोने में सुगंध।

इस दृष्टि से हम वैशाली महोत्सव का स्वागत करते हैं, किन्तु इधर इस महोत्सव को जैन या बौद्ध धर्म के साथ गठबंधन करने की जो चेष्टा हो रही है, हम उसे उचित नहीं समझते। वैशाली की प्रसिद्धि उसके प्रजातंत्र के लिए है, उसके नागरिकों की सभ्यता और शिष्टता के लिए है। प्रजातन्त्री भारत अपने सबसे पुराने प्रजातंत्र के नाम पर उत्सव मनावे और अपने नागरिकों में उन गुणों के संचार करने के लिए चेष्टा करे जिन्हें देखकर भगवान बुद्ध ने कहा था—"तो आनन्द वृजियों को कोई पराजित कर नहीं सकता है" तो इससे बढ़कर आनन्द की बात और क्या हो सकती है? अभी बिहार में बुनियादी तालीम का उत्सव विक्रम (पटना) में हो रहा। यह उत्सव यदि नालुंदा में होता तो फिर क्या कहना? किन्तु हमारे नेताओं में इतनी सूझ आजाय, तो हम फिर क्यों झीखें! खैर, सिर्फ नेता ही अच्छे काम नहीं कर सकते। एक सरकारी नौकर ने, अनेक बंधनों के बीच, वैशाली के लिए जोकुछ किया है, उसे देखते हुए हमारे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता ऐसे ही अनेक सांस्कृतिक उत्सवों के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। युग आ गया है कि हम सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यों की ओर अधिक ध्यान दें।

—रामवृक्ष बेनीपुरी

समाजवाद और नैतिकता

समाजवाद मूलतः एक मुक्ति आन्दोलन है—मुक्ति अभावों से, अत्याचारों से; शोषणों से, उत्पीड़नों से। मुक्ति-आंदोलन में बंधन कहाँ? हम बंधनों को तोड़ने वाले लोग हैं। हमारा ध्यान लक्ष्य की ओर है, जो भी साधन होंगे हम व्यवहार करेंगे। यह करणीय है, यह अकरणीय, इस बारीक उलझन में हम कहाँ तक पड़ते जायँगे? बढ़ो, विजय प्राप्त करो। तर्क की इस प्रणाली ने उत्साही आदर्शवादियों को प्रायः गड्ढे में गिराया है। रूस में इस भावना का उदय हुआ, तो लेनिन को उसके खिलाफ आवाज़ उठानी पड़ी। घर द्वार से दूर, भगोड़ों की जिन्दगी बिताने वाले युवक-युवतियों ने इसी तर्कप्रणाली के आधार पर सहगमन के लिए गिलास और पानी वाला तर्क निकाला। हम प्यासे हैं, यहाँ इस गिलास में पानी है—हम पीलेंगे! इसमें अनैतिकता कैसी?' लेनिन ने गरज कर कहा—सहगमन सिर्फ प्यास नहीं है और मनुष्य सिर्फ गिलास नहीं है! फिर जिस गिलास में कितने होंठ लगे हों, कोई भी सुरुचि और स्वास्थ पर ध्यान देने वाला आदमी उससे पानी न पीयेगा! वह मर जायगा, किन्तु नाली का पानी तो पीयेगा ही नहीं। क्लाराजेटकिन बताती है, किस तरह इसकी चर्चा के समय लेनिन भावावेश में आ गए थे। रूस की यह बीमारी नये रूप में भारत में आई है। सिर्फ सहगमन के ही क्षेत्र में नहीं, राजनीतिक आचरण के क्षेत्र में भी उच्छृंखलता का बोलबाला है। एक-एक पार्टी का सदस्य दूसरे पार्टी के सदस्य को धोखा देना अपनी पार्टी के लिए वफादारी समझता है। झूठ, फरेब किसी भी उपाय से पार्टी की जीत होनी चाहिए। किन्तु, पार्टी की जीत का यह तरीका पार्टी के अन्दर की एक गुट की जीत के लिए और अन्ततः एक व्यक्ति के नेतृत्व कायम करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है! समाजवादी आन्दोलन इस आचार भ्रष्टता से बदनाम हो रहा है, बर्बाद हो रहा है। इसलिए, यह सन्तोष और आनन्द की बात है कि सोशलिस्ट पार्टी के प्रधान मंत्री साथी जयप्रकाश नारायण ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में इस ओर अपने सहकर्मियों और सदस्यों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है। लक्ष्य और साधन के प्रश्नों की गम्भीर विवेचना करते हुए और यह सिद्ध करते हुए कि अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति अच्छे ही साधन से हो सकती है, बुरे साधन हमें अच्छे लक्ष्य तक पहुंचा नहीं सकते, साथी जयप्रकाश ने अन्त में घोषणा की है—"यदि हमारी पार्टी का लक्ष्य सिर्फ अच्छी तरह खाए-पीए, अच्छी तरह पहने ओढ़े और अच्छे मकान में रहते-सहते मानव नामधारी जानवर ही पैदा करना नहीं है, तो हमें अपनी राजनीति में कुछ नैतिक नियमों का समावेश करना ही होगा।" अपनी इसी रिपोर्ट में जयप्रकाश ने एक जगह कहा है—"कुछ दिन पहले जब मैंने देश में आध्यात्मिक पुनर्जीवन लाने की आवश्यकता की ओर निर्देश किया था, तो आप लोगों में से कुछ ने सोचा होगा कि शायद हाल की घटनाओं ने मुझे झकझोर डाला है। मैं ऐसे अध्यात्म को नहीं जानता जिससे धर्म या आधिदैवी शक्तियों का बोध हो।...किन्तु मैं ऐसे समाज में नहीं रह सकता जहाँ झूठों और खूनियों की भरमार हो, जहाँ दया न हो, सहनशीलता न हो, भाई चारा न हो।" क्या हमारे समाजवादी साथी अपने नेता के इस कथनपर चलेंगे? इससे अतिरिक्त कोई पथ भी नहीं है।

—रामवृक्ष बेनीपुरी

कांग्रेस जनतन्त्र से दूर : फैसिज़्म की ओर

इस समय भारतवर्ष में कांग्रेस की सरकार है जो अपने को जनतन्त्रवादी सरकार कहती है। किन्तु कुछ दिनों से इसका स्वरूप विकृत हो रहा है और यह धीरे धीरे पर शायद योजनाओं के साथ जनतन्त्र से दूर हट रही है। कांग्रेस संस्था और कांग्रेसी हुकूमतें पूर्ण रूप से फैसिस्ट स्वरूप लेने में आसानी से समर्थ होंगी ऐसा हम नहीं मानते। कांग्रेस की परम्परा और आज भी कांग्रेस के अन्दर का एक किस्म का अल्पमत समुदाय कांग्रेस के फैसिस्ट स्वरूप का विरोधी सिद्ध होगा। पर कांग्रेस के अंदर का यह अल्प मत समुदाय कहाँ तक कांग्रेस के फैसिस्ट स्वरूप का विरोध करने में समर्थ होगा, यह उसकी शक्ति पर निर्भर करता है। निर्बल सिद्ध होने पर इस अल्प मत समुदाय के कुछ व्यक्ति तो कांग्रेस को आत्मसमर्पण कर देंगे और कुछ कांग्रेस से बाहर निकल आवेंगे। हमारा मत है कि कांग्रेस और भारतवर्ष को फैसिस्मका स्वरूप लेने से रोकने के लिए कांग्रेस के अन्दर की शक्तियाँ असमर्थ हो जायेंगी। कांग्रेस का नया विधान ऐसा ही है। अतः कांग्रेस और भारतवर्ष को फैसिज्म से बचाने का एक ही रास्ता है—जनमत का प्रबल दबाव। इसके लिए जरूरी है कि जनता को जनतन्त्र और फैसिज्म से परिचित कराया जाय और जनता के अंदर जनतन्त्र की तीव्र भावना पैदा की जाय।

संक्षेप में जनतंत्र के लिए प्रेसिडेंट रूज़वेल्ट ने ६ जनवरी १९४१ को पाँच प्रकार के शर्तों की स्वतंत्रता का जिक्र किया था। वे ये हैं—

१. नौजवान और अन्य लोगों को बराबर सुविधाएं।
२. जो काम करने लायक हैं, उन्हें काम का मिलना।
३. जिनको जरूरत हो, उन्हें सुरक्षा दी जाय।
४. अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार न दिया जाय।
५. सब नागरिकों के नागरिक अधिकारों की रक्षा की जाय—अर्थात् बोलचाल और भाव प्रकट करने की स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता, अभावों से मुक्ति और भय से मुक्ति।

अब हम देखें कि कांग्रेसी हुकूमत में प्रेसिडेंट रूज़वेल्ट के इन प्रजातांत्रिक सिद्धांतों की किस सीमा तक हत्या हो रही है। हम यह स्पष्ट देख रहे हैं कि संख्या २ और ५ के विरुद्ध कांग्रेसी हुकूमतें हैं। देश में और सरकार में भी मजदूरों की छटनी शुरू हो गई है। लोगों को अलग हटाकर उन्हें दूसरे कामों में नहीं नियुक्त किया जा रहा है। इस तरह प्रेसिडेंट रूजवेल्ट के प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त के नम्बर दो की हत्या शुरू हो गई है। ५ वें सिद्धांत की तो धज्जियाँ ही उड़ा दी जा रही हैं। प्रांतीय सरकारों ने जन-सुरक्षा का कानून बनाया है। उसके अनुसार प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों ने अपने पास इतने अधिकार रख लिए हैं, जितने अधिकार विदेशी अंग्रेजी हुकूमत ने भी नहीं रखे थे। इसके अनुसार बम्बई में मजदूर संस्थाओं की कार्यकारिणी समिति की बैठक बन्द कमरे में भी नहीं हो सकती। जन-सुरक्षा कानून के विरुद्ध नागरिक स्वाधीनता की अपील बम्बई हाईकोर्ट में भी नहीं सुनी जा सकती। किसी भी समाचार पत्र को बन्द किया जा सकता है। इस कानून में संशोधन करके बिहार सरकार ने ६ मास से ज्यादे काल तक लोगों को नजरबन्द करने का अधिकार लिया है। कम्यूनिस्ट पार्टी पर हिंसात्मक कार्यों का अभियोग लगाकर, किन्तु बिना किसी प्रमाण को प्रकाशित किए ही उसे गैर कानूनी घोषित किया गया है। व्यापक रूप से सोशलिस्टों और कम्यूनिस्टों पर पाबन्दियाँ लगाई जा रही हैं। हजारों कार्यकर्ता जेलों में नजरबन्द हैं। व्यापक रूप से और दीर्घकाल के लिए १४४ का प्रयोग करके सभा करके विचार प्रकट करने और भाव

प्रकाशन की आजादी को छीन लिया गया है। इस तरह प्रजातन्त्र का नाम लेकर जनता से मत प्राप्त करने वाली कांग्रेसी हुकूमत में प्रजातन्त्र की निर्मम भाव से हत्या हो रही है।

अब हम यह देखें कि कांग्रेस में फैसिज्म के कितने उपकरण एकत्रित हो रहे हैं। पहले हम फैसिज्म के लक्षण देंगे। फैसिज्म के लक्षण ये हैं:—

१. फैसिज्म जाति वैषम्य के ऊपर प्रतिष्ठित है। इसके सिद्धान्तों के अनुसार कुछ जातियाँ दूसरी जातियों पर शासन करने के लिए बनी हैं।

२. फैसिज्म मनुष्यों की विषमता को मानता है और इसलिए अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा बहु संख्यक लोगों पर प्रभुत्व को स्वाभाविक अनिवार्य और शाश्वत सामाजिक नियम समझता है।

३. फैसिज्म पुरुष और नारी को बराबर नहीं समझता और मातृत्व तथा गृहव्यवस्था के अलावा नागरिक और राजनीतिक बातों में भाग लेना नारी के लिए अनुचित समझता है।

४. फैसिज्म इस जनतान्त्रिक सिद्धान्त को नहीं मानता कि जन-साधारण में अपना शासन कर सकने की क्षमता है। इसके विरुद्ध वह एक अधिनायकत्व का समर्थन करता है।

५. फैसिज्म मज़दूर श्रेणी की संस्थाओं पर, ट्रेड यूनियनों पर, जनतान्त्रिक अधिकारों पर हमला करता है और ऊपर से स्वेच्छाचार मूलक प्रभुत्व का समर्थन करता है।

६. फैसिज्म राज्यसत्ता (स्टेट) को सर्वप्रथम मानता है और व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए वह सामाजिक संगठनों का विरोध करता है।

७. फैसिज्म मनन और समालोचना की स्वतंत्रता का विरोध करता है और वैज्ञानिक रीति के विरुद्ध रहस्यवादी सिद्धान्तों का अनुगमन करता है।

कांग्रेस ने प्रारम्भ से जनतन्त्र की भावना का प्रचार किया। अबतक उसमें कुछ जनतन्त्रवादी तत्त्व और व्यक्ति मौजूद हैं। अभी उसे राजदण्ड सम्हाले एक साल भी नहीं हुआ। इसलिए उसमें फैसिज्म के जो तत्त्व आए हैं वे गुण और मात्रा दोनों में अभी कम हैं। अतः फैसिज्म के सभी लक्षण स्पष्ट रूप से अभी कांग्रेस में नहीं मिलेंगे—कम से कम पकड़ में न आयेंगे। किन्तु बहुत से लक्षणों से मेल खाती हुई और सब लक्षणों की ओर तीव्रता से बढ़ती हुई फैसिस्ट प्रवृत्ति कांग्रेस में मिलेगी। यहाँ हम कांग्रेस की इसी प्रवृत्ति की आलोचना करेंगे।

कांग्रेसी हुकूमतों और कांग्रेस की फैसिस्टी प्रवृत्ति के अंदर फैसिज्म के लक्षण संख्या ५,६ और ७ कुछ स्पष्ट हैं—वे प्रवृत्तियाँ पकड़ में आजाती हैं। कांग्रेस ने अपनी मजदूर संस्था कायम किया। अपनी मजदूर संस्था राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन को छोड़ कर दूसरे सभी ट्रेड यूनियनों को नष्ट करने की सरकारी नीति है। इस तरह उसने मजदूर श्रेणी की संस्थाओं पर हमला बोल दिया है। अन्य मजदूर संस्थाओं की वाह्य प्रवृत्तियों पर तरह तरह की रोक लगाई जारही है। मिल मालिक और सरकार में मिलकर जो फैसला होता है, उसे मानने के लिए मजदूरों को बाध्य किया जाता है। इस तरह ऊपर से स्वेच्छाचारमूलक प्रभुत्व का समर्थन कांग्रेस की ओर से होता है। अतः फैसिज्म लक्षण संख्या ५ की प्रवृत्ति कांग्रेस में स्पष्ट है। अब आइए संख्या ६ पर। इस समय संपूर्ण कांग्रेस संस्था को हुकूमत के समर्थन और प्रचार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। इस समय कांग्रेस संस्था की प्रमुखता नहीं है, कांग्रेस संस्था पर राज्य की प्रमुखता है। प्रमाण के लिए भूतपूर्व राष्ट्र-पति आचार्य कृपलानी का अध्यक्ष पद से स्तीफा काफी होगा। मन्त्रिमण्डलों में अधिकार प्राप्त मन्त्रियों के लिए आयोजित सभाओं को छोड़कर प्रायः और सभी संस्थाओं की सभाओं के विरुद्ध १४४ का उपयोग किया जाता है। इस तरह व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए सामाजिक संगठनों का विरोध किया जारहा है। अब

आइए संख्या ७ पर। इस समय सभी प्रांतीय सरकारों ने जन-सुरक्षा कानून पास कर लिया है। इसका उपयोग ८५ प्रतिशत राजनीतिक संस्थाओं के विरुद्ध हो रहा है। जन-सुरक्षा कानून के द्वारा प्रेसों की स्वाधीनता की हत्या कर दी गई है। पिछले दिनों कांग्रेस क्वार्टर से एक सरकूलर जारी किया गया था, जिसमें लिखा गया था कि कांग्रेस के कार्यकर्ता सार्वजनिक रूप से सरकारी कार्यों की आलोचना न किया करें। कांग्रेस की आलोचना करने वाले दूसरे राजनीतिक दलों के नेता जोरों से नजरबंद किए जा रहे हैं। वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण पद्धति को छोड़कर गान्धीजी के नाम पर, कांग्रेस की पिछली तपस्या के नामपर, राष्ट्रीयता के नामपर तथा और नाना भोंड़े उपायों द्वारा कांग्रेस की राज्यसत्ता का समर्थन किया जा रहा है। इस तरह फैसिज्म के ५,६ और ७ लक्षण तो स्पष्ट हैं, पकड़ कर दिखाए जा सकते हैं।

इसके अलावा फैसिज्म की कुछ धूमिल प्रवृत्तियाँ, जिन्हें पकड़ कर दिखना कठिन है, कांग्रेस के अंदर हैं। जैसे कांग्रेस का नया विधान। इस विधान में वोट देने का अधिकार तो आम जनता को है; पर समितियों की सदस्यता और पदों के लिए कुछ खास किस्म के व्यक्ति ही चुने जा सकते हैं। साथ ही इस विधान में किसी दूसरे दल को कांग्रेस में नहीं स्वीकार किया गया है। इसके द्वारा कांग्रेस के अंदर फैसिज्म के दूसरे लक्षण की प्रवृत्ति पैदा होगी—अर्थात् अल्प संख्यक वर्ग द्वारा बहु संख्यक लोगों पर प्रभुत्व को स्वाभाविक, अनिवार्य और शाश्वत सामाजिक नियम समझना। एक और प्रवृत्ति कांग्रेस के अंदर है जो कभी कभी केन्द्रिय मंत्रिमण्डल में बिजली की तरह चमक कर झट विलीन हो जाती है। यह है श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी और सरदार बलदेव सिंह का साम्प्रदायिक रुख तथा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मौलाना आज़ाद साहब आदि का आहत होना। यह बहुत सूक्ष्म है, इसका पकड़ना बहुत कठिन है। इसका विकास पं० जवाहर-लाल नेहरू के रहते सम्भव नहीं है। पर यदि कभी हम प्रवृत्त को—इस साम्प्रदायिक, जातिगत और धर्म-गत प्रवृत्ति को—बल मिला, तो कांग्रेस पूर्ण फैसिस्ट संस्था हो जायगी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस समय कांग्रेस के अन्दर फैसिज्म के लक्षण नहीं, कांग्रेस के अन्दर फैसिज्म की सम्भावना नहीं है। कांग्रेस के अन्दर फैसिज्म के लक्षण विकासोन्मुख हैं—कांग्रेस के अन्दर फैसिज्म की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। और यदि उसे रोका नहीं गया तो देश का भाग्य अन्धकार में डूब जायगा।

इसके अलावा एक और भी खतरा है कि यदि अपनी जनवादी परम्परा के कारण—महात्मा गान्धी के हिन्दू मुसलिम एकता के लिए कुर्बानी के कारण—कांग्रेस पूर्ण रूप से फैसिस्ट न होगी, तो वह चीन के कुओमिंग टांग-सी तो जरूर हो जायगी। चीन के कुओमिंग टांग के पीछे भी चीन के राष्ट्रपिता डा० सन् यात् सेन के "जनता के तीन सिद्धांत" की जनवादी परम्परा है। किन्तु कुओमिंग टांग अब जनवादी नहीं है। चियाङ्ग काई शेक अब जनवादी नहीं हैं। वहाँ पूंजीपतियों और जमीन्दारों का ही बोलबाला है—अमेरिकन शक्ति का ही आधिपत्य है। कांग्रेस ने भी पूंजीपतियों से समझौता कर लिया है। जमीन्दारों की ओर भी उसका समझौते का रुख है और एंग्लो-अमेरिकन पूंजी से भारतीय पूंजी का समझौता भी तेजी से हो रहा है। यह स्थिति कांग्रेस को फैसिज्म और कुओमिंग टाँग के बीच में ले जाकर पटकेगा और उस स्थिति में भारतीय समाज का पतन निश्चित है।

— वैजनाथ सिंह "विनोद"

ज न वा णी

जून १९४८

विषय-सूची

व्यवस्थापक "जनवाणी",
जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशंस लिमिटेड,
गोदौलिया, बनारस।

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग एक प्रति का ॥।)
काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष २ भाग १] जून १९४८ [अङ्क ६ पूर्णाङ्क १८

बन्द द्वार खोलना पड़ेगा

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अपने तुझे छोड़ बैठेंगे हो जायेंगे वाम—
इसकी चिन्ता करने से तो नहीं चलेगा काम।
आशालता टूटकर तेरी
हो जायेगी तृण की ढेरी,
और कदाचित् नहीं फलेगा उसमें फल अभिराम,
इसकी चिन्ता करने से पर नहीं चलेगा काम ॥

पथ में अंधकार छायेगा, यही सोच क्या रुक जायेगा?
अरे बावले, बार बार
पथ में दीप जलायेगा—
और कदाचित् नहीं जलेगा तेरा दीप ललाम—
इसकी चिन्ता करने से पर नहीं चलेगा काम ॥

सुनकर तेरे मुख की वाणी, घिर आवेंगे वन के प्राणी
अरे बावले, किन्तु कदाचित्
इस तेरी जानी-पहचानी—
दुनिया का दिल नहीं हिलेगा सुन तेरा कुहराम,
इसकी चिन्ता करने से पर नहीं चलेगा काम ॥

देखेगा जो बंद द्वार रे, लौटेगा क्या हृदय हार रे,
बंद द्वार खोलना पड़ेगा
बार-बार करके प्रहार रे—
और कदाचित् द्वार न लेगा हिलने तक का नाम
इसकी चिन्ता करने से पर नहीं चलेगा काम ॥

अनु०—श्री रघुवंशलाल गुप्त

ब्राह्मण-साम्राज्य

(एक संक्षिप्त अनुक्रमणी)

श्री भगवतशरण उपाध्याय

हमारे देश में एक रूढ़िमय धारणा बद्धमूल हो गई है कि ब्राह्मणों ने सदा जप-तप, अध्ययन, अध्यापन आदि का ही काम किया है। वह राजनीति और स्वार्थ-संघर्ष से सदा दूर रहे। पर यह बात गलत है। राजनीति से पुरोहित श्रेणी का सम्बन्ध अति प्राचीन है। शायद प्रारम्भ में राज-शक्ति पर पुरोहित श्रेणी का ही अधिकार भी था। बाद में मन्त्रिमण्डल पर पुरोहित श्रेणी का ही बराबर कब्जा था। ब्राह्मणों ने नौ बार साम्राज्य भी स्थापित किए। इन्हीं ब्राह्मण-साम्राज्यों के काल में सब से ज्यादा प्रतिक्रिया और रूढ़िवाद का जोर बढ़ा है। भारतीय समाज में आजतक क्रान्ति न होने के कारण वे रूढ़ियाँ आज भी समाज का विकास रोक रही हैं।

—सम्पादक

भारतीय इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता कि आरम्भ काल से ही ब्राह्मणों ने राजनीति में ग लेना शुरू कर दिया था। उनके राजनीतिक व्यवसाय की कोई तिथि तो नहीं दी जा सकती। ंतु उसकी उपरली सीमा वर्ण-धर्म के आरम्भ से च जाती है। अपनी शक्ति भारतीय राजनीति में तिष्ठित करने के लिए उनको अन्य राजनीतिक वर्गों ी ही भांति निरंतर प्रयत्न करने पड़े और उन्ही की ांति उन्हें भी सफलता और विफलता की विभिन्न रिस्थितियों का सामना करना पड़ा। दूसरी शती ई० ० में मनु ने विधान किया—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥—

समय पड़ने पर और वर्णों के विप्लव के समय ाह्मणों का शस्त्र धारण करना धर्म हो जाता है। ंतु इस विधान की सार्थकता पूर्व काल में ही ब्राह्मणों समझ ली थी। वर्ण तथा धर्म के संकट में पड़ने पर हीं, वरन् राजनीतिक सत्ता पर स्वत्व प्राप्त करने के ए वे समय समय पर अन्यों से संघर्ष करते रहे। नु का यह विधान उसी संघर्ष की छाया अथवा निष्कर्ष और भावी ब्राह्मण-प्रयास का 'नियम बन गया। वैदिक काल से उत्तर-हिंदू काल तक उनका जो क्षत्रियों और शूद्रों से निरंतर संघर्ष हुआ, इतिहास की वह एक अटूट शृङ्खला है।

उनका पहला दर्शन जो हमें इतिहास काल में मिलता है, वह सचमुच मूर्त शौर्य और देश-प्रेम का है, नितान्त उदात्त और असाधारण बलिदानपरक। सिक-न्दर (३२६ ई. पू.) हमले के बाद भारत से लौट रहा था और राह में अनेक बार उसको रक्त की होली खेलनी पड़ी, उसी क्रम में उसकी ब्राह्मणों से भी अनेक बार मुठभेड़ हुई। मूषिकों को जीत कर जब वह आगे बढ़ा तब मूषिकों और अनेक पड़ोसियों ने विद्रोह कर दिया और यह विद्रोह ब्राह्मणों के प्रयत्न का प्ररिणाम था। एरियन लिखता है कि ब्राह्मण ओजस्विता और साहस की मूर्ति थे और उन्होंने हारे हुए को धिक्कारा और उनके आत्मसमर्पण के पाप का प्रायश्चित करने के लिए उन्हें सिकन्दर के विरुद्ध फिर मैदान में ला खड़ा किया। परन्तु सिकन्दर ने उनका संघ तोड़ दिया और इस अवसर पर हज़ारों की संख्या में ब्राह्मणों का बध हुआ। परन्तु और इतिहासकार लिखते हैं कि

क्षण भर के लिए भी उन्होंने अपनी निर्भीकता न छोड़ी और विजेता के सामने करबद्ध न हुए।

भारतीय राजनीति में ब्राह्मणों का स्थान केवल गौण विरोधियों अथवा विप्लवकारियों का ही न रहा, प्रत्युत उन्होंने अनेक बार साम्राज्य का निर्माण भी किया। अनेक साम्राज्यों की सीमाएं अनेक बार दूर दूर तक पहुंच गईं। उनमें से विशिष्ट कुल शुंगों, चेदियों, कण्वों, सातवाहनों, वाकाटकों, कदम्बों, सेनो आदि के थे। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

१—ब्राह्मण साम्राज्यों में सबसे प्रथम शुंगों का था जिसका आरम्भ पुष्यमित्र शुंग ने अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को १८४ ई.पू. में मारकर किया था। यह अद्भुत राज्य विप्लव घोरकर्मा मौर्य पुरोहितकुलीय सेनापति पुष्यमित्र ने संभवतः महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि की सहायता और आशीर्वाद से किया था। हर्षचरित बृहद्रथको 'प्रतिज्ञादुर्बल' राजा कहता है।

शुंग ब्राह्मण हैं और पाँचवीं शती ई० पू० के पाणिनि उनको भारद्वाज गोत्रीय मानते हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र में भी उनको आचार्य कहा गया है। लामा तारानाथ ने पुष्यमित्र को राजा के पुरोहित कुल का ब्राह्मण और स्वयं 'ब्राह्मण-राजा' माना है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में पाणिनि के राज्य सम्बन्धी सूत्र ६,२,१३० पर जो व्याख्या लिखी है उसमें ब्राह्मण राज्य को पुष्यमित्र के विप्लव के प्रति सहानुभूति के कारण ही सर्वश्रेष्ठ माना है।

पुष्यमित्र शुंग ने यवन आक्रमण का प्रतिरोध कर शाकल के राजा मिलिन्द (मिनेन्डर) को परास्त किया और बौद्धों का दमन कर ब्राह्मण धर्म की फिर से प्रतिष्ठा की तथा दो दो यज्ञ किए। उसके पौत्र वसुमित्र ने उसके दूसरे अश्वमेध के अश्व की रक्षा की थी और यवनों को सिन्धु नद के तट पर परास्त किया। पुष्यमित्र शुंग के साम्राज्य की सीमाएं तब विदर्भ (बरार) से सिन्धु नदी तक जा पहुंचीं। पुष्यमित्र ने प्रायः १८४ ई० पू० से लगभग १४८ ई० पू० तक राज किया।

इस राज कुल के पाँचवें राजा ओद्रक अथवा नवें राजा भागवत की सभा में तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिकित ने दिय के पुत्र हेलियोदोर को अपना राजदूत बना कर भेजा। हेलियोदोर ग्रीक था, परन्तु परम वैष्णव हो गया था। उसने बेसनगर में विष्णु का एक स्तम्भ खड़ा किया, जिसके अभिलेख में वह अपने को 'भागवत' कहता है।

शुंग कुल में १० राजा हुए और उन्होंने प्रायः ११२ वर्ष राज किया। इनके राजाओं के नाम निम्न-लिखित हैं:—पुष्यमित्र, अग्निमित्र, वसु ज्येष्ठ अथवा सुज्येष्ठ, वसुमित्र, आद्रक अथवा ओद्रक, पुलिन्दक, घोष, वज्रमित्र, भागवत, देवभूति अथवा देवभूमि।

२—शुंगों के बाद मगध का राजदंड जिस ब्राह्मण कुल के हाथ में गया वह काण्वायन अथवा कण्व वंश कहलाता है। कण्वों ने ७२ ई० पू० से प्रायः ४५ वर्ष शासन किया। उनमें ४ राजा हुए, जिनके नाम निम्न-लिखित हैं:—वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मन्।

३—मगध का राजदंड कण्वों के बाद फिर ब्राह्मण कुल में गया और यह नया राज कुल दक्षिण के सात-वाहनों का था। उनके राजा सिमुक ने २९ ई० पू० के लगभग सुशर्मन से मगध का राज्य छीन लिया। सात-वाहनों को पुराणों में आन्ध्र वंशीय कहा गया है। आन्ध्रों का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण तथा अशोक के शिलालेखों में हुआ है। उनकी शक्ति का उल्लेख मेगेस्थानीज ने भी अपनी 'इंडिका' में किया है। नासिक का अभिलेख गौतमी पुत्र को 'एक ब्राह्मण' और शक्ति में परशुराम के समान तथा 'क्षत्रियों के मान और दर्प का दमन करने वाला' कहा गया है। एक समय सातवाहनों का साम्राज्य सारे दक्षिण पर और सिमुक द्वारा उत्तर की विजय के पश्चात् काण्वा-यनों के मगध पर भी स्थापित हो गया था।

सिमुक के बाद इस राजकुल की गद्दी पर उसका भाई कृष्ण बैठा और उसके बाद सिमुक का पुत्र शात कर्णी। शातकर्णी ने अनेक प्रान्त जीते और दो दो अश्वमेध किए। इसी कुल में प्रसिद्ध प्राकृत कवि और 'गाथा सप्तशती' का रचयिता हाल हुआ। इस कुल का सबसे शक्तिमान नृपति गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी था, जिसने अपने कुल के गौरव को उत्कर्ष के शिखर तक पहुंचा दिया। उसकी विजयों से सातवाहन साम्राज्य की सीमाएं दूर तक विस्तृत हो गईं। उसके राज्य में गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तर कोकण तथा पूना और नासिक के चतुर्दिक प्रदेश शामिल थे

उसने 'क्षत्रियों के मान और दर्प का दमन' किया और शकों, यवनों, पहलवों आदि को परास्त किया। क्षहरातकुलीय नहपान को नष्ट कर उसने उसका राज्य छीन लिया और उसके सिक्कों को फिर से अपने नाम से प्रचलित किया। नासिक के समीप पांडुलेण की गुफा में उसका प्रशस्ति-लेख खुदा है।

गोतमीपुत्र के बाद उसका पुत्र वासिष्ठि पुत्र श्रीपुलमादि राजा हुआ। उसने सातवाहनों का शासन आन्ध्र देश पर प्रतिष्ठित किया, परन्तु उसके श्वसुर शक महाक्षत्रप रुद्रदामन ने उसके अनेक प्रान्त छीन लिए। इस कुल का अन्तिम महान् नृपति यज्ञ श्रीशातकर्णी था और उसका स्वत्व बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक की सारी भूमि पर प्रतिष्ठित था। यज्ञ शातकर्णी के पास जहाजों का एक बेड़ा भी था और उसने अपने सिक्कों पर दो मस्तूल के जहाज़ की प्रतिकृति खुदवाई। यज्ञश्री के उत्तराधिकारी नगण्य थे और उनके शासन काल में आभीरों ने उनसे महाराष्ट्र छीन लिया और इक्ष्वाकुओं तथा पहलवों ने उनके पूर्वी प्रान्त।

४—अशोक की मृत्यु के कुछ काल बाद, जान पड़ता है, कलिंग मगध के साम्राज्य से बाहर निकल गया और वहाँ चेति-ब्राह्मण कुल का शासन स्थापित हुआ। इसी कुल में विख्यात विजेता खारवेल हुआ। पुरी के निकट उदयगिरि के हाथीगुम्फा अभिलेख में खारवेल की विजयों का वर्णन है। उससे जान पड़ता है कि खारवेल ने दो बार मगध पर आक्रमण किया जिनमें एक बार तो मगध के राजा ने उसे प्रभूत धन देकर लौटा दिया, परन्तु दूसरी बार उसने संभवतः मगध पर अल्पकालिक अधिकार कर लिया। जान पड़ता है कि खारवेल का दूसरा आक्रमण बाख्त्री (बल्ख) के ग्रीक राजा डेमेट्रिक्स के आक्रमण के शीघ्र ही बाद हुआ, क्योंकि खारवेल की प्रशस्ति में लिखा है कि उसके मगध की ओर बढ़ते ही 'यौनराज दिमित' मथुरा की ओर भाग गया। खारवेल द्वितीय शती ई० पू० में हुआ था और सम्भवतः प्रारम्भिक सातवाहनों का समसामयिक था।

५—जिस प्रबल ब्राह्मण राजकुल ने कुषाणों के पतन के शीघ्र बाद मध्य और उत्तर भारत में अपनी शक्ति स्थापित की थी, वह वाकाटक राजवंश था। पुराणों और अभिलेखों से प्रमाणित है कि वाकाटकों का प्रभुत्व बुन्देलखंड, मध्य भारत, बरार और उत्तरीय दक्कन में सिन्धु पर्यन्त देश पर स्थापित हो गया था।

वाकाटकों का मूल स्थान बुन्देलखंड के ओड़छा राज्य में वाकाट था, जिसका नाम वहां के बागाट गाँवके नाम में अब भी सुरक्षित है। अजन्ता के अभिलेख में वे 'द्विज' अथवा ब्राह्मण कहे गए हैं। उनका आरम्भ तृतीय शती ई० में हुआ था और उनकी शक्तिका प्रतिष्ठाता विन्ध्यशक्ति था। उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथम ने 'सम्राट' विरुद धारण किया और चार अश्वमेध किए। गौतमीपुत्र उसका पुत्र था और उसने भारशिव राजा भवनाग की कन्या से विवाह किया। प्रवरसेन प्रथम का पौत्र रुद्रसेन प्रथम सम्भवतः उन राजाओं में से था जिन्हें समुद्रगुप्त ने परास्त किया। इसके बाद गुप्त सम्राट उत्तर भारत के स्वामी हो गए और वाकाटक राज्य की सीमा विन्ध्याचल के दक्षिण में संकुचित हो गई। अब उन्होंने दक्षिण में अपने राज्य का विस्तार किया और रुद्रसेन प्रथम के पुत्र पृथ्वीसेन प्रथम ने कुन्तल अथवा उत्तर कन्नड़ के जिले जीते। उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय था, जिसने चद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य और कुवेरनागा की कन्या प्रभावती गुप्ता से विवाह किया। वाकाटकों के ही सद्भाव और सहायता से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य मलवा की विजय कर सका। ५ वीं सदी ई० के अन्त में हरिषेण वाकाटक ने अपनी शक्ति पश्चिमी और पूर्वी घाटों के बीच के समस्त भूमि पर प्रतिष्ठित की। छठीं सदी ई० के मध्य के लगभग कलचुरियों ने वाकाटकों का अन्त कर दिया।

६—दक्षिण में कदम्ब नामक एक और ब्राह्मण राजकुल ने राज किया। कदम्ब मानव्य गोत्र के थे। जान पड़ता है कि उनका पूर्वपुरुष मयूर शर्मन् पहले पल्लवों की राजधानी काञ्ची में था और वहां क्षत्रियों के दुर्व्यवहार से वह सर्वथा क्षुब्ध हो उठा था। फिर वहां से चलकर वह कर्णाटक पहुंचा और उसे जीत कर चौथी सदी ई० के मध्य में उसने बनवासी को अपनी राजधानी बनाया। मयूर शर्मन् के उत्तराधिकारी शक्ति में नगण्य थे, परन्तु पश्चात् कालीन ककुत्स्थ वर्मन् ने कदम्ब राजकुल के गौरव का विशेष

विस्तार किया। इस राज कुल का अन्य विख्यात राजा शिवशर्मन् छठीं सदी ई० के प्रथम चरण में हुआ और उसने अपनी राजधानी हलसीर (बेलगांव जिला) बनाई। उसने गंगों और पल्लवों के विरुद्ध सफल युद्ध किए। वातापी के चालुक्यों के उत्कर्ष ने कदम्बों की शक्ति पर ग्रहण लगा दिया और पुलकेशिन प्रथम तथा पुलकेशिन द्वितीय ने उनके अनेक प्रान्त छीन लिए। गंगों ने भी उनका पराभव किया। परंतु यह कुल सर्वथा नष्ट न हो सका और दसवीं सदी ई० के अंतिम चरण में राष्ट्रकूटों के पतन के पश्चात् एक बार फिर सशक्त हो उठा। कदम्बों की अनेक शाखाओं ने १२ वीं सदी ई० के अंत तक दक्कन और कोकण के विविध भागों पर शासन किया।

७—सिन्ध में भी एक समय एक ब्राह्मण राजकुल ने शासन किया और उसी के हाथ से मुहम्मद इब्न कासिम ने सिन्ध का प्रांत छीना। हर्ष का समकालीन सिन्धुराज सिंहरस राय था। उसका यूआन-च्वांग ने उल्लेख किया है और उसे शूद्रवर्णीय कहा है। इसी राज्य से संभवतः हर्षवर्धन का युद्ध हुआ था। इस शूद्र राजकुल का अंतिम राजा साहसी था, जिसके मरने पर उसके ब्राह्मण मंत्री छछ ने स्वामी के राज्य पर अधिकार कर लिया। उसने साहसी की विधवा रानी का पाणिग्रहण कर सिन्ध का राजदंड धारण किया। छछ ने अपने ४० वर्षों के शासन काल में अपने राज्य का विस्तार किया, जो एक ओर काश्मीर और दूसरी ओर मकसन तक जा पहुंचा। उसके बाद उसका भाई चन्दा अथवा चन्द्र गद्दी पर बैठा। चंद्र का उत्तराधिकारी छछ का पुत्र दाहिर हुआ। दाहिर के शासन काल में ही मुहम्मद इब्न कासिम ने सिंध पर ७१२ ई० में हमला किया। डेबुल को जीत कर उसने बहमनाबाद और मुल्तान पर भी अधिकार कर लिया और इस प्रकार सिंध ब्राह्मण राजकुल के अधिकार से निकल कर चला गया। परंतु जिस वीरता से लड़ते हुए दाहिर ने अपने प्राण खोए, वह उस देश का परंपरागत प्राचीन गौरव की याद दिलाती है। दाहिर की कन्याओं ने सिंधु-विजय के बाद बगदाद में जो आचरण किया था, वह इतिहास की एक रोमांचक कहानी है। उसी आचरण के परिणामस्वरूप मुहम्मद इब्न कासिम चमड़े के थैले में सीकर बगदाद के खलीफा के पास भेज दिया गया था। इसी प्रथम मुसलमानी आक्रमण के अवसर पर दाहिर की बहन ने निर्भीकता का परिचय दिया था और दुर्ग की नारियों के साथ अग्नि की लपटों में जल मरी थी।

८—नवीं सदी ई० में पंजाब और अफगानिस्तान के ऊपर जिस राजकुल ने अलप्तगीन और सुबुक्तगीन के पहले शासन किया था। वह ब्राह्मण कुल था। कुषाणों ने भारत से निकाले जाने पर काबुल की उपत्यका में अपना एक छोटा-सा राज्य स्थापित किया। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के देवपुत्र शाहिशाहानुशाहि और शकमुरुण्डादिकों की ही संतान पश्चात्कालीन 'शाहीय' थे। कालान्तर में ये कुषाण क्षत्रिय हो गए और उनकी शृङ्खला की अंतिम कड़ियाँ ब्राह्मण। महमूद के समकालीन अल्बैरूनी ने १० वीं सदी में प्रस्तुत अपने 'तहक़ीकए हिंद' में जो साठ शाहियों की तालिका दी है, उसने उनको तुर्की और हिन्दू शाहियों की दो शाखाओं में बाँटा है। इस पिछली हिंदू शाही शाखा का आदि पुरुष ब्राह्मण कल्लर था। अल्बैरूनी लिखता है कि अंतिम तुर्की शाही राजा लगतूरमान को सिंहासन च्युत कर उसके ब्राह्मण मंत्री कल्लर ने उसका राज्य छीन लिया। उनमें से प्रमुख पिता पुत्र के क्रम से निम्नलिखित थेः— सामन्त, कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, त्रिलोचनपाल और भीमपाल।

इनमें प्रसिद्ध जयपाल और उसका पुत्र आनन्दपाल हुए। इन दोनों पिता-पुत्रों की ख्याति विशेषतः सुबुक्तगीन और उसके पुत्र महमूद के साथ संघर्ष पर अवलम्बित है। मुसलमानों की विजयों से शाहियों को काबुल की उपत्यका छोड़नी पड़ी। जयपाल ने उन से हार कर अपनी राजधानी पटियाला रियासत में भटिंडा कायम की। जयपाल ने अंत में दिल्ली, अजमेर, कलिंजर और कन्नौज के हिंदू राजाओं का एक संघ बनाया, परंतु जलालाबाद जिले में लमगान के आस-पास उसे फिर हारना पड़ा। महमूद ने १००१ ई० में जयपाल को जो फिर हराया तो इस शाही राजा ने उस अपमान को सहन न कर सकने के कारण अग्नि-प्रवेश किया। उसके बाद उसके पुत्र आनन्दपाल ने भी अनेक युद्ध किए और हिंदू राजाओं के संघ बनाए।

एक बार तो उसने प्रायः महमूद को हरा दिया था कि चोट खाकर उसके हाथी के भाग चलने से उसकी सेना भी भाग चली। आनन्दपाल के बाद त्रिलोचन पाल राजा हुआ जो महमूद से लड़ता हुआ खेत रहा। ५ वर्ष बाद उसके पुत्र भीमपाल की भी वही गति हुई। सदियों तक शाहियों ने भारत के सिंहद्वार की अपने बलिदान तथा प्रणों से रक्षा की और उसी रक्षा में विदेशियों की अनवरत चोटें सहता यह ब्राह्मण राज कुल कालान्तर में विनष्ट हो गया।

९—ग्यारहवीं सदी ई० के मध्य में पालों के पश्चात् बंगाल में जिस सेन राज कुल की प्रतिष्ठा हुई वह ब्राह्मण था। राजेन्द्र प्रथम चोल के उत्तरी आक्रमण के समय दक्षिण से एक ब्राह्मण सामन्त कुल बंगाल में आ बसा था, जिसने सोमेश्वर प्रथम के पुत्र विक्रमादित्य चालुक्य के आक्रमण से आन्दोलित पश्चिमी बंगाल में एक छोटा-सा राज्य स्थापित किया। इस कुल के प्रतिष्ठाता सामन्त सेन को पूर्वज वीरसेन कर्णाट क्षत्रियों का मुकुट मणि कहा गया है। कर्णाट क्षत्रिय ब्रह्म-क्षत्रिय थे, अर्थात् पहले के ब्राह्मण थे और राजवृत्ति अंगीकार कर लेने के बाद क्षत्रिय मान लिए गए।

सामन्त सेन के पौत्र विजय सेन ने ६२ वर्ष के अपने लम्बे शासन में सेन कुल का गौरव बढ़ाया। गौड़ नृपति ने मदनपाल को हरा कर पालों की सत्ता उत्तर बंगाल से मिटा दी। फिर धीरे धीरे पूर्ण बंगाल में भी अपने प्रभुत्त्व की प्रतिष्ठा की। तिरहुत, कामरूप और कलिंग के राजाओं को उसने परास्त किया। विजयसेन परम शैव और श्रोत्रियों का संरक्षक था। उसके बाद उसका पुत्र वल्लालसेन इस ब्राह्मण राज कुल का राजा हुआ। तब बंगाल में पालों के शासन के समय वर्ण-धर्म सर्वथा नष्ट हो गया था। उसको फिर से व्यवस्थित करने के लिए उसने कन्नौज से कान्यकुब्ज ब्राह्मण बुला कर कुलीन प्रथा को जन्म दिया। बल्लाल सेन भी पिता को भाँति शैव था और उसने 'दान सागर' तथा 'अद्भुत सागर' की रचना की।

सेन राज कुल का अन्तिम शक्तिमान राजा लक्ष्मण सेन अथवा मुसलमान इतिहासकारों का राय लाखनियाँ था। अपने शासन के आरम्भ में उसने आसाम और उड़ीसा को रौंद डाला, परन्तु उसका अन्त अत्यन्त घृणास्पद हुआ। मुहम्मद इब्न बख्त्यार खिल्जी ने लगभग ११९७ ई० में नालन्दा के बौद्ध भिक्षुओं का वधकर जब बंगाल पर आक्रमण किया, तब यह लक्ष्मण सेन भी नदिया में शासन कर रहा था। ११९९ ई० के अन्त में बख्त्यार नितान्त छोटी सेना के साथ बंगाल रौंदता लक्ष्मण सेन की राजधानी तक पहुंच गया। उसके राज-प्रासाद पर कब्जा करते ही लक्ष्मणसेन पिछले द्वार से अपने परिवार और परिजनों को छोड़ कर भाग गया। फिर पूर्वी बंगाल में उसने कुछ काल तक राज किया। लक्ष्मणसेन, जैसा कि ऊपर के उसके आचरण से प्रमाणित है, अत्यन्त कायर था। स्पष्टतः ब्राह्मणों की शक्ति उनके तप के अभाव और विलास के प्राचुर्य से अब नष्ट हो चली थी। लक्ष्मणसेन निःसन्देह स्वयं कविवर और कवियों तथा साहित्यिकों का आदर करता था। उसकी राज-सभा में धोयिक और जयदेव के से प्रख्यात कवि थे। धोयिक ने कालिदास के मेघ-दूत के अनुकरण में अपना 'पवन दूत' लिखा। संस्कृत साहित्य के मधुरतम कवि जयदेव ने अपना अद्भुत 'गीत गोविन्द' लक्ष्मणसेन की छाया में ही रची।

इस प्रकार भारतवर्ष में कम से कम ब्राह्मणों के नौ राजकुलों ने समय समय पर शासन किया। अनेक बार उनको अपने वर्ण-धर्म, सामाजिक वर्ण-व्यवस्था तथा राज्य की रक्षा के लिए देशियों और विदेशियों के विरुद्ध तलवार उठानी पड़ी। अनेक बार उन्होंने राज दंड-धारण किए और अनेक बार जब राज्य उनके हाथ से निकल गया तब उन्होंने उसके आधार राज शास्त्र का प्रणयन किया, जिससे यद्यपि सक्रिय रूप से न सही तो कम से कम अस्पष्ट रूप से राज्य और राज-नीति के ऊपर उन्होंने अपनी शास्त्रीय सत्ता की स्थापना की। जिस मयूर शर्मन ने पल्लव क्षत्रियों के दर्प से क्षुब्ध होकर ब्राह्मण कदम्ब कुल की कर्णाटक और बनवासी में प्रतिष्ठा की उसकी कुपित शब्दावलि आज भी प्रतिध्वनित हो रही है—"कलियुगेऽस्मिन्नहो धंत क्षत्रात् परिपेलवा विप्रता यतः!" 'हाय! कलियुग में ब्राह्मण क्षत्रिय से इतना दुर्बल हो गया!'

वादी, संवादी और विवादी

प्रो० ललितकिशोर सिंह

मेलगत यमक[1] के साथ वादी-संवादी का घनिष्ट संबन्ध है। भरत की पद्धति में वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी ये स्वरों के पारस्परिक संबन्ध माने जाते थे। जाति के प्रधान या जीव स्वर को 'अंश' कहा जाता था। अब वादी संवादी आदि राग की ही उपाधियाँ मानी जाती हैं। राग का जो मुख्य या जीव स्वर होता है उसे अब अंश न कहकर 'वादी' कहते हैं। इस वादी स्वर पर ही राग की प्रकृति निर्भर है। दो राग एक ही ठाट के हों, दोनों के स्वर समान हों, जाति (ओड़व, षाड़व या सम्पूर्ण) एक ही हो, फिर भी वादी भेद से दोनों की प्रकृतियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। जैसे, भूपाली और देशकार के स्वर प्रबन्ध बिलकुल एक-से हैं। दोनों ही 'म-न' वर्जित ओड़व जाति के हैं।

दोनों का आरोही-अवरोही स र ग प ध सं हैं (→ आरोही, ← अवरोही)। पर भूपाली का वादी गान्धार है और देशकार का धैवत। इस वादी-भेद से ही दोनों की प्रकृतियों में स्पष्ट अंतर है। इसी प्रकार पूरिया-मारवा, रेवा-विभास आदि में जो अंतर है वह वादी के कारण ही है। वादी से ही रागों में व्यक्तित्व आता है, उसका रूप निखरता है। वादी को ही आलापचारी का केन्द्र बनाया जाता है। इसीलिए आलाप में ही राग का सच्चा रूप खिलता है।

राग के दोनों अंगों[1] में से एक अंग में वादी स्वर निश्चित हो जाने पर दूसरे अंग में इस वादी का मध्यम या पंचम स्वर अनायास संवादी बन जाता है। दोनों यमक अंगों में से एक का केन्द्र वादी स्वर और दूसरे का संवादी स्वर होता है। इस प्रकार वादी और संवादी सप्तक के दोनों अंगों को जोड़ते हैं। दोनों अंगों के यमकत्व के साथ-साथ दोनों केन्द्रों का संवाद राग की इष्टता और एकरसता के लिए बड़ा महत्व रखता है। एक अंग के वादी स्वर से जब गवैया दूसरे अंग के संवादी स्वर पर जाता है तो राग की प्रकृति ज्यों की त्यों बनी रहती है और भाव में कोई बाधा नहीं पड़ती।

वादी और संवादी का अंतराल ३/२ या ४/३ होता है। इनके युग्म स-म, स-प; र-प, र-ध; ग-ध, ग-न; ग्-ध्, ग्-न्; और र्-ध् हैं इन युग्मों में से प्रत्येक का अंतराल ४/३ या ३/२ है। मध्यम अंतराल तो पंचम का ही पलटा है क्योंकि जहाँ र-प, ग-ध, ग्-ध्, का अंतराल ४/३ है वहाँ प-र, ध-ग और ध्-ग अन्तराल ३/२ है। अर्थात् जहाँ दो स्वरों में मध्यम-संवाद हो वहाँ उपरले स्वर को एक सप्तक उतार देने से पंचम संवाद हो जाता है और जहाँ पंचम-संवाद हो वहाँ निचले स्वर को एक सप्तक चढ़ा देने पर मध्यम संवाद हो जाता है।

३/२ या ४/३ का अंतराल सबसे अधिक इष्ट[1] होता है। इसीलिए इन अंतरालों का पाश्चात्य संगीत पद्धति की संहति-क्रिया[2] में उपयोग होता है। पर इन अंतरालों वाले स्वरों का संहति में जैसे साथ-साथ उच्चारण इष्ट होता है वैसे ही संक्रम[2] में एक के बाद एक उच्चारण भी इष्ट होता है। इसलिए संवाद-नियम के अनुसार राग के वादी और संवादी स्वरों के बीच संचार, कला की दृष्टि से, जितना प्रिय है विज्ञान की दृष्टि से उतना ही पूर्ण है।

संवाद के नियम का किसी किसी राग में व्यतिक्रम भी दीख पड़ता है; जैसे, मारवा में र्-ध और श्री में र्-प संवाद। ये दोनों ही अंतराल अनिष्ट हैं। यहाँ इन दो स्वरों की इष्टता के बदले इनकी गिनती का ध्यान रखा गया है। उद्देश्य रागों का भेद दिखाना है। जब पूरिया में ग-न संवाद है तो मारवा में र्-ध संवाद होने पर ही यह पूरिया से भिन्न दिखाया जा सकता है। पर यह ध्यान देने की बात है कि प्रयोग में इष्टता का संस्कार छूटने नहीं पाता। हिन्दुस्तानी

संगीत-पद्धति क्रमिक-पुस्तकमालिका की तीसरी पुस्तक में श्री राग का आरोही 'स, र् र्, स, र्, मंप, नि सं' और पकड़ 'सं, र् र्, स, प मं ग र्, ग र्, र्, स' है। इनमें यह दीख पड़ता है कि र् से मं पर और स से प पर प्लुत से पहुंचते हैं। र्-प प्लुत का प्रयोग नहीं है। वैसे ही मारवा में र् के वादी होने पर भी 'ग' की प्रधानता मानी जाती है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध है कि ऐसे अपवादों से हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के संवाद तत्त्व में कोई अंतर नहीं पड़ता।

हिन्दुस्तानी रागों की जाँच करने पर पता चलता है कि वादी के रूप में स, म और प का सबसे अधिक प्रयोग होता है। इनके बाद स्थान है शुद्ध गान्धार का। ग के बाद र और ध आते हैं। ग्, ध् और र् में ध् का प्रयोग सबसे अधिक होता है। किस स्वर में इष्टता की मात्रा कितनी अधिक है, इस पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि जिस स्वर में इष्टता जितनी अधिक है वादी रूप में उसका प्रयोग भी उतना ही अधिक हुआ है। अर्थात् वादित्व के लिए स्वर में इष्टता होना आवश्यक है। तीव्र 'र' इष्ट नहीं है। पर र की इष्टता तमूरे के मन्द्र पंचम पर निर्भर है। र का प संवादी होता है। इसीलिए बहुत से ऐसे रागों में, जिसका र वादी है, प्रयोग में प की ही प्रधानता रहती है। केवल रात का राग होने के कारण र को वादी मान लिया जाता है। जिन रागों में र वादी के रूप में पूरी तरह खिलता है उनमें मन्द्र पंचम (प़) के साथ र की संगति बार-बार दिखाई जाती है। जैसे, जयजयवंती और दरबारी में। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जहाँ र वादी होता है वहाँ यह षड्ज का आधार छोड़कर मन्द्र प पर अटकता है।

र्, ग् और ध् का वादित्व कुछ विलक्षण है। वादी स्वरों का प्रस्फुटन मुख्यतः दो क्रियाओं से दिखाया जाता है। एक तो 'लीनक' से अर्थात् वादी स्वर पर देर तक ध्वनि के ठहराव से और दूसरे 'अभ्यास' से—अर्थात् वादी स्वर के बार-बार उच्चारण से। 'प्रयोगे बहुलः स्वरः वादी राजाऽत्र गीयते।' र् और ध् में इस दूसरी क्रिया का प्रयोग होता है। र् अनिष्ट और ग् और ध् अल्प इष्ट स्वर हैं, इसलिए ये लीनक में स्वरित के साथ नहीं ठहर सकते। इन स्वरों का यमक के साथ उच्चारण करके ध्वनि षड्ज या पंचम पर ही आकर ठहरती है। पर हिन्दुस्तानी संगीत के व्यवहार से और वैज्ञानिक विचार से यह स्पष्ट है कि वादी स्वर का 'लीनकत्व' प्रधान गुण है। इसलिए र्, ध् और ग् को गौण वादी मानना ही उचित है। म, प, ग आदि में दोनों क्रियाएँ हो सकती हैं, इसलिए ये मुख्य वादी हैं।

न और न् वादी नहीं माने जाते। इनका प्रयोग संवादी के रूप में ही होता है। तीव्र मध्यम (मं) का प्रयोग न तो वादी के रूप में और न संवादी के रूप में होता है। षड्ज के सम्बन्ध से न (१५/८) अनिष्ट स्वर और मं (४५/३२ या ६४/४५) तो अति अनिष्ट है। फिर 'न' का तार षड्ज (सं) और मं का प से अर्धस्वर का अंतराल है जिससे इनकी अनिष्टता अधिक बाधक हो जाती है। वैसे ही न् (१६/९ या ९/५) का सं से एक स्वर का अंतराल होने से यह भी अनिष्ट है। इसलिए ये तीनों स्वर कभी भी वादी नहीं माने जाते। मं तो ग्राम में सब से अधिक अनिष्ट है, इसलिए यह संवादी होने का भी अधिकारी नहीं है। सच तो यह है कि र भी प्रायः इसी कोटि के स्वरों में है। अति अनिष्ट स्वर होने से इसे भी वादित्व का अधिकार न होना चाहिए। अगर र् सच्चा वादी होता तो किसी न किसी राग में मं (४५/३२) भी संवादी अवश्य माना जाता। पर मं का कभी संवादी न होना इस बात को सिद्ध करता है कि र् का वादित्व चाहे भ्रान्त या कल्पित है।

ऊपर की विवेचना से यह परिणाम निकलता है कि स्वरों का वादित्व उनकी इष्टता पर निर्भर है। इस दृष्टि से स्वरों का विभाग नीचे की सारिणी में दिया जाता है:—

सारिणी १

स्वर	इष्टता	वादित्व	क्रिया
स,प,म	अति इष्ट		
ग,ध	इष्ट	मुख्यवादी, संवादी	लीनक, बहुल
र	प्रथम-इष्ट		
ग्, ध्	अल्प इष्ट	गौणवादी, संवादी	बहुल
न, न्	अनिष्ट	केवल संवादी	
र्	अति अनिष्ट	कल्पित वादी, संवादी	बहुल
मं	अति-अति अनिष्ट	न वादी न संवादी	

ऊपर के विचारों से वादी-संवादी के सम्बन्ध में दो नियम निकलते हैं:—

(१) वादी स्वर को षड्ज या स्वरित के सम्बन्ध में इष्ट होना चाहिए।

(२) वादी और संवादी स्वरों में पंचम (३/२) या मध्यम (४/३) का सच्चा अंतराल होना चाहिए।

कुछ अपवादों से इन नियमों का मूल्य नहीं घटता। इनका आधार भरत की परम्परा, रागों का यमकत्व और एकरसता तथा तमूरे की संगति है। किसी राग के ठाट को पहले दो यमक अंगों में बाँटना, फिर एक अंग के किसी इष्ट स्वर को वादी बनाना और तब दूसरे अंग में वादी के पंचम (३/२) या मध्यम (४/३) स्वर को संवादी निश्चित करना—इसी प्रक्रिया से वादी-संवादी निर्धारित होता है।

ग (५/४) और ग् (६/५) में भी इष्टता है, जिससे पाश्चात्य संगीत-पद्धति में स-प, स-म संवाद की तरह ही स-ग, स-ग् संवाद भी माना जाता है। इसीसे संहति के संघातों[२] में दोनों गान्धारों का समावेश होता है; जैसे, 'स ग प' का गुरु संघात और 'स ग् प' का लघु संघात। हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में भी गान्धार-संवाद का प्रयोग प्रचुरता से होता है। बहुतेरे रागों में कुछ 'संगतियाँ' विशेष रक्तिदायक मानी जाती हैं जो राग की परिचायक भी होती हैं। दो विशेष स्वरों के लगातार उच्चारण को 'संगति' कहते हैं। संगति में कम से कम एक स्वर का लंघन होता है। इसलिए संगति के स्वरों में कभी-कभी मध्यम (४/३) या पंचम (३/२) का अंतराल होता है; पर अधिक ग (५/४) या ग् (६/५) का ही अंतराल दीख पड़ता है। यह संगति हिन्दुस्तानी संगीत की विशेषताओं में से एक है। यह कहा जाता है कि दाक्षिणात्य रागों का विकास पग-पग के संचार से होता है और उत्तरीय रागों का विकास 'मण्डूक-प्लुत' या लंघन से। जहाँ भी प्लुत होता है वहाँ इष्ट अंतरालों का ही प्रयोग होता है, क्यों कि किसी स्वर से कूद कर किसी दूसरे संवादी स्वर पर ही आसानी से पहुंचा जा सकता है। इसलिए हिन्दुस्तानी संगीत की 'संगति' में 'गान्धार-संवाद' की प्रधानता है। यह नीचे की सारिणी में दिए हुए कुछ उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

सारिणी २

राग	संगति	अंतराल
दरबारी	न्-प	६/५ (ग्)
श्याम कल्याण	म-र (१०/९)	६/५ (ग्)
मालश्री	ग-प	६/५ (ग्)
दुर्गा	ध-म, र-म	५/४ (ग), ६/५ (ग्)
खंबावती	ध-म	५/४ (ग)
तिलंग	न्-प	६/५ (ग्)
रागेश्वरी	ध-म	५/४ (ग)
सोरठ	ध-म, म-र (१०/९)	५/४ (ग), ६/५ (ग्)
जोगिया	ध्-म	६/५ (ग्)
धनाश्री	प-ग्	५/४ (ग)
हंस किंकणी	प-ग	६/५ (ग्)

ऊपर के उदाहरणों में जहाँ म-र संगति का प्रयोग है वहाँ र का मान १०/९ होना आवश्यक है; क्योंकि र का मान ९/८ मानने से म-र अंतराल ३२/२७ हो जाता है जो अनिष्ट है।

भरत की पद्धति में जब दो स्वरों के बीच दो श्रुतियों का अर्थात् अर्धस्वर का अंतर होता है तो वे परस्पर विवादी माने जाते हैं। आधुनिक संगीतज्ञ प्रायः विवादी का अर्थ 'वर्ज्य स्वर' बताते हैं। इस परिभाषा के अनुसार भरत के अर्धस्वर का बंधन नहीं रहता। जैसे, यमन ठाट के मालश्री राग में र और ध वर्ज्य माने जाते हैं जो क्रमशः 'स' और 'ग' से और 'प' और 'न' से एक-एक स्वर के अंतर पर हैं। पर आधुनिक संगीतज्ञ यह भी कहते हैं कि कामोद आदि में कोमल निषाद (न्) का या यमन-कल्याण में कोमल मध्यम (म) का प्रयोग 'विवादी' रूप में हो सकता है। यह प्रयोग ध की संगति में या ग की संगति में ही होता है, स्वतन्त्र नहीं।

यहाँ न् का ध से या म का ग से दो श्रुतियों का अर्थात् अर्धस्वर का अंतर है। यह भरत के नियम के अनुकूल है। इन दो परस्पर विरोधी परिभाषाओं से सिद्ध है कि 'विवादी' और 'वर्ज्य', ये दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। जब किसी ठाट में एक या दो स्वरों को छोड़कर ओड़व या षाड़व राग बनाते हैं तो इन छोड़े हुए स्वरों को उस राग के लिए 'वर्ज्य' स्वर कहते हैं। पर 'विवादी' स्वर ठाट के बाहर का ऐसा स्वर है जिसका अन्तर उस राग के किसी बली स्वर से दो श्रुतियों का अर्थात् अर्धस्वर (१६/१५) का हो। वर्ज्य स्वर का राग में कभी भी प्रयोग नहीं होता; यदि हो, तो या तो राग किसी दूसरे राग में बदल जायगा या राग अशुद्ध और भ्रष्ट हो जायगा। पर शिक्षित विवादी स्वर का युक्तिपूर्ण प्रयोग राग की सुन्दरता को बढ़ाता है और विशेष रक्तिदायक होता है। किसी राग का वर्ज्य स्वर उस राग के जनक मेल का स्वर अवश्य होता है। पर विवादी स्वर उस मेल के बाहर का स्वर है। अर्थात् 'वर्ज्य-स्वर' 'मेल ग्राह्य' पर 'राग वर्ज्य' है और विवादी 'मेल वर्ज्य' है। जब यह कहा जाता है कि केदार के आरोही में र और ग वर्ज्य हैं तो इसका तात्पर्य यह होता कि केदार के जनक मेल यमन-ठाट के इन दोनों स्वरों का त्याग करना चाहिए। ठाट के बाहर के ग्, न् आदि स्वरों को वर्ज्य नहीं कहा जाता, क्योंकि इन स्वरों का त्याग तो ठाट की ही रचना में हो गया है। पर केदार में विवादी रूप से प्रयोग न् का होता है जो मेल के बाहर का स्वर है; र और ग का नहीं जो मेल में ग्राह्य है। इससे यह स्पष्ट है कि लक्ष्य और लक्षण, दोनों में 'विवादी' और 'वर्ज्य' के अर्थ सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न हैं।

नीचे की सारिणी में कुछ मुख्य-मुख्य रागों के विवादी स्वर दिखाए जाते हैं:—

सारिणी ३

राग	ठाट	विवादी स्वर	संगति	अंतराल
यमन	यमन	म	ग-म	१६/१५
हम्मीर केदार कामोद छायानट गौड़सारंग	यमन	न्	ध-न्	१६/१५
अल्हैया	बिलावल	न्	ध-न्	१६/१५
देस	खम्माज	ग्	र-म्	१६/१५

इस सारिणी में दिए हुए म, न् और ग्, इन विवादी स्वरों का क्रमशः ग, ध और र, के साथ ही प्रयोग होता है। ये प्रायः 'ग म ग', 'ध न् ध' और 'र ग् र' तान के रूप में गमक के साथ आते हैं। इसी से इन विवादी स्वरों का राग के लीनक या धीर स्वरों के साथ ही प्रयोग होता है जिनसे इनका अंतराल दो श्रुतियों का या अर्धस्वर का है।

हिंदुस्तानी संगीत में संवाद की भावना इतनी प्रबल है कि विवादी के प्रयोग में भी यह लुप्त नहीं होने पाती। किसी राग में वही स्वर विवादी रूप से प्रयुक्त हो सकता है, जिसका संवादी भी राग में मौजूद हो। यमन में म का संवादी स, अल्हैया में न् का संवादी म और देस में ग् का संवादी न् है। हम्मीर, केदार, कामोद, छायानट और गौड़सारंग यमन ठाट के माने जाते हैं, पर इनमें शुद्ध म की प्रधानता रहती है। म का प्रयोग पंचम के साथ प्रवेशक के रूप में होता है। इस प्रकार इन रागों में भी विवादी न् का संवादी शुद्ध म राग में मौजूद है।

'विवादी' की ऊपर दी हुई विवेचना से यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तानी संगीत में वादी-संवादी की तरह ही विवादी का भी भरत की परम्परा में ही प्रयोग होता है। आधुनिक लक्षणकार इसे 'वर्ज्य स्वर' का पर्याय मान कर लक्ष्य की परम्परा को भंग करते हैं। लक्ष्य में राग के विवादी स्वर का अपने पड़ोसी किसी लीनक स्वर के साथ अर्धस्वर (१६/१५) का या दो श्रुतियों का अंतर होना चाहिए; साथ ही साथ उस विवादी का एक संवादी स्वर भी अवश्य होना चाहिए, नहीं तो वह राग में विवादी के रूप में भी नहीं खप सकता। विवादी के ये दोनों ही लक्षण भरत के विवादी में पाये जाते हैं।

(१) दश ठाट—ललितकिशोर सिंह ; जनवाणी, मार्च १९४८।

(२) संगीतका विकास— ,, ; ,, जनवरी १९४७।

जन-देवता

श्री शम्भूनाथ

कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता ?
कब तक यों मौन रहोगे ओ गण-देवता ?

हो गया प्रभात निशा घुल गई
तम में अवरुद्ध राह खुल गई
ज्योति हँसी, निशा धुल गई

फिर भी इस स्वप्न - धार में तन्द्रालस लिए
कब तक इस भाँति बहोगे ओ जन-देवता ?

गगन मिला पर न पंख खुल रहे
किरण मिली पर न कमल खिल रहे
पंथ मिला पर न चरण हिल रहे

दीन सजल नयनों से निज असीम वेदना
कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता ?

रात गई, पर न खुली अर्गला,
मुक्ति मिली पर न कटी शृंखला,
बन्दिनी अभी विमुक्त कुन्तला !

अपने ही घर में, पर यह नवीन दासता
कब तक चुपचाप सहोगे ओ जन-देवता ?

कब तक यह करुण अश्रु-अर्चना
अब न सहो यह अनृत - प्रवंचना
दूर करो मोह - मरण - साधना

क्रान्ति शान्ति समता आनन्द हेतु आज क्या
प्रलयंकर-रुद्र न होगे ओ जन-देवता ?
कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता ?

कलाकार और पूँजीवाद

श्री सत्यप्रकाश गुप्त

म—आज के हिन्दुस्तान के एक विख्यात संगीतज्ञ हैं। आप के पिता भी बहुत ही ऊँचे दर्जे के कलाकार थे। लेकिन अपने जमाने के और भी बहुत से बड़े बड़े कलाकारों की तरह उन्हें भी गरीबी में ही जीवन बिता देना पड़ा। इस सिलसिले में गत युग के सभी कलाकारों की बात साधारण तौर से याद आती है। अच्छे अच्छे दो चार गायक, वादक और चित्रकारों के लिए यह संभव था कि राजा महाराजाओं के दरबारों में स्थान प्राप्त कर मशहूर हो जाँय : और उनके आश्रय में कुछ वृत्तियाँ को पाकर वे अपना जीवन बिताते थे और संभवतः उसी से प्रसन्न भी रहा करते थे। राज-दरबार के विदग्ध समाज की प्रशंसा पाकर वे अपनी कला-चर्चा को सार्थक समझते थे, परंतु अपनी दरिद्रता के लिए वे कभी भी अपनी कला को धिक्कार नहीं देते थे। वरन् लक्ष्मी और सरस्वती के सौतेले सम्बन्ध के कारण अपनी दरिद्रता को एक अनिवार्य अभिशाप मान कर ही सम्भवतः कुछ भी प्रतिवाद किए बिना रह जाते थे। बहुत ही स्वल्पसंख्यक अभिजात धनिकों के पास ये कलाकार बँधे रहते थे। जन-साधारण इन गुणियों का आदर नहीं कर पाता था,. ऐसी बात नहीं है, परंतु इन गुणियों पर वे कोई अधिकार का दावा नहीं रखते थे। इतर जनों की तरह वे जलसों के अन्दर से यदि उनकी कला का कुछ उपभोग कर पाते तो अपने को धन्य समझते थे। चित्रकार के चित्र राजप्रासादों में, राजा-रानियों के शयन-कक्षों में, विलास-मन्दिरों में रखे रहते थे, संगीत का जलसा राजदरबारों में अथवा विशेष विशेष उत्सव-मण्डपों में होता था; कवि अपने काव्य को अमात्यवेष्टित राजसभा में पढ़ते थे। इसी से कलाकार भी जनसाधारण को अपनी कलाओं का रसज्ञ नहीं समझता था, उसके मन में साधारण लोगों के प्रति करुणा-मिश्रित अवज्ञा होती थी।

अवश्य अंग्रेजी जमाने में पहले के बहुत राजदरबार टूट गए, लेकिन फिर भी धनी लोग ही गायक वादक और चित्रकारों के आश्रयदाता रह गए। कलाकारों के ध्यान-सृष्ट चित्र समूह धनवानों के घरों में, उनके आत्मीय अमात्यों के बैठकों में अपनी कलाकृतियों का प्रदर्शन करने लगे। उन धनिकों की कृपा से कभी कभी साधारण लोगों को भी उन सुरकारों की सुर सुधा के पान का सौभाग्य प्राप्त हो जाता था। हाँ, मुद्रणयंत्र के आविर्भाव से काव्य साहित्य धीरे धीरे धनिकों के आश्रय-बन्धन से मुक्त होने लगा, जिससे बिलकुल इतर जन साधारण न हो, शिक्षित मध्यम वर्ग के लोग भी अपने अपने गृहों में साहित्य-सम्पद का कुछ न कुछ नमूना इकट्ठा करने लगे। नतीजा यह हुआ कि साहित्य में अब केवल राजा-रजवाड़ों के गुण-कीर्तन ही नहीं रहे, उसमें मध्यमवर्गीय जीवन का भी प्रतिफलन होने लगा, जिससे साहित्य का स्रोत और भी प्रशस्त होकर प्रबल वेग से प्रवाहित होने लगा। इसके पश्चात् सामयिक पत्रों के आविर्भाव से चित्रकारों का परिचय भी धीरे धीरे जन-साधारण में फैलने लगा। चित्रकारों की मौलिक कृतियाँ धनिकों के कक्षों में बन्द रहने पर भी उन कृतियों की कुछ प्रतिकृतियाँ पहले मासिक पत्रों के पृष्ठ पर और बाद में अलबम (Album) के रूप में भी साधारण व्यक्तियों का चित्त-विनोदन करने लगीं।

परन्तु कलाकार लोग आर्थिक दैन्य से मुक्त नहीं हो सके। साधारण जनता की ओर कलाओं की अग्रगति को देखकर धनिक वर्ग तुरन्त कला और साहित्य को व्यवसाय के सामान के रूप में इस्तेमाल करने के लिए आगे बढ़ आया। इस प्रकार पुस्तक रचयितागण,

पुस्तक प्रकाशक की अर्थलोलुपता के कवल में आ पड़े। चित्रकार भी अब पण्यविक्रेता के रूपमें चित्र प्रकाशक के द्वारस्थ हुए। यद्यपि कलाकार अब पहले की तरह राजा अथवा जमींदारों के आश्रित नहीं रहे, तथापि सौदा बेचने वालों की हैसियत से वे पूँजीपतियों के अधीन हो गए। सुरकारों की मुक्ति (!) सम्भवतः और भी धीरे धीरे हुई। आधुनिक व्यापार की प्रेरणा से शहरों की सृष्टि हुई और जनता में सङ्घ-चेतना के विकास के फलस्वरूप नाना प्रकार की सभा-समितियाँ और सामूहिक उत्सवों का भी सूत्रपात हुआ। फलस्वरूप इन सभा-समितियों और उत्सवों में सुरकारों की बुलाहट हुई। जनगण भी अपनी सम्मिलित चेष्टा से कांचन देकर धीरे धीरे सुरकार और नर्तक नर्तकियों की रस-सृष्टि का उपभोग करने लगे। अवश्य, रेडियो और सिनेमा टॉकियों के प्रवर्तन के कारण ही अन्त में कलाकार लोग अधिक से अधिक संख्या में स्वल्पसंख्यक धनिकों के आश्रय-बंधन से मुक्त होकर बाहर निकल आ सके हैं। रेडियो और शब्दचित्रों के कारण साहित्य और कला इतर साधारण के भोगायत्त होने से एक ओर जिस प्रकार साहित्य और कला सम्बन्धी रसबोध का प्रसार हुआ और उनकी माँग बढ़ गई, उसी तरह साहित्यिक और कलाकारों की आर्थिक दशा में भी तरक्की हुई है और वे अब पहले की तरह अपने को एकान्त पराश्रित और परानुगृहीत नहीं समझ रहे हैं। साहित्यिक, गायक, वादक और चित्रकार अब पण्य-विक्रेता में परिणत हुए हैं। प्रतियोगिता के परिमाण के द्वारा इन लोगों का मूल्य निरूपित हो रहा है और पूँजीपतियों के साथ आज दर-दस्तूर का संग्राम चल रहा है, यद्यपि अभी प्रायः सभी जगह पूँजीपतियों की ही विजय हो रही है।

जैसे किसानों और मजदूरों के पास उत्पादन शक्ति के रहते हुए भी, सारे उत्पन्न द्रव्यों को पूँजीपतियों के हाथ सौंप देने के लिए वे बाध्य होते हैं और असहाय होकर न्यूनतम जीविका भी नहीं प्राप्त कर सकते, उसी तरह साहित्यिक कलाकार भी उत्पादन करने वाले होते हुए भी उत्पन्न कलाकृतियों को पूँजीपतियों के इच्छानुरूप दर पर छोड़ देने को बाध्य हो रहे हैं। इस अन्याय को समझते हुए भी इस क्षेत्र में कलाकार लोग अपने को असहाय समझ रहे हैं।

किन्तु साहित्यिक और कलाकार भी आज दुनियाँ के किसान मजदूर आन्दोलन की ओर देख कर एक पथ का सन्धान पाने लगे हैं। वे आज यह समझने लगे हैं कि रोजी की लड़ाई में पूँजीवाद के विरुद्ध उन्हें भी संगठित होना आवश्यक है। जहाँ कलाकारों के सम्मिलित प्रयास की जरूरत है, वहाँ पर कलाकारों के संगठित होने से कुछ सफलता भी प्राप्त होने लगी है। दृष्टान्त के रूप में सिनेमा अथवा रेडियो को लीजिए—इनमें बहुत से कलाकारों के एकत्रीकरण के द्वारा ही सफलता प्राप्त करना संभव है; इसीलिए इनमें नियुक्त कलाकारों के संगठित होने से कलाकार लोग पूँजीवादी संचालक अथवा अधिकारियों को बहुत कुछ झुका सकते हैं। परन्तु पुस्तक-प्रकाशकों के विरुद्ध अथवा सामयिक पत्रों के प्रकाशकों के विरुद्ध लेखक सम्प्रदाय आज भी संघबद्ध नहीं हो सका है। और जब तक वे संघबद्ध न होंगे तब तक कुछ प्रतिभाशाली लेखकों को अधिक मूल्य से खरीद कर प्रकाशक गण अन्य लेखकों का पूरे तौर से शोषण करेंगे, यह भी निश्चित है। लेकिन साहित्य के पाठकों के बढ़ने के साथ साथ संभवतः पूँजीवादी प्रकाशक के लिए भी इस प्रकार शोषण जारी रखना संभव न होगा। क्यों कि प्रथमतः माँग की वृद्धि के साथ ही साथ प्रकाशकों की भी संख्या बढ़ेगी और प्रकाशकों में भी पारस्परिक प्रतियोगिता शुरू होगी तथा इससे साहित्यिकों की भी मूल्य वृद्धि होने लगेगी, उस समय एक ओर प्रकाशक जिस प्रकार संघबद्ध होकर साहित्यिकों के मूल्य नियंत्रण करने की कोशिश करेंगे, उसी तरह दूसरी ओर साहित्यिकों में भी संगठित होकर शोषण के विरुद्ध खड़े होने का प्रयास दिखाई देगा।

किसानों मजदूरों के आन्दोलन मूलतः रोटी के लिए होनेपर भी किसान मजदूरों की समझ में यह आ गया है कि उन की आर्थिक माँगों को पूरा करने का भार जिनपर है, आज के शासन यंत्र पर भी उन्हीं लोगों ने अधिकार कर रखा है और उनकी सारी अर्थनैतिक मांगों को कुचलने की शक्ति भी आज उन्हीं पूँजीपतियों के हाथ में है। इसीलिए किसानों मजदूरों ने आज यह साफ समझ लिया है कि एकमात्र

राजनीतिक अधिकार अर्जन कर ही धनिकतंत्र के शोषण को पूर्ण रूप से निर्मूल किया जा सकता है। लेकिन म—जैसे श्रेष्ठ कलाकार भी आज राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने की आवश्यकता और सार्थकता को समझने में अक्षम हैं। अर्थनैतिक कारणों से रेडियो, सिनेमा कम्पनी अथवा ग्रामोफोन कम्पनियों के विरुद्ध आन्दोलन करने की आवश्यकता को कलाकार लोगों ने कुछ कुछ समझना शुरू किया है, परन्तु वे आज भी राजनीतिक आन्दोलनों में शरीक होने की जरूरत महसूस नहीं कर सके हैं।

इस का कारण भी है। नृत्य, संगीत (कंठ और यंत्र के द्वारा) और अभिनय आज पूँजीपतियों के व्यवसाय का उपकरण हो चुकने के कारण नृत्य संगीत और अभिनय के कलाकारों की आर्थिक दशा अब पहले से कुछ अच्छी हो रही है और इन्हीं पूँजीपतियों के व्यवसाय से ही वे जनगण की प्रशंसा भी प्राप्त कर रहे हैं। यद्यपि उद्योगपतियों के द्वारा वे शोषित हो रहे हैं इसमें सन्देह नहीं है, तथापि वे यह भी अच्छी तरह समझ रहे हैं कि उद्योगपतियों की सहायता प्राप्त न होने से केवल अपने कलानैपुण्य के द्वारा वे अपना जीवन धारण भी नहीं कर सकते। इसलिए पूँजीपतियों को सन्तुष्ट रख कर वे अच्छी तरह जीवन बिताने की आशा रखते हैं। संभव हो सके तो, कुछ संघबद्ध होकर उद्योगपतियों पर दबाव डाल कर यदि उनके दृढ़ मुष्टि को ढीला कर आज कुछ लाभ अपनी ओर खींच सकें तो उसमें उन लोगों की असम्मति नहीं है, परन्तु जनगण के जीवन में आज राजनैतिक संग्राम जिस प्रकार अनिवार्य हो उठा है, इन कलाकारों के लिए वह आज वैसा अनिवार्य नहीं मालूम हो रहा है।

किन्तु राजा-रजवाड़ों के दरबारों से निकल कर उद्योगपतियों के फन्दे में आ पड़ने के फलस्वरूप कलाकारों को भी आज यह बात धीरे धीरे स्पष्ट रूप से समझ में आने लगी है। आगे यह और भी स्पष्ट हो जायगी। पूर्वकाल में राजा-रजवाड़े अपनी मर्यादा को बढ़ाने के लिए और सम्भवतः अपनी रसतृष्णा को मिटाने के लिए भी, कलाकारों का संरक्षण करते थे, परन्तु अब व्यवसायी लोग केवल आर्थिक लाभ के लिए ही कलाकारों का पोषण और शोषण कर रहे हैं। अपने अनजान में, परोक्षरूप में, कलाकार आज जनगण की सांस्कृतिक माँगों को ही पूरा करते जा रहे हैं और उस माँग पूरा करने में सहायक होकर उद्योगपति लोग (सिनेमा मालिक, ग्रामोफोन कम्पनी, संगीत नृत्य जलसों और सम्मेलनों के अनुष्ठातृवर्ग) लाभ की मोटी रकम मार रहे हैं। असल में जनगण की माँगों को पूरा कर, जनगण के रुपये से ही कलाकार पुष्ट हो रहे हैं, कलाकारों की चेतना में आज भी यह बात स्पष्ट नहीं हुई है। अपनी जीविका के लिए और आपेक्षिक रूप में आर्थिक उन्नति के लिए भी वे प्रत्यक्षरूप से पूँजीपतियों के पास ही अपनेको ऋणी समझते हैं और उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

आर्थिक दृष्टि से पूँजीपतियों के हाथ कलाकारों का आत्मसमर्पण पहले पहल अत्यन्त दुःखद न होने पर भी धीरे धीरे यह अवश्य ही दुःख का कारण हो उठेगा। उद्योगपतियों के ग्राहकों की संख्या ज्यों ज्यों बढ़ती जा रही है, त्यों त्यों और भी अधिक संख्या में कलाकारों को काम में लगाने की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है और कलाकारों की संख्या बढ़ने के कारण उनका शोषण भी प्रबल होता जा रहा है। इसके फलस्वरूप इन व्यवसायियों के विरुद्ध कलाकारों का असन्तोष भी बढ़ता जा रहा है। इसके अलावा दुःख का और भी एक कारण है। व्यवसायियों के हाथ कोई भी कला उन्नति करने की प्रेरणा और उत्साह की प्राप्ति नहीं कर सकता। क्योंकि व्यवसायी यदि सस्ते में निकृष्ट माल पाता है तो उत्कृष्ट माल के लिए वह अधिक पैसा खर्च करने को तैयार नहीं होता। इसीलिए पूँजीपतियों के हाथ में धीरे धीरे साहित्य और कला का अधःपतन होता जाता है। फिर कलाकारों में उन्नति करने के लिए कोई भी प्रेरणा नहीं रहती। गतानुगतिक रुचि की माँगों की पूर्ति की ओर झुकाव रहने के कारण व्यवसायी कभी भी जनगण की रुचि को मार्जित और उन्नत करने का कोई प्रयोजन नहीं अनुभव करता।

सुतराम् आज के कलाकार यदि केवल आर्थिक लाभ की चिन्ता को ही मुख्य समझें तो बाध्य होकर

उन्हें पूँजीपतियों के आश्रित और उनका समर्थक होकर रहना पड़ेगा। आज कलाकार लोगों को सोच समझ लेना होगा कि उनके यथार्थ परिपोषक कौन हैं? यथार्थ में वह किन लोगों की सेवा कर रहे हैं। व्यवसायियों के अधीन होते हुए भी कलाकारों की कृतियाँ देश के जन साधारण की सेवा में परोसी जा रहीं है और यथार्थ में जन साधारण ही व्यवसायियों के इन व्यवसायों को सफल बना रहा है। अतः असल में कलाकारों का लेनदेन जनसाधारण के साथ ही चल रहा है, पूँजीवादियों की हजार कोशिश के बावजूद भी इस सत्य को छिपाना असंभव है। इसीलिए कलाकार समुदाय जनसाधारण के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापन द्वारा ही अपनी यथार्थ मर्यादा और अपने मूल्य को प्राप्त कर सकता है। केवल इसी रास्ते से अग्रसर होने से व्यवसायी लोग कला के नाम पर एक ओर जिस तरह जन-साधारण का शोषण और दूसरी ओर कलाकारों का शोषण कर रहे हैं, वह बन्द हो सकता है। व्यवसायियों की इस मध्यवर्तिता को लुप्त करने से कला का उपभोग जन-साधारण के लिए सहजलभ्य होगा और कलाकार समुदाय भी जीविका के स्थायी और निश्चित आधार प्राप्त कर कला की सेवा में अधिक एकाग्र होकर अपने को नियोजित कर सकेगा, क्योंकि फिर उसे उद्योगपतियों के अनुग्रह पर निर्भर नहीं करना पड़ेगा, समाज सेवक के रूप में जन-साधारण से ही वह अपना मूल्य और मर्यादा प्राप्त कर सकेगा।

निश्चय ही पूँजीवादी समाज में परिपुष्ट कालाकारों के लिए, उपस्थित लाभ के मोह से मुक्त होकर, व्यवसायियों के जाल से निकल आना सहज नहीं होता। बड़े सुरकार, कहानीकार और अभिनेता अपने व्यक्तिगत लाभ के मोटे अंक की ओर देखकर कभी भी उद्योगपतियों के आश्रय को छोड़ना नहीं चाहेंगे, यह भी सच है। किन्तु क्रमशः बढ़ता हुआ कलाकार समुदाय अवश्य ही व्यवसायियों के शोषण के दंशन का अनुभव करता रहेगा और एक दिन आयेगा जब वह संगठित होकर उद्योगपतियों के विरुद्ध खड़ा भी हो सकेगा। दूसरी ओर साधारण जनगण की ओर से भी कलाकारों पर उनका दावा तीव्रतर हो उठेगा।

हमारे कहानीकारों में दृष्टिकोण का जो परिवर्तन शुरु हुआ है, आलोचना के प्रारंभ में उसका उल्लेख किया गया है। कुछ स्वाभाविक तरीके से ही आज कल के साहित्यिक साधारण जनगण की रसतृष्णा को मिटाने के लिए अग्रसर हुए हैं और इसलिए कथा-साहित्य में जनगण के जीवन को ही और भी घनिष्ट रूप से प्रस्फुटित करने लगे हैं। किन्तु नाट्य-जगत में कला की यह जनतांत्रिक प्रगति वैसी नहीं हो रही है। रंगमंच आज भी जनगण के जीवन को, अर्थात् समग्र-रूप से आज जिसे हम देश का जीवन कह सकते हैं, उसे परिस्फुटित करने, उस जीवन के वास्तविक दुःख और दुर्दशा को, उसके आनन्द और वेदना को चित्रित करने में अग्रसर नहीं हुआ है, रंगमंच आज भी उच्च मध्यम वर्ग और अभिजात धनिक वर्ग के कृत्रिम जीवन में व्यस्त है। इसी कारण अभिनेताओं के अभिनय भी बहुल परिमाण में कृत्रिम भावभंगियों से पूर्ण रहने के कारण उसका स्वाभाविक विकास होने नहीं पा रहा है। अभिनेता समुदाय अभी तक इस बात को समझ नहीं पाया है कि देश के वर्तमान वास्तविक जीवनधारा के साथ युक्त होकर ही अभिनय कला अपने यथार्थ विकास को प्राप्त हो सकती है।

संगीत कला का समादर बीस साल पहले भी हमारे देश में बहुत ही कम था, यह कहना अत्युक्ति न होगी। देश में इधर-उधर दो चार स्वभावतः नाना प्रकार की आर्थिक दुर्दशा में भी संगीत कला की सेवा करते थे और कहीं कहीं दो चार धनवान रसिक व्यक्तियों की सहानुभूति भी थोड़ी बहुत प्राप्त करते थे। हम जिसे उच्चांग संगीत अथवा 'क्लासिकल म्यूजिक' कहा करते हैं, वह बहुत दिनो से इसी तरह अपने अस्तित्व की रक्षा करता आया है और संगीत विलासिनी वेश्याओं के द्वारा भी इस संगीत धारा की बहुत कुछ रक्षा हुई है। अंग्रेजी शिक्षा से देश में साधारण रूप से जो नवीन जाग्रति हुई, उससे साहित्य की तरह सांस्कृतिक तथा अन्य विषयों में भी थोड़ी बहुत जाग्रति दिखाई दी थी और संगीत की उन्नति के लिए भी कुछ आन्दोलन हमारे देश में होने लगे तथा उसी के फलस्वरूप संगीत चर्चा के लिए सभा समितियाँ भी स्थापित होने लगी थीं। विवाह के उपयुक्त बनाने

के लिए लड़कियों को संगीत सिखलाने की आवश्यकता नव-जागरण में इसी लक्षण का सूचक है। अवश्य ग्रामाफोन और रेडियो की बदौलत ही आज देश के जनसाधारण को उच्चांग संगीत का कुछ रस मिलने लगा है और साधारण लोगों के अन्दर भी उच्चांग संगीत के प्रति अनुराग और रुचि उत्पन्न होने लगी है। इसके फलस्वरूप उच्चांग संगीत के कलाकार भी आज एक वृहत्तर श्रोतृमण्डली के साथ युक्त होने लगे हैं। सामाजिक जीवन के वास्तविक आन्दोलन के साथ सम्बन्ध रहने के कारण यह उच्चांग संगीत क्रमशः नीरस कसरत का रूप धारण करता जा रहा है, पर इस सत्य को अभी हम नहीं समझ रहे हैं।

उच्चांग संगीत की बात छोड़ यदि हम साधारण संगीत की ओर देखें तो संगीत को कितनी अधोगति हुई है इसका पता चल जाता है। यदि रडियो और ग्रामोफोन कम्पनियों द्वारा पोसे जाने वाले 'आधुनिक' संगीत को हम थोड़ी देर के लिए भी सुनें, तो इसमें कोई भी सन्देह नहीं रहता है कि यह संगीत हमारे यथार्थ जीवन के सुख दुःख और समस्याओं से कितना दूर चला गया है। अत्यन्त सस्ती भावालुता और अत्यन्त तरल प्रेमोद्गार की मानो एक बाढ़ आगई है। यह तरलता और तुच्छता उच्च-मध्यम वर्गीय जीवन की कृत्रिमता और अन्ततः—सारशून्यता का ही प्रतिफलन मात्र है, इसमें सन्देह नहीं। यह संगीत एक ओर से वीर्यहीन, पौरुषहीन है और जीवन की साहसिकता की दुर्वार प्रेरणा से वंचित है, दूसरी ओर यह अत्यन्त दुर्बल पाण्डुरता ग्रस्त है, इसमें स्वस्थ प्राण चंचल यौवन-सुषमा का अत्यन्त अभाव है। जब तक इस देश के गीतकार कवि और गायक समाज दूसरों के श्रम से परिपुष्ट उच्चवर्गीय बूर्जुआ के कृत्रिम जीवन से मुँह फेर कर यथार्थ जीवन-यात्रियों की ओर, देश के अगणित दीन दरिद्र जन-साधारण के वर्तमान दुस्सह संकट और दुरूह समस्याओं की ओर दृष्टि न डालेंगे तब तक संगीत का यथार्थ प्राणपूर्ण विकास असंभव ही रहेगा और गीतकार, कवि गायक अपने सामाजिक दायित्व और कर्तव्य से भी च्युत रह जायेंगे।

जनगण के गतिशील जीवन के साथ अपने को युक्त न कर सकने के कारण ही इन कलाकारों की कृतियाँ आज विकृत अनुकरण में पर्यवसित हुई हैं। और उसी कारण संगीत के अभावित और अभिनव के सम्बन्ध में भी वे अत्यन्त संदिग्ध हैं। उनके मन में सन्देह रहने के कारण ही वे अभी तक उच्चवर्गीय कृत्रिम और सड़ते हुए जीवन की ओर मुँह किए बैठे हैं। परन्तु इस प्रकार यथार्थ जीवन धारा से सामूहिक जीवन की वास्तविकता से मुँह मोड़ कर रहना किसी भी कला के लिए संभव नहीं है। अगर कला को जीवित रह कर आगे बढ़ना है तो शीघ्र ही सुर और संगीतकारों को भी जन साधारण के जीवन की भावना वेदना, उनकी आशा आकांक्षाओं के उद्वेलित आवेग को सुर और संगीत में प्रकाश करना ही पड़ेगा और तभी हमारे देश के संगीत जगत् में भी एक आश्चर्यजनक विप्लव का सूत्रपात होगा और जन-चित्त के साथ यथार्थ आत्मीयता बोध के कारण संगीत भी फिर अपनी मर्यादा को प्राप्त कर सकेगा। उस दिन हमारे संगीत कलाकार भी फिर मुनाफा-शिकारी व्यवसायियों के हाथ असहाय यंत्र बन कर नहीं रहेंगे। वे भी अपने को सामाजिक जीवन के अनिवार्य अंग समझेंगे और अन्य लोगों की मर्यादा को प्राप्त करेंगे।

उस दिन एक ओर से उन लोगों की अर्थनैतिक मुक्ति आयेगी और दूसरी ओर से संगीत की भी आध्यात्मिक मुक्ति होगी।

——*——

हर दिन का राग

प्रोफेसर म० सी० करमरकर

हर दिन का अलग अलग राग होता है यह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ। मुझे अपने मन से गुनगुनाने की बहुत आदत पड़ गई है, इतनी कि हमेशा मुँह से कुछ न कुछ गाने की तान या गाना न हो तो केवल किसी पंक्ति का सीटी के लय पर दुहराना चलता रहता है ! और यह आप से आप हो ही जाता है। हमारे रामबाबू जब इसे देखते हैं, तब वे ऐसी कटु आलोचना करने लगते हैं कि बस। एकदम वे सिनेमा पर व्यंग करने लगते हैं। सिनेमा ने तुम युवकों को बिगाड़ रखा है यह उनकी टेक-सी रही। क्यों कि सिनेमा में ही तो गाते गाते कोई काम करने की या नाचते नाचते सारा 'घर सिरपर लेने' की बातों को हम देखते हैं। बिना गाने और ताने का सिनेमा नहीं आजकल।

लेकिन तब मैं कहता हूँ—देखो रामबाबू, सिनेमा से हम सीखते नहीं, हम से सिनेमा बहुत कुछ सीखता है। हमीं तो सिनेमा के चित्र निर्माण करते हैं। और वही तो दिखाते हैं जो हम हमेशा करते आए हैं। अपने भावों के साथ हमारे शरीर के अंगांगों का सामंजस्य कोई विचित्र बात तो नहीं है। क्या आपने भी कभी इसका अनुभव नहीं किया ? क्रोध में आप जब मुझे ताने मारने लगते हैं तब आप के अंगविक्षेपों का एक अच्छा छोटासा 'न्यूज़ रील' बन सकता है। लेकिन आप अनजान में जीते हैं, हम जीने का अर्थ समझ लेने का प्रयत्न करते हैं।

"मतलब ?"

"मतलब यही कि जो कुछ कार्य होते हैं आप से आप उसका हमारे जीवन पर कुछ प्रभाव पड़े बिना रहता नहीं। इसीलिए कार्यकलापों का अन्वय लगाने का हमारा प्रयत्न रहता है।"

इसीलिए मुझे अपनी कुछ आदतों पर अचरज भी होता है और उनसे लगाव भी रहा है। आज मैं सवेरे जो उठा तो मेरे मुँह में एक मराठी गाने की अर्ध पंक्ति आप से आप बैठ गई और मैंने योंही उसको बार बार दुहराया 'लोटुं न को मज दूर कन्हैया' (हे कन्हैया मुझे दूर करके मेरा तिरस्कार न करना।) मैंने थोड़े ही इसका निश्चय कर लिया था कि इसी को आज के दिन का राग तय करना है। वैसे ही भाव जाग्रत होते हैं और आप से आप भावों से मिलते जुलते किसी गाने की टेक मुँह से अपने आप निकलती है।

और मेरे लिए आश्चर्य इसका रहा कि वही टेक सारे दिन भर मेरे मुँह में रहती है। दिन के सभी कार्य हो ही जाते हैं—सबेरे मित्रमंडली में बैठ कर जलपान हुआ, कितनी ही बातचीत हुई, सारी दुनिया को बीच में ला पटका, सभी चले गए और प्याली रकाबियों को उठाते उठाते मुँह से एक दम निकाल उठा 'लोटुं न को मज दूर कन्हैया' दोपहर का खाना हुआ कपड़े पहनते समय यही तर्ज़ चल रही थी, गुनगुनाने में या वैसे ही मन ही मन। कालेज में पढ़ाने के बाद आराम के लिए अपने कमरे में बैठा था और एकदम उसी राग ने फिर मुँहपर अपना अस्तित्व दिखाया। शाम को घूमने गया खेल वगैरह ख़तम करके किसी दोस्त के साथ साथ गंगा किनारे बातें करते करते बोलते बोलते बीच बीच में फिर वही राग आलापता रहा। दोस्त ने पूछा आखिर—'आपको यह गाना बहुत पसन्द है ?"

"कौन सा ?" मैंने पूछा। क्यों कि मैं खुद अपने आपको भूल गया था। यही—'कन्हैया वाला।' तब

बाहर की ओर न कोई देख रहा है
कैसा प्रचण्ड जलस्रोत बढ़ा आता है
जल-ज्वार मध्य लहरें गरजें फुफकारें।

चलना न चाहती मिट्टी की संतानें
पग रख मिट्टी पर (उसे अशुचि ये मानें) !
अपनी अपनी उनकी हैं बाँस-मचानें—
जिन पर अडोल आसन बांधे वे सुस्थिर।
आ रे अशान्त, आ अपरिपक्व, आ अस्थिर !

सब तुझे रोकना चाहेंगे भर सक वे
सोचेंगे देख प्रकाश नया औचक वे—
यह कैसा अद्भुत काण्ड आज दिखता रे !

पाकर तेरा संघात खीझ जायेंगे,
शयनीय छोड़ निज दौड़ दौड़ आयेंगे;
इस अवसर पर निद्रा से जग जायेंगे—
फिर गुत्थमगुत्थी सत्य और मिथ्या की !
आ रे प्रचण्ड, आ अपरिपक्व, एकाकी !

पूजा-वेदी वह शृंखल देवी की है
वह नित्य-सत्य होकर क्या रहने की है ?
तू द्वार तोड़ आ रे पागल मतवारे।

झंझा-समान विजयध्वज को फहराता,
आकाश ठहाके से विदारता-ढाता,
भोला बाबाकी भोली झाड़ लुटाता
तू चुन-चुनकर ले आ प्रमाद, ला ग़लती।
आ रे प्रमत्त, ओ अपरिपक्व, ओ झक्की।

इस बँधे मार्ग की अंतिम सीमा पर तू
इनको घसीट निस्सीम ओर दे कर तू,
बन जाँय मार्ग अनजान देश के न्यारे।

बाधा हैं, हैं आघात जानता हूँ मैं
पर यही जानकर प्राण वक्ष में झूमें।
पुस्तक-पढुओं से विधि-याचन की धूमें
हैं मची हुई, तू इन्हें तोड़ ऐ संच्चे,
आ रे प्रमुक्त आ परिपक्व, आ कच्चे।

तू है चिर- यौवनशाली चिरजीवी है,
दे झाड़ सड़न यह जो कि जीर्णता की है,
फिर दे बखेर निःशेष प्राण की धारें।

तेरे हरियाली-मद से मस्त धरा है,
तेरी विद्युत् से झंझा-मेघ भरा है।
जो बकुलमाल तू पहने सातरुरा है—
पहनाता तू उसको वसन्त के गले में।
आ मृत्युहीन, ओ अपरिपक्व आ पल में !

—अनु०, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

समाज की ईंटें

श्री जयप्रकाश नारायण

देश की वर्तमान अवस्था देखते हुए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि साधारण जनता के भौतिक कल्याण की ओर सबसे पहले हमारा ध्यान जाय। हमारे देश की ही भांति संसार की अधिकांश जनता विपत्ति और गरीबी से सन्तप्त है। चाहे पाश्चात्य राष्ट्र हों या पूर्व के चीन जैसे, उदीयमान राष्ट्र, सर्वत्र आर्थिक समस्या ही सर्व प्रधान है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य की जीवन रक्षा सबसे आवश्यक है और उसके सुख पूर्वक जीवन-निर्वाह की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

किंतु एक स्वतन्त्र राष्ट्र और नये समाज का निर्माण करने के लिए केवल भौतिक साधनों का ही विचार पर्याप्त नहीं है। यद्यपि इस समय अभौतिक पक्ष की ओर हमारा ध्यान नहीं जा रहा है, किन्तु वह भौतिक कल्याण से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। अभौतिक पक्ष से मेरा तात्पर्य उस सामाजिक सम्बन्ध से नहीं है जिसका स्वरूप समाज का आर्थिक संघटन निर्धारित करेगा। शिक्षा, कला और संस्कृति से भी नहीं है। यहाँ मेरा तात्पर्य अपने स्वतन्त्र राष्ट्र के चरित्र-निर्माण से है जो इन सबका आधार है। अभी तक इस प्रश्न पर समाजवादियों के विचार अधिकतर नियतिवादी रहे हैं। यह सच है कि हम लोगों ने सदैव समाजवादी समाज में सुशिक्षित, उन्नत और कर्त्तव्यपरायण नागरिकों की कल्पना की है। किन्तु कभी हमारे सामने उसका स्पष्ट चित्र नहीं रहा। हम लोग इतने से ही संतुष्ट बैठे हैं कि आर्थिक व्यवस्था का समाजीकरण होने तथा शोषण और संग्रह वृत्ति का अन्त होने के बाद मनुष्य के अन्दर स्वतः इन सद्गुणों का प्रादुर्भाव हो जायगा। किन्तु हाल के अनुभवों से ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक पुनर्निर्माण की ही भाँति चरित्र-निर्माण के लिए भी योजना बनाने और लक्ष्य निर्धारित करने की आवश्यकता है। जब तक हम मानव-चरित्र में परिवर्तन नहीं लाते तब तक कोई भी आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती। अगर इसे सम्भव भी मान लिया जाय तो क्या ऐसे समाज की रचना हितकर होगी जिसमें मनुष्य भले ही समृद्ध हो जाय किन्तु वह अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण न कर सके। अगर राजनीतिक अधिनायकत्व और उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करने के क्रम में अथवा भौतिक कल्याण की अन्य किसी भी योजना के अन्तर्गत मनुष्य क्रूर बन जाता है, उसमें बौद्धिक गुलामी आ जाती है, नैतिक साहस न रह जाय, राज्य-व्यवस्था और दलगत स्वार्थों के लिए बेईमानी, धोखेबाजी और घृणा को ही अपना सिद्धान्त मान लें तो उसे अवश्य ही एकांगी विकास कहा जायगा, बशर्ते कि—हम स्वयं अधिकारोन्मत्त नहीं हैं।

मैं चाहता हूँ कि हमारे राष्ट्र-निर्माता राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक उन्नति को ही अपना अन्तिम उद्देश्य न बना लें। राष्ट्र व्यक्तियों से बनता है। इसलिए हमें प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र को ही ऐसा बदल देना चाहिए जिससे अन्त में हमारा राष्ट्र न केवल समृद्ध बल्कि सच्चरित्र व्यक्तियों का राष्ट्र बन जाय। यहाँ केवल शिक्षा से काम नहीं चल सकता, हालाँकि यह चरित्र-निर्माण के लिए मुख्य साधन है। हमें जीवन के उन आधार-भूत मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है जिससे न केवल शिक्षा-पद्धति का, बल्कि सारे सामाजिक और अन्तर सामाजिक जीवन का निर्माण होता है।

जैसा कि डाक्टर भगवानदास जी ने लिखा है, कि मनुष्य के सभी व्यवहार जीवन के मौलिक आदर्शों के अनुरूप होने चाहिए। इस तत्वज्ञान के लिए ही प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक जगत में प्रवेश कर आत्मविद्या की खोज की जिसे सब विद्याओं का मूल और मनुष्य के लिए श्रेयस्कर मार्ग कहा गया है। किन्तु यहाँ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हमारे देश में जीव और ब्रह्म की कल्पना के अतिरिक्त और अनेक आध्यात्मिक तथा धार्मिक मतमतान्तर हैं। यद्यपि सभी धर्माचार्यों ने उनके बीच एकता का सिद्धांत प्रतिपादन किया है, किन्तु साधारण जनता के धार्मिक व्यवहार हमेशा इस एकता के विरुद्ध रहे हैं। इसलिए जीवन के मौलिक आदर्श अवश्य महत्वपूर्ण हैं, किन्तु उनकी खोज करने के लिए अध्यात्मवादी और अतीन्द्रिय जगत की शरण लेना खतरे से खाली नहीं है। यह कार्य हमें विभिन्न धर्मों पर ही छोड़ देना चाहिए जो अपने अनुयायियों को अपने शास्त्र-सम्मत मार्ग से चलने के लिए प्रेरित करें। किन्तु कोई लौकिक राज्य अपने नागरिकों के चरित्र-निर्माण के प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता। चाहे उनका कोई भी धर्म, पेशा या विचार हो, उन्हें सुयोग्य नागरिक अवश्य बनना है। मेरा तो विश्वास है कि बिना किसी विशेष धार्मिक मत या दार्शनिक विचारधारा के भी हम राष्ट्रीय-शिक्षा और चरित्र-निर्माण का कार्य पूरा कर सकते हैं और इस प्रकार जीवन के ऐसे सामान्य मूल्यों का का सर्जन कर सकते हैं जो हमारे सभी सामाजिक व्यवहारों में प्रेरणा प्रदान करेगा और जो हमारी शिक्षा-पद्धति तथा राजनीतिक और आर्थिक जीवन का आधार-स्तम्भ होगा।

जहाँ तक समाजवादियों का प्रश्न है, वे सार्वजनिक और व्यक्तिगत नैतिकता को भलीभाँति समझते हैं। मार्क्स तक समाजवाद के अन्य आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सामाजिक वर्गों और तत्कालीन नैतिक विचारों में ऐतिहासिक सम्बन्ध होता है। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि नैतिक व्यवस्था साधारणतया शासक वर्ग के अधिकार और स्वार्थों की रक्षा का मनोवैज्ञानिक साधन मात्र है। किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि समाजवादी व्यवस्था के अन्दर जिसमें कोई शासक वर्ग नहीं रहेगा सार्वजनिक और व्यक्तिगत नैतिकता भी नहीं रहेगी। इसमें सन्देह नहीं कि उन लोगों का यह विश्वास रहा है कि समाजवादी नैतिकता का स्वतः विकास होगा जो वर्गोत्पीड़न का साधन न होने के कारण आदिम साम्यवाद की अपेक्षा अन्य किसी भी नैतिक व्यवस्था से श्रेष्ठ होगी। किन्तु स्वतः विकास का यह क्रम अत्यन्त धीमा होगा और मेरे विचार से समाजवादियों को सामाजिक और आदर्श चरित्र-निर्माण की ओर प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। यह अजीब बात होगी कि समाजवादी व्यवस्था के अंदर पशुओं की उन्नति की सोच समझ कर योजना बनाई जाय, किन्तु मनुष्य का निर्माण सामाजिक परिस्थितियों की दया पर छोड़ दिया जाय। समाजवादी व्यवस्था के अन्दर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को सुनियोजित करना पड़ेगा और इसके लिए नैतिकता तथा अन्य सभी क्षेत्रों में लक्ष्य निर्धारित कर लेना अत्यावश्यक है। तात्पर्य यह कि समाजवादियों को पहले से ही सामाजिक व्यवस्था और नैतिकता के सम्बन्ध में अवश्य विचार कर लेना होगा, जिसमें समयानुसार परिवर्तन होता रहेगा।

समाजवाद के आचार्यों ने सत्य की भाँति नैतिकता को भी सापेक्षिक कहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि नैतिकता जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। एंगेल्स ने सत्य की सापेक्षिता का प्रतिपादन करते हुए उसके बिल्कुल अभाव की कल्पना करने वालों का उपहास किया है। यही बात नैतिकता के सम्बन्ध में भी है। यद्यपि सामाजिक वर्गों और नैतिक विचारों का सीधा सम्बन्ध होता है। किन्तु इससे नैतिकता का बिल्कुल अभाव सिद्ध नहीं होता। यह एक भिन्न बात है कि समाजवाद के आचार्यों ने वर्गयुद्ध में शत्रु को मार डालना, धोखा देना या झूठ बोलने को भी अनिवार्य मानकर उसका समर्थन कर दिया है। किन्तु उससे इनकी गणना नैतिक गुणों में नहीं की जा सकती और न उन्हें क्रान्ति का शाश्वत सिद्धान्त ही माना जा सकता है—क्रान्ति के लिए भले ही ऐसे अनैतिक कार्य किए जा सकते हैं। मैं जानता हूँ कि महात्मा गांधी के विचारों के अनुसार उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी अनैतिक

साधनों का उपयोग नहीं करना चाहिए। मैं उसे अधिक श्रेयस्कर मार्ग मानता हूँ। इसका उदाहरण भी हमारे सामने है। वहाँ जिन लोगों ने क्रान्ति में झूठ और हिंसा को साधन के रूप में इस्तेमाल किया वे ही लोग बादमें इसमें अभ्यस्त होने के कारण इतने पथभ्रष्ट हो गए कि उन्हें व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, दलगत स्वार्थ तथा राजकीय कार्यों के लिए लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों का परित्याग कर उन साधनों का इस्तेमाल करने में जरा भी हिचकिचाहट न हुई। फिर भी एक सीमा तक नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनैतिकसाधनों का उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि हमारे अन्दर अभी पर्याप्त नैतिक साहस का अभाव है।

अब जीवन के आधारभूत मूल्यों पर विचार कीजिए। यद्यपि हमारे राष्ट्रीय जीवन के अन्दर काफी भिन्नता है, किन्तु मेरे विचार से उस अनेकता में भी एक ऐसी एकता है जो हमें 'भारतीय' बना देती है। यह एकता वाह्य नहीं, बल्कि उन आभ्यन्तरिक बातों में है जिनसे मानव-चरित्र का निर्माण होता है। चाहे धर्म, जाति या स्थान का कितना भी अन्तर क्यों न हो, किन्तु भारतीय और अभारतीय का भेद बड़ी आसानी से स्पष्ट हो जाता है। समान ऐतिहासिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों ने एक विशेष राष्ट्रीयता को जन्म दिया है। इसलिए दल और कार्यक्रम का भेद होते हुए भी राष्ट्रीय नेताओं को जीवन के ऐसे सामान्य आदर्शों और मूल्यों का निर्धारण करने में विशेष कठिनाई न होगी जो सारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन के लौकिक पहलू को प्रेरणा प्रदान कर सके।

पुरुषार्थ करो

"यह कौन है जो समुद्र के बीच, जहाँ तीर का कुछ पता नहीं है, हाथ मार रहा है? क्या अर्थ जानकर—किसका भरोसा करके—तू इस प्रकार वायाम (व्यायाम, उद्यम) कर रहा है?"

"देवि मैं जानता हूँ कि लोक में जब तक बने, मुझे वायाम करना चाहिए। इसी से समुद्र के बीच तीर को न देखता हुआ भी उद्यम कर रहा हूँ।"

"इस गंभीर अथाह में जिसका तीर नहीं दिखाई देता, तेरा पुरिस वायाम (पुरुषार्थ) निरर्थक है; तू तट तक पहुंचे बिना ही मर जायेगा।'

"क्यों तू ऐसा कहती है? वायाम करता हुआ मरूँगा भी तो गर्हा से तो बचूँगा। जो पुरुष की तरह उद्यम (पुरिस किच्च, पुरुष कृत्य) करता है वह अपने कुटुंबियों, देवों और पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है; और उसे पछतावा नहीं होता कि मैंने अपने प्रयत्न में कोई कसर छोड़ी।"

"किन्तु जिस काम के पार नहीं लगा जा सकता, जिसका फल या परिणाम नहीं दिखाई देता, वहाँ वायाम से क्या लाभ—जहाँ मृत्यु का आना निश्चित ही है?"

"जो यह जानकर कि मैं पार न पाऊँगा, उद्यम नहीं करता, यदि उसकी हानि हो तो देवि, उसमें उसी के दुर्बल प्राणों का दोष है। मनुष्य अपने अभिप्राय के अनुसार, देवि, इस लोक में अपने कार्यों की योजना बनाते और यत्न करते हैं; सफलता हो या न हो, सो देखना उनका काम नहीं है। कर्म का फल निश्चित है देवि, क्या तू यही यह नहीं देख रही? मेरे साथी सब डूब गए और मैं तैर रहा हूँ! और तुझे अपने पास देख रहा हूँ! सो मैं वायाम करूँगा ही, जब तक मुझमें शक्ति है, जब तक मुझमें बल है, समुद्र के पार जाने को पुरुषकार करता रहूँगा।"

श्री जयचंद्र विद्यालंकार-कृत भारतीय इतिहास की रूप रेखा, भा० १, पृष्ठ ३४६ पर दिया हुआ अनुवाद; फासबाल, पालीजातक भा० ६, महाजनक जातक (५३९), पृ० ३५-३६।

समाजवादी दल का विकास

श्री जयप्रकाश नारायण

ाजवादी दल के नासिक सम्मेलन के अवसर पर प्रधान मन्त्री श्री जयप्रकाश नारायण जी ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की थी, उसका यह पूर्ण अनुवाद है। इससे समाजवादी दल के विकास पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है, इस दृष्टि से यह महत्वपूर्ण और प्रमाणिक है। अपने पाठकों की जानकारी के लिए इसे हम यहाँ प्रकाशित करते हैं। —सम्पादक

१
सिंहावलोकन

एक ऐतिहासिक सम्मेलन है, क्योंकि ईस अव-
म एक ऐसे निर्णय पर पहुंचने वाले हैं, जिसके
स्वरूप समाजवादी आन्दोलन एक नये सिरे से
रम्भ होगा। और उसका हमारे देश की
पर गहरा प्रभाव पड़ेगा।

: इस अवसर पर, यदि मैं दल के वार्षिक
साथ उसके विगतवर्षों की सफलताओं और
ओं का सिंहावलोकन करूँ और भविष्य के
ाव रखूँ तो आप मुझे क्षमा करेंगे।

ाजवादी दल की स्थापना १९३४ में हुई थी
न उसके जीवन का चौदहवाँ वर्ष चल रहा
बीच दल की उन्नति तथा विकास उत्तरोत्तर
। यहाँ तक कि आज लोकप्रियता में कांग्रेस
उसी का स्थान है—यद्यपि उसकी सदस्यता
कुछ ही सक्रिय कार्यकर्ताओं की सदस्यता तक
है।

ई म्यूनिसपल चुनाव को छोड़कर दल ने आज
न राजनीतिक दल की हैसियत से कार्य नहीं
। यद्यपि उसके अपने सदस्य, विधि-विधान
ी हैं और वह स्वतंत्ररूप से किसान-मजदूरों में
करता रहा है। दूसरे शब्दों में राजनीतिक
ल कांग्रेस से अलग नहीं रहा। राजनीतिक समस्याओं के संबंध में अपने विचार प्रकट करने और उन्हें कांग्रेस समितियों के सम्मुख रखने के अतिरिक्त दल ने और कोई कदम नहीं उठाया। अल्प संख्या में होने के कारण दलने काँग्रेस के सम्मुख जिस भी नीति को रखा अधिकांश अवसरों पर उसे अस्वीकृत कर दिया जाता रहा। इससे यह धारणा बनी कि दल के कार्य सदैव प्रतिवादात्मक (निगेटिव) ही रहे। दल के कार्य प्रतिवादात्मक इसलिए नहीं थे कि उसकी निति ही प्रतिवादात्मक रही है। बल्कि इसका कारण यह था कि अल्प संख्या में रहने के कारण दल ऐसी स्थिति में नहीं था कि कांग्रेस में अपने प्रस्तावों को स्वीकृत करा सकता—अर्थात् उन्हें क्रियात्मक कार्यक्रम का आधार बना सकता। वास्तव में किसी अल्पसंख्यक अथवा विरोधी दल के लिए उस समय प्रतिवादात्मक रूप धारण करना अनिवार्य हो जाता है जबतक वह बहुमत में न हो जाय—शक्तिशाली न बन जाय।

सच तो यह है कि दल की नीति प्रत्येक महत्व-पूर्ण प्रश्न पर, जो भी देश के सम्मुख उपस्थित हुए, सदैव से स्पष्ट तथा विधायक (पाजीटिव) रही है। जिस वर्ष समाजवादी दलकी स्थापना हुई थी, उसी वर्ष उसने कांग्रेस में धारा-सभाओं में प्रवेश करने की मनो-वृत्ति का पुनरुद्भव देखा। पाँच साल पहले लाहौर कांग्रेस में पं० मोतीलाल नेहरू ने अपने अनुभव के आधार पर घोषणा की थी कि बिना स्वतंत्रता प्राप्त

किए धारा-सभाओं में जाना व्यर्थ है। फिर भी सन् १९३४ में कांग्रेस के सविनय अवज्ञा के व्यक्तिगत स्वरूप को उठा लेने के भी पहले डा० अनसारी और श्रीविधानचन्द्र राय ने एक नई स्वराज्य पार्टी बनाने की आवाज़ उठाई थी। मई सन् १९३४ में अ० भा० कांग्रेस कमेटी इस चाल में फंस गई। उसने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को वापस ही नही लिया, बल्कि उसे केन्द्रीय धारा-सभा के आगामी चुनाव में भाग लेने का भी निश्चय करना पड़ा।

पटना में कांग्रेस महासमिती के अधिवेशन के ठीक एक दिन पूर्व समाजवादी दल की स्थापना हुई थी। दल ने महासमिति के अधिवेशन में धारा-सभाओं में जाने की मनोवृत्ति का तीव्र विरोध किया था। यहीं से हमारी प्रतिवादात्मक नीति आरम्भ होती है। हमारा यह कहना था कि इस मनोवृत्ति के फल-स्वरूप राष्ट्रका ध्यान देश के अगले संघर्ष को लिए तैयार करने के कार्य से अलग हट जायगा और कार्यकर्ताओं की शक्ति व्यर्थ के वाद-विवाद में नष्ट होगी।

दल ने सन् १९३५ के विधान के अंतर्गत मन्त्रि-मण्डल बनाने का विरोध किया था, यह हमारा दूसरा प्रतिवादात्मक कदम था। अकेले हमारे दल ने ही इसका विरोध नहीं किया था, बल्कि नेहरूजी तथा अन्य प्रमुख कांग्रेस जनों ने भी इस नीति का विरोध किया था। दल की चेष्टा से कांग्रेस जनों की एक मंत्रि-मण्डल-विरोधी समिति बनाई गई। सरदार शार्दूल सिंह कवीश्वर इस के अध्यक्ष थे। उन्होंने मंत्रिमण्डल बनाने के प्रश्न पर ही कांग्रेस कार्य-समिति से इस्तीफा दिया था। श्री रफी अहमद किदवई तथा एम० आर० मसानी इसके संयुक्त मंत्री बनाए गए। उस समय श्री मसानी अ० भा० समाजवादी दल के भी संयुक्त मंत्री थे।

यह विरोध भी प्रतिवादात्मक था। यद्यपि उसे इतने वर्ष बीत चुके हैं पर मेरा अब भी यही विश्वास है कि उस समय पदग्रहण करना भारी भूल थी। इससे लाभ तो कुछ न हुआ, बल्कि इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के अन्दर दलबन्दी का अविर्भाव हो गया जो अब उसके अस्तित्व को ही नष्ट कर देना चाहता है।

यहाँ मेरा उद्देश्य समाजवादी दल के उन कार्यों का विवरण देना नहीं है जिसे उसने कांग्रेस में रहते हुए किया। मेरा उद्देश्य विगत कार्यों का लेखा-जोखा लगाना है। ऐसा करने पर हमें पता चलता है कि हमारा अधिकांश समय कांग्रेस का कार्य करने या उसे प्रभावित करने के प्रयत्न में ही बीता।

मैं यहाँ बता देना चाहता हूँ कि यद्यपि कांग्रेस में हम वामपक्षी अल्पसंख्या में थे फिर भी अनेक अवसरों पर हमने बहुमत का पूर्णरूप से साथ दिया। विशेष रूप से राष्ट्रीय संग्राम के अवसरों पर समाज-वादी दल के सदस्यों ने बड़े उत्साह से कांग्रेसजनों के साथ मिलकर काम किया। किन्तु हमारे आलोचकों की दृष्टि स्वाधीनता के लिए किए गए हमारे इन कार्यों की ओर बहुत कम गई है!

कांग्रेस के अन्दर हमारे कार्यों का लेखा-जोखा यह है कि हमने कांग्रेस के समझौते की नीति का बराबर विरोध किया, कांग्रेस संगठन को संघर्षशील बनाने में हमारा काफ़ी हाथ रहा है। और कांग्रेस में समाजवादी वातावरण पैदा करने का श्रेय हमारे ही दल को है। आज प्रत्येक कांग्रेस-जन अपने को समाज-वादी कहने के लिए उत्सुक है—चाहे वास्तव में वह समाजवादी हो अथवा नहीं—इस बात का गौरव अकेले हमारे दल को है।

कांग्रेस के अन्दर हमारे कार्य के संबंध में एक आलोचना और है, जिसे मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहता हूँ। अपने विगत कार्यों के सिंहावलोकन से पता चलता है कि यदि हमने कांग्रेस में रहकर रचनात्मक कार्य की ओर अधिक ध्यान दिया होता तो ज्यादा अच्छा होता। रचनात्मक कार्य सर्वथा क्रांतिकारी हैं इस भावना को पैदा करने में हम सभी और खास-कर मैं जिम्मेदार हूँ, क्योंकि हम इसमें पड़ना समय का केवल अपव्यय समझते थे। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरी यह धारणा अपरिपक्व एवं ग़लत थी। यदि हमने रचनात्मक कार्यक्रम का क्षेत्र अपनाया होता तो सम्भवतः हम उसकी उन्नति कर सकते, उसे भी सुन्दर रूप दे सकते थे। हम अपनी इच्छानुसार उसमें काम कर पाते अथवा नहीं, पर यह तो निश्चित ही है कि इस क्षेत्र से अलग रहने से हमारी बड़ी क्षति हुई।

हमारा जन-सम्पर्क अधिक बढ़ जाता और हम
की समस्या को अधिक निकट से समझ सकते।
यद्यपि हमारा अधिकांश समय कांग्रेस का ही कार्य
में बीता परन्तु हमारा कार्यक्षेत्र उसी तक सीमित
ा। आरम्भ से ही हमारे कार्यों के दो प्रमुख क्षेत्र
कतो कांग्रेस के अन्दर और दूसरा उसके बाहर।
अधिकांश राजनीतिक कार्य कांग्रेस के अन्दर
ा, परन्तु आर्थिक तथा किसान-मजदूर समस्याओं
म अलग से हल करते थे। किसान मजदूरों
ठन बनाना, वर्ग-अन्याय के विरुद्ध संग्राम छेड़
ूर करने का प्रयत्न करना तथा उनकी
को पूरी कराने की कोशिश करना आदि जैसी
ल के कार्यक्रम में प्रारम्भ से ही थीं। ऐसा सोचा
ा और ठीक ही सोचा गया था कि यह कार्यक्रम
ाद की स्थापना के लिए जनता को समुचित रूप
केवल तैयार करेगा, बल्कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध
त संघर्ष के लिए भी तैयार करेगा।

जस समय दल का संगठन हुआ मजदूर आन्दोलन
ाष्ट्रीय संगठनों में बँट चुका था—अखिल भारतीय
संघ (ए० आई० टी० यू० सी०) कम्यु-
मजदूर संघ (आर० टी० यू० सी०);
नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स। हम लोगों
आई० टी० यू० सी० के साथ काम करने का
य किया, क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से हमारा उस
धिक मेल बैठता था। दल और ए० आई० टी०
ी० में शीघ्र समझौता हो गया। इसके अनुसार
वादी दल ने अपने मजदूर संघों को ए० आई०
यू० सी० से सम्बद्ध कर दिया और उसे मजदूरों
केन्द्रीय संगठन स्वीकार कर लिया तथा
आई० टी० यू० सी० ने समाजवादी दल को
र वर्ग का राजनीतिक दल मान लिया और उसका
रूप से समर्थन करने का निश्चय किया।

साथ ही दलने ए० आई० टी० यू० सी० के पूर्ण
य के साथ मजदूर वर्ग की एकता का नारा लगाया
तीनों मजदूर संगठनों को एक करने में महत्वपूर्ण
किया। इस कार्य में वह समर्थ भी हुई। तीनों के
संगठन का नाम ए० आई० टी० यू० सी०
योंकि ए० आई० टी० यु० सी० इन में मूल
संगठन था, जिससे वे दोनों संस्थाएं अलग हुई थीं।

ए० आई० टी० यू० सी० से समझौता होने के
बाद से तथा तीनों संगठनों के एक होने तक समाज-
वादी दल ए० आई० टी० यू० सी० में प्रमुख दल था।
यह हालत दल के अंतर्गत मजदूर संगठन का कार्य एक
नये रूप से होने के कारण नहीं था, बल्कि प्रधान मज-
दूर संगठन-कर्ताओं के दल में सम्मिलित हो जाने के
कारण था। उस समय दल का इस क्षेत्र में कार्य कोई
विशेष सराहनीय नहीं था क्योंकि उसके कार्यकर्ता स्वतं-
त्रता आन्दोलन में बड़ी लगन से जुटे हुए थे और इस
ओर उन्हें अधिक समय देने की फुर्सत ही न थी। यह
तो अगस्त आन्दोलन के बाद से ही, जब से कि दल में
नौजवानों का आगमन शुरू हुआ, हमलोग मजदूर
संघ आन्दोलन फैलाने में सफल हो सके। हां, इसके
बाद इस दिशा में जो कार्य हुए उनपर दल को गर्व है।
यह बड़े दुःख की बात है कि पंजाब के दोनों भागों में
जो साम्प्रदायिक दंगे हुए, उसके कारण वहाँ दल के
किए कराये काम पर पानी फिर गया।

युद्ध के बाद कम्युनिस्टों के हथकण्डों के कारण
ए० आई० टी० यु० सी० में जो फूट पड़ी है, वह अभी
हाल की घटना है; इसलिए इसके विस्तार में जाने की
आवश्यकता नहीं। यह एक दुःख की बात है कि मजदूर
आन्दोलन इस प्रकार छिन्न-भिन्न होता रहे। किन्तु
जब नीति में गहरा मतभेद हो और जब किसी राज-
नीतिक उद्देश्य के हेतु मजदूर वर्ग को इस्तेमाल करने
के लिए घृणित चालें चली जाँय, तब संबंध-विच्छेद
अनिवार्य हो जाता है। यदि कांग्रेस ने मजदूरों को,
गांधीवादी सिद्धांत पर ले चलने के नाम पर, सरकार
का पिछलगुवा बनाने की चेष्टा न की होती तो, कम से
कम, मजदूर आन्दोलन की गैर कम्युनिस्ट शक्तियाँ उसी
के साथ होतीं। किन्तु आई० एन० टी० यू० सी० की
संकुचित नीति तथा तानाशाही के आगे इन शक्तियों
के लिए अलग होने के सिवा और कोई चारा ही न
था। ऐसी स्थिति में वे अवश्य किसी मजदूर संस्था में
शामिल हो जाँयगी।

यद्यपि इस देशमें, किसानों का घोर दमन और
शोषण होता है फिर भी दल की स्थापना के समय
देश में कोई भी उपयुक्त किसान संगठन नहीं था।

किसानों के छिट-फुट आन्दोलन, युक्तप्रांत में अवध
किसान आन्दोलन की तरह के अवश्य हुए थे। बिहार
में भी एक किसान सभा थी जिसे कि प्रांतीय कांग्रेस ने
१९२९ में किसी काश्तकारी कानून के विरुद्ध लड़ने के
लिए, जिसके पक्ष में प्रान्तीय द्वैध शासन तथा जमींदार
थे, संगठित किया था। प्रमुख रूपसे दल के नेतृत्व
में अ० भा० किसान सभा की स्थापना की गई। स्वामी
सहजानन्द सरस्वती और प्रो० एन० जी० रंगा का
उसको संगठित करने में बहुत बड़ा हाथ रहा है।
पहले तो कम्युनिस्टों का कहीं पता न था, लेकिन जब
समाजवादी एकता की घातक नीति अपनाई गई तो
वे भी दिखाई देने लगे! इसके बाद से इसका इतिहास
राजनीतिक चालों तथा विघटन से भरा हुआ है।
आज सोशलिस्ट पार्टी के सामने अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों
में एक प्रश्न यह भी है कि किसान आन्दोलन को कैसे
उचित रूप से संगठित किया जाय। क्या हम लोग
उन्हीं पुरानी किसान सभाओं को लेकर चलें जो आज
एक वर्ग-संगठन होने के बदले राजनीतिक दांव-पेंच के
अखाड़े हैं या कोई नया उचित संगठन बनाया जाय?
मेरा विश्वास है कि यह सम्मेलन इस प्रश्न का कोई
समुचित उत्तर देगा।

समाजवादी दल के दो अन्य कार्यक्षेत्र भी थे
जिनका यहाँ जिक्र किया जा सकता है—विद्यार्थी तथा
स्वयं सेवक आन्दोलन। जहाँ कहीं भी दल ने कांग्रेस
स्वयं सेवक संगठन से अलग स्वयं सेवक संगठन बनाए
हैं, वहाँ उनके कार्य आज भी जीवित हैं। अब हमारे
सामने सवाल यह है कि हम इन सभी जिला तथा
प्रान्तीय संगठनों को मिलाकर एक राष्ट्रीय संगठन
तैयार करें।

विद्यार्थी आन्दोलन कम्यूनिस्ट प्रभाव से अछूता न
बच सका। अखिल भारतीय छात्र संघ (आल इण्डिया
स्टूडेन्ट्स फेडरेशन), जिसके बनाने में पार्टी का प्रमुख
हाथ था, कम्यूनिस्ट पार्टी का मंच बन गया, जिसके
परिणामस्वरूप बिलगाव अनिवार्य हो गया। छात्र
काँग्रेस ने, जिस पर पार्टी का काफी प्रभाव था,
आज़ादी की लड़ाई में सराहनीय कार्य किया। किन्तु
आज छात्र आन्दोलन में पुनः गड़बड़ी फैली हुई है।
मुझे आशा है कि सभी गैर कम्युनिस्ट विद्यार्थी अलग
संगठित होंगे और कम्यूनिस्टों के एकता के झूठे नारे
का शिकार न बनेंगे। मैं सदैव से इस विचार का हूँ
कि दल के सदस्यों को छात्र कांग्रेस में पद के लिए
छीना झपटी न करनी चाहिए। हाल की घटनाओं से
मेरा यह विचार और भी पक्का हो गया है। मैं सम-
झता हूँ कि यदि मेरे छात्र साथी अध्ययन एवं विचार
विमर्श के लिए समाजवादी विद्यार्थी क्लब बनाएं और
पार्टी का कार्य करें तो अधिक लाभप्रद होगा

यदि हम समाजवादी एकता की घातक नीति को,
जिसे हमारा दल आरम्भ से ही लेकर चला था, चर्चा
न करेंगे तो हमारी विगत कार्यों की यह आलोचना
अधूरी ही रह जायगी। इस नीति के परिणाम सभी
जानते हैं। कम्यूनिस्टों के छल तथा दुरंगी-नीति के
कारण दक्षिण भारत में समाजवादी दल अभी तक
पहले जैसा शक्तिशाली नहीं हो पाया है। यद्यपि इस
नीति का परिणाम घातक सिद्ध हुआ है, तथापि उस
हानि का उठाना अच्छा ही हुआ। उससे हमें एक
अच्छी नसीहत मिली है। अपने इस कटु अनुभव
से हमने कम्यूनिस्टों को जितना समझा है उतनी
अच्छी तरह शायद कोई सिद्धांत या किसी देश के
अनुभवों से न जान सकते थे। कम्यूनिस्टों ने यदि
फिर कभी वामपक्षीय एकता का ढोंग रचा तो अब
यही कटु अनुभव हमें रास्ता देखायेगा।

हमारे विगत कार्यों के सम्बंध में जो दो आलोचनाएँ
हैं उन पर प्रकाश डाल कर मैं अपनी यह आलोचना
समाप्त करूँगा।

साम्प्रदायिक दंगों के सम्बंध में कुछ लोगों का
कहना है कि अगस्त क्रांति के समय जो हिंसात्मक प्रचार
किए गए थे उसी के कारण ये दुःखद घटनाएँ हुईं।
किन्तु यह तो समस्या का अत्यधिक सरल हल निकालना
हुआ। साम्प्रदायिक उपद्रव अपने आप ही शुरू नहीं
हुए, इसकी योजना पहले ही से बनी थी और इसके
मूल में अंग्रेजों का हाथ है। इन दंगों को यूरोप के
फासिस्टवादी सिद्धांतों तथा चालों से प्रोत्साहन मिला
और इन पर तानाशाही (टोटैलिटैरियनिज्म) तथा
युद्ध के कारण पैदा हुई मानवीय पृथक्करण की
मनोवृत्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा। अगस्त-क्रांति की

अशोभनीय घटनाएँ वर्तमान अस्त-व्यस्तता के
सम्भवतः, कुछ अंश में उत्तरदायी हो सकती
दि इसे हम कुछ अंश तक दंगों के लिए जिम्मेदार
ी लें तो समाजशास्त्रियों का यह कर्तव्य है कि वे
दूसरे कारणों की ओर भी विचार करें। उपद्रव
ही प्रत्येक क्षेत्र में जनता का आचरण आज
हुआ दिखाई देता है। वे लोग जोकि कल तक सत्य
अहिंसा के उच्च आदर्शों की बातें करते थे,
क सिद्धान्तों को आज ताक पर रख राजनीतिक
ी, पक्षपात और भ्रष्टाचार में रत हो गए हैं।
यों हुआ? इसका क्या कारण है कि अधिकांश
ों पर हमारी राष्ट्रीयता भी ओछी साबित हुई
मारे दलों में आज साम्प्रदायिकता, प्रांतीयता,
ता तथा इस प्रकार की अन्य भावनाएं घुसती जा
। इसका कारण यह है कि सत्य तथा अहिंसा
की टट्टी हो रही है और इसका इसी रूप में
भी किया गया है। विश्वास के रूप में इसे
भी अपनाया नहीं गया। सत्य और अहिंसा
ा पहनने की अपेक्षा तो हिंसा का सिद्धांत कहीं
अच्छा था। इसका यह मतलब नहीं कि मैं
को जायज़ क़रार दे रहा हूँ। हिंसा की भी कुछ
सीमा होती है। मेरा मतलब यह है कि यदि
से हानि हो सकती है तो झूठी अहिंसा से घोर
हो सकता है।

हमारे संबंध में दूसरी आलोचना यह है कि
कांश अवसरों पर भविष्य के संबंध में हमारे अनु-
ग़लत सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए हमारे संबंध
ा जाता है कि हमने जो यह कहा था कि कैबिनेट
न के साथ समझौते का कोई परिणाम न
गा और अंग्रेज़ों के साथ दूसरा संघर्ष अनिवार्य
जायगा, हमारी इस धारणा को इतिहास ने
ठहराया है। इसी प्रकार हम पर यह भी
प लगाया जाता है कि विधान-परिषद का
कार कर हमने ग़लती की। घटनाओं से बुद्धि
ा सरल है परन्तु कुछ ऐसे लोग भी हैं जो उनसे
कुल नसहीत नहीं लेते।

इतिहास ने हमारे निर्णयों को कैसे ग़लत सिद्ध
है, यह मेरी समझ में नहीं आता। मुझे इस बात में तनिक भी संदेह नहीं कि यदि हमने अपने मौलिक सिद्धांतों का बलिदान न किया होता तो अंग्रेजों से संघर्ष अनिवार्य हो जाता। इस संघर्ष का स्वरूप क्या होता यह कहना कठिन है, परंतु वेवेल-जिन्ना षड़यंत्र सफल होने पर कांग्रेस के सम्मुख सारे समझौतों को एक ओर फेंक अपने को अस्तव्यस्तता में डाल देने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही न था। इस खतरे से बचने के लिए कांग्रेस ने एक इतना बड़ा मूल्य चुकाया जिसकी हमें कल्पना तक न थी।

समाजवादी दल का सारा निर्णय, उसकी नीति की परख, इस एक बात को निश्चित मानकर थी कि कांग्रेस कभी भी विभाजन स्वीकार नहीं करेगी। यदि देश का विभाजन स्वीकार कर न लिया गया होता तो कांग्रेस के सामने अंतरिम सरकार से इस्तीफा दे अखण्ड भारत और पूर्ण स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से संघर्ष छेड़ने के सिवा और कोई रास्ता न रहता। यह सच है कि कांग्रेस ने समाजवादियों की सहमति से ही आत्म-निर्णय का सिद्धांत स्वीकार किया था, लेकिन वह सिद्धांत अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद लागू होने के लिए था, उनकी सहायता तथा आश्रय में नहीं। विभाजन के सिद्धांत को मानकर कांग्रेस ने आंशिक स्वतंत्रता स्वीकार की—पूरी आज़ादी उसे नहीं मिली। कोई भी व्यक्ति यह सोच सकता है जिन लोगों ने ऐसा कार्य किया उन्हें दूसरों पर ग़लत निर्णय पर पहुंचने का आरोप नहीं लगाना चाहिए।

मैं इस बात को फिर दोहराता हूँ कि यदि कांग्रेस अपने उद्देश्य से विमुख न हुई होती और अपने सिद्धांतों पर दृढ़ रहती तो आज उसे समाजवादी दल के सुझाओं पर चलने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा न होता।

विधान-परिषद् के सम्बंध में यह कहा जाता है कि उसका बहिष्कार करके अब हम पछता रहे हैं। लोग अपने ही आचरण के अनुसार दूसरों के संबंध में निर्णय करते हैं! जहाँ तक हमारा संबंध है हम लोगों को परिषद् के बहिष्कार करने का तनिक भी खेद नहीं है। ऐसा करके हम देश को बता देना चाहते थे कि अंग्रेजों से समझौते का पूरा आधार ही गलत है और इसे तुरंत अस्वीकार कर देना चाहिए। उस समझौते के एक अंश को मान

लेना तथा अधिकांश को अस्वीकार कर देना इससे बढ़कर राजनीतिक अवसरवादिता की सीमा क्या होती? घटना-क्रम के विकास में मुस्लिम लीग जब विधान-परिषद से निकल आई तो यह स्पष्ट हो गया कि शेष परिषद अब स्वतंत्र भारत का विधान नहीं बना सकती। ऐसी स्थिति में उपयुक्त यह था कि कांग्रेस अंग्रेजों के समझौते को रद्द कर विधान-परिषद तथा अंतरिम सरकार से निकल जनता द्वारा निर्वाचित विधान-परिषद की स्थापना करती। ऐसा विधान-परिषद् क्रांतिकारी शक्ति का केंद्र होता और वह ब्रिटिश सत्ता को परास्त करता। समाजवादी दल इस परिषद से पूरा सहयोग करता और उसके निर्णयों को कार्यान्वित करने की पूरी जिम्मेदारी लेता।

हमसे यह कहा गया कि इस प्रकार के कार्य से गृह-युद्ध छिड़ जायगा और पाकिस्तान की माँग इस समय स्वीकार कर लेने में ही भलाई है। इसके जवाब में हमने कहा कि खतरे से घबराना न चाहिए; बल्कि उसको मान लेने से गृह-युद्ध का खतरा और बढ़ जायगा। सरलता पूर्वक मिलती हुई सत्ता का लोभ इतना तीव्र तथा अधिक था कि रोका न जा सका। इसका परिणाम कितना भयानक हुआ यह इतिहास से ज़ाहिर है। फिर भी अभी ऐसे लोग हैं जो कि अपनी जीत और बुद्धि की डींग मारते हैं और दूसरों पर जोशीले प्रचार करने का आरोप लगाते हैं!

समाजवादी दल ने अन्य दलों की भांति गलतियाँ की हैं, किन्तु अंग्रेजों के साथ समझौते के प्रति जो रुख समाजवादी दल का था वह इनसे भिन्न था। वास्तव में दल को अपनी इस नीति पर गर्व है।

भविष्य की ओर

अब मैं एक ऐसे प्रश्न पर विचार करने जा रहा हूँ जिसका एक लम्बी बहस के बाद फैसला होने जा रहा है। कांग्रेस में रहने या उसे छोड़ने के प्रश्न पर हम लोगों ने काफी वाद-विवाद किया है। दोनों ओर से काफी ठोस दलीलें दी गईं, लेकिन इधर एक ही पक्ष मज़बूत होता जा रहा है। इस सवाल के दोनों पहलुओं पर विचार करते हुए मैंने कुछ सप्ताह पूर्व एक लेख प्रकाशित किया था और उसमें अपना रुझान भी रखा था।

उस लेख के प्रकाशित होने के बाद जो घटनाएँ घटी हैं उससे यह सवाल और भी साफ हो गया है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपने विगत अधिवेशन में कांग्रेस के नये विधान के लिए कुछ मौलिक सिद्धांतों को स्वीकृत किया है। इन सिद्धांतों से स्पष्ट है कि कांग्रेस अब राष्ट्रीय मोर्चा नहीं रही। इस राष्ट्रीय संकट काल में भी वह संयुक्त मोर्चा के रूप में रहना नहीं चाहती। कांग्रेस अब एक दल होने जा रही है। अब यह उस अखिल भारतीय कांग्रेस के रूप में नहीं रही जो देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ी थी और जिसे सम्पूर्ण जनता का सहयोग प्राप्त था। इसका तो केवल अब नाम मात्र रह गया है। राजनीतिक दलबन्दी से इसकी परम्परा को पवित्र रखने के लिए आवश्यक यह है कि इसका नाम ही बदल दिया जाय।

भारतीय समाजवाद की आवश्यक मांग है कि ऐसी स्थिति में दल कांग्रेस से अलग हो जाय।

इसके अलावा कुछ और भी बातें हैं जो हमें इसी नतीजे पर पहुंचाती हैं। अपने उस लेख में मैंने एक विरोधी दल बनाने की आवश्कता की ओर संकेत किया था। उत्तरोत्तर अब इसकी आवश्यकता बढ़ती ही जा रही है।

हमारे बीच में गांधीजी की उपस्थिति नागरिक स्वतंत्रता की सब से बड़ी गारेन्टी थी। अब उनके न रहने पर तानाशाही का ख़तरा पैदा हो गया है। असंदिग्ध देशभक्त और अकुंठित लोकतंत्रवादी विरोधी दल के अभाव में यह ख़तरा और भी बढ़ गया है।

जो लोग सरकार में हैं, निस्संदेह, व्यक्तिगत रूप से अच्छे व्यक्ति हैं और वह देश सेवा करना चाहते हैं; परंतु उनमें से कुछ ही सच्चे प्रजातंत्रवादी हैं, अन्य सभी ऐसे हैं जिनके हृदयों में नागरिक स्वतंत्रता के प्रति कुछ भी आस्था नहीं है। अंग्रेजी राज के ज़माने में जो राजकीय व्यवस्था थी वही आज भी अपने दूने जोर से काम कर रही है, जिनके अन्दर जनता की इच्छा और लोक-हित के प्रति कभी सम्मान नहीं था। इस स्थिति का लोगों ने इस प्रकार मखौल उड़ाया है—'अंग्रेज तो चले गए लेकिन उनकी जगह आई० सी० एसों० ने ले ली।'

ग्रेजी राज में कांग्रेस जनता के प्रति जागरूक थी सके हितों का ध्यान रखती थी। लेकिन इस ब वह सरकार से इतनी मिल गई है कि जनता की रक्षा नहीं करना चाहती। असलियत तो क आज उसका काम सरकार की तरफदारी करना, चित तथा अनुचित सभी कार्यों को जनता के ही साबित करना है।

सबके परिणामस्वरूप एक भयावह परिस्थिति गई है। यहां तक कि लाभदायक आलोचना ोष प्रकट किया जाता है और हर प्रकार से की चेष्टा की जाती है। ऐसे भी उदाहरण ाए हैं जब कि प्रकाशकों को सच्चे किन्तु अप्रिय या टिप्पणियों के प्रकाशित करने पर सजा दी राज के हाथ में प्रचार के जो साधन हैं—ल भारतीय रेडिया—उनका प्रयोग सत्ताधारी प्रचार के लिए किया जा रहा है। सरकार के लोगों के मार्ग में जो अन्य राजनीतिक कार्य-क हैं, अधिकारी उनके विरुद्ध अनुचित रूप ाई करते हैं। इस प्रकार के उदाहरण कम नहीं मजदूर संघ के कार्यकर्ताओं को आई० एन० सी० के नायकों के कहने पर बहुत से मजदूर संघ के ओं को जेल में डाल दिया गया है। राज-प्रतिद्वन्दियों को कुचलने के लिए फौजदारी दफा १४४ और १०७ का दिल खोलकर ो रहा है। इसी उद्देश्य से जन-सुरक्षा भी दुरुपयोग किया जा रहा है। समाजवादी हानुभूति रखने वाले और उसको चंदा देने क्तियों को धमकाया गया है। सरकारी कर्म-को सत्ताधारी दल का सेवक बना लिया गया सायिक औद्योगिक या इस प्रकार की अन्य ्यावसायिक संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य सभी विभागों को राजनीति से इस अर्थ में अलग ाहिए कि उनके सदस्य राजनीति में सक्रिय लें लेकिन उन्हें अपनी इच्छानुसार किसी क दल में सम्मिलित होने, चन्दा देने और समय वोट देने का पूरा अधिकार होना शर्त कि वह कानूनी ढंग से कार्य करता हो। आज इस अधिकार का हनन हो रहा है। यहाँ तक कि स्कूल मास्टरों को राजनीति से अलग रहने का आदेश दिया जा रहा है। जैसे जैसे हम समाजवाद की ओर बढ़ते जायँगे लोग सरकारी नौकरियों के क्षेत्र में आते जायँगे और यदि उन्हें राजनीति में भाग लेने का अवसर न दिया गया तो हम सभी एक भयानक तानाशाही व्यवस्था में फँस जायँगे जिसमें सत्ताधारी दल के अतिरिक्त अन्य दल को जीवित रहने ही नहीं दिया जाता। इन सब गंभीर प्रश्नों का विचार रखते हुए एक विरोधी दल अनिवार्य हो जाता है। एक दल के शासन या देशभक्त एवं लोकतंत्र में आस्था रखने वाले लोक-प्रिय विरोधी दल के अभाव में तानाशाही को पनपने का अवश्य अवसर मिलेगा और ऐसे समय में जब कि वर्तमान अस्त-व्यस्तता की स्थिति में शासन को बड़े अधिकार प्राप्त हैं।

देश की वर्तमान स्थिति में केवल समाजवादी दल ही लोकप्रिय विरोधी दल के इस अभाव की पूर्ति कर सकता है, आज यही वस्तुस्थिति है।

इस प्रकार गंभीरतापूर्वक विचार करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि अब हमें कांग्रेस छोड़कर एक स्वतंत्र राजनीतिक दल के रूप में कार्य करना चाहिए। आप सब लोग इस निर्णय का स्वागत करेंगे इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है।

कांग्रेस से अलग होने का निश्चय करते ही हम पर बड़ी बड़ी जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं। मैं आपके सामने कुछ ऐसे सिद्धातों को निवेदन करना चाहता हूँ जो भविष्य में हमारा पथ-प्रदर्शन करेंगे।

कांग्रेस से अलग होने के हमारे निर्णय पर हमारे अनेक मित्रों को जोकि राजनीतिक दलबंदी में नहीं रहते लेकिन जिंहें राष्ट्र के भविष्य के बारे में हमेशा चिंता बनी रही, गहरी परीशानी होगी। मेरा संकेत उन मित्रों की ओर है जिनका विश्वास है कि राष्ट्रीय संकट के समय अलग होने की अपेक्षा कंधे से कंधा मिलाकर काम करना आवश्यक है।

हमें इन मित्रों की परीशानी दूर करनी चाहिए। पार्लमेन्ट्री शासन-व्यवस्था से हम अवगत नहीं हैं और न लोकतांत्रिक विरोध से ही परिचित हैं। अंग्रेजी राज का जिस प्रकार कांग्रेस विरोध करती थी उसी को हम जानते हैं। कांग्रेस ने उसे समूल नष्ट करने के लिए

प्रत्यक्ष कार्रवाई की लेकिन लोकतंत्र में विरोध का यह रूप नहीं हो सकता, इस व्यस्था में सत्ताधारी दल तथा विरोधी दल दोनों ही राज-भक्त होते हैं और प्रजातांत्रिक उपायों का प्रयोग करते हैं। अपने अस्तित्व को कायम रखते हुए राष्ट्रीय संकट काल में दोनों अपने मतभेदों को भुला कर देश की सेवा करने के लिए एक साथ खड़े हो जाते हैं। लोकतंत्रात्मक राज में विरोधी दल देशद्रोही दल नहीं माना जाता। यह अपनी दृष्टि में सदैव देशहित के लिए एक भिन्न कार्य-क्रम रखता है। ब्रिटिश काल में कांग्रेस के विरोध का अर्थ था देशद्रोह, क्यों कि वह सम्पूर्ण देश के लिए विदेशियों से लड़ रही थी। स्वतंत्र भारत में अब हमें जनता को बताना है कि कांग्रेस का विरोध करना देश-द्रोह नहीं है। इसका उद्देश्य उसकी कुछ नीति तथा शासनपद्धति का विरोध करना, उसके स्थान पर दूसरी नीति का सुझाव रखना है। कांग्रेस का विरोध करने का अर्थ है प्रजातान्त्रिक विधि से सत्ताधारी दल के स्थान को ग्रहण करना।

इस समय देश घोर आंतरिक संकट से गुजर रहा है, इसके साथ ही उस पर बाहरी खतरे भी हैं, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में राज्य के समस्त दलों की, जिनके समान उद्देश्य और आदर्श हों आपस में मिलकर पारस्परिक सहयोग द्वारा संकट का सामना करना चाहिए। कांग्रेस तथा समाजवादी दल में बहुत सी समानता है, असाम्प्रदायिक लोकतंत्र में दोनों विश्वास करते हैं। यह स्पष्ट है कि समाजवादी दल राज की रक्षा तथा प्रजातंत्र के लिए प्रतिक्रियावादी तथा साम्प्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध लड़ने के लिए हमेशा तैयार रहेगा और इस संघर्ष में वह कांग्रेस का साथ देने के लिए तैयार रहेगा।

अब हमें इसे, देश के सामने, न केवल शब्दों में ही बल्कि कार्य रूप से सम्पन्न करना है। इस सम्बंध में मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि कांग्रेस से निकलने पर हमें बहुत से मित्रों और साथियों को छोड़ना पड़ेगा, जिनसे हमारा व्यक्तिगत और सैद्धांतिक सम्बंध सदा बना रहेगा। उनसे अलग कार्य करते हुए भी हमारा प्रयत्न उनका हाथ मजबूत बनाने का ही रहेगा और विरोधी दल के रूप में रहते हुए भी हम उनका कार्य सरल और उनका मार्ग प्रशस्त करते रहेंगे।

अब मैं आप से चाहूँगा कि आप भी मेरे साथ एक ऐसी समस्या पर विचार करें जो कि मुझे अभी तक चिंतित किए हुए है। अब हमारे सामने उपायों की समस्या है। कांग्रेस से अलग होने के निर्णय और हाल की दुःखद घटनाओं की स्थिति में यह समस्या हमारे लिए अत्यन्त महत्व की है।

पश्चिम में विरोधी दल अपने प्रतिद्वन्दी दल को गिराने के लिए झूठ और मकारी करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। वे घूस और भ्रष्टाचार का प्रयोग चुनाव में बहुमत प्राप्त करने के लिए बुरा नहीं मानते। बहुत से दल तो इस सीमा को भी पार कर जाते हैं और उनके लिए हत्या डकैती और अग्निकाण्ड एक राजनीतिक अस्त्र है। विगत महीनों में इसका दुःखद परिचय मिला है। प्राचीन काल से ऐसे राजनीतिज्ञ हुए हैं जिन्होंने राजनीति में नैतिकता को कोई स्थान नहीं दिया है। पहले यह अनैतिकता राजनीति में भाग लेने वाले एक छोटे से वर्ग तक ही सीमित थी नेता और राज्य के सूत्रधार जो भ्रष्टाचार करते थे उससे जनता अछूती रहती थी। लेकिन तानाशाही के, जिसमें फासिस्टवाद, नाजीवाद तथा स्टेलिनवाद शामिल हैं, उदय से इस सिद्धांत का व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा है, यहाँ तक कि समाज का कोई भी व्यक्ति इससे अछूता नहीं बचा है। पारिवारिक जीवन में भी यह प्रवेश कर गया है।

रूस में स्टेलिनवाद की सफलता से अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि मार्क्सवाद में नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है और जब कोई समाजवादी नैतिकता की बात करता है तो उसे गद्दार और पथभ्रष्ट कहा जाता है। मेरा स्पष्ट मत है कि समाजवाद की प्राप्ति के लिए साधन पर विचार करना अत्यंत आवश्यक है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति समाजवाद का अर्थ अलग अलग समझते हैं, किंतु यदि समाजवाद से हमारा तात्पर्य है ऐसे समाज से जिसमें व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होती हों, जिसमें व्यक्ति सभ्य तथा सुसंस्कृत हो, स्वतंत्र तथा वीर हो; दयालु तथा उदार हो, तो

श्वास है कि हम बिना एक उच्च आचरण तथा स्तर पर दृढ़ रहे इस उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर ऐसा लोगों का विश्वास है कि यदि समाज षण का अंत कर दिया जाय और सब को वस्त्र और रहने के लिए घर मिलने लगे तो मस्या अपने आप हल हो जाय। लेकिन पशुओं त इस प्रकार पेट पालना ही समाजवाद का नहीं है बल्कि उसका आदर्श इससे कहीं ी है।

हात्मा गांधी ने हमें बहुत सी बातें सिखाई हैं सबसे बड़ी चीज़ उन्होंने हमें यह सिखाई है कि ही साध्य है। बुरे रास्ते पर चलकर हम अच्छे को प्राप्त नहीं कर सकते, अच्छे उद्देश्यों की के लिए सुमार्ग की आवश्यकता है। हम में से स सत्य पर अविश्वास कर सकते हैं लेकिन संसार श की हाल की घटनाओं ने मेरे इस विचार को ढ़ कर दिया है कि केवल अच्छे साधनों से ही च्छे समाज अर्थात् समाजवाद की स्थापना कर ।

ाध्यात्मिक पुनर्जीवन की आवश्यकता के संम्बंध अभी हाल में एक वक्तव्य दिया था। उससे ों से कुछ लोग शायद यह समझते हों कि मेरा त हाल की दुर्घटनाओं से इस कदर हिल गया मैं वास्तविक जीवन की कठिनाइयों से भागने की र रहा हूँ। आप में से जिनकी ऐसी धारणा है वे हैं। यदि अध्यात्मवाद को धार्मिक अर्थ में जाता है तो मुझे इसका तनिक ज्ञान नहीं है। एक आत्मा या ब्रह्म में विश्वास नहीं करने लगा रा दर्शन मानवीय तथा ऐहिक है। मेरी चिन्ता षय उन्हीं लोगों की समस्या है जिनके साथ में मुझे रहना है। मैं झूठे, खूनी, निर्दयी, असत्य तथा द्वेषपूर्ण व्यक्तियों के समाज में रहना ाहता।

नुष्य के स्वभाव के संबंध में कुछ कहना कठिन तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसे बनाया जायगा वैसा ही होगा। जन्म से ही कोई आदमी नहीं होता बल्कि उसे सुशिक्षा द्वारा बनाया जाता है। यदि हमारे दल का उद्देश्य केवल खाता-पीता मनुष्य (जानवर) पैदा करना नहीं है बल्कि मनुष्य को अच्छा भी बनाना है, तो मैं कहूँगा कि हमारे राजनीतिक कार्य नैतिकता से प्रेरित होने चाहिए। आशा है आप लोग इस पर समुचित रूप से विचार करेंगे।

मैं यहाँ एक और समस्या पर उदारता पूर्वक विचार करना चाहता हूँ।

कुछ लोग सभी राजनीति को दलबन्दी का अखाड़ा समझते हैं, किन्तु यह घातक धारणा है। मैं यहाँ इस प्रकार की धारणा के दो महत्वपूर्ण पक्षों पर विचार करूँगा। पहले हमें यह देखना है कि हमारे संगठन पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है। जो लोग इस विचार के हैं, स्वाभाविक रूप से वे दल में अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। मैं यह नहीं कहता कि वे ऐसा कर ही रहे हैं। इस तरह के विचार रखने वाले जो कि शक्ति को ही राजनीति का सार समझते हैं इसे प्राप्त करने के लिए हर प्रकार के उपायों को सही मानते हैं। यहाँ तककि वे चुनाव के समय झूठ, गंदे प्रचार और धोखा-धड़ी करने में भी नहीं हिचकिचाते। स्पष्ट है कि इस प्रकार की नीति से दल छिन्न-भिन्न हो जायगा। मैं समझता हूँ कि मेरे सभी साथी इस विचार से सहमत होंगे। मैं दल के सदस्यों से निवेदन करता हूँ कि वे ऐसे सभी साधनों को प्रयोग में न लावें और दल में शक्ति प्राप्त करने के लिए गुटबंदी न करें। पद, प्रभाव तथा नेतृत्व के लिए आकांक्षा करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, लेकिन अपने कार्य और सेवा से हरेक को आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिए।

इस दृष्टि का दूसरा पक्ष जिसकी परीक्षा मैं यहाँ करना चाहता हूँ वह कहीं अधिक महत्व का है। राजनीतिक दलबंदी में विश्वास करने वालों की धारणा है कि केवल राज से ही समाज की भलाई की जा सकती है। दूसरे शब्दों में इस सिद्धांत के समर्थक समाज की सेवा और उसमें अपनी इच्छानुकूल परिवर्तन करने के लिए राज्य पर कब्ज़ा करने में विश्वास करते हैं।

मैं इस विचार को गलत समझता हूँ। आज राजसत्ता कांग्रेस के हाथ में है, किंतु प्रत्येक विचारशील कांग्रेस जन इस बात से सहमत होंगे कि यदि कांग्रेस सामाजिक परिवर्तन और विकास के लिए राज्य पर

निर्भर करेगी तो वह स्वयं कमजोर हो जायेगी। कांग्रेस के अंदर रचनात्मक कार्यकर्ता तो यह सोच रहे हैं कि उन्हें कांग्रेस के वैधानिक कार्यक्रम से अलग होकर स्वतंत्र रूप से कार्य करना चाहिए जिससे कि वे समाज और राज्य दोनों की सेवा कर सकें

कम्यूनिस्ट अधिनायकतंत्रवादी देशों के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि राज्य को सामाजिक पुनर्निर्माण का एकमात्र साधन मान लिया जाय तो पूरे समाज का रूप सैनिकवादी हो जायगा। उसमें राज्य ही सर्वशक्तिशाली होगा। जन-प्रेरणा का अंत हो जायगा और व्यक्ति मशीन का पुर्जामात्र रह जायगा। इस प्रकार का समाज हमारे दल का उद्देश्य नहीं है और न तो हम जनतन्त्रात्मक समाजवादी समाज, जो कि हमारा ध्येय है, का ऐसा विकास-क्रम ही मानते हैं।

प्रजातन्त्र में लोगों को राज्य पर कम से कम निर्भर करना चाहिए। महात्मा गांधी और कार्लमार्क्स दोनों के अनुसार प्रजातंत्र की उच्चतम अवस्था में राज्य स्वतः समाप्त हो जायगा। तानाशाही जो मजदूर वर्ग के अधिनायक तंत्र से भिन्न है, हमें लोकतंत्र की ओर नहीं ले जा सकता। लोकतंत्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सामाजिक क्षेत्र में जनता को कार्य करने की पूरी स्वतंत्रता दी जाय। उसे विभिन्न आर्थिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के द्वारा अपनी उन्नति करने और समस्याओं को स्वयं हल करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

इसी प्रकार दल में हमें इस तरह की मनोवृत्ति पैदा करनी है, जो हमें पद की आकांक्षाओं से विरक्त रखे। चाहे हमारे हाथ में सरकार हो या न हो, किन्तु मेरा विश्वास है कि यदि हम रचनात्मक कार्यों से मजदूर आंदोलन इतना मजबूत बना सकें कि वह उद्योग-धंधों का स्वयं संचालन कर सके, मजदूर वर्ग को नागरिकता की शिक्षा दे सके; सहकारी ग्राम्य जन-समुदाय स्थापित कर सके; बच्चों और नौजवानों को देशभक्त बना सके; पिछड़ी हुई जातियों को सुसंस्कृत बना सके; जाति-पाँति, अंध-विश्वास तथा कट्टरता दूर कर सके; अत्यधिक संख्या में निःस्वार्थी कार्यकर्ताओं का सहयोग पा सके, जो पद-लोलुप नहीं हैं, तो हम समाजवादी समाज स्थापित करने में सफल हो सकेंगे। इस स्थिति में राज्य अनिवार्य रूप से समाजवादी हो जायगा और वह अपना निश्चित कार्यक्रम पूरा करेगा। वह उन्हीं वैध आधारों की परिधि में काम करेगा, जिन पर चल कर उसने आज तक बहुत कुछ कार्य पूरा किया है। इस प्रकार राज्य लोकप्रिय समाजवादी आंदोलन का अस्त्रमात्र रहेगा।

जो ऐतिहासिक निर्णय हम लेने जा रहे हैं उस सम्बंध में यह चर्चा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विरोधी दल के सदस्यों में शक्ति प्राप्त करने की लालसा प्रबल होती है। हमें इस लालसा को काबू में रखना चाहिए। हमें यह सदा याद रखना चाहिए कि केवल रचनात्मक कार्य और सेवा से हम प्रजातंत्रात्मक समाजवादी समाज कायम करने में सफल हो सकेंगे। वैधानिक धोखे धड़ी और दूसरों के छिद्रान्वेषण से कोई लाभ न होगा। किसी क्रांतिकारी दल में, जिसका उद्देश्य समाज में मौलिक परिवर्तन करना होता है, दो पक्ष होते हैं—एक वैधानिक दूसरा रचनात्मक कार्यकर्ताओं का। एक समय ऐसा अवश्य आता है जब कि दोनों पक्षों में प्रभुत्व के लिए झगड़ा खड़ा होता है, इसी प्रकार का संघर्ष कांग्रेस में पैदा हो गया है। इस द्वन्द में वैधानिक पक्ष की विजय हुई है। ऐसी स्थिति में रचनात्मक कार्यकर्ता कांग्रेस से अलग होकर समाज-सेवकों का एक स्वतंत्र दल संघटित करेंगे। हमें अपने दल को इस प्रकार विकसित करना चाहिए कि रचनात्मक तथा वैधानिक कार्यकर्ता मिलजुल कर कार्य करें और उसमें रचनात्मक कार्यकर्ताओं की आवाज अधिक प्रभावशाली हो, तभी हमारा दल लोकतंत्र कायम करने का उपयुक्त साधन बन सकता है।

रिपोर्ट समाप्त करने के पहले मैं वामपक्षीय एकता की समस्या पर कुछ कहना चाहता हूँ। पार्टी के पुनस्संगठन के समय से इस समस्या की चर्चा दल के बैठकों में कई बार आई है। हमारे नीति-सम्बंधी वक्तव्य में कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध रखने के बारे में स्पष्ट घोषणा कर दी गई है। अभी हाल में अठारह वामपक्षीय दलों का सम्मेलन पटना में हुआ था। उसमें एक संयुक्त मोर्चे की नींव डाली गई है! यह प्रश्न पुनः उठाया गया है और हमारे कार्यकर्त्ता यह नहीं समझ पा रहे हैं कि दल की नीति क्या हो। मैं इस वामपक्षीय

ा के प्रश्न को दो दृष्टि से विचार करना चाहता
-एक तो कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एकता और दूसरा
य दलों के साथ एकता।

जहां तक कम्युनिस्ट पार्टी का सम्बंध है हमारी नीति
है। दुनिया की घटनाओं ने इसे और दृढ़ कर
ा है। दुनिया की घटनाओं से यह ज़ाहिर है कि
र की सभी कम्युनिस्ट पार्टियाँ रूस की पिछलग्गू
चेकोस्लोवाकिया में हाल की घटनाओं से इसकी
हो गई है। जिनकी आँखें इससे भी नहीं खुली हैं,
म्युनिस्टों के एजेन्ट हैं।

क्या किसी विदेशी शक्ति के पंचमागियों से
ा संभव हो सकती है? हमारी स्वयं उस देश से
ी हो सकती है, किन्तु देश में उसके ऐजेन्टों की प्रतिष्ठा
र प्रभाव को बढ़ने देना अपने देश की स्वतंत्रता को
क रखना है!

कम्युनिस्ट लोकतंत्र किस प्रकार का है हाल की
नाओं से यह भी स्पष्ट हो गया है। दल के नीति
धी वक्तव्य में यह साफ साफ कह दिया गया है कि
ुनिस्टों की देशभक्ति और उनके उद्देश्य से हमारा
नेद है—हम लोग लोकतंत्रात्मक समाजवाद में
वास करते हैं और कम्युनिस्ट तानाशाही में। इसके
ध में कम्युनिस्ट कहते हैं कि यह उनका अलग
र का प्रजातंत्र है। इसका स्वरूप भी चेकोस्लो-
किया में स्पष्ट हो चुका है। प्रो० लास्की की भी
तफहमी दूर हो गई है। घटना-चक्र ने तो इस
य पर और भी प्रकाश डाला है। कम्युनिस्ट प्रजा-
में जान मेसारिक जैसे जनवादी भी जिवित न रह
और चेकोस्लोवाकिया जनतंत्र के अध्यक्ष डाक्टर
र्ड वेनेस के मुहँ पर भी ताला लगा हुआ है।

कम्युनिस्टों से हमारा तीसरा मौलिक मतभेद
की कार्य-प्रणाली से है। जिनकी आँख पर परदा
पड़ा है, वे चेकोस्लोवाकिया में कम्युनिस्टों की
प्रणाली को देख सकते हैं। हमारे देश में भी इसका
चय मिल रहा है। हमारे दल के विरुद्ध कम्युनिस्ट
चार और उनके विभिन्न मोर्चों से मिथ्या प्रचार
ा जा रहा है। रेल-कर्मचारी संघ के अध्यक्ष की
यत से मुझे इसका कटु अनुभव है। अभी कम्यु-
ट 'नेहरू सरकार जिन्दावाद' के नारे लगाते थे और
रेलवे बोर्ड से जो समझौते हुए उसका विजय के रूप
में स्वागत किया करते थे, किन्तु अब जबकि उनकी
नीति बदली है तो वे भारतीय सरकार की जड़ ही
खोदने पर तुल गए हैं। उदार समझौतों की अब वे
निन्दा कर रहे हैं और मुझ पर भी यह आरोप लगाया
जाता है कि मैं रेलवे-बोर्ड के हाथों बिक गया हूँ।
वामपक्षीय एकता का नारा लगाने के साथ ही कम्यु-
निस्ट इस प्रकार की भी हरकतें करते हैं। हमारे और
कम्युनिस्टों की कार्यप्रणाली में कोई साम्य नहीं है।

मैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि यदि समाज-
वादी दल स्वतंत्रता एवं प्रजातन्त्रिक समाजवाद में
विश्वास करता है तो उसे कम्युनिस्ट पार्टी के साथ
एकता के विचार को साहस पूर्वक अपने अन्दर से
निकाल देना चाहिए।

इस सम्बन्ध में मैं सभी को सावधान कर देना
चाहता हूँ कि कम्युनिस्ट हमारे दल में धीरे-धीरे प्रवेश
कर उसमें अपने पिट्ठू तैयार कर उसे भंग करने की
चेष्टा करेंगे और अन्त में उसे नष्ट ही कर देंगे। यदि
आप सतर्क नहीं हैं, उनके बहकावे में आ गए, यदि
एक मिनट के लिए उनकी नैतिकता पर विश्वास
करेंगे, तो आप दल की बरबादी का रास्ता खोल देंगे।
आप में से प्रत्येक को सतर्क रहना चाहिए। और
जनता को कम्युनिस्ट ख़तरे से सावधान कर देना चाहिए।
अब पूरब में भी कम्युनिस्ट सूचना-संघ (कमिन्फार्म) की
स्थापना के लक्षण मालूम पड़ने लगे हैं। इससे
कम्युनिस्ट ख़तरा और भी बढ़ जाता है।

पन्द्रह अगस्त के बाद से हमारे दल का कार्य
रचनात्मक हो गया है। हमें एक नये भारत का
निर्माण करना है। कम्युनिस्ट किसी प्रकार का
रचनात्मक कार्य करना नहीं चाहते। उनका एकमात्र
उद्देश्य उपद्रव करा जनता में अपने दल को लोकप्रिय
बनाना और भारत को कमजोर करना है। वे भारत
को विश्व में एक तीसरी बड़ी शक्ति होने देना नहीं
चाहते। अतः वे अपने देश के पुनरुत्थान में बाधा
डालने में अपनी सारी शक्ति लगा देंगे। इतनी बातें
कम्युनिस्टों के सम्बन्ध में हुई।

जहाँ तक अन्य वामपक्षी दलों का प्रश्न है—पहले
यह अत्यावश्यक है कि उनमें से प्रत्येक की नीति तथा

कार्यक्रम का निरीक्षण किया जाय और तभी एकता
का प्रश्न हल हो सकता है। किसी दल को वामपक्षी
कहा जाने लगे तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम
उसके साथ मिलकर कार्य करने लगें। देश के अन्दर
बहुत से वामपक्षी गुट हैं। कम्युनिस्ट पार्टी और उनमें
नहीं के बराबर मतभेद हैं। ये सभी तानाशाही के
उद्देश्य में विश्वास करते हैं और कम्युनिस्ट कार्य-
प्रणाली की अनैतिकता को मानते हैं। उनका कम्युनिस्ट-
पार्टी से केवल इतना झगड़ा है कि वे स्टेलिन के
अतिरिक्त किसी अन्य देवता की पूजा करते हैं और
ये रूस का पिछलग्गू होने में कम्युनिस्टों से थोड़े कम
हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय परिस्थिति के सम्बन्ध
में इनमें से कुछ दलों की धारणा हमसे मौलिक रूप
से भिन्न है। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो नेहरू-सरकार
को केरेन्सकी सरकार कहते हैं। और उसे हिंसात्मक
उपायों द्वारा उलट देना चाहते हैं। ऐसी परिस्थिति
में इन गुटों के साथ एकता कैसे संभव हो सकती है?

मेरा सदैव से यह विचार है कि वामपक्षीय
एकता के लिए एक ही मार्ग है। इसीसे वे दक्षिण
पक्ष का विरोध करने के लिए शक्ति प्राप्त कर सकते हैं
और देश की राजनीति में महत्वपूर्ण कार्यकर सकते
हैं। छोटे-छोटे प्रतिद्वन्दी वामपक्षी गुटों को मिला-
कर जो वामपक्षी मोर्चा तैयार किया गया है,
वह जनता का सही नेतृत्व नहीं कर सकता। इसमें
मतभेद और द्वेष पैदा होंगे जो उसे हमेशा कमजोर
बनाए रखेंगे जिससे किसी भी बुनियादी सवाल पर यह
भंग हो सकता है। यदि वाम-पक्ष को शक्तिशाली
बनना है तो उसे किसी एक दल में संगठित
होना चाहिए, जो एक निश्चित कार्यक्रम के आधार
पर देश का नेतृत्व करने की क्षमता रखता
हो। वस्तुस्थिति को देखते हुए निष्पक्ष भाव से मैं
कह सकता हूँ कि समाजवादी दल ही इस योग्य है।
अब जब की हम स्वतन्त्र दल बनाने जा रहे हैं, हम ऐसे
वामपक्षी गुटों एवं व्यक्तियों को आमंत्रित करेगें जो हमारे
दल के मौलिक सिद्धान्त को मान अपनी शक्ति इससे
मिलाकर देश में एक समाजवादी आन्दोलन खड़ा
करेगें। मुझे विश्वास है कि समाजवादी दल उन सभी
वामपक्षी गुटों का स्वागत करेगा जो इसमें सम्मिलित
होना चाहेंगे।

अपने नये दल की रूप-रेखा के सम्बन्ध में मैंने
कुछ सुझाव रखने का विचार किया था, लेकिन यह
संभव न हो सका। किंतु मैं इस समय यही कहना
चाहता हूँ कि दल का इस प्रकार आमूल परिवर्तन
किया जाय कि जिससे वह संगठित जनता की प्रतिनिधि
हो सके। मुझे आशा है कि आप लोग इस संम्बंध में
अपने अपने सुझाव रखेंगें और दल के लिए विधान
तैयार करेगें।

इस नीति सम्बंधी रिपोर्ट में मैंने राष्ट्रीय समस्याओं
पर विचार करने की चेष्टा नहीं की है और न उस
सम्बंध में कोई नीति निर्धारित करने का प्रयत्न ही
किया है। सम्मेलन अपने प्रस्तावों में इस सम्बंध में
विचार करेगा। मेरे दिमाग में जो प्रश्न घूमते रहे हैं
उन्हीं पर मैंने यहाँ विचार किया है, जिससे कि आप भी
उनपर विचार कर सकें। जो कुछ मैंने कहा है उसे
आप पूर्ण रूप से स्वीकार करेंगे या नहीं इसे मैं नहीं
कह सकता, परन्तु मुझे आशा है कि आप इनपर
गम्भीरतापूर्वक विचार अवश्य करेगें।

श्री सीताराम जायसवाल

काव्य का स्वरूप

युग परिवर्तन के साथ युग की मान्यताएं बदलती
नई परिभाषाएं बनती हैं और नये आदर्श प्रस्तुत
जाते हैं। जन-जीवन की वाह्य और अंतः दशाओं
उसके दर्शन में, कार्यप्रणाली में तथा परिणाम
भी परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन
तरह का निखार है, गति का चिन्ह है, प्रगति का
है। अतः परिवर्तन जब प्रस्तुत होता है तब विकास-
शक्तियाँ उसका स्वागत करती हैं और रूढ़िवादी
याँ जो विकास को (अपना) विनाश मानती हैं,
विरोध करती हैं। इस प्रकार का संघर्ष इतिहास
ग परिवर्तन काल में प्रगट होता है और फिर
तशील शक्तियों प्रहार के से लुप्त हो जाता है।
वर्तमान काल युग-परिवर्तन का है क्योंकि नई
याएं स्थापित हो रही हैं, नई परिभाषाएं बन रही
र नये आदर्शों को लेकर समाज चल रहा है।
इस परिवर्तन काल में यह आवश्यक है कि हम
प्राचीन आदर्शों तथा मान्यताओं को इस दृष्टि
कि उनमें कितना ग्राह्य है और कितना अग्राह्य,
साथ ही प्राचीन मान्यताओं का नवीन रूप क्या
चाहिए। इस प्रकार के विचार-विनिमय से यह
होगा कि हम अपने अतीत के उन तत्वों को ले
जो जीवन के लिए आवश्यक हैं और उन वस्तुओं
ाग सकेंगे जो विकास और प्रगति के पथ में
वरूप हैं। ऐसी परिस्थिति में साहित्यिक प्रगति
ा से काव्य के स्वरूप पर पुनः विचार करने की
कता है।

ाव्य' के सम्बन्ध में प्रसिद्ध साहित्य शास्त्र 'काव्य
के रचयिता आचार्य मम्मट का मत है कि
दार्थ' (रचना) दोष-रहित, गुणसहित और
से प्रायः युक्त हो वह काव्य है।' (तददोषौ
सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि—काव्य प्रकाश)

काव्य की यह परिभाषा जिस काल में लिखी गई थी, उस समय की सामाजिक दशा क्या थी और उस समय दोष और गुण की क्या कल्पना थी, इन सब बातों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा देते समय सामाजिक दोष और गुण की भी कल्पना की होगी। मम्मट के अनुसार रचना में दोष नहीं होना चाहिए, उसमें गुण होना चाहिए। इस परिभाषा को प्रगतिवादी दृष्टिकोण से स्वीकार करते समय हमें दोष और गुण की व्याख्या सामाजिक विकास की दृष्टि से भी करनी होगी। प्रगतिवादी दृष्टिकोण से 'दोष' उसे कहेंगे जो शोषण का समर्थन करता है और सीमित दृष्टि से देखता है। काव्य में 'गुण' से हमारा तात्पर्य होगा उस वस्तु से जो जाति-भेद और वर्ग-भेद से मुक्त हो, जो एकता का पोषक हो। अतः आचार्य मम्मट ने काव्य की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उसे स्वीकार करते समय हमें ऐसे अर्थ को ग्रहण करना पड़ेगा जो समाजवादी समाज के अनुकूल हो। रूढ़िवादी आलोचक मम्मट के 'दोष' और 'गुण' के उल्लेख में 'व्यक्तिगत' शब्दगत और रूढ़िगत दृष्टि से देखते हैं, सार्वभौम सामाजिक दृष्टि से नहीं। इसलिए वे काव्य का रूप सामाजिक विकास के साथ-साथ नहीं देखते और न समाज को प्रगति में साहित्य को सहायक मानते हैं।

आचार्य मम्मट के मत से काव्य का जो रूप होता है, वह एक उद्देश्य की पूर्ति करता है और वह उद्देश्य है क्या—गुण की वृद्धि। अतः 'कला कला के लिए' कहने वाले अथवा साहित्य और समाज के सम्बन्ध को अस्वीकार करने वाले आलोचकों के लिए साहित्य का उद्देश्य—गुण वृद्धि—सामाजिक संतुलन, तथा समता का प्रसार करना कठिन हो जाता है। उनकी यह कठिनाई सांस्कारिक है, श्रेणीगत है। जिस श्रेणी से

'कलावादी' आलोचक सम्बन्ध रखते हैं, उस श्रेणी का स्वार्थ उन्हें बाध्य करता है कि वे साहित्य का उद्देश्य जाति-हीन और वर्ग-विहीन समाज संगठन न स्वीकार करें। इतना ही नहीं उनका श्रेणी-स्वार्थ उनसे यह भी कहता है कि वे साहित्य में समाजवादी चेतना का विरोध करें। इस प्रकार 'कलावादी' प्रतिक्रियावादी का रूप धारण कर लेता है। और प्राचीन शास्त्रों के ऐसे अर्थ निकालता है, जिससे आज अनर्थ होता है। काव्य की इस प्राचीन परिभाषा के नवीन अर्थ को लेते हुए काव्य के उद्देश्य को स्पष्ट करना वर्तमान काव्य के स्वरूप के लिए आवश्यक है।

प्राचीन काव्य 'लोकरंजन' को महत्त्व प्रदान करता है। प्रगतिवाद के सिद्धांत से भी काव्य में लोकरंजन की शक्ति होनी चाहिए, लेकिन कठिनाई उस समय उपस्थित होती है जब लोकरंजन की व्याख्या की जाती है। एक वर्ग कहता है—'जब कवि या कथाकार सुखात्मक और दुखात्मक दोनों प्रकार के भावों के विधान द्वारा लोक का रंजन करता है तो मानना पड़ेगा कि उसका तात्पर्य भावों में लीन करना है, सुख या दुःख तो उन भावों के प्रकार की विशेषताएं हैं।' दूसरे शब्दों में लोकरंजन का अर्थ भाव में लीन करने से किया जाता है। भाव किस प्रकार के हों, इससे कोई प्रयोजन नहीं। सुख-दुःख का लोकरंजन की दृष्टि से क्या महत्त्व है, इस पर भी यह वर्ग विचार नहीं करता। इस प्रकार वह काव्य में लोकरंजन की भावना का कोई सामाजिक स्तर नहीं मानता।

लेकिन प्रगतिवादी सिद्धान्त के अनुसार काव्य में लोकरंजन की भावना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि प्रगतिवादी दृष्टिकोण काव्य के लिए लोक को आवश्यक मानता है। लोक-भावना और लोक के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति प्रगति के लिए करना काव्य की स्वाभाविक सुन्दरता होनी चाहिए। इसलिए प्रगतिवादी सिद्धांत रूढ़िवादियों की भाँति काव्य का लक्ष्य केवल मनोवृत्तियों का परिशोधन नहीं मानता, वरन् वह यह कहता है कि काव्य का मुख्य लक्ष्य है व्यक्ति की भावना को सामाजिक चेतना प्रदान करना। प्रगतिवादी दृष्टि से काव्य में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह व्यक्ति की मनोवृत्तियों का परिशोधन इस प्रकार करे कि वह अपने में सामाजिक भावना उत्पन्न कर सके और अपने

को समाज का समझने लगे। उसे समाज का दुःख-सुख अपना दुःख-सुख प्रतीत होने लगे। जब व्यक्ति में यह समता उत्पन्न हो जायगी तभी उसकी मनोवृत्तियों का परिशोधन होगा अन्यथा नहीं।

काव्य में मनोवृत्तियों के परिशोधन की बात को लेकर 'सहृदय' का उल्लेख किया जाता है, इस दृष्टि से कि काव्य ग्रहण करने वाले ग्राहक में यह समता होनी चाहिए कि वह कवि के भावों को समझ सके। दूसरे शब्दों में काव्य को पढ़ने अथवा सुनने वाला व्यक्ति इतना सहृदय हो कि वह कवि के भावों को समझ सके और ऐसा अनुभव कर सके कि कवि ने जो भाव व्यक्त किए हैं वे उसके होते हुए भी सबके हैं। इस सम्बन्ध में मैक्सिम गोर्की की बात याद आ गई। गोर्की ने साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है कि एक लेखक जब बीस या पचीस या सौ व्यापारियों, अधिकारियों या मजदूरों की आदत, स्वभाव, पसन्द, विश्वास, रहन-सहन के ढंग को उनके वर्ग की दृष्टि से देखता है और फिर इन प्रवृत्तियों को एक व्यापारी, एक अधिकारी या एक मजदूर के चित्रण में इस प्रकार व्यक्त करता है कि ये प्रवृत्तियां व्यक्ति विशेष की होते हुए भी वर्ग विशेष की परिचायक हों, तभी उसकी रचना साहित्य के रूप में स्वीकार की जायगी, अन्यथा नहीं। इसी बात को पाठक के दृष्टिकोण से देखा जाय तो पाठक काव्य में उन भावनाओं को चाहता है जो उसके वर्ग की होते हुए भी उसकी हैं। प्राचीन काव्य शास्त्र में कवि और पाठक दोनों के लिए 'सहृदय' होना आवश्यक बताया है जिससे कवि अपनी 'सहृदयता' के सहारे लोक-भावना को ग्रहण कर सके और पाठक भी इसी सहृदयता के द्वारा कवि के काव्य का रस ले सके। इसी तथ्य को प्रगतिवादी दृष्टिकोण से हम उस रूप में स्वीकार करते हैं जैसा कि गोर्की ने व्यक्त किया है। अर्थात् काव्य में व्यक्त मनोवृत्तियाँ अथवा भावनाएं व्यक्ति-विशेष की होते हुए भी वर्ग-विशेष से सम्बन्धित हों और पाठक भी ऐसा हो कि वह कवि की भावनाओं को सहृदयता से ग्रहण कर सके। अतः हमारे प्राचीन साहित्य के अनुसार जब काव्य के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि काव्य का रूप भावों के ऐसे विधान में है जो रस-मग्न कर दे और मनोवृत्तियों का परिशोधन कर दे, तब हम

धुनिक समाज में समाज के हित के लिए, सामाजिक
स्था को शोषण से मुक्त करने के लिए, काव्य के
में भावों के विधान और मनोवृत्तियों के परिशोधन
इस प्रकार स्वीकार करते हैं कि समाज में ऐसी
स्था स्थापित हो, जो जन-सामान्य की भावनाओं
आदर करे। इस प्रकार प्राचीन और नवीन
य के स्वरूप में मौलिक अन्तर नहीं है। अन्तर है
स्वार्थ से प्रभावित व्याख्या में। प्राचीन साहित्य
र्यों ने काव्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है,
की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए जो श्रेणीगत
र्थों से मुक्त हो। इसलिए आधुनिक साहित्य की
से काव्य के स्वरूप की विवेचना प्राचीन सिद्धान्तों
धार पर करते हुए भी हम इस निष्कर्ष पर
ते हैं कि काव्य का स्वरूप वही सत्य शिव और
है जो व्यक्ति में समाज के लिए ऐसी भावनाएं
न करता है कि वह समाज के सुख-दुःख को अपना
दुःख समझता है और इसीलिए वह शोषण का
ध करता है। वह वर्ग-विहीन और जाति-भेद से
सामाजिक व्यवस्था। समता, सौहार्द, समान अवसर
अधिकार के आधार पर स्थापित करना चाहता
यही साहित्य का उद्देश्य है जिसे लोक-कल्याण
है और जिसमें लोकरंजन निहित है।

*

साहित्यकार का व्यक्तित्व

काशी के दैनिक 'आज' के १८ मई के अंक में
र अमरनाथ झा के उस भाषण का कुछ अंश
शित हुआ है जिसे उन्होंने प्रसाद-परिषद् काशी
या था। भाषण के प्रकाशित अंश इस प्रकार
"डाक्टर झा ने अपने भाषण में साहित्यिकों को
व्यक्तित्व की रक्षा करने पर जोर दिया।
ने कहा कि किसी के निर्देश पर साहित्य-रचना
की जा सकती। राजनीतिक विचारधाराओं और
का प्रतिपादन करनेवाले पत्रकार और प्रचारक
जा सकते हैं, कलाकार नहीं। साहित्यिकों को
स्वतंत्र व्यक्तित्व की और साहित्य की आत्मा
की रक्षा करनी चाहिए।"

भाषण के इस अंश से दो बातें स्पष्ट होती हैं।
एक तो यह कि आधुनिक साहित्य में आजकल
राजनीतिक विचारधाराओं और मतों का प्रतिपादन
हो रहा है। दूसरे यह कि साहित्यकार का व्यक्तित्व
ख़तरे में है और साथ ही साहित्य की आत्मा की
भी रक्षा करने की आवश्यकता है। साहित्यकार के
स्वतंत्र व्यक्तित्व और साहित्य की आत्मा की रक्षा
इसलिए होनी चाहिए कि राजनीतिक विचारधाराओं
और मतों का प्रतिपादन करने के लिए निर्देश दिया
जा रहा है। इस प्रकार राजनीतिक विचारधाराओं
और मतों के कारण जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई है,
उसके परिणामस्वरूप साहित्यिकों का स्वतंत्र व्यक्तित्व
संकट में पड़ गया है।

डाक्टर अमरनाथ झा का यह भाषण आधुनिक
साहित्यिक समस्या का प्रतीक है। इस भाषण का
महत्त्व इसलिए भी है कि आज का साहित्यकार 'स्वतंत्र
व्यक्तित्व' और 'साहित्य की आत्मा' की रक्षा के लिए
क्या करे। दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और
साहित्य को वादों से मुक्त रखने की आवश्यकता का
आंदोलन चल रहा है। अतः यह आवश्यक है कि
वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया जाय। इस स्पष्टीकरण के
लिए सर्वप्रथम 'साहित्यकार के स्वतंत्र व्यक्तित्व' के
रूप को व्यक्त करने की आवश्यकता है।

साहित्यकार का व्यक्तित्व उतना ही स्वतंत्र होना
चाहिए जितना किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व जनतन्त्र
में स्वतंत्र होता है। साहित्यकार भी वह व्यक्ति है
जो समाज को संगठित करता है। इसलिए साहित्यकार
का समाज से सम्बन्ध, कम से कम, उतना तो अवश्य
है, जितना कि व्यक्ति का समाज से है। साहित्यकार
का समाज के प्रति, कम से कम, उतना तो अवश्य
उत्तरदायित्व है, जितना कि व्यक्ति का समाज
के प्रति है या होना चाहिए। ऐसा इसलिए है
कि साहित्यकार पहले व्यक्ति है, नागरिक है, फिर
बाद में साहित्यकार। समाज में रहते हुए साहित्यकार
को व्यक्ति की सभी जिम्मेदारियों को सम्हालना
पड़ेगा। इतना ही नहीं, साहित्यकार होने के नाते
उसे अन्य व्यक्तियों का पथ-प्रदर्शन भी करना पड़ेगा,

क्यों कि साहित्यकार स्रष्टा और द्रष्टा होता है। साहित्य-
कार जानता है कि समाज में विकास की प्रवृत्ति होती
है। समाज निरन्तर गतिशील रहता है। वह रुकता
नहीं। हाँ यह आवश्यक होता है कि समाज को ऐसे
पथ पर चलाया जाय जिसमें ज्यादा से ज्यादा लोगों
का कल्याण है। यदि समाज को उसके भाग्य पर छोड़
दिया गया, यदि उसका विकास लक्ष्यहीन हुआ तो
इसमें लोक-कल्याण निश्चित नहीं है। इसलिए साहित्य-
कार अपनी प्रज्ञा-शक्ति से और सामाजिक चेतना
से समाज को उस पथ पर चलने के लिए प्रोत्साहित
करता है, जो उसके नैसर्गिक विकास को लेते हुए लोक
रंजक है। यदि कोई साहित्यकार इस सत्य को स्वीकार
नहीं करता, तो वह साहित्यकार नहीं है, ऐसा व्यक्ति भी
नहीं है जिसका समाज में आदर हो। अतः साहित्यकार
का व्यक्तित्व इस सत्य में निहित है कि वह सामाजिक
विकास में सहायक होता है, इसलिए कि वह व्यक्ति का
कल्याण सामाजिक कल्याण के रूप में स्वीकार करता
है। यदि समाज में कुव्यवस्था है, संतुलन का अभाव है,
स्थापित स्वार्थों का बोलबाला है तो साहित्यकार का यह
धर्म है कि वह उस व्यवस्था को बदल दे और 'स्वतंत्र
व्यक्तित्व' के नाम पर टिकी असमता को दूर कर दे।
साहित्यिक के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता रह कैसे सकती है
जबकि समाज अपनी स्वतंत्रता खो देता है? समाज
जब स्थिर स्वार्थों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है, उसे
जब सभी प्रकार के शोषणों से स्वतंत्रता मिलती है, तभी
साहित्यिक को भी 'स्वतंत्र व्यक्तित्व' मिल सकता है।
जब समाज आर्थिक विषमता के बन्धनों से कराह रहा
हो, जब धर्म के नाम पर मनुष्यता का खून किया जा
रहा हो, जब जाति, व्यवस्था के नाम पर सामाजिक
न्याय को मिटाया जा रहा हो, तब 'स्वतंत्र व्यक्तित्व'
का अर्थ क्या होगा? फिर जब साहित्यकार आर्थिक
विषमता को दूर करने और सामाजिक व्यवस्था को
ठीक करने का प्रयत्न करता है, तो क्या वह 'राजनीतिक
विचारधाराओं और मतों का प्रतिपादन' करता है?
उत्तर स्पष्ट है। साहित्यकार का यह धर्म है, उसकी
आत्मा का यह निर्देश है कि वह समाज के प्रति सच्चा
हो। इसलिए वह सामाजिक परिस्थितियों से अछूता

नहीं रह सकता। यदि 'स्वतंत्र व्यक्तित्व' से यह तात्पर्य
हो कि साहित्यिक सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित न
हो तो यह कोरी कल्पना है। आज जो 'स्वतंत्र व्यक्तित्व'
की पुकार सुनाई पड़ रही है, वह भी वर्तमान सामाजिक
परिस्थिति ही के कारण है, वह प्रतिक्रिया है
समाज में उन शक्तियों के आघात के फलस्वरूप जो
समाज की आर्थिक विषमता, धार्मिक और जातीय
अत्याचार को मिटाना चाहती हैं। यह समाज का
दुर्भाग्य है और इतिहास का व्यङ्ग है कि स्वतंत्रता के नाम
पर स्वतंत्रता का अपहरण किया जाता रहा है, मानवता
के नाम पर भी मानवता की हत्या की जाती है। आज
भी साहित्यिक के 'स्वतंत्र व्यक्तित्व' के नाम पर साहि-
त्यिकों से कहा जाता है कि वह आर्थिक और जातीय
कुव्यवस्था की जंजीर को फूलों का हार मानें और खुश
रहें। रही साहित्य की आत्मा की रक्षा की बात, उसके
सम्बन्ध में 'काव्य का स्वरूप' में पर्याप्त प्रकाश डाला
जा चुका है। उसकी पुनरावृत्ति यहाँ वांछित नहीं है।

इस प्रकार आधुनिक साहित्यिक समस्या जो
'साहित्यिक के स्वतंत्र व्यक्तित्व' के नाम पर प्रगट हुई
है, उसका समाधान साहित्य और साहित्यकार के
वास्तविक रूप को ग्रहण करने पर हो जायगा। जहाँ
तक राजनीतिक दल के निर्देश की बात है, उसके संबंध
में इतना ही कहना है राजनीतिक दल के निर्देश से
साहित्य का निर्माण नहीं होता। जो राजनीतिक दल
यह चाहता है कि साहित्य उस दल का प्रचार करे वह
कभी सफल नहीं होता, क्यों कि ऐसे साहित्य का वास्त-
विक मूल्य नहीं होता। लेकिन जो साहित्यकार राज-
नीति को भी समझता है और देश की राजनीति से
उत्पन्न परिस्थितियों पर भी दृष्टि रखता है, उसे राज-
नीतिक दल के निर्देश पर चलने का दोष लगाना
अन्याय और असभ्यता है। साहित्य की साधना वही
साहित्यकार कर सकता है जो प्रतिक्रियावादी नहीं है
और जो सब प्रकार की दलबन्दियों से मुक्त है। अतः
इस समय यह आवश्यकता है कि आधुनिक साहित्य में
स्वस्थ प्रवृत्तियों का उदय हो। यह तभी सम्भव है, जब
कि साहित्यकार जागरूक होगा, अपने सामाजिक उत्तर-
दायित्व को अनुभव करेगा और सामाजिक, धार्मिक

नैतिक स्वतंत्रता को अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता
कार करेगा।

*

हिन्दी साहित्य और प्रगतिवाद

'आशा' मासिक पत्रिका मई' ४८ से प्रकाशित
जा रही है। इस पत्रिका के प्रथम अंक में
प्रकाशचंद्र गुप्त ने हिन्दी साहित्य और 'प्रगतिवाद'
अपने विचार प्रगट किए हैं। आरम्भ में आपने
ज के प्रगति तत्त्व पर प्रकाश डाला है, फिर इसके
हिन्दी साहित्य के इतिहास को लिया है। आपका
न है—'हिन्दी साहित्य का इतिहास एक सामन्ती
का इतिहास है। यद्यपि इस दीर्घकाल में अनेक
शी जातियाँ भारत में आईं और भारतीय समाज
भारी उथल-पुथल हुई, हमारे उत्पादन के साधनों
र सामाजिक बंधनों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।
ज़ों के आगमन के साथ व्यवसायिक क्रांति के
रण हमारी उत्पादन-पद्धति में पैदा होने लगे
र सामन्ती साहित्य से भिन्न एक नये प्रकार के
हित्य, कला, विज्ञान और दर्शन की सृष्टि हुई।'

गुप्तजी ने जो ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत की है,
समें एक विवादस्पद वस्तु है—

'हिन्दी साहित्य का इतिहास एक लम्बे सामन्ती युग
इतिहास है।' इस मत से आधुनिक ऐतिहासिक
चारधारा सहमत नहीं है। डा० परमात्माशरण ने
जपूताने में सामंतवादी प्रथा' पर एक लेख 'जनवाणी'
गस्त सन् ४७ में लिखा है। आपका विचार है
—'किसी भी भारतीय संस्था के लिए चाहे वह
ह्य रूप से अथवा कुछ अंशों में यूरोप की सामन्त-
दी प्रथा से मिलती भी हो, सामंतवादी यूरोपीय
ब्दावली का प्रयोग अत्यन्त अनुचित और भ्रामक
।' डाक्टर परमात्माशरण ने अपने लेख में भारतीय
जपूत शासन व्यवस्था और यूरोपीय सामंती व्यवस्था
ी तुलना की है और वे अनेक प्रमाणों के आधार
र इस तथ्य पर पहुँचे हैं कि—

'राजपूत समाज के आधार की नैतिक धारणा की
त्तरोत्तर बढ़ती के कारण तथा परिस्थिति के अभी तक
अज्ञात रहने के कारण उनका सुलझाना कठिन कार्य
है। किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय
व्यवस्था का प्रादुर्भाव सामाजिक तथा नैतिक कारणों
से हुआ था न कि किसी राजनैतिक आवश्यकता के
कारण। यही कारण है कि यह आज तक जीवित है।'

कुछ विद्वानों का मत है कि यूरोप की भाँति
भारतीय इतिहास में सामन्त प्रद्धति का विकास भी
नहीं हुआ। हाँ, सामन्त प्रद्धति के कुछ लक्षण कहीं
कहीं मिलते हैं। इसलिए भारतीय समाज में समन्ती
प्रद्धति का प्रयोग समझकर करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य की
ऐतिहासिक भूमिका का स्पष्ट रूप हमारे सामने नहीं
है। इसी कारण गुप्तजी जैसे आलोचक भी 'सामन्त
शाही' के वास्तविक रूप से परिचित न हो सके।
अतः हिन्दी साहित्य के व्यवस्थित अध्ययन के लिए यह
अत्यन्त आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास
की रचना नवीन ऐतिहासिक खोजों के आधार पर की
जाय, और उसके भीतर जो श्रेणीगत चेतना है उसे
स्पष्ट किया जाय, तभी 'हिन्दी साहित्य और प्रगतिवाद'
का वास्तविक अनुशीलन संभव होगा।

*

सांस्कृतिक निर्माण

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'जनवाणी' मई' सन्
४८ में 'हमारे देश का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पुनः
निर्माण' की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इस लेख
में चतुर्वेदी जी ने इन सिद्धान्तों को प्रतिपादित
किया है:—

(१) साहित्य और संस्कृति को हम वाद विशेष
की चहारदीवारी में न बाँधे।

(२) इनके वैचित्र्य की रक्षा के लिए जन-
पदीप कार्यक्रम को पूर्णरूपेण अपनायें।

(३) केन्द्रीयकरण के बजाय विकेंद्रीकरण की
नीति से काम लें।

इस समय साहित्य और संस्कृति को 'वादों' से मुक्त
रखने की आवश्यकता है। लेकिन जब 'वाद विशेष' का
उल्लेख किया जाता है तब उसका अर्थ क्या होता

है? चतुर्वेदी जी लिखते हैं—'जो कोई भी दल चाहे
वह साम्यवादी हो अथवा समाजवादी या गाँधीवादी—
साहित्य और संस्कृति के गले अपनी साम्प्रदायिक कंठी
घंटी बाँधने का प्रयत्न करेगा, वह इन दोनों महान्
वस्तुओं का कचूमर तो निकाल ही देगा, साथ ही वह
अपने को उपहासास्पद भी बना लेगा।'

साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध को लेकर इस
समय अवश्य यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि राजनीति
साहित्य को रास्ता दिखा रही है। इसीलिए यह माँग
की जाती है कि साहित्य को 'राजनीतिक दल'—राज-
नीति—से मुक्त रखा जाय। इस माँग के पीछे दो बातें
हैं; एक तो यह कि सामाजिक चेतना से अनुप्राणित साहि-
त्यकार अपने साहित्य में ऐसे यथार्थ को उपस्थित करता
है जिसमें राजनीतिक कार्यप्रणाली की छाया आ जाती
है। वह जानबूझ कर 'राजनीतिक दल' का प्रचार
करने के लिए ऐसा नहीं करता, वरन् उसके साहित्य की
आधार भूमि ही ऐसी है जो सम्पूर्ण जीवन को, समाज की
आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को भी ग्रहण करती
है। अतः यदि साहित्यकार समाज में सुख-शान्ति की
वृद्धि के लिए राजनीतिक परिवर्तन वांछित समझता
है तो वह किसी राजनीतिक दल का प्रचार नहीं करता।
वह तो 'सत्य' का पक्ष लेता है और यदि कोई राज-
नीतिक दल 'सत्य' का समर्थन करता है तो साहि-
त्यकार के लिए वह दल आदरणीय है। लेकिन इसका
अर्थ यह नहीं है कि वह साहित्यकार उस राजनीतिक
दल का प्रचार करता है और उस दल के लिए साहित्य
सृजन करता है। इसलिए जब साहित्य को वाद विशेष
से मुक्त रखने की माँग की जाय, उस समय यह आव-
श्यक है कि साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध को
स्वीकार किया जाय, पर साथ ही यह भी स्पष्ट कर
दिया जाय कि साहित्यकार और राजनीतिक दल का
सम्बन्ध उसी प्रकार है जैसे एक पथ के दो राही। हमें
आशा है कि चतुर्वेदी जी जब साहित्य और संस्कृति
को वाद विशेष से मुक्त रखना चाहते हैं, उस समय
साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध को भी स्वीकार
करते हैं और साहित्य को इतनी स्वतंत्रता भी प्रदान
करते हैं कि वह साहित्य-सृजन के द्वारा नये समाज का
निर्माण करे और उस निर्माण के रास्ते में यदि राज
नीतिक 'बाधा' भी उपस्थित होती हो तो उसे भी दूर
कर दे। इसके अतिरिक्त जो दो अन्य बातें हैं वे जन-
तंत्र की भावना की पोषक हैं और उनके विषय में
किसी प्रकार के सन्देह अथवा भ्रम की गुंजाइश
नहीं है।

सांस्कृतिक निर्माण के सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय
बात चतुर्वेदी जी ने यह लिखी है कि 'कोई भी सरकार
किसी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन का विधि-
वत् संचालन कदापि नहीं कर सकती। किसी भी प्रगति-
शील तत्व का ग्रंथिबंधन राज्य जैसी स्थायित्व प्रेमी
संस्था से नहीं किया जा सकता। इसलिए सरकारी
सहायता लेते समय हमें अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए।'

इस चेतावनी के द्वारा चतुर्वेदी जी ने यह स्पष्ट
कर दिया है कि सांस्कृतिक और साहित्यिक निर्माण में
समाज का प्रमुख स्थान होना चाहिए। इस क्षेत्र
में शासन का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। शासन
केवल इतना कर सकता है कि वह समाज को अपनी
सुविधाएं प्रदान करे जिससे कि समाज प्रत्येक
क्षेत्र में विकास कर सके। दूसरे शब्दों में शासन को
चाहिए कि वह लोकतंत्र के स्वस्थ वातावरण को
बनाये रखने में सहायक हो। जो शासन लोकतंत्र के
आधार पर नहीं चलता, वह सांस्कृतिक निर्माण में
सहायक नहीं हो सकता। वह समाज के सांस्कृतिक
विकास को रोकता है और एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न
कर देता है कि सांस्कृतिक और साहित्यिक शक्तियाँ
लुप्त हो जाती हैं। इस तरह एक प्रकार की 'असभ्यता'
का प्रसार होने लगता है और समाज पतन के गर्त में
गिर जाता है। इसलिए सांस्कृतिक निर्माण में शासन
लोकतंत्रात्मक व्यवस्था द्वारा सहायक हो सकता है।

चतुर्वेदी जी ने इस लेख में कई प्रश्न उपस्थित
किए हैं। उन प्रश्नों पर गंभीर विचार करने की
आवश्यकता है। ये प्रश्न हमारे देश के सांस्कृतिक
विकास से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए इन प्रश्नों को
इस ढंग से सुलझाना है कि हम गलत दिशा में न
जाँय। तभी हमारे देश का सांस्कृतिक और साहित्यिक
निर्माण संभव होगा, अन्यथा नहीं।

*

मैक्सिम गोर्की

मैक्सिम गोर्की की मृत्यु जून १९३६ में हुई थी। जबकि गोर्की की मृत्यु के बारह वर्ष व्यतीत हो चुके ... इस स्थिति में और अधिक हो गए हैं कि ... के साहित्यिक महत्त्व को भली भाँति समझ ... और जान सकें कि गोर्की ने सर्वहारा को किस ... ऊपर उठाया।

... र्की का साहित्य जन-साहित्य है। रूस के ... और मजदूरों के जीवन को साहित्य से ... त करने का श्रेय गोर्की को है, क्योंकि गोर्की का ... स्वयं गरीबी, बीमारी और भूख से पीड़ित था। ... ने अपने जीवन में उन सभी यातनाओं को भोगा ... जो रूस के निम्न वर्ग के जीवन में सदा उपस्थित ... थीं। इसलिए गोर्की जानता था कि किस प्रकार ... और अत्याचार किया जाता है। वह जानता ... कि अन्याय और अत्याचार क्यों किया जाता है ... उसने यह भी जाना कि अन्याय और अत्याचार ... का सामना करने के लिए क्या करना चाहिए। गोर्की ... जीवन-पथ में जो बाधाएं उपस्थित हुई उसने ... सामाजिक प्रकाश में देखा और इस प्रकार ... लेक समस्या के वास्तविक रूप से परिचित ... । इसलिए वह निराश न हुआ, वरन् दुगने साहस से अन्याय और अत्याचार को मिटाने में लग गया।

गोर्की से आज संसार के वे साहित्यकार प्रेरणा ग्रहण करते हैं जो सत्य और न्याय के पक्ष में हैं। इसलिए गोर्की केवल रूस का नहीं है, वरन् संसार के उन सभी देशों का है जहाँ की जनता नये समाज की व्यवस्था में लीन है। गोर्की प्रकाश स्तम्भ है उन साहित्यकारों के लिए जो जन-साहित्य का सृजन करना चाहते हैं, जो जन-जीवन में समता का प्रसार करना चाहते हैं, जो वर्ग-विहीन समाज बनाना चाहते हैं। इसलिए आज का साहित्यकार जो संकुचित और सीमित नहीं है, गोर्की की पुण्यस्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करता है। और प्रतिज्ञा करता है कि वह अपने साहित्य द्वारा उन शक्तियों का उदय करेगा जो अन्याय, अत्याचार, शोषण और उत्पीड़न का विरोध करती हैं। गोर्की ने संसार के साहित्यकारों के सन्मुख यही आदर्श उपस्थित किया है। इसलिए जबतक हमारे देश में आर्थिक विषमता है, जाति-भेद है, शोषण है तबतक हमें गोर्की जैसे साहित्यकारों से प्रेरणा मिलती रहेगी, जिससे हम उत्साहित होकर ऐसे साहित्य का सृजन कर सकें, जो समाज में ऐसी शक्ति उत्पन्न कर दे, ऐसा उभार भर दे कि अन्याय और अत्याचार का अस्तित्व ही मिट जाय।

राष्ट्रीय कार्यकारिणी के पांच प्रस्ताव

समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने गत २४, २५ और २६ मई को बेलगांव में निम्नलिखित पांच प्रस्ताव स्वीकृत किया।

१. वामपक्षीय एकता

"समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी सभी समाजवादी गुटों का ध्यान एक ऐसे शक्तिशाली समाजवादी दल के संगठन की आवश्यकता की ओर आकृष्ट करना चाहती है जो देश की करोड़ों मेहनतकश जनता को अपनी ओर खींच सके और समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में समर्थ हो सके।

विभिन्न समाजवादी गुटों के अलग अलग रहने से कोई लाभ नहीं, ये प्रभावहीन ही रहेंगे। इनसे तो समाजवाद की स्थापना में बड़ी कठिनाई पैदा हो सकती है। अलग अलग कार्यक्रम वाले स्वतंत्र गुटों का कामचलाऊ संघ बनाने से भी वास्तविक समाजवादी एकता कायम नहीं हो सकती।

दक्षिण पक्षियों के पास एक संयुक्त संस्था है और वह है कांग्रेस। इसी प्रकार वाम पक्षीय दलों की भी एक संयुक्त संस्था होनी चाहिए। समाजवादी दल अधिकांश वामपक्षीय गुटों का प्रतिनिधित्व करता है। और आज यह समाजवाद का सबसे बड़ा दल है। परन्तु इसके बाहर अब भी बहुत से समाजवादी दल हैं। राष्ट्रीय कार्यकारिणी इन सभी को, जो समाजवाद के मूल सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, समाजवादी दल में शामिल होने के लिए आमंत्रित करती है। इस प्रकार वे एक वामपक्षीय दल बनाने में सहायक हों।

राष्ट्रीय कार्यकारिणी यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि द्विदलीय व्यवस्था से ही, जैसा कि पहले कहा गया है, हम लोकतंत्रात्मक समाज की स्थापना और राजनीतिक स्थायित्व स्थापित कर सकते हैं। दलों के बाहुल्य से, जैसा कुछ यूरोपीय देशों के अनुभव से पता चलता है, लोकतंत्र खतरे में पड़ जाता है, राजनीतिक स्थिति डाँवा-डोल रहती और अन्त में इससे अधिनायक तंत्र का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। राष्ट्रीय कार्यकारिणी यह स्पष्ट बता देना चाहती है कि यदि हमारे मौलिक सिद्धान्तों में मेल बैठता है तो साधारण बातें हमारे संगठनात्मक एकता में बाधक न होनी चाहिए। समाजवादी दल साधारण नीति विषयक तथा अन्य सामान्य प्रश्नों पर मतभेद रखने की अनुमति देता है।

इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय कार्यकारिणी यह स्पष्ट बता देना चाहती है कि कम्युनिस्ट पार्टी जैसे दलका, जो अन्य देशों के प्रति भक्ति रखते हैं और तानाशाही में विश्वास रखते हैं तथा मानवीय मूल्यों का जो आदर नहीं करते, समाजवादी एकता कायम करने में कोई हाथ नहीं होना चाहिए। एकता के लिए मौलिक सिद्धान्तों में समझौता और समानता जरूरी है। लोकतंत्रात्मक समाजवादी दलों और तानाशाही कम्युनिस्ट पार्टियों में, जिनकी निष्ठा भी दूसरे प्रकार की है और मानवीय मूल्यांकन भिन्न प्रकार है, इस प्रकार की एकता का आधार नहीं है और हो भी नहीं सकता।

अतः इन सब को दृष्टिगत रखते हुए राष्ट्रीय कार्यकारिणी अन्य समाजवादी गुटों को समाजवादी दल में सम्मिलित करने की संभावनाओं की छान-बीन करने के हेतु दल के प्रधान मंत्री को उनसे सम्पर्क स्थापित करने का आदेश देती है।

*

२. भारतवर्ष और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल

भारत और ब्रिटेन के संबंध के बारे में जो गुप्त वार्ता हो रही है, उससे राष्ट्रीय कार्यकारिणी को गहरी चिंता हो

किया जाय। इस चेतावनी के साथ राष्ट्रीय ...कारिणी घोषित करती है कि भाषा को आधार ...र ही प्रान्तों की सीमा निर्धारित की जाय। इसके साथ ही उसकी आर्थिक क्षमता और ...लिक पूर्णता का भी अवश्य विचार रखा ...। दूसरे शब्दों में भाषावार प्रान्त बनाने के साथ ...ह भी ध्यान रखना है कि भौगोलिकदृष्टि से प्रत्येक ... पूर्ण हो और प्रगतिशील शासन भार सम्हालने ... सामाजिक सेवा एवं जनता के स्वास्थ्य, शिक्षा ... आर्थिक विकास का प्रबंध करने की क्षमता ...ता हो।

इसके साथ ही राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी के जरिए ...य जीवन को संबद्ध रखा जाय। ताकि भाषावार सीमा निर्धारण के कारण प्रान्त एक दूसरे से पृथक न हो जाँय और केन्द्र से अलग होकर राष्ट्रीयता को छिन्न-भिन्न न करदें। जितनी जल्दी सम्भव हो सभी सेकेण्ड्री स्कूलों में राष्ट्रभाषा की शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिए। हिन्दुस्तानी को ही विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम बनाया जाय। हाईकोर्ट और सरकारी काम में इसी का प्रयोग किया जाय।

समाजवादी दल को विश्वास है कि इस प्रकार की व्यवस्था से प्रत्येक प्रान्त अपना विकास कर सकेगा और अपनी प्रतिभा के अनुसार उन्नति करेगा। इससे राष्ट्रीय जीवन भी संबद्ध रहेगा और भिन्न-भिन्न प्रान्त अपने योग-दान से देश के सांस्कृतिक जीवन को समुन्नत करेंगे।

सम्पादकीय—

संसार में फ़ैसिज़्म का विकास और भारतवर्ष

गम्भीरता से इतिहास का अध्ययन करने से यह देखा जा सकता है कि संसार के उन सभी देशों में जहाँ सभ्यता के प्रकाश को ढँककर जंगली हालत नहीं पैदा की गई है, भौगोलिक स्थिति और सामाजिक विकास-क्रम के अन्तर से एक काल में एक सी ही क्रिया-प्रतिक्रियाएं होती रही हैं। प्राचीन असीरियन बेबेलोनियन और आर्य सभ्यता के काल से आज के युग तक एक काल में एक सी ही प्रवृत्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया को विश्व-इतिहास से लक्षित किया जा सकता है।

वैज्ञानिक समाजवाद का अध्ययन यह बताता है कि हमारी मनोभावना, विचारधारा की उत्पत्ति और जीवनादर्श हमारी जीवन-प्रणाली से उद्भूत है। हमारी जीवन प्रणाली समाज व्यवस्था पर अवलम्बित है और समाज व्यवस्था उत्पादन की प्रणाली पर निर्भर है। इसलिए ज्यों ज्यों हमारे उत्पादन के साधन और तरीके बदलते जाते हैं, त्यों त्यों हमारे रहन-सहन हमारी विचारधारा और जीवन-सरणी में परिवर्तन होते रहते हैं। इस न्याय से फ़ैसिज्म भी एक विशेष, पर संकर समाज-व्यवस्था है, परिणामतः एक विशेष, पर संकर अर्थनैतिक उत्पादन व्यवस्था का फल है। और हम जानते हैं कि फ़ैसिज्म का जन्म बीसवीं शताब्दी में प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ कि पूँजीवादी अर्थनैतिक व्यवस्था के भीतरी विरोध से प्रथम विश्व-युद्ध का विस्फोट हुआ। प्रथम महायुद्ध के पूर्व पूँजीवाद अपने पूर्ण विकास पर पहुंचकर अपने अन्तर्विरोध से संत्रस्त और भीतर ही भीतर विध्वस्त हो चुका था—युद्ध उसी का बाहरी विस्फोट था। युद्ध के तुरंत बाद पूंजीवादी प्रकृति से सर्वथा भिन्न समाजवादी व्यवस्था ने जन्म लिया। यूरोप में क्रान्ति का ज्वार आने लगा और रूस में समाजवाद कायम हो गया। एक ओर अपने अन्तर्विरोध से पूंजीवाद त्रस्त था और दूसरी ओर समाजवाद ने पूंजीवाद की मूल प्रकृति, व्यक्तिगत सम्पत्ति पर ही अघात करना शुरू किया। ऐसी ही परिस्थिति में अपनी मूल प्रकृति—व्यक्तिगत सम्पत्ति—की रक्षा के लिए पूंजीवाद ने फ़ैसिज्म का रूप लिया। इसलिए फ़ैसिज्म में कड़वी गोली पर चीनी की पतली तह की भाँति समाजवादी-सा भासित होने वाला कार्यक्रम और नारा भी रहता है। किन्तु पूंजीवाद की मूल प्रकृति— व्यक्तिगत पूंजी— को फ़ैसिज्म हर तरह से सुरक्षित रखता है। इसलिए फ़ैसिज्म को पूंजीवाद के बचाव की आखिरी मंजिल भी कहते हैं! वस्तुतः पूंजीवाद जब अपने अन्तर्विरोध और समाजवाद के तीव्र अघात से बचने के लिए छल, कपट और फिर खूनी रूप लेता है, तब उसे फ़ैसिज्म कहते हैं। जिन देशों में अपने अन्तर्विरोध और समाजवाद के तीव्र आघात से पूंजीवाद दुर्बल पड़ जाता है, वहाँ भी, और जहाँ वह दुर्बल पैदा ही होता है और समाजवाद उसकी गर्दन पर रहता है, वहाँ भी सर्व प्रथम छल और बाद में खूनी तरीकों से फ़ैसिज्म का उदय होता है। जब किसी देश की जनता क्रान्ति की ओर बढ़ती ही जाती है, किन्तु उसका नेतृत्व उच्च-मध्यम वर्ग या सुधारवादियों के हाथ में रहता है, तब पूंजीवाद को फ़ैसिज्म के रूप में प्रतिक्रांति का मौका मिलता है। समाजवादी क्रांति पूर्ण विजय के पहले ही रास्ते में जब रुक जाती है, तो प्रतिक्रांति फ़ैसिज्म के रूप में होती है।

कोई भी सरकार जब अपने कर्मचारियों की ताकत अनुचित रूप से बढ़ाती जाती है, मौजूदा कानून को अपर्याप्त समझकर सुरक्षा के नाम पर दमनात्मक शासन चालू कर देती है, आपत्ति काल के बहाने तरह तरह के नियमों से जनता के अधिकारों को संकुचित करती जाती है, पुलिस का राज्य कायम करने लगती है,
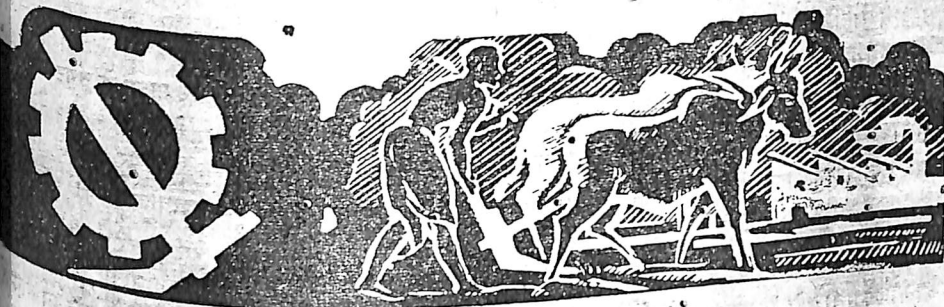
देने और सभा करने तथा समाचार-पत्र निका-
अधिकारों को सीमित करती हुई उसे पूर्ण रूप से
कर देती है, उत्पादन का नाम लेती हुई पर मजं-
ी सुख-सुविधा की ओर से व्यवहारतः बेखबर
ुई, मजदूरों के अधिकारों को छीन लेती है,
के विरोध-प्रदर्शन का जवाब गोली से देती है,
धारण के जीवन-मान को व्यवहारतः संकुचित
हुई पूंजीपतियों को उनके स्वार्थ-रक्षा का
देती है, तब समझ लेना चाहिए कि वह सरकार
म की ओर बढ़ रही है।

ब हम ज़रा एक नजर विश्व में फ़ैसिज्म के विकास
लें। १६११ की जनगणना के अनुसार इटली
भग १६८ लाख आबादी में ९० लाख खेतिहर
मछुए थे, २३ लाख कारखानों में काम करने
ये, जिन में बड़े बड़े कारखानों में ७ लाख मजदूर
९१० में इटली की सोशलिस्ट पार्टी की सदस्य
२६००० थी, १९११ में २४००० हो गई।
बाद जब उसमें क्रान्तिकारी तत्त्व और आए,
सकी सदस्य संख्या ४८००० हो गई। १६१६
न सोशलिस्ट पार्टी चुनाव में शामिल हुई,
०८ स्थानों में १५३ उसे मिले और वही
जबर्दस्त पार्टी सिद्ध हुई। उस समय मुसोलिनी
उसके दल को कोई स्थान नहीं मिला। १९२०
ली की सोशलिस्ट पार्टी की सदस्य संख्या दो
हो गई और म्युनिस्पल चुनाव में उसने एक
स्थानों पर कब्जा किया। १९२० में उत्तरी
के कारखानों पर मजदूरों ने कब्जा कर लिया।
पति और सरकार कमजोर पड़ गई थी। लेकिन
शक्ति के बावजूद भी राष्ट्रसत्ता पर कब्जा करके
त का तूर्य-नाद नहीं किया गया। शान्तिपूर्ण
ों से समस्या का समाधान करना चाहा गया। जिस
, ४६ में बम्बई के नाविक-विद्रोह के समय
र पटेल के नेतृत्व में समझौते की नीति बरत कर
त की बाढ़ को रोका गया, वैसा ही कुछ कनफेड-
आफ लेबर दल के द्वारा इटली में भी हुआ।
ि का सैलाब रुक गया।

इधर मुसोलिनी ने समाजवादी नारा देना शुरू किया। उसने अपने प्रोग्राम में राजतन्त्र और अभिजात वर्ग के अन्त करने का, लड़ाई के समय के पूंजीपतियों के मुनाफ़े जब्त करने का, अन्ताराष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण का, किसानों के लिए जमीन का और मिलों पर मजदूरों के अधिकार का नारा लगाया। ऐसा उसने समाजवाद की लोकप्रियता देख कर किया। ऐसा उसने मजदूरों, किसानों और निम्न-श्रेणी के लोगों में भ्रम पैदा करने के लिए किया। इसके बाद १९२० से फ़ैसिज्म की ताकत बढ़ने लगी। बड़े बड़े जमीन्दार और कारखानों के मालिक फ़ैसिस्टों पर रुपयों की बौछार करने लगे। सरकार से उसे शस्त्र मिलने लगे। पुलिस और सेना भी उसकी सहायता करने लगी। सरकारी अदालतों के न्यायधीश संघर्षशील मजदूरों को कड़ी सजा देने लगे और फ़ैसिस्टों को पकड़े जाने पर छोड़ने लगे। सोशलिस्ट लोगों के महीनों और सालों पीछे के कार्यों को लेकर, उन पर इल्ज़ाम लगाकर दण्ड दिया जाता था और अपराध करते हुए पकड़े गए फ़ैसिस्टों को प्रमाण के अभाव का बहाना बनाकर छोड़ा जाता था। इस तरह १९१९ के आम चुनाव में कमजोर सिद्ध होकर भी, क्रान्ति के सैलाब के रुक जाने के कारण और जनता में सोशलिस्ट नारों से भ्रम पैदा करके, पर अपने खूनी तरीकों और पूंजीवाद के समर्थन से १९२२ में इटली के फ़ैसिस्टों ने राष्ट्र-शक्ति पर कब्जा कर लिया।

इटली का इतिहास बताता है कि वहाँ के फ़ैसिस्टों नें जनता में भ्रम पैदा करने के लिए समाजवादी नारा लगाया था। हम अपने देश में देख रहे हैं कि शंकरराव देव समाजवादी नारा लगा रहे हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने हमारे देश में भी ब्लैक मार्केटियरों को फाँसी देने की बात कही थी। इटली का इतिहास बताता है कि समाजवादी नारों के साथ साथ वहाँ के समाजवादियों का दमन शुरु किया गया। हमारे यहाँ भी समाजवादियों का दमन शुरू हो गया है। बिहार में १००० के ऊपर सोशलिस्ट गिरफ्तार हैं। नवीनगर थाना (गया) में श्री ईश्वरदयाल की गर्दन काटकर जमीन्दार ले गए और पुलिस ने कुछ न

किया। इटली का इतिहास बताता है कि वहाँ के पूंजीपतियों ने फ़ैसिस्टों पर रुपयों की बौछार की थी, अपने देश में हम देख रहे हैं कि आज कांग्रेस पर वे पूंजीपति भी रुपयों की बौछार कर रहे हैं, जो कलतक कांग्रेस के नाम से चिहुंकते थे। यह इटली में सन् १९२० और २२ दो साल के बीच हुआ था, यह हमारे देश में एक साल के बीच में होने जा रहा है।

इटली के बाद फ़ैसिज्म का विकास जर्मनी में हुआ। जर्मनी में उद्योगों का विकास सबसे ज्यादा था। यहाँ का मजदूर वर्ग अपेक्षाकृत अधिक सजग था। फिर वहाँ फ़ैसिज्म की बर्बरता कैसे कायम हो सकी? इस प्रश्न की तह में अनेक अन्तर कथाएँ हैं। इन कथाओं में न पड़कर हम प्रवृत्तियों को पकड़ेंगे।

प्रथम महायुद्ध के अन्त में यूरोप भर में जनतान्त्रिक क्रान्ति का उभार आया। जर्मनी पर भी उसका ज्वार पहुंचा। स्पार्टा लीग और इन्डिपेंडेंट सोशलिस्ट पार्टी के द्वारा क्रान्ति के इस सैलाब को सहारा मिला था। किन्तु अन्य दलों ने 'सरकार पर संकट' के नाम पर क्रान्ति के सैलाब को रोक दिया। किन्तु फिर भी उसका धक्का कुछ लगा ही। लेकिन नेताओं में विचक्षण सावधानी की कमी के कारण शासन-यन्त्र में पुरानी नौकरशाही और प्रतिक्रियावादी आ घुसे। इसके बाद मजदूरों को निःशस्त्र करने का आदेश हुआ और प्रतिक्रियावादियों तथा नौकरशाहों के अधीन सशस्त्र संस्थाएँ बनाई जाने लगीं। रोज़ा लुक्सेमबुर्ग और लीब्रनेख्त जैसे क्रान्तिकारियों की हत्या की गई। अमेरिकन संवाददाता ई० ए० मोवरेर इस सम्बन्ध में लिखता है:—

"जो जनतन्त्र अपने कानूनों के भाष्य के लिए राजतन्त्री न्यायधीशों को रखता है, जो पुराने राजतंत्र के भक्त और उसी समय के पदाधिकारियों को अपने शासन का संचालन करने देता है, जो स्कूलों और कालेजों में प्रतिक्रियावादी अध्यापकों और प्रोफेसरों को पुराने सामन्ततान्त्रिक अतीत की महिमा के लिए वर्तमान की स्वतन्त्र-भावनाओं से घृणा सिखाने को निष्क्रिय होकर देखता है, उस जनतन्त्र को क्या कहना चाहिए? उन लोगों को क्या कहना चाहिए जो भूतपूर्व राजाओं को शासन-तन्त्र पर आक्रमण करने देते हैं, जो निकाले हुए भूतपूर्व कैज़र को तथाकथित सम्पत्ति पर अधिकार के बहाने सबसे धनी बनाते हैं? इस विचित्र जनतन्त्र ने हजारों भूतपूर्व उन सिविल अफ़सरों को पेंशन दिया, जिन्होंने इस जनतन्त्र को नष्ट करने की इच्छा को जरा भी नहीं छिपाया था।" इसी लेखक का यह भी कथन है कि १९१४ में अफ़सरों के ३० प्रतिशत अभिजात श्रेणी के थे, पर उस समय जनतन्त्र नहीं कायम था लेकिन १९३२ में जबकि बीच के काल में जनतन्त्र था, गणना होने पर मालूम हुआ कि उसी श्रेणी के लोग अफ़सरों में २१ प्रतिशत थे। इन सारे तथ्यों से स्पष्ट होता है कि किन कारणों से जर्मनी में फ़ैसिज्म जम सका।

हमने बताया है कि १९१९ में अपनी पार्टी की हार के बाद मुसोलिनी ने सोशलिस्ट नारा देकर जनता में भ्रम पैदा किया था, यह उसका छल था, पर बिना इस छल के उसका सफल होना सम्भव नहीं था। किन्तु जर्मनी में हिटलर ने अपनी संस्था के नाम के साथ ही 'सोशलिस्ट' शब्द को जोड़ लिया। उसने अपनी संस्था का नाम रखा "नेशनल सोशलिस्ट पार्टी।" पिछली असफलताओं से सबक लेकर फ़ैसिस्टों ने जनता को अपने पक्ष में करने के लिए सोशलिज्म का चेहरा लगाया था। जनता में प्रभाव-विस्तार के लिए यह आवश्यक था। इसके बाद १९२९ में विश्व का आर्थिक संकट आया। युद्ध से आहत जर्मनी के सामने इस संकट से बचने के दो ही रास्ते थे — एक समाजवादी क्रान्ति और दूसरा जनता के निर्मम दमन से फ़ैसिज्म! पर चूंकी जर्मनी के उस समय के जनतन्त्र पर पूंजीपतियों का प्रभाव था, शासनतन्त्र में पुराने नौकरशाह और प्रतिक्रियावादी थे और हिटलर की नेशनल सोशलिस्ट पार्टी अपने कार्यक्रमों और हथियारों के साथ आगे बढ़ रही थी तथा वहाँ समाजवादी शक्तियाँ कमजोर और विच्छिन्न थीं, इसलिए जर्मनी में फ़ैसिज्म या नाजिज्म का विकास हो गया।

अब हम अपने देश की ओर देखें। हमारे देश की शासन-सत्ता में शत-प्रतिशत वे नौकरशाह वर्तमान हैं, जिन्होंने देश के स्वाधीनता-अन्दोलन को कुचला

० मेनन आज स्टेट डिपार्टमेंट की नाक के ; जिन्होंने देशी रियासतों को कांग्रेस के ो कुचलने का कल तक आदेश दिया था। रजाशंकर बाजपेयी पं० नेहरू की आंखों के , जिन्होंने कलतक कांग्रेस को अमेरीका में ाथा। देशद्रोही नौकरशाहोंको सजादेना तो जा रही है। जिन नौकरशाहों के सड़े दिमाग के विकास को समझने तक की क्षमता नहीं के भरोसे देश के नव-निर्माण का दम्भ त कर रही है। शिक्षा-विभाग और शिक्षा में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। सड़े नौकरशाहों और तिकड़मी कांग्रेसियों के ज की सरकार शिक्षा की योजना और ना रही है! आज भारतीय यूनियन के ये ी में फ़ैसिज्म के विकास की भूमिका की रहे हैं। कांग्रेसी हुकूमत पर पूंजीपतियों का ने की जरूरत नहीं, उसे हमारा प्रत्येक पाठक । जहरीली गोली पर चीनी की पतली तह समाजवाद का नाम लेकर जनता में भ्रम का काम कांग्रेस ने शुरू कर दिया है। था अपने मंच से देश के निर्माण का जो ती है, शंकरराव देव महोदय जो कुछ कहते यह भ्रम भरा रहता है, इस भ्रम के जरिए ता का समर्थन प्राप्त करके अपनी हुकूमत को ती हैं। पर कांग्रेस का प्रोग्राम और शंकरराव ाख्यान कांग्रेसी हुकूमत द्वारा व्यावहारिक रूप हा है। कांग्रेस के हाथ में शक्ति होकर भी प्रोग्राम व्यावहारिक रूप न ले, यह फ़ैसिस्ट का एक खेल है। 'राष्ट्रपर संकट' का नाम स के फ़ैसिज्म का समर्थन करने की बात तो जा रही है। इसके अलावा कांग्रेस ने ाठन को विच्छिन्न करने के लिए नेशनल यन नामक संस्था की स्थापना की है—इस ड यूनियन में हिटलर के नेशनल सोशलिज्म भरा है। इस तरह हमारे देश में फ़ैसिस्ट पक्ष परिस्थितियाँ वर्तमान हैं। अब यदि भारतीय ी दल और समाजवादी आन्दोलन आगे बढ़कर इस बढ़ते हुए फ़ैसिज्म को नहीं रोकेगा तो जर्मन पृष्ठभूमि के अनुसार भारतीय समाज में फ़ैसिज्म निश्चित है।

अब जरा आस्ट्रिया की ओर भी हम देखलें। आस्ट्रिया में १९१८ में राजतन्त्र का खात्मा हुआ। उस समय वहाँ के समाजवादी नेता ओटोबावेर ने गलती की जिसे बाद में उसने मंजूर भी किया। उस समय आस्ट्रिया की जनता समाजवादी क्रान्ति चाहती थी; पर नेताओं ने क्रान्ति का विरोध करके शान्तिपूर्ण वैधानिक तरीके को अपनाया। चुनाव में लड़े और जीत गए। और वहाँ के बूर्जुआ जनतन्त्रवादियों से मिलकर सरकार कायम किया। ओटोबावेर उसके परराष्ट्र मन्त्री बने। इसके बाद फ़ासिस्ट हाइमहेर दल ने अपना संगठन मजबूत करना शुरू कर दिया। इस में उसको १५ वर्ष लग गए। इस बीच वहाँ के समाज-वादियों ने अपना बहुमत समझ कर उस दल की उपेक्षा की। १९२७ में फ़ैसिस्टों ने एक मजदूर की हत्या की। आदलत ने प्रमाण का अभाव बताकर हत्यारे को छोड़ दिया। यह अन्याय मजदूरों से सहा नहीं गया। उन्होंने अदालत पर हमला कर दिया। वियेना शहर पर मजदूरों ने कब्जा कर लिया। इस समय आस्ट्रिया में क्रान्ति की बाढ़ थी। पर इसको भी नेताओं ने रक्तपात बचाने के नाम पर शान्तिपूर्ण और जनतान्त्रिक तरीके से इस समस्या का समाधान करना चाहा। और इसीलिए डा० डायश, जो रिप-ब्लिकन डिफैंस कोर के कमण्डर थे, उन्होंने अपने रक्षा-दल के सिपाहियों को एक भी हथियार नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि हाइमहेर का फ़ासिस्ट संगठन बचकर और भी मजबूत हो गया।

१९३० में समाजवादी दल चुनाव में सबसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। जैसा कि इटली में समाजवादी दल १९२१, और जर्मनी में १९३२ में विजयी हुआ था। इससे यह समझ लिया गया कि इस विजय से फ़ैसिज्म का खात्मा हो गया। पर ऐसी बात नहीं थी। सही बात यह थी कि उस समय फ़ैसिज्म अपने को ठीक से संगठित करने में लगा था, जिसका प्रमाण १९३३ में मिला। अर्थात् मार्च १९३३ में लसडफा

ने जनतन्त्र के आवरण को फाड़ दिया और क्लारिकल फ़ैसिस्ट दल का नेता बनकर डिक्टेटरशिप की स्थापना कर दी। इसके साथ ही उसने हाइमहेर फ़ैसिस्ट दल को शास्त्रों से और भी सुसज्जित कर दिया। इस ऐन मौके पर जब कि एका-एक फ़ैसिज्म कायम हो गया, उस समय आस्ट्रिया के समाजवादियों की नींद खुली; पर उस समय उनका संगठन पंगु था और उन्होंने अपने को असहाय पाया। १९३३ की ऐसी असहाय स्थिति पर रिपोर्ट देते हुए आस्ट्रिया के समाजवादी नेता ओटोबावर ने कहा था— "मजदूर वर्ग लड़ाई के सिगनल की प्रतीक्षा कर रहा था। रेल-मजदूर अभी तक कुचले नहीं गए थे, जैसा कि ११ महीने बाद वह कुचले गए, सरकारी सैनिक-संगठन भी काफी कमजोर था। उस समय हम जीत सकते थे। परन्तु युद्ध से डर-कर हम संकुचित हो गए··· हमने युद्ध को स्थगित कर दिया, क्योंकि हम देश को खूनी गृह-युद्ध की विभी-षिका से बचाना चाहते थे। तथापि गृह-युद्ध तो बाद में हुआ ही, परन्तु ऐसी स्थिति में जो कि हमारे लिए बहुत ही कम अनुकूल थी। यह हमारी भूल थी। यह हमारी गलतियों में सबसे ज्यादा मारात्मक थी।"

परिणाम यह हुआ कि आस्ट्रिया की फ़ैसिस्ट सरकार ने अपने दल को शस्त्रों से सुसज्जित किया, मजदूरों से शस्त्रों का छीना जाना शुरू कर दिया, मजदूर नेताओं की गिरफ्तारी शुरू कर और महत्त्वपूर्ण स्थानों से रेलवे कर्मचारियों का हटाया जाना शुरू कर दिया। इससे फरवरी १९३४ में वहाँ के मजदूरों का धैर्य टूट गया और उन्होंने नेता तथा योजना विहीन क्रान्ति कर दी। पर रेलवे मजदूरों द्वारा सर-कारी फौज को मदद मिलने के कारण और नेता तथा योजना के अभाव में यह क्रान्ति विफल हो गई।

१९४६ के बम्बई के नाविक-विद्रोह के समय से अबतक की देश की हालत को इस प्रकाश में हम देख सकते हैं। उस समय रक्तपात और युद्ध को बचाने के लिए क्रान्ति को रोका गया था। पर शायद उससे कहीं ज्यादा रक्तपात हुआ, जो कायरतापूर्ण था। पटेल-पाटिल-पालीवाल का फ़ैसिस्ट संगठन इसके साथ ही किस गति से बढ़ रहा है, इसे हम देख रहे हैं। मजदूरों के संगठन को तोड़ने की हर एक कोशिश आज जारी है। पर यह भारतीय फ़ैसिस्टों के संगठन का समय है— हमले का नहीं।

पूंजीवाद का जन्म यूरोप में हुआ और फलतः उसकी रक्षा के लिए फ़ैसिज्म का जन्म भी यूरोप में हुआ। फ़ैसिज्म का जन्म और उसका विकास कैसे हुआ, इसकी विवेचना संक्षेप में हमने की। एशिया में पूंजीवाद प्रायः औपनिवेशिक रूप में और बाद में आया। फलतः यहाँ का पूंजीवाद दुर्बल है और इसकी गर्दन पर समाजवादी आन्दोलन सवार है। अतः यहाँ फ़ैसिज्म की शर्त कुछ अन्तर के साथ लागू है, जिसे देखा जा सकता है। हमने "जनवाणी" के पिछले अङ्क में बताया है कि भारतीय कांग्रेस की राजनीति फ़ैसिज्म और चीन के कुओमिन तांग के बीच की राज-नीति है। इसलिए अब हम यहाँ चीन के कुओमिन-तांग और चियाँग काई-शेक की राजनीति का भी विश्लेषण करेंगे। हम यह चाहेंगे कि हमारे पाठक खुले मस्तिष्क से भारतीय राजनीति को ठीक से समझ कर अपने कर्तव्य का निश्चय करें।

हम जानते हैं कि डा० सन् यात-सेन ही वर्तमान चीन में जनतन्त्र के प्रतिष्ठाता थे, वही चीनी राष्ट्र के पिता थे। उनके महान क्रान्तिकारी कार्यों का विवरण देना यहाँ संभव नहीं है। पर वर्षों के उनके अनवरत प्रयत्नों के बाद १९२१ में नानकिंग में दक्षिण-चीन सरकार (कुओमिन तांग) की प्रतिष्ठा हुई और डा० सन् यात-सेन उसके अध्यक्ष बनाए गए।

१९२४ में डा० सन् यात-सेन के तीन सिद्धान्त चीन में स्वीकृत हुए। पहला सिद्धान्त था राष्ट्रीयता का, जिसका अर्थ था चीन को स्वतन्त्र और मुक्त होना चाहिए तथा चीन के अन्दर जो विभिन्न जातियाँ हैं, उन्हें बराबरी का हक मिलना चाहिए। दूसरा सिद्धान्त था लोकतन्त्र का; इसमें डा० सन् यात-सेन का कथन था कि दूसरे देशों में जो लोकतन्त्र है, उस पर साधा-रणतः पूंजीपतियों का कब्जा है, इसलिए वह लोक-तन्त्र जनसाधारण पर अत्याचार का रूप होता है, अतः कुओमिन तांग का लोकतन्त्र साधारण लोगों का लोकतन्त्र होगा और कुछ लोगों का उस पर कब्जा नहीं

होने पायेगा। तीसरा सिद्धान्त था जीविका का। डा० सन् यात-सेन ने इसकी व्याख्या में कहा था कि जमीन उसी की होनी चाहिए, जो उसे जोते-बोए। इन तीनों सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए तीन नीतियां स्वीकृत हुई— १. साम्राज्यवाद का विरोध, २. सोवियत रूस का सहयोग और ३. किसानों मजदूरों का आन्दोलन।

यहाँ एक बात हम और बता देना चाहते हैं कि स्वामी विवेकानन्द ने विश्व की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करके कहा था कि दुनिया में दो जगह पहले क्रान्ति होनी चाहिए— १. चीन २. रूस। सो रूस में क्रान्ति हुई और बिना कहीं रुके संघर्ष करती हुई पूर्ण विजय की मंजिल पर पहुंच गई पर चीन में जो क्रान्ति हुई वह डा० सन् यात-सेन की मृत्यु के बाद-बीच में रुक गई, फिर क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति की कशमकश में चीन आज भी कराह रहा है।

१९२५ में डा० सन् यात-सेन की मृत्यु हो गई। फिर कुओमिन तांग के नेता चियांग काई-शेक हुए। इन्होंने दो साल के बाद सोवियत के साथ सहयोग की नीति को खतम कर दिया। कुओमिन तांग में एक दल विदेशी और खास कर अमरीकन शक्ति का अनुमोदक था। यह दल तथा कुछ और लोग सैनिक शासन के भी समर्थक थे। इसका प्रभाव चियांग काई-शेक पर पड़ा। फलस्वरूप किसानों और मजदूरों का आन्दोलन खतम कर दिया गया। क्रान्ति का सैलाब रुक गया और उसमें प्रतिक्रान्ति की सड़न पैदा हो गई।

इधर जापान बढ़ रहा था। १९३१ में उसने मंचूरिया को ले लिया। चियांग ने उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया। पर कुछ चीनी सेनापतियों ने वीरता पूर्वक अपने से जापान का विरोध किया, जनता भी जापान का विरोध करना चाहती थी, किन्तु चियांग चुप थे। १९३५ तक जापान चीन में घुसता ही गया और चियांग झुकते ही गए। परन्तु छात्रों ने चियांग की इस नीति का जोरों से विरोध किया। कहा जाता है कि १९२७ से १९३५ तक तीन लाख छात्रों को चियांग ने गिरफ्तार किया और हज़ारों को तलवार के घाट उतार दिया। लेकिन घोर दमन के बावजूद १९३५ में जापान के विरुद्ध लड़ने का आन्दोलन बहुत ही प्रखर हो उठा। इस आन्दोलन में चियांग द्वारा कम्युनिस्टों से लड़े जाने वाले युद्ध का भी विरोध किया गया था। १९३७ के प्रारम्भ तक यह आन्दोलन उग्र होता ही गया। सेना में भी चियांग की नीति का विरोध शुरू हो गया। इसी समय सियान में मंचूरिया की फौज के हाथ चियाँग गिरफ्तार हो गए। इस गिरफ्तारी के समय चियांग काई-शेक को जापान के विरुद्ध चीनी कम्युनिस्टों से समझौता करना पड़ा। इसके बाद लाल चीनी और कुओमिन तांग की सेना ने मिलकर जापान का मुकाबला किया।

अगस्त १९४५ में जापान की हार हुई। इस समय से फिर चियांग और कम्युनिस्टों का विरोध प्रारम्भ होगया। १९४६ के अन्त तक अमरीकनों ने सात लाख कुओमिन तांग के आदमियों को सामरिक शिक्षा दी। १९४६ में अमरीका ने चियांग काई-शेक को ३६०,००,००० डालर दिया। मुद्रास्फीति के कारण चीजों का दाम असम्भव रूप से बढ़ गया। १९४७ के अक्टूबर में एक अमरीकन डालर चीन के १०००० डालर के बराबर था और मार्च १९४८ में वह ४५००० डालर के बराबर हो गया। १९४७ में चीजों का दाम युद्ध-पूर्व के दाम से ७०००० गुना से ज्यादा हो गया। १९४६ के नवम्बर में अमरीका और चीन में एक नई व्यापारिक सन्धि हुई, जिसमें अमरीका को चीन में व्यापार के लिए बराबर सुविधाएँ दी गईं, इस तरह 'फ्री ट्रेड' के नाम से अमरीका ने चीन को अपना दास बना लिया है।

औद्योगिक रूप से विकसित न रहने के कारण ही चीन का फासिस्टी स्वरूप यूरोप के फ़ैसिज्म जैसा नहीं है। भारतवर्ष का औद्योगिक विकास चीन से कुछ ज्यादा है, इसलिए भारत की फ़ैसिस्ट प्रवृत्तियाँ चीन जैसी न होंगी। किन्तु भारतवर्ष के फ़ैसिज्म के अन्दर भी औपनिवेशिक तत्त्व रहेगा।

इस समय भारत सरकार भी अमरीकन दल में जाने के रास्ते पर है। मार्शल प्लान को किसी एशियायी नाम से एशिया में चालू करने की कोशिश जारी है। भारतवर्ष के सामने भी अमरीका 'फ्री ट्रेड' की शर्त

रख रहा है। भारतवर्ष को जापान से मामूली मशीनरी और तैयार माल देने की बात कही जा रही है, जिसका अर्थ अमरीका है। भारतवर्ष में भी मजदूर आन्दोलन को या तो नष्ट कर देने या पूंजीपतियों के हित को देखते हुए चलाने की योजना को कार्यरूप में लाया जाना शुरू कर दिया गया है। कांग्रेस के मज़दूर आका मि० नन्दा दुनिया को धोखा देने के लिए कहते हैं कि इस समय सिर्फ उत्पादन बढ़ाने की बात न कहकर जो राष्ट्रीकरण की बातें कहते हैं वे गलत कहते हैं। पर जिनकी हिए की नहीं फूट गई है वह देख रहे हैं कि रूस का उत्पादन अमरीका से भी ज्यादा है। काश्मीर और हैदराबाद के पीछे भी एंग्लो-अमरीकन हाथ है। और हैदराबाद में समाजवादियों द्वारा चलाए जाने वाले युद्ध के प्रति भारत सरकार उदासीनता का रुख अख्तियार किए है। और जिस तरह डा० सन् यात-सेन की मृत्यु के बाद कुओमिन तांग ने उनके सिद्धान्तों को ताक पर रख दिया, उसी तरह महात्मा गांधी की मृत्यु के बाद कांग्रेस ने महात्मा जी की राय कि कांग्रेस को तोड़कर लोकसेवक संघ के रूप में कर दिया जाय, ताक पर रख दिया। जिस तरह डा० सन् यात-सेना की मृत्यु के बाद चियांग ने सोवियत से सहयोग की नीति को त्याग दिया, उसी तरह महात्मा जी की मृत्यु के बाद कांग्रेस ने समाजवादियों को निकाल दिया। जिस तरह चीन की कुओमिन-तांग ने चियांग के नेतृत्व में जनतन्त्र को त्याग दिया, उसी तरह कांग्रेस भी जनतन्त्री तरीकों को छोड़ती जा रही है। आज कांग्रेसी हुकूमत निम्नलिखित जनतन्त्र-विरोध कार्य कर रही है— १, चुनाव या अपनी पार्टी के कार्यों में सरकारी खर्च से घूमना; २. मजदूरों और उनकी यूनियनों पर दबाव डालना कि अ० भ० रा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस में शामिल होने पर ही उनको सुविधाएं मिलेंगी, ३. अपने दल के इशारे पर दूसरे राजनीतिक कार्यकर्ताओं को शहर या जिले से बाहर निकालना, ४. एक ही स्थान पर एक ही समय में दूसरे दल की सभाओं को रोककर अपने दल की सभाओं को होने देना, ५. जिम्मेदार मन्त्रियों का विरोधी दल के कार्यकर्ताओं को चोर-डकैत कहना। इस तरह गम्भीरता से देखा जाय तो कांग्रेस के अन्दर कुओमिन तांग के पतन की सभी प्रवृत्तियाँ उभड़ आई हैं। क्रान्ति को रोक कर सुधारवादी रास्ते से उसे ले जाने का जो परिणाम संसार में हुआ है, वही हिन्दुस्तान में भी होने जा रहा है। और क्यों न हो, हिन्दुस्तान संसार से बाहर तो है नहीं।

इन सारे विश्लेषणों के अन्दर एक बात स्पष्ट है कि फ़ैसिज्म जनतान्त्रिक तरीकों की परवाह नहीं करता— वह जनतन्त्र को खतम कर देने के लिए मौके की ताक में रहता है। मौका मिलते ही वह प्रबल से प्रबल बहुमत, जनतन्त्री जन-मत और शान्तिमय उपायों की प्रतिज्ञा को ताक पर रख कर हिंसात्मक उपायों द्वारा जनतन्त्रवाद को कुचल कर राष्ट्रशक्ति पर पूर्णरूप से कब्जा कर लेता है। अतः अब तक का अनुभव बताता है कि मात्र जनतान्त्रिक उपायों से फ़ैसिज्म का रोकना असम्भव है। कांग्रेस के अन्दर भी जनतान्त्रिक तत्त्व बहुत कम हैं। भारतीय जनता में जो लोग मनु की व्यवस्था में पले हैं, उनमें भी जनतन्त्र की भावना बहुत कम है। ऐसी हालत में सिर्फ जनतान्त्रिक उपायों द्वारा फ़ैसिज्म को रोकने की कल्पना हानिकर है। पर आज देश की जैसी परिस्थिति है, उसको देखते हुए, अभी किसी दूसरे उपाय द्वारा फ़ैसिज्म को रोकना भी ठीक नहीं लगता। एक ओर कांग्रेसी फ़ैसिज्म का खतरा है और दूसरी ओर चीन जैसे गृह-युद्ध का सर्वनाशी रूप है। एक ओर खाई हैं, दूसरी ओर खंधक है।

तो हमें क्या करना चाहिए? यह एक प्रश्न है और इस प्रश्न पर समय रहते सावधानी से सोच-विचार कर लेना चाहिए। अभी हमारे पास करीब दो साल का समय है— इसी के अन्दर हमें सोच समझ कर तय्यार होना है।

—"विनोद"

ज न वा णी

जुलाई १९४८

विषय-सूची

व्यवस्थापक "जनवाणी",

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड,

गोदौलिया, बनारस।

वार्षिक मूल्य ८) एक प्रति का ।।।)

'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग

काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष २-भाग २] जुलाई १९४८ [अङ्क ७ पूर्णाङ्क १९

क्षमा-श्रमण गांधीजी

श्री दलसुख मालवणिया

ऋग्वेद के आधार पर प्राचीन धर्म का रूप केवल प्रकृति-पूजा निष्पन्न होता है। इसके मूल में प्रकृति की गहनता, उपकारकता और विनाशकता के दर्शन से होने वाली अपनी पराधीनता का ज्ञान, भय और स्वार्थ सिद्ध करने की भावनाएं हैं। इसी से प्रकृति तत्त्वों में मनुष्य ने श्रद्धा किया और इस आशा से कि ये तत्त्व हमारी भलाई करें, हमारा कुछ न बिगाड़ें, वह उनका पुजारी बन गया। धीरे धीरे प्रकृति पूजा ने एक निश्चित रूप धारण किया। अब व्यक्ति अपने मनमाने प्रकार से पूजा नहीं कर सकता। यदि पूजा करना ही हो तो निश्चित ढाँचे से बाहर कोई नहीं जा सकता। इस प्रकार यह पूजा व्यक्ति की इच्छा पर नहीं, किन्तु सामाजिक इच्छा पर अर्थात् एक संस्था की इच्छा पर चलने लगी और एक पुरोहित वर्ग खड़ा हो गया। धर्म व्यक्ति की संपत्ति नहीं, किन्तु पुरोहित-समाज की संपत्ति बन गया। पुरोहितों ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य छीन कर धार्मिक क्षेत्र में मनुष्यों को पराधीन बना दिया। प्राचीन धर्म का यह एक रूप है जो हमें ऋग्वेद के बाद के ग्रन्थों में मिलता है।

इस धर्म का उद्देश्य क्या था इसकी ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि मनुष्य को भोगोपभोग की सामग्री की आवश्यकता थी। उसी सामग्री को जुटाने के उद्देश्य से और उसीकी रक्षा के उद्देश्य से वह प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा करता था। इससे बढ़कर या इससे ऊँचा कोई आदर्श प्रकृतिपूजक मनुष्य के सामने हो ऐसा नहीं लगता।

किन्तु इन प्रकृतिपूजक मनुष्यों के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग भी था, जिनका उल्लेख दास, व्रात्य, यति इन शब्दों से होता था। यह बात निश्चित है कि इनका धर्म प्रकृतिपूजा नहीं था। इनके धर्म को त्याग प्रधान या व्रतप्रधान धर्म कहा जाय तो अनुचित न होगा। इन दोनों का संघर्ष हुआ है, यह भी निश्चित है। प्रकृतिपूजकों के मुखिया इन्द्र ने कई दासों का नाश किया है और कई यतियों का नाश शिकारी कुत्तों के द्वारा किया है। किन्तु समय की गतिविधि के कारण दोनों वर्गों का सुमेल हो गया और नई संस्कृति का निर्माण हुआ। फिर भी इतिहास साक्षी है कि भोग प्रधान धर्म या संस्कृति और त्याग प्रधान धर्म या संस्कृति—

इन्सान पैदा हुआ

श्री रांगेयराघव

घर की हाय हाय बनी रही। इधर बहिन के सिर का दर्द अपनी हदें पार कर रहा है उधर ख़ानदान की चखचख का कोई अंत नहीं। खुदा जाने बूढ़ियों के दिमाग़ को क्यों रेत देता है जो उसमें ऐसी चिकनाहट आ जाती है कि फिर उस पर कोई बात ही नहीं चढ़ती।

चचा-मियाँ दाढ़ी पर हाथ फिराते। वह दाढ़ी परंपरा के इतिहास सी आगे लटका करती जिसके बाल ...ने से कढ़े हुए होते। सिर पर कसी टोपी लगाते और जब अपने भारी चेहरे को उठा कर आँखें गड़ा देते तब लगता वे उस चीज को नज़रों से खींच लेंगे।

पड़ोस के ख़ान बहादुर जो कल तक कट्टर मुस्लिम ...गी थे, जिनके असर से कितने ही मुसलमान जिहाद करने को तैयार थे, वे आज नई सरकार के निहायत वफ़ादार बने अपने द्वार पर बहुत बड़ा तिरंगा लटकाये कांग्रेस वालों के पीछे-पीछे लगे डोलते थे। उनकी ...ड़ियाँ आज देश के काम में आ रही थीं। १५ अगस्त की आधीरात को अचानक ऐसा हृदय-परिवर्तन हुआ कि भौं का तनाव होठों पर मुस्काहट बन कर छा गया।

हर तरह से कोशिश करके भी मोहसिन का हृदय ...न पर अविश्वास ही करता। वह उन्हें केवल तोता-...म समझता। ख़ान बहादुर हुकूमत के वफ़ादार थे। ...े अगर यहाँ जापानी राज हो जाता तो उसके सामने ...ी सिर झुका देते। मोहसिन का जी उचाट खाने ...ता। सिद्धान्तों के पीछे चला जाये या पुलिस और ...ज के ज़ोर के पीछे। राज्य क्या है? उनकी तो ...ती निस्संदेह नहीं है जो गद्दियों पर बैठे रहते हैं।

वह सोचता। फिर चुस्त मोहरी का पजामा तथा ...ा कुर्ता और जवाहर वास्कट पहन कर जब वह ...नी नई डिज़ाइन की चप्पलों में पाँव घुसाता, तब ...र यदि अच्छा नहीं लगता तो उसे बुरा भी कोई नहीं ...ह सकता था। घर की ज़िन्दगी और थी, बाहर की और। एक में उस डाक्टर की परेशानी थी जिसे घर वालों का इलाज करना पड़ता, दूसरी में बाहर वालों को चाहे जो दवा बता दी।

मुहल्ले के इतने आदमी पाकिस्तान चले गए थे। उन घरों में कमरे भी खाली नहीं रहे थे। कई में तो हिंदू मुहल्लों से भागे हुए मुसलमान आ टिके थे, और कई में पंजाबी और सिंधी शरणार्थी आ घुसे थे, जिनको देखकर दूर से पहचानना कठिन था कि वे हिंदू हैं या मुसलमान क्योंकि उनका रहन सहन हिंदुओं से काफ़ी भिन्न हो चुका था।

और फिर दंगे, मुसलमानों की गरीबी, कट्टरता, हिंदुओं की बेवकूफ़ी, हुकूमत करने का अहंकार जो अंग्रेजों के प्यादे की राह से घड़े के बाहर छुआछूत, तक उफन आया था, सब कुछ एक एक करके मोहसिन की आँखों से गुज़र गया था। एक दिन वह था जब वह शायरी में लगा रहता था। हुस्न के रंगीन सुपनों में ऐसे झूलता था जैसे किसी परी के मुलायम शरीर पर उसकी हथेली।

और चचा-मियाँ तभी दाढ़ी पर हाथ फेर कर कहते। बेटे! एक जमाना था...

मोहसिन देखता। मनुष्य की आत्मा किसी अचेतन में आहत-सी तड़प रही है। क्या याद दिलाना चाहते हैं चचा मियाँ! ताजमहल या क़िला अकबर या ईरान? क्या इनमें से किसी की भी याद से आज कोई फ़ायदा है? किन्तु अपनी संस्कृति का मोह उसके मन को चारों ओर से बांध कर कसकने लगता। शाही हरम की स्त्रियाँ उसकी आँखों के सामने से गुज़रतीं या फिर वह धूल उड़ाती भयानक फ़ौजों की ललकारें सुनता और काँप उठता। भाग्य का चक्र कितना भयानक है? लेकिन क्या वह साम्राज्य आज तक के साम्राज्यों से कुछ अच्छा था...।

और वह दुःख भरी कहानी मुहल्ले के उन पुराने पर्दा वाले घरों में अब घुसने से इनकार करने लगती, क्योंकि वहाँ अब वह सब नहीं रहा था। अब वहाँ एक खौफ़ छाया हुआ था और अपने कसूरों की छाया में वह सब बहुत भयानक दिखाई देता था। उसके गौरव को नष्ट हुए डेढ़ सौ साल हो चुके थे, लेकिन अंग्रेज़ों ने उसकी चकमक और झिलमिल फैलाए रखी, उन्हें कुल्हाड़ी की बेंट की जगह लगा कर जड़ें काट देने की कोशिश की। आज तभी अविश्वास और भय, मुफ़लिसी और मायूसी चारों तरफ़ से काटने को दौड़ती है।

उस वक्त बूढ़े फ़कीर की सदा घहरती और फिर संसार की क्षणभगुरता की याद दिलाती हुई काँपने लगती थी। वह अन्धा फ़कीर अल्लाह के नाम पर दर दर हाथ पसारता हुआ अदनी जिंदगी की कीमत गा गा कर उगाहता और फिर किसी गलीज़ दूकान की छाया में बैठ कर माँगी हुई दो रोटियाँ खाता और वहीं कुत्ते की बगल में सो जाता। पास में जौ चने की रोटी खाने वाले हिन्दू-मुसलमान पल्लेदार बैठे रहते और कोई लड़का अपनी डलिया में ही साँप की तरह गोल होकर सो रहता।

—२—

पुरखों की ज़िन्दगी में कितनी भी आन और शान रही हो, अब उसका अभिमान भी नहीं रहा। मोहसिन एक कारखाने में नौकर था और अपनी सारी तनख़्वाह जब घर ले आकर दे देता, तो चचा और उसकी आमदनी मिल कर किसी तरह मँहगाई की बाढ़ रोकने को मेड़ लगाती, जिससे घर के ये निरीह पौधों से प्राणी मौत के पानी में गोते खाने से बचे रहते।

शाम को जब हमीद होटल में बैठता और खान-बहादुर के द्वार पर भिखारियों का जमघट लगता तब मोहसिन का मन भारी हो जाता, गंदे, मैले, कुचैले, अर्ध नग्न भिखारी कुत्तों की तरह आँखें उठाए खड़े रहते और वैसे वे सभी मुसलमान थे।

बगदाद की वह कहानी याद आने लगती जिसमें ऐसे ही एक हसीन औरत के पीछे पागल एक सुन्दर युवक बैठा बैठा गाता था और एक दिन वह बढ़ते बढ़ते वजीर बन गया और फिर उस लड़की को उसने बुलवा भेजा, जिस पर लड़की ने उसमें घमंड की बू देख खुदकुशी कर ली।

पर वह सब अब कहाँ? भिखारी शोर मचा रहे हैं। ख़ान बहादुर का इस मामले में दबदबा था। सब जानते थे। ख़ैरात मे, ताजियों में, रोज़े-नमाज़ में इस क़दर पाबन्द थे कि लोग उन्हें धर्म की साक्षात मूर्ति समझते।

चाय की चाईयत का मज़ा लेते वक्त किसी ने पीछे से कंधे पर हाथ रखकर धीरे से दबाया।

मोहसिन चौंक उठा। पलट कर देखा तो आसानी से पहँचान नहीं सका। मैले कपड़े, घुटनों पर कुब्बड़ निकला पजामा, दाढ़ी कुछ कुछ बढ़ी हुई और चेहरे पर एक अपरिचय का भाव। किंतु गौर से देखने पर वह मुस्कराता मुँह पहचान लेना कठिन नहीं लगा।

'अरे तुम?' उसने चौंक कर पूछा।

'हाँ' उसने धीरे से कहा 'पुलिस, मेरा पीछा कर रही है।'

मोहसिन अवाक्-सा देखता रहा। यह क्या हुआ? और हज़रत खुले आम कंधे पर हाथ रखे खड़े हैं। आजिज़ आये भाई इस दोस्ती से कि आप तो माशा-अल्लाह चक्की पीसेंगे ही, यारों से भी पिसवा के मानेंगे। पर इतना साहस नहीं हुआ कि उसका हाथ झिटक दे और उससे पूछे कि तुम कौन हो? क्या चाहते हो?

मोहसिन काँप उठा, अगर किसी ने उसके साथ उसे देख लिया तो? सीधे जेल में वैसे ही पहुँचा दिए जाँयगे जैसे बे-टिकट का लिफ़ाफ़ा मुर्दा डाकघर में।

'चाय पीलो' आगंतुक ने कहा—'जल्दी करो। मेरे साथ ज़रा उधर निकल चलो तुमसे कुछ बातें करनी है। यहाँ ठीक नहीं है।'

रेडियो का बजना फ़ायदेमन्द साबित हुआ क्योंकि आवाज़ उससे फैली नहीं, नुकीली सींक की तरह कानों का पर्दा फाड़ती हुई भीतर घुस गई। मोहसिन पर एक आवेश-सा छा गया। उसने जल्दी जल्दी चाय पीकर पैसे चुकाये और उसकी ओर बढ़ आया, किन्तु उस समय वह उसे नहीं दिखा। बाहर आकर एक आराम की सांस ली और पान वाले के यहाँ से लेकर एक सिगरेट सुलगाई, तभी वह व्यक्ति फिर अंधेरे में से निकल कर सामने आ गया। मोहसिन की आत्मा ने अबकी बार उसे निर्विकार रह कर स्वीकार कर लिया।

अब वे चलने लगे। आगंतुक कहता रहा, वह छिपा हुआ है, मज़दूर बस्ती में अब उसके लिए कुछ दिन

ना कठिन है, क्योंकि मज़दूरों पर भयानक दमन किया जा रहा है। औरतों बच्चों को पुलिस पीटती है कि वह उन राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं का पता बताए, जो जीवादी संस्था के विरुद्ध हैं।

राह में हिंदू बाज़ार पड़ा, निकल गया। वह कहता रहा, जब कोई नहीं बताता तो हवा में गोली चलाकर दहशत पैदा करते हैं। मोहसिन सुनता रहा, खामोश। क्या यह ठीक था?

तवायफों का बाजार आया, गुजर गया, वह कहता रहा, औरतों की बेइज्जती करते हैं, जबर्दस्ती, मज़दूरों को पूँजीवादी स्वार्थों की रक्षक राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन में भर्ती किया जा रहा है....।

और जब वे उस छोटे से ढाबे के सामने पहुँचे आदमी कह उठा कुछ पैसे हों तो, मेरे लिए कुछ रोटियाँ ले लो। मैं अंधेरे में हो जाता हूं।

मोहसिन ने देखा, वह चेहरे से भूखा लगता था। के सामने कुछ लोग पहले से मौजूद थे। वह वहीं खड़ा हुआ। सामने पंजाबी रोटियाँ गिनगिन कर रहा था।

मोहसिन के कंधे पर एक मोटा हाथ टिक गया। ने मुड़ कर देखा तो एक नितांत अपरिचित व्यक्ति को। मोहसिन ने तीव्र स्वर में कहा—ऐ भाईजान, कंधा वह है, यह तो इस गरीब का है।

किन्तु वह नया आदमी तनिक भी विचलित नहीं। न उसने हाथ ही हटाया। वह केवल व्यंग से रुपया। उसकी बेपानी की आँखें चमकने लगीं। सिन को गुस्सा-सा आने लगा। किन्तु तभी उसने उसकी दोनों ओर दो लाल पगड़ी वाले सिपाही खड़े हुए थे। दूकान पर बहुत से लोग चौंक कर रहे थे।

एक व्यक्ति ने बढ़ कर पूछा भी—'क्या बात हैं, जी?'

किन्तु वह व्यक्ति कुछ नहीं बोला। एक सिपाही ने मोहसिन से कहा—'आपको कोतवाली चलना

कोतवाली? मैं?' मोहसिन ने चौंक कर कहा—मतलब? आपका मकसद?'

किन्तु सारे प्रश्न व्यर्थ हो गए। अपरिचित व्यक्ति आगे आगे चलने लगा था। पीछे से सिपाही घेरे खड़े थे। मोहसिन बाज़ार में सबकी आँखों का तारा बना सिर झुकाए बढ़ चला।

—३—

कोतवाल के सामने बैठे हुए मोहसिन के चेहरे पर एक अद्‌भुत दृढ़ता थी। वह फ़ोन करके कुछ तालाश कर रहा था।

सड़क का शोर भीतर आ रहा था। शायद सिनेमा का शो समाप्त हो गया है तभी इतना कोलाहल सुनाई दे रहा है। बाहर सिपाही संगीन लिए पहरा दे रहे हैं। दो चार घुड़सवार भी घूम रहे हैं, जिनके सीने निकले हुए हैं और चेहरे पर एक बर्बरता है जो दिल में दहशत बढ़ाती है जैसे यह लोग मनुष्य नहीं हैं, नितांत लौह के हैं, या पशु हैं; जो आसानी से हत्या कर सकते हैं।

और अन्त में कोतवाल ने कहा—'आप जा सकते हैं।'

उस छोटे से वाक्य में जो आज्ञा का भाव था वह मोहसिन को अच्छा नहीं लगा। जब मोहसिन बाहर निकला उसका मन यदि एक ओर भीतर ही भीतर प्रसन्न था कि जान बची लाखों पाए, दूसरी ओर उसे भयानक विक्षोभ था कि वह नितांत निरीह था, उसका कोई महत्त्व नहीं था।

छोटी गली पार करते ही मोहसिन ने देखा नीलचंद अँधेरे में से फिर निकल आया।

'अमां क्या इरादे हैं?' मोहसिन ने घबरा कर पूछा। 'अभी अभी छूट कर आ रहा हूँ।'

'क्यों क्या, बात क्या हुई?' नीलचंद ने अपने सिर पर सफ़ेद खादी की टोपी लगाते हुए कहा। इस स्वाभाविक परिवर्तन पर मोहसिन को आनन्द हुआ। स्वाभाविक ही वह हँसा। वह सुनाने लगा—पकड़ा था कि तुम नीलचंद हो। इन्सपेक्टर ने पूछा—'आप नीलचंद हैं?' मैंने कहा—'आप बेवक़ूफ़ हैं।' उसने मुझसे तीन बार पूछा, मैंने तीनों बार यही जवाब दिया। तब मुझे कोतवाल के सामने पेश किया गया।'

'फिर क्या हुआ?' नीलचंद ने उत्सुकता से पूछा—जैसे वह किसी फौज का कमान्डर था।

'फिर पूछ-पाछ कर छोड़ दिया' मोहसिन ने कहा।

नीलचन्द की तीखी आवाज़ सुनाई दी: 'हमलोगों की अगर किसीसे शक्ल भी मिलती है, कपड़े भी मिलते हैं तो उसे पुलिस तंग करती है। पर वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वाले जो छोड़े जा रहे हैं उन्हें वक्त दिया जा रहा है और वे अपने क्लब बनाकर फिर वही ज़हरीला प्रचार कर रहे हैं। वह सब लोग कांग्रेस के सेवादल और जाने क्या क्या हैं, उनमें घुसने की कोशिश कर रहे हैं। गांधीजी की हत्या के बाद फिर भी इनका दमन नहीं हुआ। उन पर प्रजातंत्र लागू है!'

'तो क्या हम फिर खतरे में हैं?' मोहसिन ने घबरा कर पूछा।

'पूँजीपति की दुरंगी चाल है। रुपये की मार दुधारी होती है बाबू। जैसे जैसे वर्ग-संघर्ष बढ़ता है, पूँजीपति घबराता है। उसके पास जनता के आंदोलन को पीछे ठेलने के लिए दंगे से बढ़कर कुछ नहीं। लेकिन अबकी बार शायद यह नहीं....

और नीलचंद उसे छोड़ कर भाग गया था। मोहसिन ने चौंक कर देखा, वह बिना वाक्य पूरा किए ही अन्धकार में खो गया था। कारण कुछ भी समझ में नहीं आया। यह भी कोई ज़िंदगी है। ऐसे भागा-भागा फिरता है जैसे कोई पागल कुत्ता हो।

वह अन्धेरे में आगे बढ़ने लगा। छोटी गली में से दाएं बाएं अनेक गलियाँ निकल गई हैं। इन दमघोट गलियों में दरवाज़ों पर टाट पड़े रहते हैं। अन्दर गलीज़ बदबू उड़ती है। यहाँ भी इन्सान रहते हैं, घिसे से पिसे हुए। अपनी मजबूरियों में ही अपनी खुशी हासिल करने की चेष्टा होती है।

जिन्दगी। कोई जेब काटने को फ़न कहता है, कोई औरत को बेइज़्ज़त करने में लुत्फ़ और मर्दानगी समझता है। और वे प्यासी औरतें जो बुर्कों में चूहों की तरह ढाँक कर पाली गई हैं, अन्धेरे में मौका लगते ही सांप की तरह फुफकारती हुई निकलती हैं और जवानी का ज्वार आवारों के सीनों पर खोने लगती हैं, जैसे साबुन के बुलबुले...।

दिल दब गया है। कितने आदमी छोटी छोटी खाटों पर मैले मैले कपड़े बिछाए दिन भर की मेहनत से चूर सो रहे हैं। मकान के छज्जों पर, सड़क के पक्के पत्थरों पर, मुंडेरों पर लावारिस से इतने करीब, जहाँ एक दूसरे की लंबी लंबी सांस तीसरा आदमी सुन सकता है: डोलियाँ खींचना, यही इनका पेशा है। मोहसिन का मन उदास हो रहा है। कहाँ है चैन? क्यों है आदमी को इतना दुख। किस तरह यह स्वीकार किया जाय कि यह हँसते हैं, क्योंकि इन्हें जीवन में सुख मिला है।

चारों तरफ़ अंधेरा है और एक हल्की आवाज आ रही है—'अभी नहीं, अभी सड़क चल रही है, कोई देख लेगा....।'

'अरी सड़क तो रात भर चला करेगी। ज़िंदगी गुज़र जायगी।'

—४—

जिस वक्त वह घर पहुँचा चचा-मियाँ बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। चारपाई पर, उनके बैठने में, जो एक शाही ठाट था, वह आज कल दिखाई देना ज़रा कठिन काम था। मोहसिन को देख कर चचा-मियाँ कुछ फड़के। किताब के पन्ने जल्दी जल्दी पलटने की सी आवाज़ हुई। मोहसिन ने देखा चचा-मियाँ मन-ही-मन हँस रहे थे जो कुछ सीमा तक यहाँ तन मन का एकाकार होता-सा लग रहा था। वे आवेश में मोहसिन से कहने लगे:—'बताओ भी, अरे भाई तुमने सुना अंधी पीसे कूकर खाय। आदमी यहाँ एक रुपये को खरीदता है, दस कदम चल कर दो को बेच देता है। क्या समझे तुम तो पढ़े लिखे आदमी हो, कुछ बताओ, क्या ख़बर है? अब तो लगता है कि चाँद ज़मीन पर उतर आयेगा।

मोहसिन हँसा। चचा-मियाँ की बात एक इक्के का टट्टू है। चाहे जिधर चल दे। कभी अड़ गया तो फिर अड़ा का अड़ा रह गया। ऐसी बात करते हैं जिसका कोई सिर नहीं, पैर नहीं और अगर उनकी बात पर ध्यान न दिया जाय तो फ़ौरन खफ़ा हो जाते हैं।

'सो तो है ही।' मोहसिन ने कहा और उड़ती नज़रों से चचा-मियाँ को देखा। फिर नीलचंद की बातें याद आने लगीं। बात की बात में कह गया—'फिर दंगे की अफ़वाहें सुनाई दे रही हैं।'

'लाहोलविला कूवत', चचा-मिया ने कहा—'यार तुम्हें ख्वाब में भी छीछड़े नज़र आते हैं?' उन्हें विश्वस

हुआ। कल्पना ही इतनी भयानक थी कि सोचते
रह काँपती थी।

क्यों? चचा-मियाँ ने कहा—' अबके किसके सिर पर
उतरा है।' उस आवाज़ में एक दहशत थी।
सिन ने सुना और वह स्वयं काँप उठा। उसका
भारी हो गया। उसने कहा—तब पाकिस्तान की रट
अब मिल गया है तो खाऊ लोगों की बन बैठी है।
वाले भाग कर लौट रहे हैं, और हाय हाय मच
है। वहाँ भुलावा देने को मजहब की आड़ ली
रही है, वही यहाँ हो रहा है।

चचा-मियाँ का मुँह खुला का खुला रह गया।
का क्या कह रहा है? और मोहसिन जब पलँग पर
कर लेटा तरह तरह के ख़याल दिमाग़ में आने लगे।
ह फिर हड़ताल में जाना है। अच्छी परेशानी है।
अगर मज़दूरों से मिलता है तो कल ही नौकरी से
ला जाता है और ख़िलाफ़ वह जाना नहीं चाहता।
राटी का भी तो सवाल है। न जायगा तो कल ही
की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया जायगा।
हड़ताल ज़ोरों पर है। हिन्दू और मुसलमान का
दूरों में फ़र्क़ क्यों मिट रहा है? मुसलमान मज़दूरों
हा है कि अगर तुम मुसलमान हो तो हमारी
ख़्वाह में कटौती क्यों करते हो? उस वक्त इस्लाम
चला जाता है जब हिन्दू पुलिस बुलाकर अपने
की बंदूकों से हिफ़ाज़त करवाते हो?

वह सोचते सोचते सो गया क्योंकि पड़ोस में कहीं
ग्रामोफ़ोन बज रहा था। जवानी के उबलते गीत और
गली की वह बात चीत, सबने दिमाग में एक कीड़ा
किया जो काफ़ी शैतान था। उसके पंजे उसके
में गड़ने लगे। आधे नशे सी शरीर की अतृप्ति
बन कर उपचेतन पर खेलने लगी।

—५—

सुबह उठकर उसने बिस्तर पर ही बैठे बैठे एक
सुलगाई और मन ही मन हँसा। क्यों
है! अलस्सुबह हज़रत बीड़ी पी रहे हैं।
वह लोग करते हैं जिन्हें वह पहले नीचे तबके
का करता था। प्रभात की शीतल वायु चल रही
सुखद, शांत। हरियाली दूर तक नहीं दिखाई
सामने ही टीन दिखाई दे रही है और फिर
पर बहुत से घर...

अचानक रोने का स्वर सुनाई दिया। बहिन और
ख़ाला की आवाज़ थी। वह चौंक कर सुनने लगा।
हाँ यह उसी के घर में था। उसका हृदय धड़क उठा।
दौड़ कर नीचे आया। देखा, काटो तो लहू नहीं।
यह क्या? उसने अचरज से चारों ओर देखा। किन्तु
कहीं भी सान्त्वना नहीं मिली।

चचा-मियाँ सिर पकड़े बैठे थे जैसे उनके ख़ान्दान
की पुरानी इज्जत धूल में मिल गई थी।

'आप ही का नाम मोहसिन है?' एक व्यक्ति ने
पूछा।

'जी हाँ' मोहसिन ने अचकचा कर जवाब दिया।
'कहिये? मुझसे कोई काम है'

पुलिस तलाशी लेने लगी।

'मैं आपको बता सकता हूं!' उसी व्यक्ति ने
कहा—'आप के बारे में कहा गया है कि आप मज़दूरों
के पर्चे बाँटते हैं, हथियार रखते हैं, क्योंकि लीगी हैं।

'लाहौलविलाकूवत', मोहसिन ने तेज़ हो कर
कहा—'यह किस बेवकूफ़ ने उड़ा दिया?'

बहिन ने झांक कर देखा कि तमंचे की तरह एक
सिपाही की आँख ने मुड़ कर आनन फानन ही निशाना
लगा कर गोली दाग़ दी। मुंह अंदर छिप गया।

मोहसिन ने सिपाही की गर्दन पकड़ ली और
फ़ूत्कार किया– 'कमीने!'

पुलिसवाला घबरा गया। उसने गर्दन छुड़ा कर
कहा:—'क्या है? सरकारी काम में दखल डालते हो?
जानते नहीं हम कौन हैं?'

जब वे चले गए चचा खोंखियाने लगे; वाह मियाँ
वाह! तुमने रही-सही कसर पूरी कर दी। जो सात
पुश्तों से न हुआ था, वह आज तुम्हारे निजाम में पूरा
हुआ। पर मैं एक बात पूछना चाहता हूँ। कहाँ के
हथियार और कहाँ की लीग? करने वाले तो बेदाग़
छूटे हुए हैं? भला म्यां ख़ानबहादुर के यहाँ कोई क्यों
नहीं जाता? उनके यहाँ तो अब भी दर्जनों बल्लम
रखे हैं...।

और मोहसिन को लगा चचा का हृदय फट
रहा है। बेबसी में वे कभी कभी कराह से उठते और
अपने गौरव को ठोकर पर ठोकर खाते देख कर वह
चिल्लाए—म्यां लीग फीग तो बहाना है समझे! ख़बरदार

जो आयंदा उन पर्चे वालों से रस्म बढ़ाई, मैं नहीं
रहूँगा यहाँ। समझे?' अब वह बहुत ज़्यादा समझाने
पर उतर आए थे। मोहसिन को लगा मेहतर-बिरहमन
के सामने सिर उठाये थे, मज़दूर सरमायेदार के सामने
सिर उठा रहे थे, किसान ज़मींदार से बग़ावत कर रहा
था, हिन्दू मुसलमान का ख़्वाब तोड़ रहे थे, मुसलमान
हिन्दू साम्राज्य को फोड़ रहे थे, लेकिन साहब लोग
"सबका भला" मनाना चाहते थे, वह मर कर भूत की
तरह रहना चाहते थे, ताकि घर वाले घर का धन न
निकाल सकें, उस भूत को ख़ून की कुर्बानी देते रहें।

हुकूमत ख़त्म हो रही है। चारों तरफ़ हलचल मच
रही है। कान फटे जा रहे हैं...।

और मज़हब का ज़हर फैलता जा है, संकुचित
होता है, यह आग है जो कभी लपकती है कभी राख
में दब जाती है...।

यह फ़र्क़ उनके हैं जिन्हें इनसे फ़ायदे हैं, यह फ़र्क़
उनमें सिर्फ़ जहालत बन कर पलते हैं, जिन्हें इनसे
नुकसान है...

मोहसिन के सिर में दर्द सा होने लगा। भावों की
कड़वाहट और निराशा उसके मस्तिष्क पर बिच्छू की
तरह डंक मारने लगी, वह उनके ज़हर से तिलमिलाने
लगा...।

यह हड़ताल तोड़ने के तरीके हैं और फिर नीलचंद
की बातें कानों में चुभने लगीं, एक हमला औरत का
हमल गिर गया, लाठी चार्ज़ मामूल न था ... अफ़वाह
थी कि पुलिस वालों ने एक मज़दूरनी से ज़िना किया
था पता नहीं कहाँ तक ठीक था लेकिन डराया ज़रूर
गया था ... कल हर जगह होगा ...।

उसे लगा वह एक दलदल में फँस गया था।
कहीं जाने का रास्ता नहीं था। तब उसे लगा वह एक
अधिकारहीन व्यक्ति था। उसके पास अपनी मेहनत
के सिवाय और कुछ न था। वह सब कुछ हारा हुआ
था, गरीब। उसे लगा, आज एक इन्सान पैदा हुआ
था... जो सिर्फ़ इन्सान था....।

"टेढ़े मेढ़े रास्ते"

डा० रामविलास शर्मा

म्बे टाकीज के भूतपूर्व कथाकार और हिन्दी
ल हेराल्ड" (यानी "नवजीवन") के मौजूदा
क श्री भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास "टेढ़े
स्ते" लीडर प्रेस से छपकर निकला है जिस प्रेस
भी उदारपंथियों का कब्जा था और अब जो
मोनोपली की लपेट में आ चुका है। उपन्यास
ने के लिए इन सब बातों को याद रखना
है। आप बहुत जगह लोगों को अपने अन्तर्द्वन्द्व
न पागलों का-सा अभिनय करते पायेंगे, या
नकाब डाले पिस्तौलें ताने देखेंगे। आप
हैरत में पड़ जायेंगे अगर आप यह याद न
कि श्री भगवतीचरण वर्मा बॉम्बे टाकीज के
कथाकार रह चुके हैं। मुमकिन है, आपने वर्मा
"वाय एक पेग और" वाली कहानियाँ पढ़ी हों,
यों" के ह्विस्की के दौर याद हों या किसी
गार को समर्पित की हुई उनकी किताब देखी हो,
वे उपन्यास में उन्हें अहिंसा और नैतिकता
पर-उपदेश झाड़ते देखकर शायद फिर आप
नी में पड़ जायँ—परेशानी में इसलिए कि
मिक हृदय-परिवर्तन स्वास्थ्य के लिए अच्छा
तो इस परेशानी से बचने के लिए आप
वजीवन" सम्पादक होना न भूलें क्योंकि
हिंसात्मक पत्रकार कला की मदद उन्हें टेढ़े
से होकर पूरी करनी पड़ी है। आप की
यह भी छिपा न रहेगा कि वर्मा जी ने टेढ़े
का टेढ़ा-मेढ़ापन ही नहीं दिखाया बल्कि
को भी टेढ़ा कर दिया है। यह कमाल
आप को उन पुस्तकों में निखरता हुआ
जो बिड़ला-मोनोपली की कृपा से साहित्य-
द होंगी।
कों ने यह उपन्यास पढ़ने पर मुझसे सवाल

किया कि वर्मा जी आखिर किस रास्ते को सही
समझते हैं; उनकी राय से किस राह पर चलकर आदमी
मंज़िले मकसूद तक पहुँच सकता है। हर नाटक को
चाहिए भी कि उपन्यास खत्म करने पर वह अपने से
यह पूछे कि लेखक किस रास्ते पर चलने का इशारा
करता है। अगर उसको अपने सवाल का साफ़-साफ़
जवाब न मिले तो उसे वर्मा जी को उनकी सफलता पर
बधाई देनी चाहिए। पर उनका ध्येय सही रास्ता दिखाना
नहीं है बल्कि पाठक को टेढ़े मेढ़े रास्तों में भटकाना
है और इस तरह भटकाना है, इस होशियारी से और
उसके बिना जाने हुए, कि उसे रास्ते पर चलने से ही
नफ़रत हो जाय, वह अपने मकसद तक पहुँचने की
तरफ़ से निराश हो जाय। यानी लेखक का उद्देश्य
जीवन के प्रति विश्वास डिगाना है; सामाजिक परिवर्तन
में आस्था का खंडन करना है; जनवादी क्रान्ति और
वर्गहीन समाज की रचना की तरफ़ से मनफेर कर आदमी
को दुश्मन के सामने लाचार और अपाहिज बना देना है।

संवत् २००३ विक्रमी में इस तरह के उपन्यास की
रचना क्यों की जा रही है, इसका भेद भी साफ़ है।
आज हिन्दुस्तान की जनता पूँजीवादी व्यवस्था से
आजिज़ आकर जनवादी क्रान्ति की तैयारी कर रही है,
वह अपने लड़ाकू वर्ग संगठन बना रही है जिनसे कि
वह अपने दुश्मनों से एकजुट होकर लड़ सके।
पूँजीवादी समाज के ठेकेदारों का सिंहासन डोल रहा
है। इसलिए "कला" और "संस्कृति" के चौकीदार—
लेखक—जो कल तक दारू और व्यभिचार की कहानियाँ
लिखते थे—अचानक विनोबा भावे बनकर "क्रान्ति
नहीं, समाजवाद नहीं, शुद्ध भारतीयता, शुद्ध अहिंसा" के
नारे लगाना शुरू कर देते हैं। पूँजीवादी प्रेस किस
तरह की विचार-स्वाधीनता का हामी है, वह किस तरह
की कला और संस्कृति का रक्षक है, यह "टेढ़े मेढ़े

रास्ते" से जाहिर है। यह एक गुलाम-प्रेस की गुलाम-
रचना है, जो हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन की तमाम
परम्पराओं पर कीचड़ उछालती है।

इस उपन्यास में नैतिक साधनों को लेकर, अहिंसा
को लेकर, अहंमान्यता और पाशविकता से ऊपर उठने
को लेकर बड़ी लम्बी चौड़ी बातें कही गई हैं। अगर
वह सब उपदेश एक जगह इकठा करके छाप दिया
जाय तो पता लगाना मुश्किल हो जायगा कि उसे खुद
वर्माजी ने लिखा है या गांधीजी की रचनाओं से नकल
कर लिया है।

लेकिन इतना द्वेष, दंभ, ईर्ष्या और अहंकार
आपको हिन्दी की किसी दूसरी रचना में न मिलेगा।
इसमें अहिंसावादी लेखक हर जगह गंदे-से-गंदा कीचड़
उछालता दिखाई देता है; वह अपने प्रतिस्पर्धियों को
नीचा दिखाने के लिए हर मुमकिन तरीके से उनके
खिलाफ़ नफ़रत उभारने की कोशिश करता है। उनका
खाका खींचते हुए उनके पिचके गाल और कीचड़
बहाती हुई आँखों का ज़िक्र करके उनकी "आत्मिक
कुरूपता" (पृ० २८६) की बात करने में नहीं
हिचकिचाता। निःसन्देह उसने खुद अपने को आत्मिक
रूप का ऐसा अवतार मान लिया है कि उसे किसी
वर्ग, किसी दल, किसी विचारधारा पर कीचड़ उछालने में
आगा पीछा नहीं होता। कीनापरस्ती की यह मिसाल
बेजोड़ है।

दो आदमियों पर कीचड़ जरूर नहीं उछाला
गया। ये हैं पं० रामनाथ तिवारी बड़ी रियासत के
छोटे ताल्लुकेदार और पं० मार्कण्डेय मिश्र जो लेखक
की तरफ़ से अहिंसा की वकालत करते हैं। इनपर
कीचड़ क्यों नहीं उछाला गया, यह आगे स्पष्ट हो जायगा।

× × ×

कहानी बहुत सीधी है। एक राजा के तीन लड़के
थे। एक कांग्रेसी हो गया; दूसरा कम्युनिस्ट और तीसरा
क्रान्तिकारी (आतंकवादी)। कांग्रेसी ने आखिर में
कांग्रेस छोड़ दी क्योंकि वह नगर कांग्रेस का सभापति न
चुना गया। क्रान्तिकारी ने मुखबिरी के लिए राज़ी
होकर फिर बिचार बदले और अपनी प्रेमिका के हाथ से
ज़हर लेकर खा लिया। कम्युनिस्ट, पुलिस के पीछे
पड़ने पर, हिन्दुस्तान छोड़ कर बाहर चला गया।
तीनों के बाप राजा साहब अपने राजत्व में और भी
महान होकर पर्दा गिरने के वक्त अकेले स्टेज पर
खड़े रहे।

इन तीनों पात्रों के सहारे श्री भगवतीचरण वर्मा ने
राष्ट्रीय आन्दोलन, आतंकवाद और मज़दूर आन्दोलन
पर जो विचार प्रकट किए हैं और लगे हाथ हिन्दी
लेखकों को भी जो लपेट लिया है, उस पर कुछ विस्तार
से विचार करना जरूरी है।

पहले कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन को लीजिए।
वर्मा जी सन् ३० के आन्दोलन का चित्रण कर रहे हैं।
उस आन्दोलन के दृश्य अभी हजारों पाठकों को याद
होंगे। प्रेमचन्द की कोई मामूली कहानी उठा लीजिए।
उसमें आप जनता के उत्साह और संघर्ष की जैसी सच्ची
तस्वीर पायेंगे, वैसी इस मोटे पोथे में कहीं आपको न
मिलेगी। बावजूद भारतीयता का राग अलापने में
श्री भगवतीचरण वर्मा को उस आन्दोलन के नेता सब
स्वार्थी और जनता रुपयों के बल खरीदी हुई भेड़-बकरी
जैसी ही नज़र आई है। सरकार का मुकाबला करने के
लिए आदमी नहीं मिलते, इसलिए दयानाथ इस नतीजे
पर पहुँचता है कि "देश अभी स्वतंत्र होने के लिए
तैयार नहीं है।" दयानाथ के मुहँ से यह बात कहला
कर लेखक ने दिखा दिया है कि हिन्दुस्तान की जनता
की तरफ़ उसका रवैया अंग्रेज साम्राज्यवादियों से कितना
मिलता-जुलता है। और इस दलील को वहाँ बैठा हुआ
कोई भी कांग्रेसी नहीं काटता। उल्टा मार्कण्डेय—जो
अहिंसा का सबसे बड़ा उपदेशक है—यह सुझाव पेश
करता है कि लोगों को "जेल जाने के काम पर नौकर"
रखा जाय (पृ० २४)। (मानों जेल जाने वाली जनता
भी किसी ईमानफ़रोश उपन्यासकार की तरह खरीदी
जा सकती है!) मार्कण्डेय इतिहास की दुहाई देकर
कहता है कि सारी दुनिया में ऐसा ही होता है,
"और इसलिए अगर कांग्रेस मजबूरी की हालत में
तनख्वाह देकर लड़ने के लिए सिपाही रखती है तो
इससे हर्ज ही क्या है?" (पृ० २५)। यह प्रस्ताव
बहुमत से पास भी हो जाता है।

जिन सैकड़ों देश प्रेमियों ने लाठियों के वार सहे,
जिनपर पुलिस ने घोड़े दौड़ाए, जिन्होंने जेल में अनेक
यातनाएँ सहीं, उनके त्याग और बलिदान पर

गवतीचरण वर्मा की यह टिप्पणी है ! उनका
नी दीवालियापन, उनका नैतिक खोखलापन इसी
हिर है। जो अपनी जुझारू जनता पर इस तरह
उछाल सकता है, उसके लिए कोई भी झूठ,
भी कुकृत्य, कोई भी साहित्यिक फ़रेब त्याज्य नहीं
ता।

आजादी के आन्दोलन पर श्री भगवतीचरण वर्मा
त्कार नहीं कई बार थूका है जिससे आप यह भूल
की वह मिस मेयो की मानसिक सन्तान हैं।
०८ देखिए। रामभरोसे कह रहा है—"गिरफ्तार
लिए आदमियों की कमी नहीं है, हजार दो
जितने आदमी चाहें गिरफ्तार होने के लिए
है।" दयानाथ ताज्जुब करता है कि इतने आदमी
मिल गए और लाला रामकिशोर जवाब देते
इसमें ताज्जुब की क्या बात है ? हिन्दुस्तान में
और बेकारों की कमी नहीं, उनको रुपये दो और
क बनाओ।"

न स्वयंसेवकों की ही नहीं है। लेखक की दृष्टि
ता' एक घृणित वस्तु का नाम है जिससे सभ्य
संस्कृत व्यक्तियों को दूर रहना चाहिए। यह
मसला है जिसपर उपन्यास के सभी पात्र
है। देखिए पहले तीनों सज्जनों के पिता
नाथ तिवारी क्या कहते हैं—"और जनता ?
मूर्ख और कंगाल जनता ? किसी के भी
में यह जनता आ सकती है। इसके माने
कि जो जितना ही मक्कार, चालाक और
होगा वही इनका प्रतिनिधि बन सकेगा। और
प्रतिनिधि बन कर शासन कर सकेगा !" (पृ० ५२)
यही तर्क उपन्यास के आदर्श अहिंसावादी
ण्डेय से भी सुन लीजिए। कहता है—
यह बहुमत वास्तव में अल्पमत है क्यों कि
केवल साधन है, कर्ता नहीं है। कर्ता कुछ
गिने लोग हैं जिन्हें 'नेता' कहा जाता है,
थोड़े-से नेताओं के इशारों पर भेड़-बक-
चलता है।" (पृ० ३५०)
बहुमत का मजाक उड़ाने का उद्देश्य
इसका एक ही उद्देश्य हो सकता है कि
भेड़-बकरी की संज्ञा देकर अल्पमत में आस्था

पैदा की जाय। यही फैसिज्म की विचारधारा का
स्रोत भी है।

कांग्रेसी दयानाथ कहता है—"मैं वास्तव में अनु-
भव करता हूँ कि अधिकांश मनुष्य ऐसे नहीं हैं जिनके
साथ में बराबरी से मिल सकूँ। उनमें बेईमानी है,
उनमें बेवकूफ़ी है, उनमें संस्कृति, शिष्टता, और सभ्यता
का अभाव है !" (पृ० ४३१)

एक बार आगे भी वह कहता है—"मैंने यह नहीं
सोचा था कि इन पशुओं के साथ काम करने के लिए
स्वयम् पशु बन जाना पड़ेगा।" (पृ० ५१६)

और पात्रों के मुँह से भी हिन्दुस्तान की जनता
को मूर्ख, भेड़-बकरी, कीड़े वगैरह कहलाया गया है
लेकिन किसी को भ्रम न रह जाय इसलिए, लेखक
ने खुद भी कलकत्ते के मजदूरों के बारे में अपनी राय
जाहिर कर दी है। मजदूर मशीनें चलाते हैं—"भावना
हीन, चेतना हीन।" काम से लौटने पर ताड़ी शराब
पीकर वे अपने बीबी बच्चों को पीटते हैं या एक कोने में
पड़कर सो जाते हैं। (पृ० ६१)। उनमें कहीं भी
मानवीय चेतना, आजादी से जीवन बिताने की आकांक्षा
संगठन करने और लड़ने की क्षमता श्री भगवतीचरण को
नहीं दिखाई देती। यहाँ तो जड़ता का ही दूसरा नाम
जनता है। उसके आजाद होने की कहीं भी संभावना
नहीं दिखाई गई। बल्कि मनोविज्ञान से यह पेशबन्दी भी
कर दी गई है कि अगर यह "भावनाहीन, चेतनाहीन"
समुदाय कभी क्रान्ति कर भी बैठे तो उससे शोषण का
अन्त न होगा।

अहिंसावादी मार्कण्डेय क्रान्ति के खिलाफ़ यह
अनमोल तर्क पेश करता है—"इन बूर्जुआ लोगों को
मिटाने के बाद मिटाने वाले लोग शोषक बन जायँगे
और मिटने वाले उत्पीड़ित बन जायँगे, मनोविज्ञान तो
यह कहता है। आखिर उत्पीड़न है क्या ? सबल का
निर्बल से बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश करना !
मारने वाला सबल है। मारा जाने वाला निर्बल
है।" (पृ० ३५०)

कैसी सुघर दलील है ! निर्बल पूँजीपतियों की
रक्षा करने के लिए कैसी तीव्र संवेदना है। जबतक
क्रान्ति नहीं होती, तबतक तो जनता भेड़-बकरी है ही !
उसे हम छुक कर गाली देंगे। जब क्रान्ति से वह

पूँजीवादी व्यवस्था को उलट देगी, तब हम उसे शोषक
कहेंगे और मनोविज्ञान से सिद्ध कर देंगे कि इसका
फल भूतपूर्व शोषितों के लिए अच्छा न होगा। आखिर
समाज में शोषकों और शोषितों के अलावा और कोई
तीसरा तो हो नहीं सकता ! यह मनोविज्ञान की किसी
भी पोथी में नहीं लिखा है कि मानव-समाज शोषणहीन
भी हो सकता है। इसलिए वह हाय-हत्या क्यों ? सभी
रास्ते टेढ़े-मेढ़े हैं। फिर बरगद के छाँह में चुपचाप
बैठकर क्यों न सुस्ताया जाय !

देश के नौजवानों और विद्यार्थियों पर श्री भगवती
चरण को इससे ज्यादा आस्था नहीं है। इन्हीं के बीच
में आतंकवाद पनपा था। लेकिन देखिए आतंकवादी
नेता ही देश के तरुणों को क्या समझते हैं। क्रान्ति-
कारिणी प्रतिभा कहती है—"हमारे देश के नवयुवक
नपुंसक और कायर हैं; न उनमें साहस है और न उनमें
स्वाभिमान है !" (पृ० ७२)

स्वयं क्रान्तिकारी नेताओं का मनोबल टूटा हुआ
है; उनकी गिनती हत्यारों और डाकुओं के साथ की गई
है। पं० रामनाथ कहते हैं कि उनमें "चरित्र का
अभाव" है क्योंकि "क्रान्तिकारी युद्ध नहीं करता—वह
हत्या करता—है !" (पृष्ठ २२०) बिलकुल वही दलील
जो अंग्रेज साम्राज्यवादी दिया करते थे और जिसे बाबू
भगवतीचरण ने ज्यों का त्यों उतार लिया है। क्रान्ति-
कारिणी वीणा इस बात का जवाब नहीं देती, उल्टा
पं० रामनाथ से पूछती है "ठीक क्या है ?"

दूसरा आतंकवादी नेता प्रभाकर उर्फ़ मनमोहन
अपने जीवन को कृत्रिम बताता है। वह कहता है कि
"मेरी आत्मा संकुचित हो गई है। और रही वीरता....
वहाँ भी..." (पृ० २७५)। यानी लेखक ने खुद आतंक-
वादियों से वही बातें कहलाई हैं, जिन्हें पं० रामनाथ
तिवारी—सामन्तवाद के प्रतिनिधि—कह चुके हैं।
आगे चलकर मनमोहन कहता है कि हम छिपकर काम
करते हैं, यह इसलिए कि डरते हैं। डरना कायरता है।
और भी—"हमारी जिन्दगी सच्ची नहीं, सीधी नहीं।
हमारा अस्तित्व एक भयानक झूठ है।" वह समझता है
कि आतंकवादी कार्यों से मनुष्यता का पतन होता है।
(पृ० २७६-७)।

आजाद और भगतसिंह की परंपरा की यह तस्वीर
इस टुटपुँजिए उपन्यासकार ने दी है, उसने क्रान्ति-
कारियों को चोर, डाकू, कायर और मनुष्यता से गिरा
हुआ दिखाया है। जिसके दिल का शीशा धुँधला हो,
उस पर सूरज की तस्वीर भी कैसे साफ़ आएगी ?

श्री भगवतीचरण ने क्रान्तिकारियों के मुँह से
ऐसी बातें बारंबार कहलाई हैं, जिससे आपको विश्वास
हो जाय कि उनके बारे में अंग्रेज़ों की कही हुई बातें
बिल्कुल सच हैं।

मनमोहन कहता है—"मैं भाग रहा हूँ ! कायर
की भाँति" (पृ० २९३)।

—"मेरा अस्तित्व एक भयानक झूठ है।" (पृ०
२९३) मनमोहन की आत्मा जितनी गिरी हुई दिखाई
गई है; उतनी ही कुरूप उसकी आकृति भी हो जाती
है। उपन्यासकार अपने शब्दों में लिखता है—"और
उन्होंने देखा कि उस मुसकराहट से मनमोहन का चेहरा
एकाएक बहुत भयानक रूप से विकृत हो गया है, मन-
मोहन की उस महाकुरूप मुसकराहट से झगड़ू सिहर
उठे।" (पृ० ३३५)

और भी—"उस समय रामसिंह ने देखा कि उनके
सामने मनुष्य नहीं खड़ा है, एक महा कुरूप दानव
खड़ा है। मनमोहन मुसकरा रहा था और उसके हाथ
में पिस्तौल थी। (पृष्ठ ३७३)

इस कुरूपता से पुलिस सुपरिंटेन्डेन्ट श्यामनाथ या
ताल्लुकेदार रामनाथ की सुरूप मुस्कराहट की तुलना
कीजिए तो आपको मालूम हो जायगा कि किसे देखकर
स्वामिभक्त लेखक का रोम-रोम सिहर उठता है।

जब मनमोहन मरने लगता है तब आप जानते हैं,
वह अपने साथी प्रभानाथ से क्या प्रतिज्ञा कराता है ?
वह कहता है—"तुम मुझे वचन दो कि तुम इस क्रान्ति
के मार्ग से हट जाओगे—मुझे वचन दो !" और प्रभा
उसे तुरंत वचन भी दे देता है ! (पृष्ठ ३९०)

इसी तरह मजदूर-आन्दोलन पर भी कसकर कीचड़
उछाला गया है। तमाम क्रान्ति विरोधी अच्छी तरह
जानते हैं कि संगठित मजदूर-वर्ग ही क्रान्ति की सही
अगवाई कर सकता है। इसलिए मजदूर संगठन-
कर्ताओं पर औरों से ज्यादा कीचड़ उछाला गया है। उन
की राजनीति पर सीधा हमला न करके उनके चरित्र को
कलंकित करके मजदूर आन्दोलन के प्रति अविश्वास

करने की कोशिश की गई है। उपन्यास में एक भी पात्र नहीं है जो कि मजदूरों में काम भी करता हो जिसकी तरफ लेखक की सहानुभूति भी हो। इसका यही है कि सन् ३० में राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस न थी, वरना उसके किसी कार्यकर्ता को जरूर रूप में चित्रित किया जाता। ब्रह्मदत्त रुपये खा है और इतना असंस्कृत है कि कांग्रेसी दयानाथ से बात तक नहीं कर सकता। उमानाथ पुलिस को देता है; चन्दे का रुपया खा जाना नैतिक ठहराता विदेश से रुपया लेना भी न्यायपूर्ण ठहराता है। अपनी पहली स्त्री को छोड़ देता है और विदेश से दूसरी पत्नी—और वह भी बर्लिन कम्युनिस्ट पार्टी सेक्रेटरी!—ले आता है। यह जर्मन नारी इतनी है कि चाँदी के सिगरेट केस के पीछे मॉरीसन का नोंच लेती है! मॉरीसन एक पड़ोसी की बिल्ली करके रुपया ठगता है।

यह सब अलिफलैला इसीलिए कि मजदूर संगठन लोगों का विश्वास उठ जाय और वे इसे लफंगों और गीरों का काम समझने लगें। उमानाथ के मुँह बहुत अजीबो गरीब बातें कहलाई गई हैं। वह मजदूर संगठन की बढ़ती के लिए यह जरूरी नहीं समझता हिन्दुस्तान आजाद भी हो! यही नहीं, जबतक आजादी की लड़ाई चलती है, तबतक वह इस पक्ष में है कि मजदूर हड़तालें न करें! गोया इस हड़ताल विरोधी नीति से खुश होकर ही अंग्रेज सरकार ने मेरठ केस का प्रसिद्ध मुकदमा चलाया था! मजदूरों को बैठाने के साथ-साथ वह किसानों को भी उसी हालत में चुपचाप रहते देखना चाहता है। (पृष्ठ२६७)

मानना पड़ेगा कि झूठ का यह अंबार खड़ा करके लेखक ने शासक वर्ग की सच्ची नमकहलाली की है।

श्री भगवतीचरण वर्मा को अपनी समझ से हिन्दी उचित सम्मान नहीं मिला। कुछ दिन पहले तक अपनी किताबों की भूमिका में वह लिख दिया करते थे मैं भी पाँच सवारों में हूँ या संसार के बड़े से बड़े उपन्यासों से इसकी तुलना कर लीजिए। यह निराशा और कुढ़न इस उपन्यास में कोढ़ की तरह फूट पड़ी है। एक जगह आपने खुलासा लिख मारा है कि "हिन्दी के साहित्यिकारों में इस तरह की बदतमीजी की बातचीत हो जाना बड़ी साधारण-सी बात थी"। (पृष्ठ० २४०)

इस तरह खुद अपनी तमीज में उन्होंने मुर्खता का पर खोंस लिया है

रामेश्वर के मुँह से कहलाया है—"ये सब के सब घमण्डी, बदतमीज और बेवकूफ हैं"। (पृष्ठ २४४)

उनका चित्रण भी इस इरादे से किया गया है कि पाठक के मन में यही भावना पैदा हो।

उमानाथ से कहलाया गया है 'हिन्दी साहित्यिकों का' जमाव पागलों का जमाव है जिसमें हरेक आदमी अपनी कहता है, बेमतलब और असंगत कहता है, बिना सोचे समझे कहता है और गलत कहता है।.... आज तक हमारे देश में सत-साहित्य का सृजन नहीं हुआ, हो भी नहीं सकता था।" (पृ० २६१)

इस खीझ का सबब इसी उपन्यास में आप को मिल जायगा। आखिर हिन्दी संसार में सभी आदमी घमंडी, बदतमीज और बेवकूफ हों, ऐसा तो हो नहीं सकता। कम से कम एक आदमी—नाम लेने भर को तो—तमीजदार, अक्लमन्द और नम्र होना चाहिए। वह है जरूर लेकिन अफसोस, हिन्दी संसार ने उसे न कवि माना, न उपन्यासकार। उसका नाम कुछ भी रक्खा जाय, आप पहचानने में गलती न करेंगे!

मुलाकात कीजिए—"श्री देवीप्रसाद नाटे से आदमी थे, एकहरे बदन के। इनकी गणना हिन्दी के सफल कवियों तथा उपन्यासकारों में होती थी। पर हिन्दी के आलोचक न इन्हें कवि मानने को तैयार थे और न उपन्यासकार।" (पृ० २३८)

अब अगर श्री देवीप्रसाद को अपनी सफलता घोषित करने के लिए समूचे हिन्दी साहित्य पर कीचड़ उछालना पड़ा है तो क्या आश्चर्य।

"टेढ़े मेढ़े रास्ते" में हिन्दी साहित्यकारों की ऐसी ही टेढ़ी मेढ़ी तस्वीरें भरी पड़ी हैं। जैसे लेखक को आजाद और भगतसिंह की परम्परा में चोर डाकू और कायर ही दिखाई देते हैं, वैसे ही उसे प्रेमचन्द और प्रसाद की परम्परा में सब घमंडी, मूर्ख और बदतमीज ही दिखाई पड़ते हैं। जिन्दगी की तस्वीरें इतनी टेढ़ी मेढ़ी होकर, इतनी भद्दी और बेडौल होकर लेखक के सामने क्यों आती हैं? इसलिए कि अब नजर ही

ऐसी बन गई है कि साफ-सुथरा और सुडौल कुछ दिखाई ही नही देता। इस किताब में कुरूपता, कायरता, निराशा, अन्धकार वगैरह का इतनी बार जिक्र आता है कि वे लेखक के दिमाग पर साफ छाई हुई दिखाई देती हैं। किसी एक पात्र की कायरता और निराशा समझ में आ सकती हैं, लेकिन यहां तो सभी एक ही दिमाग की झलक लिए आते हैं। कुछ मिसालें देखिए।

—"उस बात में रक्त को जमा देने वाली भयानकता के साथ उससे अधिक ठंडा और कुरूप सत्य था।" (पृ० ७४)

—"मनमोहन की उस महाकुरूप मुस्कुराहट से झगड़ू सिहर उठे।" (पृ० ३३५)

—"उनके सामने मनुष्य नहीं खड़ा है, एक महाकुरूप दानव खड़ा है।" (पृ० ३७३)

—"और ब्रह्मदत्त हँसता रहा, मानो वह अपनी इस व्यंगात्मक और कुरूप हँसी से अपने दिल पर लगी हुई चोट की मरहम पट्टी करने का प्रयत्न कर रहा हो!" (पृ० ४३४)

—"दयानाथ! तुममें अहंमन्यता है कठोर और कुरूप।" (पृ० ४६०)

—"नरोत्तम का यह खुल कर मिलना, हँस कर बात करना—यह सब उसके अन्दर वाली किसी भयानक कुरूपता को छिपाने के लिए आवरण भर हैं।" (पृ० ४६८)

—"और एकाएक विश्वम्भरदयाल हँस पड़ा। और वह बड़ी कुरूप और भयानक हँसी थी वह, और वह बड़ी देर तक हँसता रहा।" (पृ० ५१०)

—"एक भयानक कुरूपता उसके सामने बैठी हुई थी।" (पृ० २४८)

इसी तरह तमाम पात्रों के भावों में निराशा, संशय और उदासी की प्रधानता है।

—प्रभानाथ के लिए: "एक भयानक सूनापन उसके कमरे में व्याप्त था और कमरे का वह भयानक सन्नाटा मानों बरबस उसके प्राणों में भरा जा रहा था।" (पृ० ६६)

—"और दयानाथ के चारों ओर उदासी का अथाह सागर लहरा रहा था। उसके अन्तर वाली गहरी कालिमा आकाश को घेरती हुई बढ़ रही थी।" (पृ०४२०)

—फिर दयानाथ के लिए: "उसकी आत्मा में एक प्रकार की भयानक शिथिलता भर गई थी।" (पृ० ४५५)

—उमानाथ के लिए: "उस कमरे का अंधकार उसकी आत्मा में समाया जा रहा था। घबराकर उमानाथ ने बिजली का स्विच दबा दिया।" (पृ०४६८)

[प्रभानाथ के कमरे के सूनेपन से तुलना कर लीजिए!]

—"और अब उसकी शक्तियाँ क्षीण होने लगी थीं। प्रभानाथ के चारों ओर निराशा थी।" (पृ०५३१)

—पं० रामनाथ तिवारी,—उमा, प्रभा और दया, तीनों के पिता—के लिए: "जीवन के प्रति एक प्रकार की भयानक उदासीनता को वे अनुभव कर रहे थे—इतनी थकावट उनके प्राणों में भर गई थी कि वे चिर-विश्राम की कामना करने लगे थे।" (पृ० ५३६)

इसी तरह श्री भगवतीचरण वर्मा की दृष्टि में पशुता भी मानवता का अनिवार्य और प्रधान अंग है।

—प्रभानाथ कहता है, "न मैं देवता हूँ, न मनुष्य! मैं केवल पशु हूँ"! (पृ० ९२)

—उमानाथ कहता है: "हम हिन्दुस्तानियों में पशुता पूरी तरह भरी हुई है। इसी पशुता से प्रेरित होकर हम सब यह कर डालते हैं।" (पृ० १७६)

—सुपरिंटेंडेंट पुलिस भी यही कहता है "ये स्त्री-पुरुष—ये सबके सब पशु हैं—और पशुओं में कोई भेदभाव नहीं होता।" (पृ० २११)

—पं० रामनाथ तिवारी कहते हैं: "विषमता ही प्रकृति का नियम है। हम सब एक प्रकार की पाशविकता लिए हुए हैं; हम सबों में दूसरे को उत्पीड़ित करने की दबी हुई मनोवृत्ति है"। (पृ० २२१)

—अहिंसा का उपदेशक मार्कण्डेय कहता है: "हम सबों में पशुता है, वही पशुता जिसे हम हिंसा कहते हैं।" (पृ० ४५३)

इस पशुवाद को जान बूझकर एक महान् मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप में पेश किया गया है। उसका उपयोग किसी मनोवैज्ञानिक उद्देश्य के लिए नहीं बल्कि विशुद्ध राजनीतिक उद्देश्य के लिए किया गया है। वह उद्देश्य यह है कि मजदूर और किसान अपने संगठन से पूँजीवादी व्यवस्था को न बदलें। जब

पूँजीपति और मजदूर दोनों में ही पशु वर्तमान है तब पूँजीवाद को खत्म करने से मनुष्यता का विकास कैसे होगा? समाज के तमाम लोगों की पाशविकता जहाँ की तहाँ रह जायगी। उल्टे मजदूर हिंसक और उत्पीडक बन जायंगे! इसलिए ज़रूरत है कि पूँजीवाद से लड़ना छोड़कर हर आदमी अपने 'पशु' से लड़े: पूँजीपति भी लड़े और मजदूर भी लड़े और दोनों का पशु-विरोधी संयुक्त मोर्चा बन जाय! [मॉरल रिआर्मामेंट नामक पच्छिमी आन्दोलन का यही नारा भी है] इसीलिए जब मार्कण्डेय इस फिलासफी पर स्पीच झाड़ता है तो "ऐसा मालूम होता था कि उसके पिता की आत्मा अपनी समस्त साधना और बलिदान के साथ उस पर आ गई थी।" (पृ० ४२२)।

पिता के बदले यदि सेठ घनश्यामदास बिड़ला की आत्मा उस पर आ जाती तो स्पीच में ज्यादा फ़र्क न पड़ता!

एक दूसरी जगह मार्कण्डेय अपनी बात को और भी साफ कर देता है। आजादी की लड़ाई चलने तक किसानों और मजदूरों को जमीदारों और पूँजीपतियों से न लड़ना चाहिए। यही नहीं आजादी मिलने के बाद भी उन्हें संघर्ष न करके प्रेम और सदिच्छा से ही जीवन बिताना चाहिए। वह कहता है "इस समय जब हमें विदेशी सरकार से लड़ना है, आपस में इस तरह का कलह द्वेष हमें शोभा नहीं देता। और इसी समय क्यों? मैं तो कहता हूँ कि हर समय हर काल सदिच्छा और सद्भावना से हमें काम लेना चाहिए।" (पृ० ३४६)

पं० रामनाथ तिवारी की फिलासफी से कि समाज में अनादि विषमता है, यह चिरकालीन सदिच्छा का व्यवहार खूब मेल खाता है। समाज कभी नहीं बदल सकता क्योंकि पशुता अमर है। इसलिए वर्ग-संघर्ष को वर्गहीन समाज के निर्माण द्वारा खत्म करने के बदले सदिच्छा और वर्ग-सहयोग की राह पर चलते रहो। पूँजीवाद के समर्थन का इससे अच्छा तरीका और क्या हो सकता है?

दरअसल पं० रामनाथ तिवारी और मार्कण्डेय एक ही आदमी के दिल और दिमाग हैं। पं० रामनाथ तिवारी पशुवाद के बावजूद अहिंसा के सिद्धान्त की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। कहते हैं—"सब कुछ देखते हुए भी मैं कभी-कभी सोचने लगता हूँ कि अगर अहिंसा का सिद्धान्त संभव हो सकता तो वह मानवता के लिए अवश्य हितकर होता।" (पृ० २९१)। मार्कण्डेय उसे संभव मानता है, लेकिन उसके लिए असाधारण साधना की माँग करता है, जिससे उसकी और तिवारी जी की बात में ज्यादा फासला नहीं रह जाता।

पं० रामनाथ तिवारी का चरित्र देखने लायक है। वे उन तमाम कुरूपता और कायरता के बक्स हैं, जो लेखक को सारी दुनिया में छाई हुई जान पड़ती है। वे उसके आराध्य देव की तरह हैं, जिन्हें देखते उसकी आँखें नहीं थकतीं। जिस तरह दयानाथ की बीवी अपने पति को "गौरवर्ण का एक वीर, हिमालय की भाँति अचल, मेघमाला की भाँति गंभीर!" (पृ० १२३) देखती है, उसी तरह श्री भगवतीचरण वर्मा ताल्लुकेदार रामनाथ को। "छाती फुलाए हुए और अपना मस्तक ऊँचा किये हुए" "एक पाषाण मूर्ति की भाँति" (पृ० ३००) देखते हैं!

मजाल है, यहाँ कुरूपता और पाशविकता की झलक भी आपको मिल जाय!

मिल भी कैसे सकती है! आखिर पं० रामनाथ तिवारी उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो समाज में सबसे निकम्मा है, जिसके खत्म हुए बिना समाज की प्रगति एक कदम भी असंभव है, लेकिन जिस वर्ग से श्री भगवतीचरण वर्मा का आध्यात्मिक संबंध जुड़ा हुआ है। उनकी नजर भविष्य की ओर नहीं है, ढहते हुए अतीत की ओर है, उस सामन्तवाद की ओर जो अपनी आखिरी साँसें गिन रहा है। उसी से उनके व्यक्तित्व का तार-तार बँधा हुआ है। वह खान्दान की शान, वह रुतबा, वह शासन का रोब-दाब—इनकी याद आते ही उनकी हृदय-वीणा के तार झंकृत हो उठते हैं! उनकी लेखनी यदि किसी का चित्र आँकते हुए पुलकित हो उठती है, तो ताल्लुकेदार पं० राम्नाथ तिवारी का। लेखक की कल्पना जितना ही उनका ध्यान करती है, उनकी मूर्ति उतनी ही भव्य और विशाल होती जाती है। पृ० ३ पर पाठक को बताया जाता है कि "पं० राम्नाथ तिवारी अवध के एक छोटे-से ताल्लुकेदार थे।" लेकिन पृ० ४९ तक पहुँचते पहुँचते—"एक बहुत बड़ी

रियासत का भार उनके कंधो पर लदा था और वे अकेले थे।"

इसी तरह पृ०३ पर उपन्यासकार उनका परिचय देते हुए कहता है—"तिवारी जी सभ्य तथा सुसंस्कृत पुरुष थे, उन्हें सभ्य तथा पढ़े-लिखे लोगों का ही साथ पसन्द था। ग्रामीण जीवन में विद्वानों के संसर्ग का अभाव था। इस अभाव को उन्हों ने उन्नाव आकर दूर किया था।" लेकिन हिन्दुस्तान तो ठहरा पशुओं का देश; उसमें पढ़े-लिखे सभ्य आदमी कहाँ? इसलिए लेखक ने जोड़ दिया है कि उन्नाव में जिन विद्वानों का वे सत्संग करते थे, वे "कलक्टर, डिप्टि कलेक्टर आदि पढ़े-लिखे अफ़सर" थे।

तिवारी जी तो पशुवाद के महान् आचार्य हैं। पशुवाद और पढ़ना-लिखना कुछ विरोधी क्रियाएँ हैं। इसलिए लेखक ने पं० रामनाथ तिवारी से कहीं पढ़ने लिखने की चर्चा नहीं कराई। बल्कि आगे चल कर प्रभानाथ को यह उपदेश दिलाया है कि "यह विद्वत्ता, ये सिद्धान्त! ये सब की सब धोखे की चीजें हैं।....ये सारे सिद्धान्त—यह सारी बुद्धि! यही हमारे विनाश के कारण हैं।" (पृ० ३८)

पशुवाद के आचार्य के लिए यह जरूरी था कि वह तर्क और बुद्धि से ऊपर उठ जाय वर्ना उसकी भव्यता के बेरंग हो जाने का खतरा था। यह बात नहीं है कि तिवारी जी के अपने सिद्धांत न हों! हैं, लेकिन उनका बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। कहते हैं—"जीवन का नियम क्या है? समर्थ की असमर्थ पर विजय! अनादि काल से समर्थ असमर्थ पर शासन करता आया है और अनन्त काल तक शासन करता रहेगा! इसको तुम रोक कब सकते हो?" (पृ० १४४) अपने सामर्थ्य भर यह मनुष्य (या पशु) किसानों पर अत्याचार करता है: उसे उचित और न्यायपूर्ण ठहराता है। क्रोध में वीणा पर भी हाथ उठाने में वह नहीं झिझकता। फिर भी उसके चरित्रबल की महिमा गाते लेखक नहीं अघाता। यही नहीं, दूसरों से बराबर उनको सार्टिफ़िकेट भी दिलवाता जाता है, जिससे भव्यता में कमी न पड़ने पाए!

पृष्ठ ३ पर पहले परिचय में उनकी सभ्यता और संस्कृति की तारीफ की जाती है। पृ० ४२ पर फिर लेखक कहता है "तिवारी जी शिक्षित व्यक्ति थे, और शिक्षित से कहीं अधिक सुसंस्कृत।" इसी तरह पृ० १३१ पर—"वे ताल्लुकेदार थे, शिक्षित थे और चरित्रवान थे!" अगर ताल्लुकेदारों को बाबू भगवतीचरण चरित्रवान होने का सार्टिफिकेट न दें तो इस बात पर विश्वास कौन करे?

आतंकवादी मनमोहन उनके लिए कहता है—"काश कि हरेक आदमी ऐसा ही बन सकता है।" (पृ० ३००)। आतंकवादी बेटा प्रभानाथ उनके चरणों पर गिर पड़ता है और कहता है—"आपने मुझे उचित रास्ता दिखला दिया।" (पृ० ५०२) लोग उनकी गाली सुनते हैं फिर भी उनके पैर छूते जाते हैं! "न जाने क्यों, रामनाथ की गाली सुनने पर भी वीणा ने अनायास ही झुक कर रामनाथ के चरण की धूल अपने मस्तक पर लगा ली।" (पृ० ५०३) जब वह पूजा घर में बैठे होते हैं तो वीणा "अपना मस्तक देहली पर रखकर" प्रणाम करती है! (पृ० ५२०)

यह सब घिनौना व्यापार इसलिए कि अवध के महापतित ताल्लुकेदारों के प्रति पाठक में सहानुभूति पैदा की जाय। उपन्यास में कोई भी ऐसा पात्र श्री भगवतीचरण वर्मा को नहीं मिलता जिसके चरणों में वह अपनी श्रद्धा उड़ेल सकें। मजदूर आन्दोलन के संगठनकर्ताओं को उन्होंने जितना ओछा करके दिखाया है, उतना ही भव्य और महान इन राजा साहब को दिखाया है। इससे जाहिर है कि सामन्तवाद की गुलामी उनकी नस-नस में भरी है। यह कला का व्यभिचार है, समाज की प्रगति को रोक कर पुरानी व्यवस्था को दीर्घजीवी बनाने का प्रयत्न है। अहिंसा पर लंबे लंबे व्याख्यान और जनता के आन्दोलन पर धूल फेंकना इसीलिए है कि पुराने समाज का टूटता हुआ ढाँचा किसी तरह जुड़ा रह जाय।

कौन नहीं जानता कि अवध की उर्वर धरती पर ताल्लुकेदारी व्यवस्था कोढ़ की तरह उसे विकृत किए हुए है। अंग्रेजों के पाले-पोसे हुए गदर के ये गद्दार आज भी जनता की छाती पर मूंग दल रहे हैं। कौन सा कुकर्म, कौन सा व्यभिचार, कौन सा पाप इनके नाम के साथ नहीं जुड़ा हुआ है। फिर विद्वत्ता, संस्कृति और ताल्लुकेदार! इनकी अपार मूर्खता की कहानियां आज

किसी भी शहर, किसी भी गांव में सुन सकते हैं। लेकिन इस तमाम पाशविकता की झलक भी आप को "टेढ़े मेढ़े रास्ते" में न मिलेगी। उसे जान बूझकर छिपाया गया है जिससे जनता का क्रोध इस वर्ग के खिलाफ न उभरे। उसके बदले एक पशु-दर्शन का निर्माण कर डाला गया है जिससे लोग भूल भुलैया में पड़कर वर्ग-संघर्ष की सचाई को बिल्कुल भूल जाँय।

रामनाथ का पशुवाद और मार्कण्डेय का अहिंसावाद एक ही दर्शन के दो पहलू हैं। रामनाथ अहिंसावाद की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं और उसकी श्रेष्ठता इसी में है कि वह इतना कठिन है। मार्कण्डेय पशुवाद को मानते हैं और चूँकि पशुवाद इतना प्रबल है, इसीलिए अहिंसावादी व्यक्ति की असाधारण साधना व्यर्थ हो जाती है! लेकिन मार्कण्डेय अच्छी तरह जानता है कि अहिंसा की तमाम दलीलें दिल को खुश करने को हैं उनसे होना-हवाना कुछ नहीं है। उमानाथ के मुँह से मार्कण्डेय को "सिनिक" कहलाया गया है। (पृ० ११२)

जो दरअसल सही है। अहिंसा पर व्याख्यान देते समय पिता की आत्मा के आने के बावजूद वह है ऐसा "सिनिक" जो मानव समाज में किसी परिवर्तन की आशा नहीं करता। उमानाथ के सामने वह यही दलील देता है कि क्रान्ति के बाद मजदूर वर्ग उत्पीड़क हो जायगा! यानी यह विधाता का लेख है कि जैसे पूँजीपतियों ने अपनी हुकूमत में समाज को गुलामी और शोषण के बंधनों से जकड़ रक्खा है, वैसे ही मजदूर वर्ग भी नये समाज में गुलामी और शोषण को कायम रक्खेगा। इस बात का सबूत देने के लिए वह सोवियत संघ पर वही झूठे आरोप लगाता है जिन्हें बीस साल से दुनिया के तमाम पूँजीवादी अखबार लगाते आए हैं। मार्कंडेय के कम्युनिस्ट विरोध और सोवियत संघ पर झूठे आरोपों का मतलब साफ है—यह साबित कर देना कि मजदूर वर्ग पूँजीपतियों की ही तरह निकम्मा है और वह आज से ज्यादा अच्छी व्यवस्था नहीं बना सकता!

"सिनिक" होने का मतलब है, अपनी निराशा को दार्शनिक रूप देकर उसमें रस लेना। अगर कोई आदमी नई विचाधारा लेकर आता है तो "सिनिक" उसपर सोच विचार करने के बदले पहले से ही "कुछ न होगा" मानकर उधर से मुँह फेर लेता है। देखिए किस सफाई से मार्कण्डेय "कुछ न होगा" की फिलासफी आपके गले उतारना चाहता है। कहता है—"तुम्हें यह स्मरण रखना पड़ेगा कि दुनियाँ में तुम्हारी ही भाँति हर एक आदमी का अपना निजी विश्वास है, अपनी निजी भावना है।" (पूँजीपति की भी है, तल्लुकेदार की भी है, मजदूर की और किसान की भी है। और सब एक ही धरातल पर हैं!) "और यही तुम्हारा निजी विश्वास और निजी भावना दूसरों की नजर में पागलपन है क्योंकि दूसरों के विश्वास और दूसरों की भावनाएँ बिल्कुल दूसरे हैं। और इसलिए तुम्हारी बात ही बेकार हो जाती है, क्यों कि जिस अधिकार को तुम माँग रहे हो, वही अधिकार तुम्हें दूसरों को भी देना पड़ेगा।" (पृष्ठ ५६)

नतीजा यह निकला कि मजदूर को कोई हक नहीं है जो कहे कि पूँजीपति की विचारधारा यानी मुनाफा कमाने का अधिकार गलत है। अगर मजदूर अपनी भावना को सही मानता है तो वह पूँजीपति को भी वही अधिकार दे जिनसे वह अपनी भावना पर अड़ा रहे। कैसा सुन्दर मानववाद है, जहाँ मजदूर और पूँजीपति एक घाट पानी पीते हैं; जहाँ दोनों वर्ग-भेद को कायम रखते हुए मनुष्यता की खोज में तल्लीन हैं! इसीलिए जब मार्कण्डेय आँख, नाक, कान, सब पा विचित्र आभा, प्रकाश और ज्योति लिए हुए सारे समाज के व्यक्तियों को अहिंसावादी बनाने पर व्याख्यान देता है, तब भी उसके 'सिनिक'-पन में कमी नहीं होती, क्योंकि वह जानता है कि उसके सिद्धान्त का वर्ग भेद और वर्ग शोषण को मिटाने से कोई सबन्ध नहीं है।

पं० रामनाथ तिवारी कहते हैं—"कार्लमार्क्स ने लिखा और लेनिन ने किया, परिणाम? रूस में भयानक रक्तपात! और यहाँ गाँधी ने एक मत बतलाया और परिणाम? जेल गिरफ्तारियाँ! पर वास्तव में क्या होना चाहिए जिससे सब सुखी हो सकें, जो सबों की उलझनों का हल हो? कोई नहीं बतला सका! आखिर होगा क्या?" (पृष्ठ २२०)

कितनी पते की बातें कहीं हैं तिवारी जी ने! और इन पर बाबू भगवतीचरण की अपने ही शब्दों में यह टिप्पणी है:—

"वीणा गौर से तिवारी जी की बातों को सुन रही थी। उसे यह खयाल न था कि देहात में रहने वाला आदमी इतना सोच सकता है, इतना समझ सकता है! और तिवारीजी के तर्क? उनमें गंभीरता थी, उनमें ईमानदारी थी, उनमें सार था।" (पृष्ठ २२०)

इसका मतलब साफ है। जो आदमी सिनिक है, जो सामाजिक परिवर्तन में विश्वास खो चुका है, वही गंभीर है, वही ईमानदार है, उसी की बातों में सार है! मार्कण्डेय और रामनाथ दोनों ही सिनिक हैं, पशुवाद के आचार्य जो सामाजिक उलटफेर में विश्वास नहीं करते, बल्कि क्रान्ति विरोधी होने के नाते अपने सिनिक दर्शन से उस विचारधारा का डटकर विरोध करते हैं। वर्गशोषण मिट सकता है—इस बात में लोगों का विश्वास न रहे—यही टेढ़े मेढ़े रास्ते का उद्देश्य है।

यह उपन्यास साबित करता है कि कला, विज्ञान, दर्शन संस्कृति आदि वर्गों से परे नहीं हैं, वरन् वे वर्गों के विकास और पतन के साथ बँधे हुए हैं। "टेढ़े मेढ़े रास्ते" का "कुछ न होगा" वाला दर्शन एक जड़ और पतित शासकवर्ग का दर्शन है जो आगे बढ़ने की तमाम आशाएँ खो बैठा है और जो किसी तरह अपनी पुरानी सम्पत्ति को बनाए रखना चाहता है। लेकिन शोषित वर्ग जो सम्पत्तिहीन है, जो शोषणहीन समाज बनाना चाहता है, जिसमें आगे बढ़ने और समाज को बदलने की आकांक्षा और सामर्थ्य है, वह वर्ग "कुछ न होगा" वाले दर्शन को मानकर सिर्फ अपनी गुलामी के बन्धनों को मजबूत बना सकता है। शासक वर्ग यही चाहता भी है। इसलिए शोषित वर्ग का दर्शन होता है—"समाज बदल सकता है और हम उसे बदलेंगे!" मार्क्सवाद इस परिवर्तन का रास्ता दिखलाता है। वह बतलाता है किस तरह संगठित मजदूर वर्ग के नेतृत्व में तमाम शोषित जनता पूँजीवादी वर्ग और उसके सामन्ती सहायकों को खत्म करके एक समाजवादी व्यवस्था कायम कर सकती है। मार्क्स का दर्शन इसी से पैदा हुआ है कि वह सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करता है। उपन्यासकार नहीं चाहता है कि यह दर्शन शोषित जनता के हाथों पहुँच जाय। इसीलिए उसने यह भारी-भरकम उपन्यास लिखा है। और इस तरह की कोशिशें अभी और होंगी हालाँकि वे विफल होंगी।

× × ×

इस उपन्यास में कुछ दिलचस्प बातें और हैं। मुसोलिनी किसी जमाने में कम्युनिस्ट था! (पृ०२०७)। प्रगतिशील लेखक संघ की नींव सन् ३० में पड़ी थी! झगड़ू और उनका बेटा मार्कण्डेय आपस में बातें करते हैं तो बाप अवधी बोलता है और बेटा खड़ी बोली! शुरू में झगड़ू और रामनाथ की शत्रुता बताई गई है (पृ० १७–१८) लेकिन आगे चल कर कहीं भी उसका चिन्ह आपको ढूँढ़े न मिलेगा।

सुन्दर अवधी का नमूना "रहे रहन" के प्रयोग में देखिए—"अब ही हम तुम्हरे बिसै माँ श्यामू से बतियात रहे रहन!" (पृ० १६०)।

स्वाभाविक वाक्य-रचना देखिए—"अब मैं महालक्ष्मी के मेरे प्रति प्रेम की विवेचना करता हूँ।" (पृ० २०२)। स्त्री पति से कह रही है—"अपना दुर्भाग्य मुझे वहन करना होगा।" (पृ० २०८)। "अब क्या करोगे? किससे बोलोगे? किसपर शासन करोगे? सब गए—हमेशा के लिए गए!" (पृ०५४५)

—इस तरह के फिल्मी वाक्य, और "रामनाथ का स्वर तेज़ होता गया" के स्टेज-डायरेक्शन बाम्बे टाकीज़ की याद दिलाने के लिए कई जगह मिलेंगे।

—"ज़िला का सदर होने के कारण" (पृ० ३)

—"ताल्लुका का उत्तराधिकारी होने के कारण" (पृ० ३१)

—"पर आप इस ताल्लुका के स्वामी रहकर" (पृ० ३२)

—"टोड़ी बचा के अर्थ क्या होते हैं" (पृ० ५०)

इन टुकड़ों में वर्माजी ने अपना आकारान्त-प्रेम प्रकट किया है। ज़िले का सदर ताल्लुके का उत्तराधिकारी शायद गलत हिन्दी होगी!

प्रभानाथ से फर्स्ट डिवीजन एम० ए० पास कराया लेकिन कम्पिटीटिव की जगह उनसे "कम्पटीशन इक्जामिनेशन" कहलवा गए! (पृ० ३८)

"अभी" और "फिलहाल" एक साथ आपने न देखें होंगे। "पर अभी फिलहाल विरोध की गुंजाइश नहीं है।" (पृ० १०१)

इसी तरह "दृष्टि कोण देखा" जाता है (पृ० ७४ र ७५) और लोग किसी चीज "का" नहीं, किसी ज "पर" अवलोकन करते हैं! (पृ०१५१)।
सभ्यगण वैसे ही बहुवचन हैं लेकिन और गौरव के लिए "सभ्यों" न लिखकर "सभ्यगणों" लिखा है! (पृ० १३५)।
पिस्तौल पुंल्लिग है या स्त्रीलिंग ?
—"अच्छे पिस्तौल ही देखे थे।"
—"उसके पास तीन पिस्तौलें थीं"। (पृ०६६)
—जाहिर है कि वर्मा जी उलझन में हैं।
—"आप की हठ पूरी हुई" (पृ० २१६)
लेकिन बोलने वाली लड़की बंगाली है।

—"उसकी चेतना और कर्मण्यता एकाएक जाग उठे" (पृ० ४६२) हालांकि चेतना और कर्मण्यता दोनों स्त्रीवाचक हैं फिर भी "उठे"!

जब शिक्षा और विद्वत्ता के आदर्श पं० रामनाथ तिवारी हों तो भाषा में ऐसी भूलें क्षम्य समझी जानी चाहिए।

उपन्यास का मूल्य सात रुपये हैं। वर्माजी का धैर्य सराहनीय है जो उन्होंने इतना मोटा पोथा लिख डाला; उन पाठकों का धैर्य और भी सराहनीय है जो उसे आखिर तक पढ़ डाले होंगे।

यू० पी० उप-निर्वाचन का समाजवादी साहित्य

वोटरों से सोशलिस्ट पार्टी की अपील

आज हर कान से कांग्रेस तथा कांग्रेस सरकार के विरुद्ध शिकायतें सुन पड़ती हैं। उनके विरुद्ध अफवाहों का बाजार गर्म है। कांग्रेस तथा कांग्रेस सरकार उनको सुनकर भी अनसुनी कर देती है। कोई विरोधी दल न रहने के कारण कांग्रेस ने निरंकुश शासन का रुख अख्तियार कर लिया है। इस अवस्था के प्रतिकार के रूप में आज सोशलिस्ट पार्टी ने विरोध की आवाज बुलन्द की है। एक वैधानिक विरोध के बिना आज की अवस्था में कोई सुधार हो ही नहीं सकता। सोशलिस्ट पार्टी ही इस काम को पूरा कर सकती है।

आज कांग्रेस के नेताओं को सोचने विचारने की कोई फुरसत नहीं। किसी भी ठोस काम के लिए उनको समय ही नहीं मिलता। उनका आज का सब से जरूरी कार्यक्रम है हवाई दौरे करना—एक जिले से दूसरे जिले का और एक सूबे से दूसरे सूबे का या विदेशों का। कान्फ्रेन्स और कमेटियों की भरमार रहती है। फिर भाषण और अखबारी बयान। नतीजा यह है कि नीति निर्धारण और शासन-प्रबन्ध का भार आज नौकरशाही पर है। इससे शासन–प्रबन्ध का जो हाल होता है उसे बयान करने की जरूरत नहीं। हर तरफ भ्रष्टाचार और कुप्रबन्ध फैला हुआ है।

आज राष्ट्रनिर्माण का हाल देखिए। शिक्षा, पब्लिक स्वास्थ्य, औषधियाँ, गाँव सुधार, कृषि उद्योग, सहयोगी संस्था, पशु चिकित्सा तथा सिविल ऐविएशन के कुछ आँकड़ों को लीजिए:—इन नौ विभागों पर १९२१-२२ से १९३६-३७ तक कुल आमदनी का २४.२ फ़ीसदी खर्च किया जाता था। पहले कांग्रेस मन्त्रिमण्डल मे १९३७-३८ से १९३९-४० तक यह ३० फ़ीसदी तक बढ़ा। १९४६-४७ से १९४७-४८ में यह कुल घट कर २९ फ़ीसदी रह गया और अब १९४८-४९ के बजट में यह केवल २५.४ फ़ीसदी ही रह गया है।

स्वास्थ्य और औषधि के लिए खर्च ५.४ फ़ीसदी से केवल ४.२ रह गया यद्यपि पुलिस का खर्च जो १९४६-४७ में केवल ४ करोड़ था, अब ७ करोड़ पर पहुंच गया है।

यही नहीं, १९४६-४७ और १९४७-४८ में निर्माण कार्य में जो खर्च किया जाने वाला था, उसका ९६ फ़ीसदी खर्च किया ही नहीं गया।

रहने के मकानों के लिए तो चूना सीमेंट का पूर्ण अभाव है लेकिन आलीशान सिनेमा घरों और हलवासिया कोर्ट के लिए चूना सीमेंट की इफ़रात है।

आज हर चीज का दाम बढ़ा हुआ है। लोग दूकानदारों को कोसते हैं। लेकिन दूकानदार जितना मुनाफा कमाता है उसका हजार गुना या लाख गुना कमाते हैं वे जो इसकी जड़ में हैं—पूंजीपति और कारखानों के मालिक। आज कांग्रेस और कांग्रेस की सरकारें उन्हीं के हाथों खेल रही हैं। कांग्रेस पूंजीवाद को खत्म नहीं करना चाहती।

असेम्बली में मुसलिम लीग का यह संशोधन पास होने के बाद कि पूंजीवाद को खत्म किया जाय, पंत जी ने कांग्रेस असेम्बली की पार्टी मीटिंग में यह कहा कि हम तो विरोधियों के बिछाए हुए जाल में फँस गए।

हरिजनों के लिए कांग्रेस नेताओं का दिल फट रहा है। उनके उद्गार होते रहते हैं। लेकिन मन्दिरों का दरवाजा खोलने के अलावा उनके लिए और क्या किया जा रहा है। ये गाँधीजी के नाम का दम भरते रहते हैं; लेकिन हरिजनों की आर्थिक उन्नति के लिए उन्होने किया क्या ?

अभी उस दिन तक तो कांग्रेस के नेता चोर-बाजारी के खिलाफ दहाड़ते थे। चोर-बाजार के दलालों को फाँसी देने की बात हो रही थी, लेकिन आज सब चुप हैं। आज तो कुल बाजार ही चोर-बाजार है—हाँ कानूनी तौर पर आप उन पर उंगली नहीं उठा सकते। आपको मिसाल चाहिए—कपड़ा और चीनी ले लीजिए।

...स मिसाल की जरूरत ही क्या ? कांग्रेस के धुरंधर ...स्वयं इन बातों को स्वीकार करते हैं। आचार्य ...नी और श्री रफ़ी अहमद किदवई के बयान बहुत ...ने नहीं हैं।

जब उन नेताओं से कहा जाता है कि अपनी ...यों को दूर क्यों नहीं करते, तो वे कहने वाले को ...की रक्षा के लिए जेल भेज देते हैं।

कांग्रेस सरकार की योजनाओं की कोई कमी नहीं परन्तु ये योजनाएं नहीं हैं—हैं डपोरशंख की ...। १० करोड़ नहरों के लिए, २० करोड़ बिजली ...ए—इत्यादि। और स्थिति यह है कि घर पर ...जलाने के लिए मिट्टी का तेल भी नहीं मिलता। आज हर देश में सोशलिस्ट पार्टियों की विजय हो ...है, अकेला हिन्दोस्तान ही पिछड़ा नहीं रह सकता। ...यों का गला घोंट कर शासन नहीं किया जा सकता। ...के निरंकुश शासन को नियंन्त्रित करने में आज ...स्ट पार्टी ही समर्थ है।

सोशलिस्ट कांग्रेस से क्यों अलग हुए ?

इसके पहले कि हम अपने कारणों को आपके सामने ...र रक्खें जिनके लिए सोशलिस्टों को कांग्रेस ...पड़ा, एक शब्द कह देना जरूरी है।

आज पन्त जी तथा दूसरे कांग्रेसी नेता यह कहते ...ऐसी कठिनाई के समय कांग्रेस को छोड़कर ...स्टों ने बुरा किया और वे यह भी कहते जाते ...सोशलिस्ट फिर से कांग्रेस में शामिल ...यें। ये बातें लोगों को भुलावे में डालने ...हैं। कांग्रेस ने अपने विधान में जो परिवर्तन ...है उसके अनुसार सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य उसी ...में कांग्रेस में रह सकते हैं जब वे सोशलिस्ट पार्टी ...। लेकिन क्या कांग्रेस सोशलिज्म या समाजवाद ...के लिए तैयार है ? कांग्रेस समाजवाद की ...रही है या पीछे हट रही है ? हम दो बातें ...सामने रखते हैं जिनसे इस प्रश्न का उत्तर ...स्वयं मिल जायगा। १९४२ में गांधी जी के ...कांग्रेस ने किसान-मजदूर राज्य के ध्येय को ...किया। और आज कांग्रेस के नेतृत्व में वैधानिक ...कोआपरेटिव कामनवेल्थ का नाम देकर इस ...बिलकुल गोलमोल कर दिया है। सच तो यह है कि कांग्रेस समाजवाद के नाम की ओट में, एक साधारण पूँजीवादी प्रजातन्त्र को कायम रखना चाहती है।

सोशलिस्ट कांग्रेस से इसलिए अलग हुए कि—

(१) कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार में पूँजीपतियों के भी प्रतिनिधि शामिल हैं जो देश में अमीरी और गरीबी की व्यवस्था को कायम रखना चाहते हैं।

(२) कांग्रेस ने अपना नया विधान ऐसा बनाया है जिससे वह पूँजीवादियों तथा प्रतिक्रियावादियों की एक संस्था बन जाय और उनके लिए उसमें कोई स्थान न रहे जो गरीबी और अमीरी को मिटाकर समाज में एक मौलिक परिवर्तन करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में कांग्रेस गाँधीजी का रास्ता छोड़कर टाटा, बिडला के रास्ते पर चलना चाहती है।

(३) कांग्रेस सरकार जमींदारी प्रथा तोड़ने में काफी विलम्ब कर रही है और उसकी जो योजना है उससे इस प्रथा के तोड़ने का आर्थिक भार किसानों के कन्धों पर डाला जा रहा है।

(४) कांग्रेस सरकार ने जो औद्योगिक योजना बनाई है उसके अनुसार बड़े-बड़े औद्योगिकों और पूँजीपतियों को मुनाफा बटोरने की आजादी दे दी गई है और कर का बोझ मजदूर किसान तथा निम्न मध्यम श्रेणी पर डाल दिया गया है।

(५) कांग्रेस ने देश के लिए जो नया विधान तैयार किया है, उससे अपनी मिली हुई आजादी को वह अंग्रेजों के हाथ में फिरसे सौंप देना चाहती है, क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य से सम्पूर्ण विच्छिन्न होने के बजाय वह उसी साम्राज्य में औपनिवेशिक पद का प्रार्थी है।

(६) कांग्रेस सरकार, सरकारी यूनियन अथवा मालिकों का यूनियन बनवाकर मजदूरों के संगठन की स्वतन्त्रता छीनना चाहती है। सरकारी यूनियनों का सोशलिस्ट पार्टी संगठन आई० एन० टी० यू० सी० का सर्वथा विरोध करती है।

(७) आज की परिवर्तित अवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार सरकार शासन प्रबन्ध की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहती।

(८) देशी रियासतों में पूर्ण प्रजातंत्र की स्थापना नहीं की गई।

और इसलिए कि—

(९) भ्रष्टाचार को दूर करने में वर्तमान सरकार असमर्थ है।

परन्तु इन सब से भी मुख्य बात यह है कि कांग्रेस के निरंकुश शासन को नियन्त्रित करने के लिए एक वैधानिक विरोधी दल की आवश्यकता है ! इसके बिना कोई प्रजातन्त्र शासन सफल नहीं हो सकता। आज सोशलिस्ट पार्टी ही इस आवश्यकता को पूरी कर सकती है।

सोशलिस्ट पार्टी क्या चाहती है ?

सोशलिस्ट पार्टी किसान मजदूरों का राज्य चाहती है। अमीरी और गरीबी को दूर करना चाहती है और समाज की एक ऐसी नई व्यवस्था कायम करना चाहती है, जिससे एक सुचिन्तित योजना के अनुसार पैदावार हो और न्याय के अनुसार समाज में उसका बँटवारा हो।

जाहिर है कि समाजवादी सरकार की स्थापना के साथ ही इस आदर्श की पूर्ति हो सकती है। लेकिन कुछ आंशिक मांगों की पूर्ति के लिए तो इस बीच भी सोशलिस्ट पार्टी कोशिश करती रहेगी। नागरिकों के लिए सोशलिस्ट पार्टी की मांग है—

(१) व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की रक्षा, (२) सेल्स टैक्स का अन्त, (३) तीन माह के अन्दर १ लाख रहने के मकानों का निर्माण, (४) पूँजी पर टैक्स लगाया जाय (५) उद्योग-धन्धों की योजनाओं में हरिजनों का उचित स्थान हो। (६) चीज वस्तु का दाम घटाया जाय।

आप यदि बेकारी और बेरोजगारी को हटाना चाहते हैं, चोर बाजार और घूस खोरी बन्द करना चाहते हैं, जनसाधारण की जरूरतों के आधार पर कृषि और उद्योग की योजना चाहते हैं और यदि आप ब्रिटिश साम्राज्य से समस्त सम्बन्ध विच्छेद कर एक पूर्ण तथा आजाद राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो—

सोशलिस्ट पार्टी को ही अपना वोट दीजिए।

सोशलिस्टों को वोट क्यों दीजिए ?

श्री जयप्रकाश नारायण

आज कल कांग्रेसी नेताओं के बोलने का आम विषय यही है कि सोशलिस्टों ने कांग्रेस को बड़े कुसमय में छोड़ा। वह कार्यों की एक लम्बी तालिका गिना ले जाते हैं, जिनको उन्हें कार्यान्वित करना है और जिसके लिए वह सभी से बिला शर्त अपनी नीति का समर्थन चाहते हैं। वे विरोधी दल को अनावश्यक बताते हैं और 'एक नेता एक दल' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। दूसरे शब्दों में वे अपने ही दल की सार्वभौम शक्ति में विश्वास करते हैं। वे जनता के हित की ओर ध्यान ही नहीं देते। कांग्रेस सरकारें जनता के दुःख दर्द को समझने, उन्हें कम करने की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दे रही हैं, इसी कारण जनता में कांग्रेस के प्रति घोर असंतोष फैला हुआ है और आज कांग्रेसी सरकारों के मंत्रियों तथा जनता के बीच की खाई अत्यंत चौड़ी हो गई है और चौड़ी होती ही जा रही है।

दूसरी ओर हम महसूस करते हैं कि हमारे लिए कांग्रेस में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि कांग्रेस समाजवाद को प्राप्त करने के सर्वथा अयोग्य है। हम लोग कांग्रेस से अलग हो कर छिन्न-भिन्न हो जाना अच्छा समझते हैं बनिस्बत इसके कि हम जनता को नीचे गिरने दें। इस समय सिवाय ऐसा करने के हमारे पास कोई चारा ही नहीं है। एक राष्ट्रीय संगठन की हैसियत से, जिसने स्वतंत्रता प्राप्त की, वह कांग्रेस पन्द्रह अगस्त को हो मर गई। और यदि कांग्रेसी नेताओं ने महात्माजी का कहना माना होता तो वह यथाविधि उसी दिन दफना दी गई होती। इसके बदले वह एक राजनैतिक दल मात्र रह गई है—पार्लामेंट्री पार्टी मात्र ! इस समय उसके कुछ नेता उसे अपने स्वार्थ साधन का माध्यम बनाए हुए हैं और उसकी पुरानी प्रतिष्ठा का अनुचित लाभ उठा रहे हैं।

महात्माजी अपनी हत्या की शाम को गये थे—"आज मैं खोटा सिक्का हूँ चालू सिक्का नहीं।" यदि कांग्रेस के नेताओं ने उनका कहना माना होता या यदि महात्माजी के ही कथन को रूपकालंकार में कहा जाय तो यदि वे कांग्रेस नेताओं के मुकाबिले में खोटा सिक्का न हुए होते, तो देश का विभाजन हुआ ही न होता। वास्तव में कांग्रेस कार्यकारिणी में महात्माजी ने और हम लोगों ने ही देश के विभाजन के विरुद्ध आवाज उठाई थी। और यदि हम लोग अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में इस प्रश्न पर चुप रहे, तो इसका कारण यह था कि महात्माजी ने हमें रोका था।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हमारे इस कथन को कि क्रान्ति से ही सच्ची और पूर्ण स्वतंत्रता मिल सकती है, मजाक उड़ाते हैं। निस्सन्देह हमने बिना क्रान्ति के ही स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है. किन्तु यह किस प्रकार की स्वतंत्रता है? क्या यह पूर्ण स्वतंत्रता है? क्या इसी स्वतंत्रता के लिए हमने संग्राम छेड़ा था? और क्या हमने क्रान्ति से बचने के लिए भारी मूल्य, सैकड़ों हजारों बेगुनाहों के कत्लेआम के रूप में नहीं चुकाया है? यदि आज हमारे सामने लाखों दीन, बेकस मनुष्यों के पुनर्वासन की जटिल समस्या है, तो यह केवल इसलिए कि कांग्रेस नेताओं ने वास्तविक मार्ग छोड़, आजादी का नजदीकी रास्ता अख्तियार किया। इसका कारण यह है कि उन्होंने वास्तविक प्रश्न पर ध्यान न दिया और गोलमाल बातों में ही फँसे रहे। मैं एक बार पुनः दुहराता हूँ कि यदि कांग्रेस अपने सच्चे मार्ग से विपथ न हुई होती और अंग्रेजों तथा पूंजीपतियों के साथ समझौता न किए होती तो उसके सामने समाजवादियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने के अतिरिक्त कोई और चारा ही न होता।

सत्ताधारी दल के विरुद्ध एक स्वस्थ विरोधी दलकी आवश्यकता जितनी इस समय है उतनी कभी भी नहीं हो सकती। क्योंकि इसके अभाव में अराजकता तथा तानाशाही का भय है। महात्माजी का हमारे बीच रहना नागरिक स्वातंत्र्य का बहुत बड़ा आश्वासन था। अब उनके न रहने पर तानाशाही तथा फैसिज्म के खतरे और बढ़ गए हैं। ये खतरे एक ऐसे विरोधी दल, जिसकी नागरिक और प्रजातंत्र में विश्वास असंदिग्ध है, के अभाव में और भी तीव्रतर हो जायँगे। जहाँ तक स्वातंत्र्य संग्राम का प्रश्न है, हमारा योग किसी से कम नहीं था। हम विदेशी शक्ति के विरुद्ध कांग्रेस के साथ थे।

आजकल दिल्ली में एक खासा मजाक रहता है और उसमें काफी सत्य भी है: लोग कहते हैं अंग्रेज तो चले गए किन्तु उनकी जगह आइ०सी०यस० ने ले ली। आज भारत में हुकूमत कांग्रेसी मंत्रियों की नहीं, वरन् आई० सी० यस० की है।

इन सबके परिणामस्वरूप एक अत्यंत भयावह परिस्थिति पैदा हो गई है। आलोचना, यहाँ तक कि रचनात्मक आलोचना पर भी रोष प्रकट किया जाता है और हर प्रकार से कुचलने का प्रयत्न किया जाता है। राज्य के प्रचार के साधन, जैसे आल इण्डिया रेडियो आदि सत्ताधारी दल द्वारा अपने दलीय स्वार्थसिद्धि के लिए इस्तेमाल किए जा रहे हैं। ऐसे राजनीतिक कार्यकर्ताओं को जो कि सरकार के समर्थकों की आँखों के काँटे बने हुए हैं, कुचलने के लिए सरकारी अधिकार का अनुचित रूप से प्रयोग हो रहा है। विरोधी दलों को कुचलने के लिए गुन्डा एक्ट, फौजदारी कानून के दफा १४४ तथा १०७ का दिल खोल कर प्रयोग हो रहा है। सरकारी नौकर सत्ताधारी दल के खिदमतगार की हैसियत पर आ गिरे हैं। यदि सरकारी कर्मचारियों को सत्ताधारी दल की खिदमतगारी से निकाल कर जनता का सेवक बनाने का प्रयास नहीं किया गया, तो राजकीय व्यवस्था का ढाँचा ही ढह जायगा। आज की कुव्यवस्था की परिस्थिति में जब कि कार्यकारिणी समिति (एक्जीक्यूटिव) के हाथ अत्यधिक अधिकार है, एक दल की हकूमत या विरोधी दल के अभाव में तानशाही के पनपने की आशंका है।

अब जरा हम अपनी सरकार के कार्यों की ओर ध्यान दें। समस्त संसार की समझ में अब यह बात आ गई है कि वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक दोषों को दूर करने के लिए समाजवाद की स्थापना से अच्छा कोई तरीका नहीं है। भारत में और संसार भर में पूंजीवाद के दिन इने गिने हैं। फिर भी भारत की सरकार देश के नये आर्थिक ढाँचे को उसी व्यक्तिगत लाभ तथा व्यक्तिगत व्यावसायिक साहस के पुराने आधार पर निर्माण कर रही है।

सरकार ने अपनी आर्थिक तथा औद्योगिक नीति की घोषणा में पूँजीपतियों की स्थिति को, देशकी आर्थिक व्यवस्था में और भी सुदृढ़ कर दिया है। इस प्रकार भारतीय पूँजीवाद को नवजीवन प्रदान किया जा रहा है। सरकार ने पूँजीपतियों को इस बात का आश्वासन दे दिया है कि अगले दस वर्षों तक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण न होगा और इसका कोई निश्चय नहीं है कि बाद में भी आधार भूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होगा। यदि दस वर्ष बाद तक कांग्रेस शक्ति में रही तो पूँजीवाद का उन्मूलन असंभव हो जायगा। और हमने देखा ही है कि निजी सम्पत्ति से क्या क्या विपत्तियाँ आ सकती हैं। उससे कितना शोषण हो सकता है—रहन-सहन का खर्च कितना बढ़ सकता है।

उदाहरण के रूप में हम यहाँ सूती कपड़े को ही लेते हैं। बम्बई और अहमदाबाद के मिल मालिकों ने सप्ताहों में सरकार की आंखों के नीचे दो सौ प्रतिशत से अधिक लाभ उठाया है। कपड़े का भाव चढ़ाने के लिए उन्होंने सामान की कृत्रिम कमी पैदा की है। सरकार ने इस कार्य के विरुद्ध कोई कारवाई नहीं की, क्योंकी मिल मालिकों का भारत सरकार पर बड़ा प्रभाव है और साथ ही उसका समर्थन भी प्राप्त है। इस प्रकार "इन्तजार कीजिए और देखिए" की नीति अपरिमित रूप से अपनाई जा रही है, यद्यपि इसकी अत्यंत सरल दवा सरकार के हाथ में ही है। उदाहरण के लिए, यदि वे कपड़े के उद्योग का राष्ट्रीयकरण नहीं कर सकते, तो वे कम से कम उत्पादन जब्त कर के उपभोक्ताओं के बीच स्वयं वितरण करवा सकते हैं।

किन्तु हम उनकी 'परेशानी' को समझते हैं। यदि वे ऐसा करने का निश्चय भी करलें तो पहले उन्हें अपने कुछ मंत्रियों से पिण्ड छुड़ाना पड़ेगा। हम इस बात से सहमत हैं कि उनके पास कोई अलादीन का चिराग नहीं है, जिससे वे क्षणभर में पूँजीवाद का खात्मा कर दें। लेकिन क्या इस ओर उन्होंने कोई भी कदम उठाया है?

केन्द्रीय वेतन समिति ने सरकारी कर्मचारियों का न्यूनतम वेतन तीस रुपया और दूसरे उच्च कर्मचारीयों तथा मंत्रियों का वेतन ४५०० रुपया तक प्रतिमास नियत किया है। निस्संदेह इसे धन का न्यायानुकूल वितरण नहीं कहा जा सकता है। यदि हमारे हाथ में ताकत आई तो हम किसी भी सरकारी कर्मचारी का वेतन कम से कम १०० रुपये तथा अधिक से अधिक १००० रुपये नियत करेंगे, चाहे वह कोई राज्य मंत्री (मिनिस्टर) हो या कोई बिडला या डालमिया हो। इतने पर भी कुछ कांग्रेसी नेताओं का कहना है कि कांग्रेस और समाजवादी दल के बीच कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। यदि इस बात को जरा उद्दण्डता से कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि क्या जिस सरकार में षणमुखम् चेट्टी तथा सरदार बलदेव सिंह जैसे मंत्री हैं, वह समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित कर सकती है?

अपनी राष्ट्रीय सरकार का ब्रिटेन के मजदूर दल, जिसका बहुत बड़ा बहुमत नहीं है, के साथ मुकाबला करने से पता चलता है कि हमारी सरकार कोई भी प्रगतिशील पग उठाने में झिझकती है और उससे छुटकारा पाने की कोशिश करती है, किन्तु ब्रिटेन की मजदूर सरकार अपने उद्देश्य पर अटल तथा सुदृढ़ है। जहाँ एटली सरकार ने बैंक आफ इंगलैण्ड, कोयला, गैस, बिजली, यातायात आदि सभी का राष्ट्रीयकरण किया, वहाँ हमारी सरकार खानों को भी अपने हाथ में लेने में डरती है। यदि भारत सरकार केवल अभ्रक उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दे, जिसमें भारत का एकाधिकार है, तो कुछ मजदूरों का शोषण तो रुक ही जायगा, साथ ही पं० नेहरू कूटनीतिक क्षेत्र में इससे अच्छा सौदा पटा सकेंगे।

अपनी सरकार के इन कारनामों को देखते हुए जनता ही अब इस बात का फैसला करे कि एक स्वस्थ विरोधी दल की आवश्यकता है या नहीं। यह डींग नहीं वरन् वस्तुस्थिति ही है कि एक लोकप्रिय विरोधी दल की मांग को समाजवादी दल ही पूरा कर सकता है।

चुनाव के संबंध में कांग्रेस द्वारा जो सबसे बेहूदा प्रचार हो रहा है उसका मैं अब उत्तर दूँगा। कहा जाता है यदि सोशलिस्ट ताकत में आए तो देश भर में अराजकता का साम्राज्य हो जायगा और सभी धर्म मिट जाँयगे। हमने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि हमारा उद्देश्य शान्ति प्राप्ति है, क्योंकि अराजकता तो राजाओं, पूंजीपतियों तथा प्रतिक्रियावादियों जैसों को और भी मजबूत कर देगा।

जहाँ तक धर्म का प्रश्न है—धर्म से मेरा तात्पर्य यह है कि अपनी इच्छानुसार मन्दिर, मस्जिद अथवा गिरिजा घर में पूजा करने की स्वतंत्रता सबको होगी—समाजवादी राज में उन पर कोई रोक नहीं रहेगा। हाँ, यदि कोई धर्म को अपने निजी स्वार्थसिद्धि का साधन बनाना चाहेगा, तो इसे समाजवादी दल बर्दाश्त नहीं करेगा। यहाँ हमारा उद्देश्य पं० गोविन्दवल्लभ पंत के निन्दात्मक तथा झूठे आरोपों का उत्तर देना नहीं है, क्योंकि मैं इस समय प्रश्न को गाली-गुफ्ते से धूम्राच्छादित करके छिपाना नहीं चाहता। इस प्रकार के झूठे प्रचार से जनता को बहुत दिनों तक बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता। एक न एक दिन उन्हें सब भेद मालूम हो ही जायगा।

जहाँ तक हमारी दृष्टि का प्रश्न है हम शायद सबसे अधिक शान्ति के इच्छुक हैं, क्योंकि समाजवाद के लिए शान्ति की पूर्ण स्थापना अनिवार्य है। जनता को शिक्षा देकर यह बताना आवश्यक है कि समाजवाद क्या है? उसकी शक्ति इसकी प्राप्ति के लिए लगाना चाहिए। यह सब कुछ अशान्ति तथा अस्त-व्यस्तता में संभव नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में तो जनता के समाजवादी होने से अधिक साम्प्रदायिक होने की संभावना है।

कांग्रेस अध्यक्ष को श्री जयप्रकाश नारायणजी का पत्र

श्री अध्यक्ष,
अ० भा० कांग्रेस कमेटी,
नई दिल्ली।

महोदय,

हाल में ही समाप्त हुए युक्त प्रांतीय असेम्बली के उप-चुनावों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें आप के सामने रखने की अनुमति चाहता हूँ।

चुनाव के दिनों में यह स्वाभाविक है कि जनता की रुचि कुछ गिर जाय लेकिन जिम्मेदार पार्टियों के नेताओं से यह उम्मीद की जाती है कि वे आत्मसंयम रखने के साथ अपने अनुयायियों पर भी काबू रखेंगे। जब कि यू० पी० के चुनावों में दिए हुए आचार्य नरेन्द्रदेव, राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफ़अली और अच्युत पटवर्द्धन के भाषणों पर व्यक्तिगत आक्षेप करने और नीची सतह पर उतरने का आरोप कोई न करेगा, तब कोई भी निष्पक्ष दर्शक यह कहे बिना न रहेगा कि पण्डित गोविन्दवल्लभ पंत और प्रांत के उनसे छोटे कांग्रेसजन इन मामलों में बहुत नीचे उतर आए। प्रमुख कांग्रेसजनों में बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन ही शायद एकमात्र अपवाद हैं।

पंडित गोविन्दवल्लभ पंत ने अपने भाषणों में नीचे लिखी बातों पर जोर दिया था:—

१. विरोधी दल की कोई आवश्यकता नहीं।
२. मुस्लिम लीग को हमने जिस तरह कुचल दिया, वैसे ही विरोधी दल को भी हम कुचल देंगे।
३. सोशलिस्ट स्वार्थी हैं और अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए उन्होंने कांग्रेस को छोड़ा।
४. सोशलिस्ट सांप हैं।
५. सोशलिस्टों को वोट देना रज़ाकारों और काश्मीर पर हमला करने वाले कबाइलियों को वोट देना है।
६. कांग्रेस को वोट देना गांधीजी की आत्मा को शांति देना और उसको वोट न देना गांधीजी के साथ विश्वासघात करना है।
७. युक्त प्रान्तीय सरकार ने हिन्दी को राज्य भाषा बना दिया है। अगर सोशलिस्ट शासन में आए तो वे उसके स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' को बैठा देंगे।
८. सोशलिस्ट धर्म और ईश्वर में विश्वास नहीं करते। यदि उनके हाथ में ताकत आई तो मंदिर-मस्जिद न बचेंगे।

९. एक तरफ तो जवाहरलाल और पटेल हैं और दूसरी ओर जयप्रकाश नारायण और लोहिया हैं—आप किसको चुनेंगे?
१०. कांग्रेस को वोट न देने का मतलब देश को कमजोर बनाना है।

ऐसे ही कई 'अनमोल वचन' पंत जी ने यत्र-तत्र सभाओं में कहे।

यह अनुमान किया जा सकता है कि जब पंत जी जैसे जिम्मेदार व्यक्ति ने अपने भाषणों का यह ढर्रा रखा, तब छोटे तबके के कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने क्या-क्या न कहा होगा!

खैर, मैं पंत जी और उनके समर्थकों की ओछी रुचि के सम्बन्ध में अधिक नहीं कहना चाहता। मैं इस मामले में दो बातों की ओर खासतौर से आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं।

पंत जी ने बार-बार यह कहा है कि विरोधी पक्ष की कोई आवश्यकता नहीं और यह पश्चिमी तरीका है, जिसका मेल हमारे देश से नहीं खाता। जरा सोचने की बात है कि जब कांग्रेस ने सरकार का सारा पश्चिमी तरीका अपनाया है तब पंत जी के समान नेता कैसे केवल पश्चिमी होने के कारण लोकतांत्रिक विरोधी पक्ष के औचित्य से इन्कार कर सकते हैं? लेकिन असल बात यह थी नहीं। वे तो इसी बहाने हमारी जनता के एक बड़े समूह को, जिसे किसी भी पश्चिमी चीज से चिढ़ है, वरगलाना चाहते थे। जो बात महत्व की है, वह तो यह कि विरोधी पक्ष की स्थिति से कैसे खुले तौर से इन्कार किया जाता है और उस पर क्यों खीझ उत्पन्न होती है? केवल फ़ासिस्ट दिमाग रखनेवाला व्यक्ति ही इस तरह की बातें कर सकता है।

जब हम इन विचारों को कार्यरूप में परिणत होते भी देखते हैं तब तो बात वास्तव में गंभीर हो उठती है। जहाँ कहीं मैं गया लोगों ने मुझे बतलाया कि जान-बूझकर आतंक का वातावरण पैदा किया गया है, जिससे लोग स्वतंत्र रूप से अपने मताधिकार का प्रयोग करने में घबड़ाते हैं।

भय के इस वातावरण को उत्पन्न करने में कांग्रेस के नेताओं, मंत्रियों सभा-सचिवों, सरकारी अफसरों, प्रांतीय रखा-दल आदि सभी ने सहयोग दिया है। लोगों से यह कहा गया कि सोशलिस्ट लोग सरकार के विरुद्ध हैं, इसलिए जो कोई उन्हें वोट देगा उसे सरकार का शत्रु समझा जायगा और उसके साथ कड़ी कार्रवाई की जायगी। हाल में ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और अन्य संस्थाओं के किए गए दमन की पृष्ठभूमि में इन धमकियों का प्रभाव वोटरों पर बड़ा बुरा पड़ा। अतः कांग्रेस शासन से असंतुष्ट रहने पर भी या तो वोटरों ने अपने वोट का इस्तेमाल नहीं किया या उस दबाव के कारण कांग्रेस को ही वोट दिया।

जब इस तरह के तरीके बरते जाँय तो यह बात नगण्य हो जाती है कि चुनाव में कौन जीतता है और कौन हारता है, क्योंकि आखिरकार इसमें हानि देश की होती है।

यदि हमारा उद्देश्य प्रजातन्त्र की स्थापना है तो इन हरकतों से प्रजातंत्र का गला घुट जायगा और जनता की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य न रह जायगा। यदि पण्डित पंत और उन्हीं की तरह के दूसरे कांग्रेसी रोके नहीं जाते तो वे जल्दी ही हिन्दुस्तान को फिर गुलाम बना देंगे। जनता ने अंग्रेजों से लड़कर जो स्वतंत्रता पाई है उसे वह फैसिस्टों के चंगुल में पड़कर खो देगी।

इस सम्बन्ध में मैं आप का ध्यान श्री रघुकुल तिलक के उस वक्तव्य की ओर भी दिलाता हूँ, जिसे उन्हों ने चुनाव से अपना नाम वापिस लेते समय दिया था। आप जानते हैं कि तिलक जी किस कोटि के व्यक्ति हैं। मुझे आशा है कि उनके वक्तव्य पर समुचित ध्यान दिया जायगा।

पंत जी के चुनाव-भाषणों के एक दूसरे पहलू की ओर भी मैं आप का ध्यान दिलाना चाहता हूँ, जिनमें उन्होंने जनता की साम्प्रदायिक भावनाओं को उभाड़ने का प्रयत्न किया। उदाहरणतः उन्होंने बार बार कहा कि सोशलिस्ट नास्तिक और धर्म-विरोधी हैं। इसी प्रकार उन्होंने हिन्दी-हिदुस्तानी का पचड़ा भी उठाया।

एक साँस में उन्होंने कहा कि कांग्रेस को वोट देना गांधी जी की आत्मा को शांति देना है और दूसरी साँस में ही वे गांधी-जी के सारे सिद्धान्तों की उपेक्षा करके कह उठे कि मेरी सरकार ने हिन्दी को राज्यभाषा बनाया

है; यदि सोशलिस्ट ताकत पा गए तो वे हिन्दुस्तान को प्रतिष्ठित कर देंगे।

मैंने सोचा था कि हम और कांग्रेस कुछ प्रश्नों पर समान विचार रखते हैं, जैसे--स्वतंत्रता की रक्षा और प्रजातंत्र, निर्मल और उच्च सार्वजनिक जीवन, सम्प्रदाय और जातीयता के प्रति विरोध, आदि। प्रजातन्त्र में जब तक विरोधी दल ऐसी ही कुछ बातों पर एकमत नहीं होते तब तक प्रजातंत्र की सफलता संदिग्ध है। यदि केवल वोट पाने के लिए कांग्रेस साम्प्रदायिकता के चक्कर में पड़ गई तो फिर हिन्दुस्तान का क्या होगा?

महोदय, मैं आशा करता हूँ कि आप और आपकी कार्यसमिति इस मामले पर गंभीरता से गौर करेगी। मुझे विश्वास है कि दलगत स्वार्थों को स्वस्थ सार्वजनिक जीवन और शक्तिशाली प्रजातंत्र के विकास में राह का रोड़ा न बनने दिया जायगा। यदि मेरा यह विश्वास ठीक है तो मुझे आशा है कि आगे (१) चुनाव में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा (२) सरकारी कर्मचारियों को पूर्णतया निष्पक्ष रहने का आदेश दिया जायगा और (३) दलगत स्वार्थों के लिए साम्प्रदायिक, जातीय तथा प्रांतीय भावनाओं को नहीं उभाड़ा जायगा। इनमें से पहली दो बातों पर अमल करना तो आसान होगा, परन्तु तीसरी बात में सफलता पाना कुछ कठिन अवश्य है, लेकिन इसीलिए उस ओर प्रयत्न करना भी न छोड़ देना चाहिए।

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ,

आपका साथी,

जयप्रकाश नारायण

सम्पादकीय—

क्या पं० नेहरू की सरकार पूंजीवादी नहीं है?

यूरोप युगों से एशिया का शोषण कर रहा है। एशिया का काम मान लिया गया है• यूरोप को कच्चा माल देना और यूरोप का तैय्यार माल दूने चौगुने दाम पर खरीदना। एशिया यूरोप का उपनिवेश हो गया है। यूरोप एशिया में औपनिवेशिक नीति बरतता है और यही है औपनिवेशिक नीति। इसी शोपण-शासन नीति के विरुद्ध वर्षों पूर्व एशिया में एक भाव-धारा पैदा हुई, जिसकी अभिव्यक्ति हुई—'एशिया एशियायियों के लिए' में। प्रारम्भ में स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि मनीषियों ने इसका समर्थन किया। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद देखा गया कि इस भाव-धारा का इस्तेमाल जापान अपने साम्राज्य विस्तार के लिए कर रहा है। जापान की इस कुत्सित नीतिका विरोध रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उर्ध्व कंठ से किया। 'एशिया एशियायियों के लिए' का नारा ठंढ़ा पड़ गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद 'संयुक्त यूरोप' का नारा यूरोप में सुनाई पड़ा। नारा लगाने वाले दो कंठ और दो किस्म के कंठ थे। एक श्री चर्चिल, जो पूँजीवाद का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। और दूसरे कुछ समाजवादी जो यद्यपि अस्पष्ट और कमजोर थे, किन्तु यूरोप के सामाजिक-आर्थिक ढांचे में परिवर्तन चाहते थे। इसी समय अमरीका से, पूँजीवाद के दुर्ग से, मार्शल प्लान सामने आया। मार्शल प्लान!—मक्कारी से लबरेज एक धोखा! यूरोप दो हिस्सों में बँट गया—एक मार्शल प्लान, दूसरा कामिंग फार्म।

इस समय एशिया में युद्ध के पश्चात उठने वाली क्रान्ति की बाढ़ घट रही थी। इसी समय एशिया में और खासकर हिन्दुस्तान में एशिया के संगठन का भाव उभार पर आया। एशिया-सम्बन्ध-सम्मेलन हुआ। यूरोप के वे सभी देश सशंक हो गए, जिनके उपनिवेश एशिया में थे—अमरीका और ब्रिटेन भी इसे देख रहे थे। एशिया का संगठन हिन्दुस्तान को केन्द्र करके हो रहा था और हिन्दुस्तान में मुसलिम लीग का द्वन्द था, जो उस समय भी प्रकट हो रहा था। हिन्दुस्तान क्रान्ति के पथ से अलग हट कर समझौते के पथ से स्वराज्य लेने जा रहा था। उसे स्वराज्य• मिला, किन्तु बौना और कमजोर—पाकिस्तान के रूप में देश का बँटवारा करके। पाकिस्तान आर्थिक दृष्टि से कमजोर था और उसकी सीमा रूस के करीब थी। पाकिस्तान ने अमरीकी डालर की ओर सहायता का हाथ बढ़ाना और अमरीका ने रूस पर घेरे के लिए सैनिक अड्डे के रूप में पाकिस्तान की ओर देखा। सौदा पट गया। अमरीकी राजदूत डा० ग्रेडी हिन्दुस्तान पधारे। हिन्दुस्तान ने, हिन्दुस्तान के पूँजीपतियों ने, अमरीकन मैशीनरी और डालर की ओर ललचाई निगाहों से देखा। डा० ग्रेडी ने कहा—हाँ, सम्भव है, पर शर्तों के साथ!

जून, ४८ के महीने में एशिया और दूसरे देशों के लिए संयुक्त राष्ट्रों का अर्थनैतिक (एकोनामिक कमीशन फार एशिया एण्ड दी फार ईस्ट—ECAFE) का तीसरा सम्मेलन उटकमण्ड में हुआ। सम्मेलन के प्रारम्भ में ही इण्डोनेशिया रिपब्लिक की सदस्यता के प्रश्न को लेकर विवाद हो गया। डचों का गुलाम स्वधीन राष्ट्रों के सम्मेलन में सदस्यता का दावा कर रहा था, जिसे ब्रिटेन और फ्रांस भला कैसे बर्दाश्त करते! उन्होंने उसकी सदस्यता का विरोध किया। अमरीकी गुलाम चीन की चियाङ्ग सरकार चुपचाप तटस्थ रह गई। पं० नेहरू की सरकार को थोड़ा जोश आया। भारत के प्रतिनिधि ने इण्डोनेशिया की सदस्यता का शुरू में समर्थन किया। पर अन्त में उसने चोपचाप का रास्ता अपनाया और उसकी सदस्यता को स्थगित करने का प्रश्न उठाया। अन्त में इण्डोनेशिया का समर्थक सिर्फ सोवियत रूस का ही प्रतिनिधि रह गया। फिर झगड़ा खतम करने के लिए उसकी सदस्यता के प्रश्न को स्थगित कर दिया गया। किन्तु अन्ततः इस

कि एशियायी देश अपने उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिए विदेशी माल पर संरक्षण कर नहीं लगाएंगे, विदेशी माल पर कंट्रोल का नियम नहीं लागू करेंगे और वह अपने यहाँ के मजदूरों पर ऐसा नियन्त्रण लागू करेंगे, जिससे पूंजीपतियों का रुपया लगाने का प्रलोभन होगा। डा० विधानचन्द्र राय ने अमरीका से वापस आकर इस्टर्न-चेम्बर्स आफ़ कामर्स (कलकत्ता) में १० दिसम्बर, ४७ को भाषण करते हुए कहा था—'मेरी यात्रा के अनुभव से ऐसा मालूम होता है कि अमरीकी आदमी और माल असबाब देकर हमारी मदद करने के लिए उत्सुक हैं। पर वे ऐसा आश्वासन चाहते हैं, जिससे हिन्दुस्तान में पूँजी लगाने में उन्हें कोई भय न हो। भय न हो, इस प्रश्न के साथ भारत और पाकिस्तान के आन्तरिक संघर्ष का सम्बन्ध नहीं है। भारत सरकार की औद्योगिक नीति के साथ ही इस प्रश्न का सम्बन्ध है। इस औद्योगिक नीति से मैं उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और मालिक मजदूर संघर्ष के बारे में भारत सरकार की नीति की घोषणा को समझता हूँ।' और गम्भीरता से लक्ष करने पर मालूम होगा कि उसी समय से भारत सरकार का रुख अमरीका को प्रसन्न करने का हो गया है। शायद दिसम्बर में ही सरदार पटेल ने कलकत्ता में पूँजीपतियों को आश्वासन दिया था। मजदूरों को दबाने की औद्योगिक नीति भी उसी समय से प्रकट होने लगी। दस वर्ष तक व्यक्तिगत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण न होगा, इसकी घोषणा और मजदूर आन्दोलन का दमन इसके बाद ही शुरू हुआ। अब कौन पं० जवाहरलाल नेहरू से कहे कि उनके उद्घाटन भाषण के उस अंशका, जिसमें उन्हों ने कहा है कि 'इस सहायता के पीछे किसी स्वार्थ या लाभ की भावना न होनी चाहिए' कोई अर्थ नहीं है। पूँजीवाद सौदा करता है, दान नहीं देता।

औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव के अन्तर्गत योजना परामर्श-समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। इस रिपोर्ट से प्रकट हो रहा है कि पूँजी को आकर्षित करने के लिए भारत सरकार पूंजीपतियों की गोद में कैसे जा रही है। रिपोर्ट में १० वर्ष तक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण न करने के सम्बन्ध में युक्ति दी गई है—"मौजूदा उद्योगों पर कब्जा करके उनका संचालन करने के बजाय, राष्ट्र के पास जो उद्योग हैं, उन्हें बढ़ाकर और नये-नये क्षेत्रों में उत्पादन के लिए संस्थाओं को खोलकर ही अधिक शीघ्रता से राष्ट्रीय सम्पत्ति को बढ़ाया जा सकता है। क्योंकि वर्तमान परिस्थिति में राष्ट्र के पास जो साधन हैं, उनके आधार पर राष्ट्रीय उद्योगों का चलाना सम्भव नहीं है। इसलिए सरकार व्यापार-संचालन में कुछ लोगों को शिक्षित करने का विचार कर रही है।" (यानी सरकार राष्ट्रीयकृत उद्योगों को चलाने के लिए अफ़सरों की एक विशेष श्रेणी (मैनेजेरियल ब्यूरोक्रेसी) तैयार करना चाहती है! किन्तु व्यवस्थापक अफ़सर श्रेणी बनाने के सम्बन्ध में भी निम्नलिखित आपत्तियाँ दी गई हैं:—'(अ) व्यवस्थापक अफ़सर श्रेणी के होने से व्यक्तिगत प्रेरणा खत्म हो जायगी—अर्थात् व्यक्तिगत प्रेरणा के खत्म हो जाने से मुनाफा कमाने की भावना का लोप हो जायगा, जिससे उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हो सकेगा। (ब) इससे भ्रष्टाचार बढ़ेगा और उत्पादन भी कम हो जायगा। (स) लाभ की इच्छा से प्रेरित मालिक के न रहने के कारण उद्योगों में ढीलापन आ जायगा, जिससे उद्योगों का अपकर्ष होगा।" और इन सभी सरकारी युक्तियों का एक और स्पष्ट मतलब है कि उद्योगों का राष्ट्रीय-करण न सम्भव है और न उचित! क्योंकि औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में कहा गया है कि—"केवल धनके पुनः बँटवारे से जनता के लिए कोई मौलिक भेद नहीं होता और इसका अर्थ होता है केवल गरीबी का बँटवारा।" पर पं० नेहरू सरीखे "सोशलिस्ट" को कौन बतलावे कि ऐसी युक्तियाँ पूंजीपतियों के अर्थ-शास्त्र में ही सम्भव हैं और अन्य पूंजीवादी देशों में दी भी गई हैं। इस घिसी-पिटी युक्ति को कुछ भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति नहीं स्वीकार कर सकता।

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर के० टी० शाह का कथन है—"राष्ट्रीयकरण के दो ही रास्ते हैं, एक है स्थायी सरकारी अफ़रों के संचालन में राष्ट्रीयकरण, जैसा कि रेल्वे का है, और दूसरा है जनता के लिए संचालित जनतान्त्रिक राष्ट्र के अधीन यथार्थ राष्ट्रीय-करण।....यदि सरकार का कथन है कि उपयुक्त व्यक्तियों का अभाव है, तो उससे पूछा जा सकता है कि नाना उद्योगपतियों के व्यक्तिगत लाभ के लिए संचालित

उद्योगों के संचालन के लिए उपयुक्त व्यक्ति कहाँ से मिल जाते हैं?" अतः सरकार का यह तर्क झूठा और जनता को धोखा देनेवाला है। सरकार द्वारा प्रस्तुत औद्योगिक अफ़सर श्रेणी सम्बन्धी आपत्तियों के बारे में प्रोफेसर के० टी० शाह का कथन है—"जबतक काम करने वालों की आमदनी में जमीन-आसमान का फरक रहेगा, तबतक प्रलोभन की काफी गुंजाइश रहेगी; अर्थात् तब तक भ्रष्टाचार रहेगा।" इसीलिए सोशलिस्ट पार्टी ने सुझाव रखा था कि कम से कम मासिक आमदनी १०० रु० और ज्यादा से ज्यादा मासिक आमदनी १००० रु० रखा जाय। पर अपने को "सोशलिस्ट" कहने वाले पं० नेहरू की सरकार ने कम से कम ३०रु० मासिक आमदनी और ज्यादा से ज्यादा ४५००रु० मासिक आमदनी रखा! अतः सिद्ध है कि सरकारी नीति ऐसी है, जिसके अन्दर भ्रष्टाचार के आर्थिक कारण निहित हैं। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को रोकने के लिए सरकारी अफ़सरों के भ्रष्टाचार की बात तो सरकार उठाती है, पर अब तक उसने कितने मिनिस्टर, पार्लयामेंट्री सेक्रेट्री, एम० एल० ए०, बड़े अफ़सर और उद्योगपतियों पर भ्रष्टाचार का मुकदमा चलाया है? जब कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि भ्रष्टाचार यहीं से शुरू होता है।

उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में पं० जवाहरलाल नेहरू का कथन है—"साधारण लोग कहते हैं कि इस पर, उस पर कब्जा कर लिया जाय और कारखानों की जो मशीनें ९० प्रतिशत बेकार-सी हो गई हैं, उन्हे विपुल अर्थ-व्यय से कब्जे में कर लिया जाय।" लेकिन किसने पं० नेहरू को बतलाया कि "कब्जा" और राष्ट्रीयकरण एक है? १९३८ ई० के लाभ को १०० मान कर हिसाब करके देखा गया है कि इस युद्ध के दरम्यान से लेकर ८ वर्ष में ७६०.७ प्रतिशत लाभ उद्योगपतियों ने कमाया है। इस आठ वर्ष में ही तीस वर्ष की आमदनी हो गई। क्या इससे ज्यादा मुआविजा दिया जा सकता है? रही राष्ट्रीयकरण की समस्या। सो राष्ट्रीय कृत उद्योगों को भ्रष्टाचार, अपकर्ष और बिलम्ब (रेड टेपइज्म) से बचाना कोई कठिन कार्य नहीं है। जरूरत है उनके जनतान्त्रिक अधार पर संचालन की। सन्तुष्ट और सचेत मजदूर वर्ग द्वारा ही जनतन्त्र का संचालन सम्भव है। इसलिए यथार्थ ट्रेड यूनियन, जीने लायक मजदूरी, सामाजिक स्थायित्व और काम करने लायक परिवेश आवश्यक है। यदि पं० नेहरू की सरकार पूंजीवादी सरकार नहीं है और वह उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना चाहती है, तो उसके कार्यों द्वारा राष्ट्रीयकरण की शर्तों की पूर्ति होनी चाहिए। पर हम ऐसा नहीं पा रहे हैं। पं० नेहरू की सरकार अमरीकी डालर का आकर्षण और भारतीय पूंजीपतियों का हित देख कर चल रही है। इसीलिए मजदूर हितों के विरुद्ध वह एक अपना ट्रेडयूनियन कायम कर रही है। वह मजदूरों पर यह दबाव डालकर कि राष्ट्रीय ट्रेडयूनियन में रहने पर ही सरकार मजदूरों को सुविधा दिलवाएगी, कारखाने के मैनेजरों के दबाव और सलाह तथा अन्य बहुसंख्यक सदस्यों वाली ट्रेडयूनियनों की अमान्यता द्वारा राष्ट्रीय ट्रेडयूनियन (आई० एन० टी० यू० सी०) बना रही है। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (आई० एल० ओ०) में जब भारतीय मजदूरों के इन गलत प्रतिनिधियों की कस कर आलोचना हुई, तो भारतीय लोकतन्त्र और समाजवाद के दुश्मन आई० एन० टी० यू० सी० के प्रतिनिधियों ने अमरीकी प्रभाव के एशियायी देशों का एक अलग मजदूर संघ बना डाला। यहाँ हमें गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वह युक्ति याद आती है, जिसे उन्हों ने हांगकांग में सिखों द्वारा चीनियों पर जुल्म देखकर कहा था कि हम भारतीय अपनी गुलामी के बन्धनों को तो काट नहीं पा रहे हैं, उल्टे औरों को गुलाम बनाने जा रहे हैं।

भारतीय यूनियन की सरकार के कार्यों का यह सम्पूर्ण, पर संक्षिप्त, आलोचनात्मक विवरण क्या यह उर्ध्व कंठ से नहीं कहता कि पं० नेहरू की सरकार पूँजीवादी सरकार है?

कांग्रेस हिन्दू सम्प्रदायवाद की गोद में

संयुक्त प्रान्त की धारा सभा से समाजवादी सदस्यों इसलिए इस्तीफा दे दिया था कि देश की परिवर्तित स्थित में कांग्रेस की नीति से उनका मतभेद था। वह कांग्रेसी हुकूमत की नीति से सहमत नहीं थे, पर अनुशासन के नाम पर कांग्रेस की नीति का विरोध करना उनके लिए सम्भव नहीं था। यदि समाजवादी सदस्य धारा सभा से इस्तीफा न देकर, सरकारी बेंच से अलग हट कर अपना विरोधी दल बना लेते,तो विधान के अनुसार वह सही करते, राजनीतिक दृष्टि से भी उनका यह कार्य अनुचित न होता। पर नैतिकता का ख्याल कर, एक नैतिक भावना से प्रेरित होकर, उन्होंने धारा सभा से इस्तीफा दिया। उन्हीं १३ रिक्त स्थानों के लिए पुनः चुनाव हुआ। इस चुनाव में एक ओर समाजवादी दल था और दूसरी ओर कांग्रेस। कांग्रेस और समाजवादी दल के इस चुनाव-संघर्ष में आचार्य नरेन्द्रदेवजी का क्षेत्र—फैजाबाद सीतापुर बहराइच—सब से ज्यादा महत्त्वपूर्ण था। इस क्षेत्र में समाजवादी उम्मीदवार थे आचार्य नरेन्द्रदेव और कांग्रेसी उम्मीदवार थे बाबा राघवदास। इस निर्वाचन क्षेत्र में कांग्रेस की ओर से जैसी पर्चेबाजी हुई, जिस किस्म के साम्प्रदायिक कृत्य हुए, उससे कुछ खास प्रवृत्तियों का पता चलता है। प्रकाशित प्रमाण के आधार हम यहाँ अपनी बात कहेंगे।

कांग्रेस चुनाव घोषणा में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें थीं:—

"कांग्रेस का नाम गाँव-गाँव में फैला हुआ है। क्या बच्चे, क्या बूढ़े, क्या पढ़े और क्या वे पढ़े सभी कांग्रेस, महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरू के नाम से परिचित हैं। कांग्रेस ने ऐसी ख्याति कैसे पाई? इसलिए कि उसने देश के निराश लोगों में एक नया जीवन फूँका, उनमें एक नई आशा पैदा की। निहत्थे और बेबस लोगों को उसने एक तिरङ्गे झंडे के नीचे खड़ा किया,......सन् १९१९ में स्वराज्य के लिए यातना सिखाया, १९३० में स्वराज्य के लिए लड़ना, सत्याग्रह करना और जेल जाना सिखाया, सन् १९३२ में लगान बन्दी के द्वारा लाठी के प्रहारों को सहर्ष सहना, जुमाने देना, सरकारी अधिकारियों के घोड़ों की टापों के सहने की शक्ति पैदा करना सिखाया। सन् १९४२ में गोलियों की बौछारों में अहिंसात्मक खुला विद्रोह करना सिखाया और अन्त में 'अंग्रेजों निकल जाओ' के स्वप्न को सच्चा कर दिखाया।"

जहाँ तक आचार्य नरेन्द्रदेवजी का प्रश्न है, वह १९१५ से कांग्रेस में हैं—जब पंतजी कांग्रेस में नहीं थे। जहाँ तक समाजवादी दलका सम्बन्ध है, उसका संगठन १९३४ में कांग्रेस के अन्दर हुआ। इस समय से लेकर १९४८ के प्रारम्भ तक समाजवादी दल कांग्रेस में और उसके प्रत्येक संघर्ष में साथ रहा।

इसके आगे कांग्रेस चुनाव-घोषणा में कहा गया है—"दुख है कि इस कठोर काल में सोशलिस्टों ने कांग्रेस की शक्ति को क्षीण करने में ही अपनी पार्टीका हित देखा। पार्टी के हित के सामने कांग्रेस का हित व देशकी भलाई का उन्हें जरा भी ख्याल नहीं। आज वे हमारे आलोचक के रूप में जनता को भड़काते हैं, उन में नाना प्रकार की गलतफहमियाँ पैदा करते हैं। जो कुछ हुआ, उसे कुछ न कह कर असन्तुष्ट वर्ग और आदमी को केवल उसके फैरी हितकी बात कह कर भड़काते हैं। कहीं जमीन्दारों से कहते हैं कि कांग्रेस जमीन्दारी खत्म कर रही है इसलिए तुम्हारे हक में अच्छा यही है कि तुम सोशलिस्ट हो जाओ। किसानों से कहते हैं कि कांग्रेस अभी जमीन्दारी खत्म नहीं करेगी। ठीक ऐसी ही बातें कह कर मजदूरों को भड़काया जाता है।"

यदि सोशलिस्ट पार्टी जमीन्दारों की जमीन्दारी बचाने के लिए उनको सोशलिस्ट बनने के लिए निमन्त्रित करती है, तो उसे प्रमाण के साथ उधृत करना चाहिए था। किन्तु प्रमाण तो तब मिले, जब कुछ हो। यदि कांग्रेस द्वारा सोशलिस्टों के विरुद्ध लगाए जाने वाले सभी इल्जाम ऐसे ही हैं, तो कांग्रेस से बढ़कर झूठी संस्था हिन्दुस्तान में दूसरी शायद ही कोई हो!

इसके आगे कांग्रेस चुनाव-घोषणा में है—"कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो लोगों में मेल-मिलाप, शान्ति और अमन की बात करती है। अन्य लोग हिन्दू के नाम पर, किसान के नाम पर, मजदूर के नाम पर घृणा और द्वेष की चर्चा करते हैं। हमने धर्म के नाम पर घृणा और द्वेष को अपनाया, उसका फल यह हुआ कि गान्धीजी हमारे ही हाथों मारे गए।..." इसके बाद कांग्रेस पार्लमिंट्री बोर्ड के सदस्यों का नाम है।

नगर कांग्रेस कमेटी फैजाबाद ने "गांधीवाद और समाजवाद" नाम से एक लाल रंग का पर्चा निकाला, जिसमें लिखा है—"गान्धीवाद हमें बराबरी, स्वतन्त्रता, सत्य, अहिंसा और ईश्वर-भक्ति का पाठ पढ़ाता है। समाजवाद की नींव भौतिकवाद पर, नास्तिकता पर, ईश्वरीय शक्ति के विरोध पर है।" इसके अलावा "भगवान राम महात्माजी संवाद" का एक पर्चा निकला है, जिसे हम ज्यों का त्यों यहाँ देते हैं:—"भगवान राम—'महात्माजी आपके यहाँ आ जानेसे भारतवर्ष अनाथ हो गया। आप आचार्य नरेन्द्रदेव जी को अपना कहते थे, वे आजादी के मौके पर कांग्रेस के द्रोही हो गए हैं। अपनी पार्टी अलग बना रहे हैं।' बापू—'भगवान! वे महान् विद्वान हैं और भौतिकवाद के मानने वाले हैं, पैदावार ही नैतिकता को मानते हैं। उसीलिए यह सब हुआ। प्रकाण्ड पण्डित जो भी कर जाय थोड़ा है। हाँ, आप ही देखिए रावण से आपको क्या क्या भुगतना पड़ा और तिसपर भी वह बड़ा धार्मिक था।' भगवान राम—'महात्माजी, हमें दुख इस बात का है कि अयोध्या में मेरा जन्मस्थान है और वहीं आज मेरे परम त्यागी बाबा राघवदास का विरोध राजा वंश के अति मान्य श्री नरेन्द्रदेवजी कर रहे हैं। मैंने तो जनता की आवाज पर अनेक कष्ट उठाया। आचार्य जनता की पंचायत कांग्रेस का विरोध कर रहे हैं। आप होते तो यह सब न होता। आचार्य परम त्यागी बाबा राघवदास का विरोध करने का साहस ही न करते।' बापू—'भगवन! दुख तो मुझे भी है। मेरे अनुयायी बाबा राघवदास का विरोध हो रहा है। पर मुझे तो आशा है कि आप की पुण्य भूमि के निवासी होने के कारण स्वयं आचार्य जी अन्तिम घड़ी में अवश्य ही पथ पर आ जायँगे और यदि दुर्भाग्य से यह न हुआ तो निश्चय यही है कि अयोध्या और फैजाबाद के निवासी कांग्रेस का साथ देंगे और कांग्रेस का ही झण्डा लहराएंगे।' भगवान राम—'महात्मन् मैं भी हृदय से यही चाहता हूँ। आपकी अभिलाषा पूरी हो।'"

बाबा राघवदासजी का एक परिचय छपा है, जिसके शुरू की कुछ लाइनें और कुछ शीर्षक इस प्रकार हैं:—"छत्रपति शिवाजी महाराज और उनके राज दरबार को समय समय पर कर्जा देने वाले, सम्पन्न उच्च ब्राह्मण परिवार में जन्में, पले, पढ़े। राज कुमार से सुन्दर, कुँवर कन्हैया से चपल, हँस मुख वीर राघव।"—'योगिराज राघवदास", "विचित्र साधू" "गीता रामायण का प्रकाण्ड विद्वान, प्रचारक भक्त" "गो सेवक, गो भक्त, गो रक्षक"। अस्तित्व रहित सन्त मण्डली अयोध्या की ओर से आचार्य नरेन्द्रदेवजी से "कतिपय प्रश्न" नामक पर्चा छपा है, जिसमें निम्न लिखित प्रश्न हैं:—"१. आप धर्म और ईश्वर में विश्वास करते हैं या नहीं? २. आप वर्ण-व्यवस्था की समाज-प्रणाली चाहते हैं या समाजवाद के आधार पर? ३. महन्थों की बाबत आपका क्या विचार है अर्थात् आप उन्हें समाज के लिए उपयोगी समझते हैं या हानिकारक? ४. मन्दिरों की जायदाद जब्त होनी चाहिए या नहीं? ५. हरिजनों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार दिया जाय या नहीं?" इसी संस्था की ओर से वैष्णव समाज से अपील की गई है कि वैष्णवों के हित के लिए बाबा राघवदास को वोट दें। "...अयोध्या में बाबाओं को चक्कर में डालने के लिए कांग्रेस नेताओं के जो भाषण हो रहे थे, उस से स्पष्ट मालूम हो रहा था कि ये नेतागण वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के मंच से बोल रहे हैं। कांग्रेसियों की ओर से अनुष्ठान, पूजा-पाठ, सत्यनारायण की कथा, श्री रामाचार्य महात्म्य, साधुओं का भण्डारा तथा श्री युगुल सरकार की झाँकी आदि" सभी कुछ किया गया था। ("विरक्त" पृ० ३, ८ जुलाई, ४८)

इन सभी पर्चों के अन्दर से जो बात स्पष्ट होती हैं, वह यह है कि भगवान रामचन्द्र और महात्मा गान्धी जी कहते हैं कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी का त्याग, देशसेवा और उनकी विद्वत्ता रावण की भाँति है। भौतिकवादी अर्थात् समाजवादी होने के कारण उनमें

ये सारे दोष आए हैं। अतः धर्म की रक्षा के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव जी का विरोध करना चाहिए। ईश्वर, धर्म और वर्णव्यवस्था की रक्षा के लिए बाबा राघवदास जी को वोट देना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि इसलाम और शरीयत के नाम पर मुसलिम लीग ने मुसलमानों का मत मांगा था। इसी नाम पर लीग ने राष्ट्रीय मुसलमानों का विरोध भी किया था। जिसे पं० नेहरू ने जनतन्त्र के विरुद्ध मध्यकालीन स्थिति कहा था। पर आज जब कि समाजवादी दल (सोशलिस्ट पार्टी) कांग्रेस के विरुद्ध खड़ी हुई, तो कांग्रेस का सारा जनतन्त्र खतम हो गया, उसका आर्थिक कार्यक्रम हवा में विलीन हो गया और उसने धर्म, ईश्वर और हिन्दू संस्कृति के नाम पर मत मांगना शुरू कर दिया। मुसलिम लीग ने कांग्रेस और हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों के धार्मिक उन्माद को उभाड़ा था। कांग्रेस सोशलिस्टों के विरुद्ध हिन्दुओं में धार्मिक उन्माद उभाड़ रही है। मुसलिम लीग ने मुसलिम मध्यम वर्ग और मुसलिम बूर्जुआ श्रेणी के लिए, मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध खड़ा करने के लिए, साम्प्रदायिक उन्माद भड़काया था। आज जब कि पाकिस्तान के रूप में मुसलिम मध्यय वर्ग और मुसलिम बूर्जुआ श्रेणी का हित हिन्दुस्तान से अलग पाकिस्तान में सुरक्षित हो गया है, तब हिन्दू मध्यय वर्ग और हिन्दू बूर्जुआ श्रेणी के हितों के लिए कांग्रेस हिन्दू धर्म और सम्प्रदायवाद की गोद में जा रही है। आर्थिक प्रश्नों के झुठलाने के लिए हिन्दू सम्प्रदायवाद एक बड़ा साधन है और उसका उपयोग कांग्रेस ने शुरू कर दिया है।

संयुक्त प्रान्त के प्रधान मन्त्री श्रीगोविन्दवल्लभ पन्त ने अपने अयोध्या के चुनाव-भाषण में कहा—"महात्मा गान्धी वर्णाश्रम धर्म (यानी जात-पाँत—सं०) के विरोधी नहीं थे। ... यदि कांग्रेस कमजोर हुई तो जनता की धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता नष्ट हो जायगी। ... राजनीतिक मामलों में कांग्रेस यद्यपि किसी को धर्म के आधार पर कोई विशेष सुविधा नहीं देगी, परन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में वह अपनी संस्कृति के मेल में ही काम करेगी। ... सोमनाथ का मन्दिर जो विध्वस्त कर दिया गया था, सरदार वल्लभभाई पटेल के प्रयत्न से पुनः बनाया जा रहा है। ... जमीन्दारी प्रथा टूट जाने पर भी हम धार्मिक संस्थाओं को (अर्थात् महन्थों के मठों तथा उनकी जमीन्दारियों को—सं०) कोई क्षति न पहुँचने देंगे। उनकी आमदनी न घटने पाए, इसके लिए सरकार उद्योग करेगी।"

सीतापुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का १४०० के करीब वोट था। शायद २८ जून को ४ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वालों को सरकार ने रिहा कर दिया। २८ जून की रात को मोटर द्वारा प्रधान मन्त्री पन्त सीतापुर गए और आए। उसी रोज रात में संयुक्त प्रान्त के संघ संचलक मोटर से सीतापुर गए और आए।

इन सारे तथ्यों के अन्दर स्पष्ट ही हिन्दू सम्प्रदायवाद का रुझान दीख रहा है। यह भी स्पष्ट हो रहा है कि कांग्रेस राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को मिलाने के लिए सब कुछ कर सकती है। यह सब महज कुछ सीटों के चुनाव में जब हो रहा है, तब बालिग मताधिकार के आधार पर होनेवाले आम चुनाव में क्या होगा, इसे आसानी से समझा जा सकता है। कांग्रेस के अन्दर की यह प्रवृत्ति इस बात को स्पष्ट करने के लिए काफी है कि कांग्रेस फैसिज्म की ओर तेजी से जा रही है और उसका फैसिज्म होगा, हिन्दू फैसिज्म! हिन्दू भावापन्न फैसिज्म !!

—बैजनाथसिंह "विनोद"

यू० पी० असेम्बली के उपचुनावों का लेखा-जोखा

सारे प्रांत में आमतौर से और १५ जिलों में खासतौर से चुनाव की जो धूम गत ३ सप्ताह से मची थी आखिर उसका अन्त हो ही गया।

यदि चुनाव के परिणाम का अभिप्राय वोटों की कमी या बहुतायत से ही होता है, जैसा कि आमतौर से लोग समझते हैं, तो यह स्पष्ट ही है कि इन चुनावों में जीत कांग्रेस की ही हुई और हार समाजवादी दल या सोशलिस्ट पार्टी की।

और यदि इन चुनावों का अर्थ वोटों की संख्या से ऊपर नैतिक क्षेत्र में भी कुछ होता है, तो हमें यह कहते हुए तनिक भी संकोच नहीं है कि इस क्षेत्र में कांग्रेस को—सत्य और अहिंसा की ठेकेदार कांग्रेस को—बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी।

हार और जीत का कुछ वास्तविक महत्त्व एक जीवित आत्मा, व्यक्ति या संस्था के लिए ही हो सकता है। अपनी आत्मा को खोकर—उसकी हत्या करके यदि कोई जीत प्राप्त कर ले तो उस जीत का भ्रम संसार के कुछ थोड़े या बहुत से लोगों को हो सकता हैं, परन्तु सारे संसार को नहीं और उस व्यक्ति और संस्था को भी नहीं हो सकता कि जिसने वोटों की संख्या प्राप्त करने के लिए अपनी आत्मा को बेच दिया हो और वह स्वयं आत्मा-विहीन हो गई हो।

यह बात तो सभी जानते हैं कि मुकाबला था कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी के बीच। यों कांग्रेस की आयु इस समय लगभग ६४ वर्ष की हो चुकी है। उसका जाल देश के कोने-कोने में फैला हुआ है। और इन सब बातों से भी बढ़कर उसके हाथों में आज राज्यसत्ता है और दुःखी दरिद्र, पीड़ित और अशिक्षित जनता पर उसका आतंक भी कुछ कम नहीं है। अतः भौतिक शक्ति और साधनों की दृष्टि से यह मुकाबला कोई मुकाबला न होकर एक भेड़िया और एक भेड़ का ही मुकाबला कहा जा सकता था। परन्तु समाजवादी दल ने जब वैधानिक विरोधी दल की स्थिति धारण करने की ठानी थी तो क्या वह कांग्रेस की भौतिक शक्ति और सुविधाओं से मोर्चा लेना चाहती थी? नहीं इस प्रकार का साहस करना उसकी मूर्खता होती, उसका बच्चों का-सा खिलवाड़ होता। अतः मुकाबला था सिद्धान्तों का। सत्य और पाखंड का, लम्बे-चौड़े वायदों और कर्तव्य पालन का। नहीं, इससे भी अधिक मुकाबला था कांग्रेस के सिद्धांतों और देश के साथ वफादारी और जनता के प्रति उदासीनता का। परन्तु यह कहते हुए हमारा हृदय फटता है और कलेजा मुँह को आता है कि इस प्रान्त की कांग्रेस कमेटी और प्रान्तीय सरकार ने बना लिया इस मुकाबले को प्रश्न अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और शान का; और इस शान को कायम रखने के लिए उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के इस पद के अर्थ का खुले रूप से अनर्थ किया—"उचित कि अनुचितं किए विचारी धर्म जाय अरु पातक भारी"।

हाँ! किसी प्रकार भी हो कांग्रेस को वोटों की अधिक से अधिक संख्या सोशलिस्टों के मुकाबले में मिलनी ही चाहिए, चाहे उसमें जनता के गाढ़े पसीने की कमाई का कितना ही अधिक पैसा क्यों न लुटाना पड़े; सत्य, असत्य चाहे कितना ही क्यों न बोलना पड़े, सरकारी शक्ति और इसके साधनों का चाहे कितना ही प्रयोग क्यों न करना पड़े—और चाहे कुछ मत अधिक पाने के लिए भ्रष्टाचारियों और साम्प्रदायिकतावादियों की ही सहायता क्यों न लेनी पड़े! भला इस कांग्रेस का क्या मुकाबला हो सकता था कल के दुधमुँहे समाजवादी दल से, जिसका जन्म भी अभी कल ही हुआ और जिसके पिछले १३ वर्ष के कांग्रेस के साथ सम्बन्धों के टूट जाने का कारण भी अभी लोगों को ज्ञात नहीं हो पाया।

वस्तुतः समाजवादियों ने स्वप्न में भी इस बात की कल्पना नहीं की थी कि हमारे प्रान्तीय कर्णधार इस प्रकार अपने सारे सत्य और अहिंसा के ऊपरी आवरण को उतार कर बिल्कुल नग्न रूप में इस नन्हे-

झगड़े और पक्ष-विपक्ष से कुछ प्रवृत्तियों का परिचय तो मिल ही गया।

इस सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में पं० जवाहरलाल नेहरू ने एशियायी देशों के लिए सहायता का जीक्र किया। पर किस देश से वह सहायता चाहते हैं, यह नहीं प्रकट किया। किन्तु इसको तो E C A F E के जनरल सेक्रेट्री और विडला के भूतपूर्व कर्मचारी डाक्टर पी० एस० लोकनाथन् ने २१ मई को ही यह कह कर स्पष्ट कर दिया था कि—"यह एक असंदिग्ध सत्य है कि एशिया में तभी उन्नति हो सकती है जब विदेशी सहायता मिले। वर्तमान परिस्थिति में ऐसा सहायक सर्व प्रथम अमरीका ही हो सकता है।" ("बाम्बे क्रानिकल" २१ मई) इस तरह पं० जवाहरलाल नेहरू का एक संकेत स्पष्ट हो जाता है। किन्तु पं० नेहरू ने अपने उसी व्याख्यान में यह भी कह दिया था कि इस सहायता के पीछे किसी भी स्वार्थ या लाभ की भावना न होनी चाहिए, अर्थनैतिक दासता वह नहीं चाहते। पर इस सम्मेलन के 'प्रेसिडेंट' डा० जान-मथाई ने १६ जून को मद्रास के पत्रकारों के सामने यह आशा प्रकट की कि अगर तखमीना (स्टेमेंट) और योजना (प्लान) बन जाय, तो अमरीका से उत्पादक मैशीनरी (कैपिटल गुडस्) प्राप्त हो सकता है, किन्तु तत्काल ही उन्होंने यह भी दूसरे ही साँस में कह दिया कि अमरीकन राजदूत डा० ग्रेडी साहब ने स्पष्ट रूप से कुछ मंजूर नहीं किया। ("नेशनल हेरल्ड" १६ जून ४८) डा० ग्रेडी ने जो कुछ कहा उससे यह स्पष्ट हो गया कि अमरीका दुनिया को एक देखना नहीं चाहता, वह उन्नत और पिछड़े हुए देशों का भेद बनाए रखना चाहता है। इसीलिए बार बार डा० ग्रेडी ने एशियायी देशों के लिए कृषि पर जोर दिया। डा० ग्रेडी की बातों को समझने के लिए जरा और पीछे जाना होगा। उन्होंने भारतवर्ष में पदार्पण करने के बाद ही अपने कई भाषणों में भारतीय उद्योगों के संरक्षण कर के विरुद्ध कहा है। अर्थात् वह नहीं चाहते कि भारत सरकार विदेशी माल पर संरक्षण कर लगाए, जिसका अर्थ भारतीय उद्योगों के विकास और उसकी बाढ़ का रुक जाना है। १ नवम्बर को डा० ग्रेडी ने यह घोषणा की कि अमरीकी व्यापारी—"यह देखने के लिए उत्सुक हैं कि आने वाले कई महीनों में स्थिति कैसी होती है तथा मजदूर वर्ग और व्यक्तिगत पूँजि के बारे में भारत सरकार की नीति का अमरीकी व्यापारी स्पष्ट चित्र देखना चाहते हैं।" इससे यह सिद्ध है कि अमरीका भारतवर्ष और एशिया को उत्पादक मैशीनरी (कैपिटल गुडस्) नहीं, तैयार माल और मामूली मैशीनरी देगा, वह अपना रुपया भी भारतवर्ष में लगाएगा बशर्ते कि व्यक्तिगत पूँजी पर कोई नियन्त्रण न रहे और मजदूर आन्दोलन को दबाया जाय। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने युद्धकालीन ब्रिटिश त्याग का ढिंढ़ोरा पीटते हुए आत्मश्लाघा के साथ एशियायियों और खासकर भारतीयों की नैतिकता की रक्षा के लिए कुटीर शिल्प और दस्तकारी का सात्विक उपदेश दे डाला। इस तरह अमरीका और ब्रिटेन दोनों ने एक सुर-ताल में बातें की। सोवियत रूस का प्रतिनिधि भी इस सम्मेलन में गया था। सोवियत रूस के प्रतिनिधि की बातें दोनों से भिन्न थीं। रूसी प्रतिनिधि ने कृषि के पुनर्निर्माण और विकास तथा राष्ट्रीय उद्योगों के विकास और विशेषज्ञों की शिक्षा के सम्बन्ध में प्रवृत्ति को जगाने के लिए प्रगतिशील सामाजिक योजना की आवश्यकता पर जोर दिया। रूसी प्रतिनिधि ने यह भी कहा कि परामर्श देनेवाली जो समितियाँ बनाई जायँ, उनपर उन्हीं एशियायी देशों का पूर्ण नियन्त्रण रहना चाहिए। उसने यह भी मत प्रकट किया कि जो कुछ विदेशी सहायता ली जाय, वह यू० एन० ओ० की संस्थाओं के जरिए ली जाय और जो देश ऐसी सहायता दें वे अपनी सहायता के द्वारा राजनैतिक अथवा अन्य प्रकार के लाभ न उठावें।

इस तरह हम देखते हैं कि पं० जवाहरलाल नेहरू के भाषण का जो प्रकट अर्थ है उसे या तो अमरीका और ब्रिटिश प्रतिनिधि ने झुठलाया, अथवा पं० नेहरू के भाषण के अप्रकट संकेत को समझकर अपनी शर्तें रखीं। सोवियत रूस के प्रतिनिधि ने पं० नेहरू की बातों के प्रकट अर्थ को लेकर न केवल उसका समर्थन ही किया, बल्कि और भी सफाई और स्पष्टता के साथ एशिया के हितों में कहा। किन्तु पं० नेहरू के भाषण का संकेत अर्थ ही प्रधान था और इसीलिए ई०सी०ए०एफ०ई० के उटकमण्ड सम्मेलन में अमरीका के हक में सारा का सारा फैसला हुआ।

ई०सी०ए०एफ०ई० के उटकमण्ड सम्मेलन में एशियायी देशों में बाढ़ रोकने के प्रस्ताव में सोवियत रूसने यह संशोधन पेश किया कि इस संगठन के मातहत उन्हीं लोगों को बाढ़ रोकने की विशेष शिक्षा दी जाय, जो उन देशों के नागरिक हों जो देश राष्ट्रसंघ के इस पूर्वी एशियायी कमीशन में भाग ले रहे हैं। अर्थात् साम्राज्यवादी देशों के नागरिकों को शिक्षा देकर एशियायी देशों पर न लादा जाय। पर भारत, बर्मा, पाकिस्तान और चीन के सरकारी प्रतिनिधियों ने इसका विरोध किया और संशोधन गिर गया।

टेकनिकल ट्रेनिंग के प्रश्न पर सोवियत रूसने यह प्रस्ताव रखा कि एक उप-समिति नियुक्त की जाय जो मजदूरों के रहन-सहन सुधारने, उनका वेतन बढ़ाने, काम के घंटे कम करने और उनके लिए साफ सुथरे मकानों का प्रबन्ध करने आदि सवालों पर विचार करे और एशियायी देशों में साधारण तथा टेकनिकल शिक्षा की ऐसी व्यवस्था की जाय, जिससे प्रत्येक देशों में भारी उद्योगों में काम करने के लिए काफी मजदूर तैयार हो सकें। पर इस प्रस्ताव का भी भारत, बर्मा, पाकिस्तान और चीन के सरकारी प्रतिनिधियों ने विरोध किया और प्रस्ताव गिरा गया।

दो ऐसे प्रस्ताव आए, जिनमें एक के द्वारा एशिया के यातायात में ब्रिटेन का हाथ मजबूत होता था और दूसरे द्वारा अमरीका चीन की सरकार और फिलिपिन सरकार के जरिए अपनी इच्छानुसार खेती की योजना मनवा सकता था। इन दोनों का भी सोवियत रूस के प्रतिनिधि ने विरोध किया। पर भारत आदि देशोंने उस का साथ नहीं दिया।

"हिन्दू" के अनुसार रूसी प्रतिनिधि की राय महत्त्व-पूर्ण थी। रूसी प्रतिनिधि ने जिन बातों का समर्थन किया या जो सुझाव रखा, उनसे एशिया की शक्ति बढ़ सकती थी और जिन बातों का विरोध किया उनसे एशियायी देश "उन्नत" देशों के मुहताज हो जाते हैं। किन्तु सम्मेलन में भारत सरकार के प्रतिनिधि का रुख स्वतन्त्र न होकर अमरीका और ब्रिटेन के प्रतिनिधि से मिलता जुलता था। इससे पं० नेहरू की सरकार के पूँजीवादी रुझान का पता साफ साफ लग जाता है।

जिस अमरीका ने जापान पर एटम बमका प्रयोग करके उसका सर्वनाश किया, अब वही उसे दूध पिला रहा है। क्या यह अमरीका की मानवता का सूचक है? नहीं, इससे शैतान के नाखून का पता चलता है। जापान परिपूर्ण रूपसे अमरीका के अधीन है। उसपर अमरीका का पूर्ण नियन्त्रण है। वह जापान से दो काम लेना चाहता है—१. जापान को जिन्दा रखने के लिए, जापान को एशिया के शोषण के लिए अमरीकन मध्यम बनाना और २. सोवियत पर हमला के लिए जापान को एक किला बनाना; तथा उसकी जन-संख्या आदि का उपयोग करना। इसी कुटिल उद्देश्य से अमरीका जापान को दूध पिला रहा है। इसीलिए डा० ड्रेपर ने सिफारिश की है कि १. जापान को इतनी मदद मिलनी चाहिए, जिससे वह डेढ़ अरब डालर का माल हर साल दूसरे देशों के हाथों बेच सके, २. "ईस्टर्न एकनॉमिस्ट" का कथन है कि अमरीका जापान को ४० करोड़ डालर कर्ज देने वाला है। ३. अमरीकी सेना तथा वैदेशिक विभाग जापानी उद्योग-धन्धों पर १५ करोड़ डालर खर्च करने वाला है, ४. अमरीका आयात-निर्यात बंक जापानी पूँजीपतियों को रूई खरीदने के लिए ६ करोड़ डालर कर्ज देने वाला है। इसके अलावा ४५ सेनेटरों ने अनुमति दी है कि जापान को १॥ करोड़ डालर रूई, ऊन और कच्चा माल खरीदने के लिए दिया जाय। ऐसे जापान के सम्बन्ध में उटकमण्ड सम्मेलन में व्यापार के बारे में यह प्रस्ताव पास हुआ।

"एशियायी देशों की सरकारों को तुरन्त इस बात पर विचार करना चाहिए कि वे जापान से व्यापार करने, यानी उसे कच्चा माल भेजने और उससे मशीनें आदि खरीदने के बारे में क्या व्यवस्था कर सकती हैं और सम्बद्ध अधिकारियों से इस विषय में फौरन बात चीत कर लेनी चाहिए।" और इस औपनिवेशिक टाइप के प्रस्ताव का समर्थन किया पं० नेहरू की सरकार के प्रतिनिधि ने! यही नहीं, उटकमण्ड सम्मेलन में एशियायी देशों को राय दी गई है कि—"अपनी आर्थिक, औद्योगिक, टैक्स और कंट्रोल सम्बन्धी नीति को स्पष्ट कर देना चाहिए, क्योंकि इससे पूँजी को आकर्षित करने में सहायता मिलेगी।" यह बताना नहीं होगा कि यहाँ अमरीकी पूँजीपतियों को विशेष रूप से आश्वासन देने की बात कही जा रही है। और वह आश्वासन इस बातका

ज न वा णी

अगस्त १९४८

विषय-सूची

व्यवस्थापक "जनवाणी",

जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड,

गोदौलिया, बनारस ।

मूल्य ८) एक प्रति का ।।।)

'जनवाणी' सम्पादकीय विभाग

काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष २ भाग २] अगस्त १९४८ [अङ्क ८ पूर्णाङ्क २०

मिस्र का प्राचीन साहित्य

श्री भगवतशरण उपाध्याय

मिस्र का प्राचीन साहित्य हमें दो साधनों से उपलब्ध हुआ है। एक तो उन अभिलेखों के ज़रिए जो प्राचीन इमारतों की दीवालों पर अन्य भग्नावशेषों पर खुदे हैं, दूसरे उन लेखों के जरिए जो 'पेपिरस' नामक कागज पर लिखी पुस्तकों में सुरक्षित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अभिलेखों का विषय वस्तुतः साहित्य नहीं कहा जा सकता। अधिकतर तो वे राजनीति और धर्म सम्बन्धी हैं जो साहित्य के क्षेत्र में स्थान नहीं पा सकते। यह तो उन अभिलेखों की साधारण स्थिति है। परन्तु उनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनका रूप साहित्यिक है।

इस प्रकार के अभिलेखों में सबसे महत्वपूर्ण एक कविता है जिसमें रामेसेज़ महान् की कीर्तिकथा गाई गई है, विशेष कर उस कठिन युद्ध तथा विजय की कीर्तिकथा जो उस महान् नृपति ने खत्तियों के विरुद्ध अर्जित की थी। अन्य अभिलेख अधिकतर शुद्ध ऐतिहासिक महत्व के हैं और उनमें विविध राजकुलों की सूची दी हुई है। अभाग्यवश इन आनुक्रमिक सूचियों में से एक भी सम्पूर्ण नहीं है। यही बात पेपिरस पर लिखे अधिकतर ऐतिहासिक वृत्तों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह महत्त्व की बात है कि इन तिथिपरक तालिकाओं का मेल मानेथो की तालिका से प्रायः बैठ जाता है। परन्तु मानेथो की वह तालिका भी केवल जोजेफ़स् और दूसरों के उद्धरणों में ही उपलब्ध हो सकी है। मूल तो उसका सर्वथा नष्ट हो चुका है। फिर भी इन दोनों की तुलना कर प्रोफेसर पेत्री ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानेथो का ग्रन्थ कैसा सच्चा इतिहास रहा होगा और उसका अभाव वर्तमान इतिहास के लिए कितना क्लेशजनक है।

जिन पेपिरस के 'रोलों' पर इतिहास के साहित्यिक अवशेष अभिलिखित हैं वे रोले निःसन्देह वास्तविक ग्रन्थ हैं। पत्रों पर लिखित ग्रन्थों की शैली अपेक्षाकृत आधुनिक है। प्राचीन काल में विशेष कर पश्चिमी देशों में लपेटे हुए रोल के रूप में ही पुस्तकों का निर्माण हुआ। वैसे तो मोम की पट्टिकाओं पर भी विषयों का उल्लेख हुआ है, परन्तु उनको सही-सही

तक कह सकना कठिन है। कम से कम लम्बे चौड़े
मिक ग्रन्थों के रूप में बाज़ारों में बिकने के लिए और
तों में प्रयुक्त होने के लिए उनका निर्माण नहीं हुआ था।
ह सम्भव है कि ग्रन्थकारों ने अपनी आरम्भिक कृतियों
अभ्यास उनपर कुछ अंश में किया हो। मध्य युग
क इस रोल का उपयोग होता रहा है। पिछले काल
ग्रीस और रोम में पुस्तक लिखने का आधार कपड़ा
ा है। परन्तु प्राचीन मिस्र में जब तब ही उसका
योग हुआ है। साधारणतः पुस्तकें वहां पेपिरस पर ही
खी जाती रहीं।

पेपिरस का कागज पेपिरस नामक पौधे की खुखड़ी
छिल्के टुकड़ों को एक के ऊपर एक सटाकर बनता
। पेपिरस काग़ज़ की ये चादरें चौड़ाई में छ से
दह इंच तक और लंबाई में कई फुट तक की होती
। लेख नरकट की कलम से काग़ज़ की लंबाई में
ड़े स्तम्भों के रूपमें लिखे जाते थे। ये स्तंभ विविध चौड़ा-
ों के होते थे, परन्तु उनका आकार लेखक तथा पाठक
सुविधा पर अवलम्बित होता था। मिस्र में मिली प्राचीन
लेखक की एक मूर्ति से जान पड़ता है कि लेखक काम
रते समय पलथी मार कर बैठता था। पेपिरस अत्यन्त
ाशुनश्य पदार्थ होने के कारण मिस्र की शुष्क जलवायु में
सुरक्षित रह सकता है। उसी असाधारण जलवायु
प्रताप से हमें मिस्र के तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० तक
अभिलेख उपलब्ध हो सके हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से
बसे अधिक महत्व के वे लेख हैं, जो त्यूरिन संग्रहालय
सुरक्षित हैं। परन्तु उन से भी प्राचीन पेपिरस वे हैं,
न्हें उनके अन्वेषक प्रिस्से दावेन के नाम पर प्रिस्सेपेपि-
कहते हैं। ये सम्यक् आचरण और युक्त आजीव के
र लिखे अनेक निबन्ध हैं। अपने विषय की महत्ता
अतिरिक्त इनका महत्व इसमें भी है कि यही प्राची
म मिस्री लेखन के नमूने हैं। चित्र-लेखन से त्वरा
खन के लिए जिस प्राचीन लिपि का प्रादुर्भाव हुआ
ही में ये अभिलिखित हैं। फ्रेंच भाषा तत्वविद् दि रूगे
यह दृढ़ विश्वास था कि इसी लिपि से फिनीशिया
वर्णमाला निकली और अन्य विद्वानों ने भी इस
तर्क को तब अंगीकार कर लिया था। यद्यपि
ब वह सिद्धान्त कुछ कमजोर पड़ चला है।
मिस्रियों के चिकित्सा और गणित विषयक अन्य निबन्ध
भी प्रभूत संख्या में सुरक्षित हैं।

पेपिरस के रोलों में एक और प्रकार का साहित्य भी
बहुमात्रा में उपलब्ध है। यह धार्मिक साहित्य है,
वस्तुतः श्राद्ध-सम्बन्धी और 'मृतक की पुस्तक' कहलाता
है। यह वास्तव में प्राचीन मिस्रियों की धर्म पुस्तक है,
जिसकी सम्पूर्ण अथवा खण्डित अनेक प्रतियाँ मिली हैं।
इनमें कइयों में विषय को अंकित करने के लिए चित्र भी
बने हैं। साधारणतः चित्रित ग्रन्थ का प्रचलन अपेक्षाकृत
आधुनिक माना जाता है, परन्तु इन मिस्री अभिलेखों
से प्रमाणित है कि मिस्र के प्राचीन निवासी ईसा से दो
हज़ार वर्षों से भी पूर्व इस कला का उपयोग करते थे।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से पेपिरस पर लिखे और
अनेक पाठों में सुरक्षित कुछ कहानियाँ और कविताएँ
हैं। कहानियाँ और उपन्यास अधिकतर परियों की कथाओं
के तौर पर हैं, यद्यपि उनमें वास्तविकता का सर्वथा
अभाव नहीं है। कविताएँ अधिकतर प्रणय सम्बन्धी और
गेय हैं। काल के परिमाण से इतनी दूर और विदेशी
भाषा के कलात्मक सौन्दर्य तथा साहित्यिक सुरुचि की
वाणियों को हृदयंगम करना निश्चय कठिन है, परन्तु
मिस्र-तत्वविदों का कहना है कि ये कविताएँ तब के
मिस्र में अत्यन्त लोकप्रिय थीं। कुछ कहानियाँ और
कविताएँ तो निश्चय ऐसी हैं कि वर्तमान मानदण्ड की
कल्पना, विचार और शब्दयोजना की दृष्टि से भी
पर्याप्त सुन्दर मानी जायँगी।

उनमें यात्रा और सत्साहस की कहानियों की
संख्या प्रचुर है। पहले तो समुद्र सम्बन्धी कथाएँ नहीं
मिलीं और विद्वानों का यह विश्वास दृढ़ हो चला कि
संभवतः इस प्रकार की कथाएँ लिखी ही न गईं।
ग्रीक और लेटिन में तो अक्सर यह लिखा मिलता है
कि प्राचीन मिस्री समुद्र को अपावन मानते थे और
स्वेच्छा से कभी समुद्र-यात्रा न करते थे। इसी आधार
पर वर्तमान अन्वेषकों का जो विश्वास बना तो
उन्होंने स्पष्ट समझ लिया कि मिस्र में कभी जहाजी
बेड़ा था और न वहाँ देशी मल्लाह ही थे।

रानी हत्शेप्सू की खोज सम्बन्धी यात्राएँ और
रामसेज़ तृतीय की सामुद्रिक विजय उनको फिनीशियनों
के कृत्य मालूम हुए। परन्तु सेंट पीटर्सबर्ग में मिली
कहानी ने इन विचारों को निर्मूल कर दिया है।

इस कहानी का सम्बन्ध तब के बारहवें राजकुल से है,
जब भूमध्य सागर के तट पर फ़िनिशियनों का पता भी
न था और मिस्र ने ही अभी सीरिया-विजय की सोची
थी। उस कहानी से यह निष्कर्ष निकलता है कि अरब
से सुगन्धित द्रव्य और अन्य वस्तुओं को लाने के लिए
फ़राऊ ने जिन माझियों को भेजा था, वास्तव में वे
जन्मतः मिस्री थे।

सेन्ट पीटर्सबर्ग के इम्पीरियल हर्मिटेज संग्रहालय में
गोलेनिशेफ़ को १८८० में 'परित्यक्त' नाम की कहानी
मिली। किसीको पता नहीं कि वह कहानी कहाँ मिली,
रूस में कैसे आई या उस संग्रहालय में ही कैसे पहुँची।
जिस प्रकार उन्नीसवें वंश काल की 'दो भाइयाँ' की
कहानी उस काल के लिए विशिष्ट हो गई है, उसी प्रकार
यह भी बारहवें वंश काल के लिए विशिष्ट हुई। 'परित्यक्त'
की यह कहानी पढ़ कर माँझी सिन्दबाद की याद
आती है, अन्तर बस इतना है कि जहाँ सर्पों का संयोग
सिन्दबाद के लिए सौभाग्य का सर्जन करता है, वहाँ
मिस्री माँझी का उनका अनुभव विपज्जनक है।

परित्यक्त की कहानी धार्मिक है जो उपन्यास के
रूप में प्रस्तुत की गई है। उसका द्वीप मरी आत्माओं
की भूमि है, जिसका अध्यक्ष सर्प है। वर्णित यात्रा पर-
लोक की है, जो रहस्यपूर्ण पश्चिमी समुद्र के मार्ग से
हुई है और जिसका अन्त मृत आत्माओं की निवास-
भूमि में जाकर हुआ है। इस कहानी का आधार-तत्व
सर्वथा मिस्री है। कहानी की वार्ता इस प्रकार है :—

विद्वान् अनुचर ने कहा—"प्रभु, चित्त को प्रसन्न
करें, क्योंकि हम पितृदेश पहुंच गए हैं। नौका के
अग्रभाग में हमारे आदमी बैठे और डाँड़ों को चला
कर हम यहाँ आ पहुंचे। नौका का अग्रभाग अब रेती
पर टिक गया है। हमारे सारे आदमी आनन्द मना
रहे हैं, एक दूसरे का आलिंगन कर रहे हैं, क्योंकि हमारे
अतिरिक्त अन्य भी भली भाँति घर आ पहुंचे हैं, हमारे
जनों में से एक भी नहीं खोया, और हम उआउआत
की दूरतम सीमाओं तक जा पहुँचे थे। सेन्मुत के
प्रदेशों तक को लाँघ लिया था। अब हम शान्ति
पूर्वक लौट भी आए और आज यहाँ पितृदेश में हैं।
सुनें, मेरे प्रभु, यदि आप मुझे सहारा न देंगे तो मेरा
कोई सहायक नहीं। जल से शुद्ध हों, हाथों पर जल
डालें, तब फ़राऊ से वक्तव्य निवेदन करें और आपके
चित्त तथा वक्तव्य में एकता स्थापित हो, वक्तव्य में
किसी प्रकार का पेंच या अस्पष्टता न हो। इस बात को
न भूलें कि जहाँ मनुष्य का मुख उसकी रक्षा कर
सकता है, वहीं वह उसे ढँक दिए जाने का कारण भी
बन सकता है। * अपने हृदय की चेतना के अनुकूल
आचरण करें, फिर जो कुछ आप कहेंगे उससे मेरा
चित्त शान्त होगा।

"अब मैं आपको बताऊँगा कि मुझ पर
कैसी बीती। मैं हीनहेम की खानों के लिए चल
पड़ा। डेड सौ हाथ लंबे और चालीस हाथ चौड़े
जहाज़ में चढ़कर मैं समुद्र में चला। हमारे जहाज़
में डेढ़ सौ मिस्र के सर्वोत्तम नाविक थे जिन्हों ने आकाश
पाताल देखा था और जिनके हृदय सिंह के हृदयों से
भी अधिक साहसी थे। उन्हों ने तो यह कहा कि वायु
प्रतिकूल न होगी, बल्कि होगी ही नहीं। परन्तु समुद्र
के वक्ष पर हमारे उतरते ही वायु का एक प्रबल झोंका
आया और हमने किनारे पहुँचने का जैसे ही प्रयास
किया झोंके वेगवान हो गए और आठ-आठ हाथ ऊँची
लहरें उठने लगीं (नौका टूट गई), मैंने एक तख्ता
पकड़ कर किसी प्रकार जान बचाई परन्तु शेष सभी नष्ट
हो गए, एक न बचा। अकेला, अपने चित्त के सिवा
सर्वथा निर्मित्र तीन दिन तीन रात मैं उस तख्ते पर
झूलता रहा और तब लहरों ने मुझे एक द्वीप के किनारे
फेंक दिया। पेड़ों की झुरमुट में तनिक आराम करने के
लिए मैं पड़ रहा। अन्धकार से फिर मैं आच्छन्न
हो गया। तब मैंने मुँह के आहार की खोज के लिए
अपने पदों का उपयोग किया। मुझे अंजीर और अंगूर
मिले, कई प्रकार के शाक मिले—फल, छुहारे, गरी,
तरबूज़, मछली, पक्षी—किसी चीज़ की वहाँ कमी न
थी। मैंने अपनी बुभुक्षा शान्त की और उससे
जो कुछ बच रहा था उसे फेंक दिया। फिर मैंने एक
खाई खोदी, आग जलाई और देवताओं के लिए
यज्ञ के साधन जुटाए।

"सहसा मैंने बिजली की कड़क-सी एक आवाज़
सुनी जो, मैंने समझा समुद्र की तरंग टूटने की थी।

* बातों से ही रक्षा भी हो सकती है, विपत्ति भी आ सकती
है। मुंह ढँक कर, तब वहाँ अपराधी ले आए जाते थे। इससे इस
पद का अर्थ विपत्ति का आगम है।

ंप उठे, पृथ्वी हिल गई। मैंने अपने मुँह से
हटाया और देखा कि एक सर्प चला आ रहा है।
ीस हाथ लंबा था, दो हाथ नीचे लटकती उसकी
थी। उसके लाल रंग पर जैसे सुवर्ण चढ़ा हुआ
वह मेरे सामने रुका, उसने अपना मुँह खोला
अभी मैं स्तब्ध-संत्रस्त उसकी ओर देख ही रहा
 उसने कहना प्रारम्भ कियाः—
'तूं यहाँ क्यों आया, तू यहाँ क्यों आया, तुच्छ
तू यहाँ क्यों आया? यदि तूने यह बताने में
ी कि तू यहाँ क्यों आया तो मैं तुझे जना दूँगा
क्या है; या तो फिर तू आग की लपट की भाँति
ा हो जायगा या कुछ ऐसी बात कहेगा जो मैंने
कभी न सुनी या पहले कभी न जानी।' तब
मुझे अपने मुँह में ले लिया और ले जाकर अपनी
ें बिना कोई हानि पहुँचाए रख दिया। मैं सर्वथा
ा था, साबूत।
'तब उसने अपना मुँह खोला। मैं फिर भी उसके
चुप था। वह बोला—'तू यहाँ क्यों आया, तू
ों आया, तुच्छ जीव, इस द्वीप में जो समुद्र के
ै और जिसके तट लहरों से घिरे हैं?'
बाहुओं को नीचे लटका मैंने उत्तर दिया। मैंने
'फ़राऊ की आज्ञा से डेढ़ सौ हाथ लंबे और
ा हाथ चौड़े जहाज़ पर चढ़ कर मैं खानों की
था। मिस्र के सर्वोत्तम डेढ़ सौ माँझी उसमें
हुए, माँझी जिन्होंने आकाश और पृथ्वी देखी
र जिनके हृदय देवताओं के हृदयों से दृढ़तर
न्होंने कहा था कि वायु प्रतिकूल न होगी, वायु
ी नहीं। उनमें से हर एक दूसरे से हृदय की
और भुजाओं की शक्ति में बढ़ा चढ़ा था और
ें उनमें से किसी से किसी बात में कम न था।
जब इस समुद्र में पहुँचे तब तूफ़ान उठा और
ी तट की ओर बढ़े तब तूफ़ान और बढ़ा और
ाठ हाथ ऊँची लहरें उठाने लगीं। मैंने तो एक
पकड़ लिया परन्तु शेष नष्ट हो गए, इन तीन
ें एक भी साथ न रहा और अब मैं यहाँ तेरे
ूँ, क्योंकि समुद्र की एक लहर ने मुझे इस द्वीप
 दिया।'
'तब वह मुझसे बोला—'डर नहीं, डर नहीं, तुच्छ
जीव, तेरा चेहरा दुःख का आवरण न पहने। अगर तू
यहाँ मेरे पास है तो इसका अर्थ है कि देवता तुझे
जिन्दा रखना चाहता है। वही तुझे इस द्वीप में लाया
है जहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं और जो सारी अच्छी
चीज़ों से भरा है। देख, तू इस द्वीप में चार महीने बिता,
महीने पर महीना, तब तुम्हारे देश से नाविकों के साथ
एक जहाज़ आएगा, तब तू अपने देश को जाएगा और
अपने नगर में ही मरेगा। ओ अब हम बात करें, प्रसन्न
हों; जो बात चीत का आनन्द जानता है वह विपत्ति को
सफलता से झेल सकता है। अब सुन कि इस द्वीप पर
क्या है। यहाँ मेरे साथ मेरे भाई और बच्चे हैं— बच्चे
और नौकर मिलाकर हम सब पचहत्तर सर्प हैं। इन्हें
मेरी इस कन्या का जोड़ नहीं है, जिसे सौभाग्य ने मुझे
दिया था परन्तु जिस पर भगवान की अग्नि गिरी और
जो जलकर भस्म हो गया। और यदि तू सशक्त है और
तेरा हृदय धीर है तो, तू निश्चय अपने बच्चों को हृदय
से लगाएगा, अपनी पत्नी का आलिंगन करेगा, तू
फिर अपने गृह को देखेगा और सबसे उत्तम तो वह
कि तू अपने देश को पहुँच जायगा, अपने स्वजनों को
भेंटेगा।' तब उसने मुझे प्रणाम किया और मैंने भी
उसके सामने पृथ्वी पर माथा टेका 'अब मुझे तुमसे
इस विषय पर यह कहना है—मैं फ़राऊ के सामने तेरा
वर्णन करूँगा और उसे तेरी महत्ता बताऊँगा। मैं तुझे
विविध सुगन्धित द्रव्य, अंगराग, धूप नैवेद्यान् भेजूँगा
जिनका उपयोग हमारे मन्दिरों में होता है और जो
देवताओं को चढ़ाए जाते है। मैं जो कुछ तेरे अनुग्रह
से देख सका उसका भी वर्णन करूँगा और सारी
जाति तुझे धन्यवाद करेगी। मैं तेरे लिए यज्ञ में बैलों
की बलि दूँगा। मैं तेरे लिए पक्षी पकड़ूँगा और मिस्र
की सारी अद्भुत वस्तुओं से भर भर कर मैं तेरे
पास जहाज़ भेजूँगा, तुझे—उस देवता के लिए
जो दूर देश के निवासियों का मित्र है पर जिसे वे
निवासी नहीं जानते।

"मेरी बात पर वह मुसकराया और बोलाः—
'निश्चय तू गन्धों का धनी नहीं है, क्योंकि जिनके नाम तूने
अभी गिनाए हैं वे मेरे लिए कुछ भी नहीं हैं। मैं पुन्त
देश का स्वामी हूँ और ये चीजें वहाँ अफरात हैं। परन्तु
हाँ जिस 'हाकोनू'[1]—द्रव्य को भेजने की बात तू

[1] हकोनू उन सात पवित्र तेलों में से एक था जो देवताओं और पितरों को यज्ञ में चढ़ाए जाते थे।

कहता है वह निश्चय इस द्वीप में अधिक नहीं है।
परन्तु एक बार जब तू इस द्वीप को छोड़ देगा फिर
इसे न देख सकेगा क्योंकि यह तत्काल लहरों में
परिवर्तित हो जायगा।'

"और देख, जैसा कि उसने कहा था, जहाज़ आ
पहुँचा। मैं एक पेड़ पर यह देखने के लिए चढ़ गया
कि उसमें कौन है। फिर मैं जल्दी उसे खबर देने के
लिए दौड़ा पर वहाँ जाकर मालूम हुआ कि उसे मुझ से
पहले ही खबर मिल चुकी है। और वह मुझसे बोलाः
'सुयात्रा! स्वदेश की तेरी यात्रा, तुच्छ जीव, निर्विघ्न
हो—तेरी आँखें तेरे बच्चों को देखें और नगर में तेरा
यश फैले—यही तेरे लिए मेरी शुभ कामना है।' तब
अपनी बाहुओं को उसकी ओर लटका कर मैं आगे
झुका और उसने मुझे सत्, हकोनू, रस, तेल, और
अनेक प्रकार की और अत्यधिक मात्रा में धूपादि,
गजदन्त, कुत्ते, बनमानुस, हरित कपि तथा अनेक अन्य
रत्न और कीमती वस्तुएँ भेंट कीं। इन सारी वस्तुओं
को मैंने उस आये हुए जहाज़ में रखा और दण्डवत्
पड़ कर मैंने उसे पूजा अर्पित की। उसने तब मुझसे
कहाः—'देख, तू अपने देश में दो महीने में पहुंचेगा, तू
अपने बच्चों को हृदय से लगाएगा और शान्तिपूर्वक
अपनी कब्र में सोएगा।' उसके बाद मैं किनारे जहाज़
की ओर गया और मैंने माँझियों को पुकारा। मैंने तट
पर खड़े होकर द्वीप के स्वामी और उसके निवासियों
को धन्यवाद दिया।

"जब दूसरे महीने उसके कहने के मुताबिक फराऊ
के नगर में पहुंचे, तब हम राज-प्रासाद की ओर बढ़े।
मैं फ़राऊ के समीप गया और उसे उस द्वीप से लाई
हुई सारी वस्तुएं प्रदान कीं और उसने एकत्रित जनता
के सामने मुझे धन्यवाद दिया। इसीसे उसने मुझे अपना
अनुचर बनाया और दरबार के मुसाहिबों में मुझे जगह
दी। अब मुझे, देखें कि कितना सह और देखकर मैं
फिर इस तटपर पहुंचा हूँ। मेरी प्रार्थना सुनें, क्योंकि
लोगों की बात सुनना अच्छा है। किसीने मुझसे कहा,
'मेरे मित्र, विद्वान् हो, तुम्हारी पूजा होगी।' और
देखें, मैं यहाँ आ पहुँचा।"

यह कहानी जैसी की तैसी उस पुस्तक से उठा ली गई
है और अत्यन्त प्राचीन साहित्य का एक सुघड़ नमूना है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद की नैतिक धारणा

प्रो० मुकुटबिहारी लाल

(१)

...तांत्रिक मानवीय व्यवहार ही चरित्रनिर्माण का ...। शोषण और मानवता का मौलिक विरोध है। ...र्ग के लिए मानवीय होना असम्भव है। पर ...तिक मानवता पूँजीयुग के शोषित वर्ग और ...दी-क्रान्तिकारी दल का क्रान्तिकारी नीति-धर्म ...ा लेकज़म्वर्ग के शब्दों में "क्रान्तिकारी कार्य- ...े साथ साथ मानव के प्रति सच्ची सहानुभूति— समाजवाद का सार है"। लोकतन्त्र और ... दोनों ही रचनात्मक भी हैं और क्रान्तिकारी ...षण, आधिपत्य और निरंकुशता का विरोध ...ता, स्वतन्त्रता और सहकारिता के आधार पर ...ा निर्माण लोकतान्त्रिक मानवता के लक्ष्य हैं। ...िक मानवीय पुरुष मानव व्यक्ति तथा समाजो- ...म का आदर करता है। उसका सभी सार्वजनिक ...मानवीय दृष्टिकोण और लोकतांत्रिक व्यवहार होता ...ं शोषितों के साथ आत्मीयता का व्यवहार तथा ...ना अपना विशेष कर्तव्य समझता है, उसके ...र और वैधानिक समाजवाद की तरह लोक- ...समाजवाद भी शाश्वत प्राकृतिक नियम के ...ो गलत और सामाजिक विकास के सिद्धान्त ...मानता है। लोकतांत्रिक समाजवाद सामाजिक ...और नैतिक सिद्धान्तों के मार्क्सवादी विश्लेषण ...ही समझता है। पर लोकतांत्रिक समाजवाद ...े राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्यों के साथ-साथ ...े नैतिक लक्ष पर भी विशेष ध्यान रखता है। ...ानव व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास पर उतना ही ...ा है जितना आर्थिक स्वतन्त्रता पर।"

...तान्त्रिक समाजवाद की धारणा है कि "समाज- ...ा सवाल केवल रोटी का सवाल नहीं है। ...ह मानव-स्वातन्त्र्य की कुंजी है। समाजवाद ही एक स्वतन्त्र सुखी समाज में सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित कर सकता है। समाजवाद ही श्रेणी-नैतिकता तथा मात्स्य-न्याय के बदले जन-प्रधान नैतिकता तथा सामाजिक न्याय की स्थापना कर सकता है। समाजवाद ही स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृभाव के आधार पर सुन्दर तथा सबल मानव-संस्कृति की सृष्टि कर सकता है।"

लोकतान्त्रिक समाजवाद की धारणा है कि "साध्य और साधन परस्पर सम्बद्ध और परस्पर निर्भर होते हैं।" और इसलिए "अच्छे समाज" तथा "सुन्दर और सम्पूर्ण मनुष्यत्व" की सृष्टि "अच्छे" तथा "मानवोचित" साधनों द्वारा ही हो सकती है। श्री जयप्रकाश नारायण का विश्वास है कि "यदि समाजवाद से हमारा तात्पर्य ऐसे समाज से है, जिसमें व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताएं पूरी होती हों, जिसमें व्यक्ति सभ्य तथा सुसंस्कृत हो, स्वतन्त्र तथा वीर हो, दयालु तथा उदार हो; तो...एक उच्च आचरण तथा नैतिक स्तर पर दृढ़ रहे बिना हम इस उद्देश को प्राप्त नहीं कर सकते।"

कुछ समाजवादियों का विचार है कि वर्ग-समाज में वर्ग-आचार ही सम्भव है और सामाजिक क्रान्ति के बाद नई सामाजिक परिस्थिति के प्रभाव से ही मनुष्य का जीवन मानवीय आदर्शों के अनुकूल होगा। उनका यह भी विचार है कि वर्ग-समाज की नैतिक व्यवस्था पर शोषक वर्ग के स्वार्थों की छाप है और इस वर्ग-व्यवस्था में मानवीय आदर्शों की खोज बेकार है। क्रान्ति के जमाने में शोषित वर्ग के लिए नैतिकता की उलझन में फँसना हानिकर है।

लोकतांत्रिक समाजवादी इन विचारों को बहुत हद तक गलत समझते हैं। वे यह तो मानते हैं कि सामाजिक क्रान्ति के बाद ही मानवीय नैतिकता समाज की नैतिक व्यवस्था का आधार बन सकती है। वे यह

भी मानते हैं कि वर्ग-समाज की नैतिक व्यवस्था पर शोषक वर्ग के स्वार्थों की छाप है और उसके बहुत से नियम और रीति-रिवाज मानवीय आदर्शों के प्रतिकूल और नये समाज के लिए अनुपयुक्त हैं। पर उनके विचार में "श्रेणी-नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का बहिष्कार उचित नहीं।" उनकी धारणा है "इतने काल के सामाजिक विकास के बाद जो मौलिक मानवीय सत्य प्रतिष्ठित हो गए हैं, उनपर जोर देना, उन्हें समाज के पुनर्निर्माण में उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करना नितान्त आवश्यक है।" नई मानव-संस्कृति में इन मानवीय सत्यों का क्रान्तिकारी नैतिक सिद्धान्तों के साथ क्रियात्मक समन्वय आवश्यक है।

लोकतांत्रिक समाजवादी इस बात को तो मानते हैं कि परिस्थितियों का मनुष्य के आचार पर प्रभाव पड़ता है पर वह यह नहीं मानते कि परिस्थिति के बदल जाने पर मनुष्य खुद-ब-खुद पुराने व्यवहारों को छोड़कर मानवीय नैतिकता का पालन करने लगेगा। अगर ऐसा हुआ भी तो तब्दीली की गति बड़ी धीमी होगी। उनकी धारणा है कि मानवीय नैतिकता के व्यवहार के लिए शिक्षा और अभ्यास की जरूरत है और उसकी कोशिश क्रान्तियुग में ही होना नितान्त आवश्यक है। लोकतान्त्रिक और सहकारी व्यवहार में अभ्यस्त कर्तव्य-परायण मनुष्य ही सामाजिक क्रान्ति का नेतृत्व और लोकतांत्रिक समाजवादी समाज का निर्माण कर सकते हैं। क्रान्तिकारी शोषित वर्ग का नैतिक और सांस्कृतिक उत्थान उतना ही जरूरी है जितना उनका आर्थिक उत्थान। अगर कोरी नैतिक और सांस्कृतिक उन्नति की चर्चा व्यर्थ है, तो केवल आर्थिक उन्नति द्वारा ही समाजवाद का निर्माण भी असम्भव है। नये समाज के निर्माण के लिए आर्थिक योजना के साथ-साथ नैतिक योजना भी जरूरी है। इसमें क्या बुद्धिमानी है कि समाज के आर्थिक उत्थान के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ तैयार की जाँय, पर मानव-व्यक्तित्व के समाजीकरण और उत्थान के प्रश्न को परिस्थितियों के प्रभाव पर छोड़ दिया जाय। मार्क्स ने स्वयं कहा है कि "मनुष्य परिस्थितियों को बदलता है और शिक्षक को भी शिक्षा देनी होती है।" सारांश में राष्ट्र व्यक्तियों का बना है और हमारा कर्तव्य है कि हम राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक उत्थान के साथ-साथ "व्यक्तियों के चरित्र का भी ऐसा निर्माण करें कि हम समृद्धिशाली राष्ट्र के साथ-साथ अच्छे मनुष्यों का राष्ट्र भी बना सकें;" और नये समाजवादी समाज में सुख और समृद्धि की स्थापना के साथ-साथ सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व भी प्रतिष्ठित हो सके। इसीलिए आर्थिक पुनर्निमांण की भाँति चरित्र-निमाण के लिए भी योजना बनाने और लक्ष्य निर्धारित करने की जरूरत है। चरित्र-निमांण के काम को पूरा करने के लिए समाज में 'जीवन के आधारभूत मूल्यों' को इस तरह प्रतिष्ठित करना है कि वे मनुष्यों के वैय्यक्तिक और सामाजिक जीवन के आधार-स्तम्भ हों और उनके सभी व्यवहारों में उन्हें प्रेरणा प्रदान करें।

(२)

लोकतान्त्रिक समाजवाद शोषितों के हित-साधन में सदा तत्पर रहता है और वर्ग-हीन मानवीय समाज को स्थापित करना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है। वह उद्देश्य की सिद्धि में विप्लव और क्रान्ति के लिए तैयार रहता है, पर वैसे किसी को रत्ती भर दुख देना भी जुर्म समझता है। पूंजीवादी लोकतन्त्र केवल राजनीतिक है। उसका क्षेत्र सीमित है। पर वास्तविक लोकतन्त्र सामाजिक है। वह जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। वह स्वतन्त्र जीवन और सहकारी उद्योग की कला है। स्वतन्त्रता, समता और सहकारिता लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्त हैं। वही मनुष्य लोकतान्त्रिक है जो ऊंच और नीच के विचारों को छोड़ तथा विशेषाधिकारों को तिलाञ्जलि दे, सब के साथ समत्व का व्यवहार करता है, जो अपनी और दूसरों की स्वतन्त्रता का आदर करता है और उसके अपहरण का सक्रिय विरोध करने को सदा तत्पर रहता है और जो सभी सामाजिक और सार्वजनिक कामों को सबके साथ सहकारी ढंग से विधिपूर्वक करता है। जीवन का लोकतन्त्रीकरण करने के लिए इन सब बातों के अभ्यास की जरूरत है। लोकतान्त्रिक जीवन के लिए सामाजिक चेतना, उदार दृष्टिकोण, निर्मल और शिष्ट व्यवहार, विवेक और उत्साह, विश्वास में दृढ़ता, विरोध में सहनशीलता, समाज-सेवा में तत्परता तथा जनमत के आदर की भी जरूरत होती है।

चरित्र के मानवीयकरण के लिए मानवीय भाव,

... ... शेष भा॰

प्रति आदर और आत्मीयता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा में तत्परता आवश्यक हैं। मानवाय मानव-जीवन के सारतत्व हैं। पर जैसा कि ने अपनी पुस्तक 'फेयरवेल' में लखा है "वर्ग- और वर्ग-आधिपत्य के आधार पर स्थित समाज के (जिसमें हम सब रहते हैं). आज हमारे पारस्परिक में शुद्ध मानवीय भाव की सम्भावना बहुत ही हो गई है।" वर्ग-समाज में मान-जावन पर वर्ग की गहरी छाप है। स्वार्थ-प्रभावित सामाजिक में स्वार्थ ही मनुष्य का स्वभाव बन गया है; जीवन का वर्गीकरण हो गया है और मनुष्य के और मानवीय प्रेरणाएं बहुत हद तक कुंठित हो गई हैं। वर्गहीन समाज में ही मानवाय पूरा विकास सम्भव है। वर्ग-समाज में तो क्रान्ति भी शोषित के वर्ग-स्वार्थ, वर्ग-चेतन संघर्ष पर आश्रित है। पर सामाजिक-क्रान्ति मानवीय-भाव का भी बड़ा हाथ है। मानवीय-भाव होकर ही मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन आदि बहुत वादियों ने अपने वैय्यक्तिक और वर्ग-स्वार्थ कर सामाजिक क्रान्ति का नेतृत्व किया भी कर रहे हैं। सामाजिक क्रान्ति की सफलता के क्रान्ति के नेताओं और सेनानियों को उसके मान- आदर्शों के ज्ञान तथा अन्याय के विरुद्ध मानवीय की जरूरत है। वर्ग-समाज में तो सामाजिक प्रतिष्ठा में तत्परता ही मानवाय भाव के विकास है। लोकतान्त्रिक मानवीय चरित्र के निमाग शोषित वर्ग के सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा करना है। वर्ग-समाज में शोषित वर्गकी संस्कृतिक उपेक्षा सदा की गई है। बहुत से देशों में सांस्कृतिक शिक्षा पर धार्मिक प्रतिबन्ध भी गये थे। उद्योग-धंधों का ज्ञान ही उनके समझा गया था। औद्योगिक जरूरतों के आगे सिर झुका कर लोकतांत्रिक राज्यों को उन्नीसवीं सदी में मजदूरों और किसानों की सांस्कृतिक शिक्षा का प्रबन्ध करना पड़ा। पर यह प्रबन्ध अब भी इतना सीमित है कि जिसके कारण मजदूर वर्ग के अधिकांश लोगों को प्रारम्भिक शिक्षा को छोड़ सांस्कृतिक ज्ञान प्राप्त करने की उचित सुविधाएं प्राप्त नहीं। श्रमिकों की सांस्कृतिक कमी को पूरा करने के लिए आर्थिक और राजनीतिक आंदोलन और संघटन के साथ साथ उनमें सांस्कृतिक आंदोलन की भी जरूरत है। इस सांस्कृतिक आन्दोलन का लक्ष्य उनके सांस्कृतिक तथा नैतिक स्तर को ऊँचा करना और उन्हें समाजवादी समाज के निर्माण में क्रियात्माक सहयोग के योग्य बनाना होगा। इस उद्देश से उन्हें संसार के ज्ञान की शिक्षा के साथ साथ लोकतान्त्रिक और मानवीय मूल्यों का ज्ञान और अभ्यास भी करना होगा। सामाजिक क्रान्ति के फौरन बाद ही लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज कायम करने के लिए ऐसा सांस्कृतिक आन्दोलन बड़ा ही उपयोगी होगा।

लोकतान्त्रिक समाजवाद ऐसे वर्गहीन मानवीय समाज की स्थापना करना चाहता है कि जिसमें आर्थिक साधनों पर समाज का आधिपत्य और लोकतान्त्रिक नियन्त्रण हो, जनहित ही पैदावार का ध्येय हो, सभी सार्वजनिक और राजनीतिक कार्यों का लोकतान्त्रिक प्रबन्ध हो, मानव व्यक्तित्व और समाजोपयोगी श्रम का आदर हो, निष्काम लोकसेवक का ही विशेष सत्कार हो; प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र सभ्य जीवन-निवाह तथा समाज-सेवा और नैतिक व सांस्कृतिक उन्नति का अवसर प्राप्त हो; मानव-एकता, समता और बन्धुत्व ही राष्ट्रीय और अन्तः राष्ट्रीय नीति और विधान के आधार हों। ऐसे समाज में मानवता ही नैतिक व्यवस्था का आधार होगी और प्रत्येक व्यक्ति को अपने मानवीय भावों तथा व्यक्तित्व के पूरे-पूरे विकास का अवसर अवश्य प्राप्त होगा तथा सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व प्रतिष्ठित हो सकेगा।

भाषानुसार प्रान्तनिर्माण

श्री सत्यप्रकाश गुप्त

(१)

कुछ दिन पूर्व भारतीय यूनियन के प्रधान मन्त्री का एक वक्तव्य समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ था, जिससे ऐसा मालूम होता है कि आन्ध्र वालों ने भाषा के अनु- सार यूनियन के प्रान्तों के पुनर्निमाण की जो माँग की है उसपर वह बहुत क्रुद्ध हैं। * उनके शब्दों में काफी चिड़चिढ़ापन है। हाँ, नेहरूजी की समय समय पर चिढ़ कर जवाब देने की आदत नई नहीं है। समय समय पर सभाओं और बैठकों में उनकी इस दुर्बलता को हमलोगों ने देखा है। दुर्बलता बड़े बड़े आदमियों में भी होती है, यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। परन्तु साथ ही यह भी हमलोगों को मालूम है कि एक साधारण व्यक्ति में जो दुर्बलता विशेष हानि- कर नहीं है, एक जिम्मेदार व्यक्ति में वही दुर्बलता बहुत ही हानिकर साबित हो सकती है। इसीलिए अपने प्रधान मंत्री के चिड़चिढ़ेपन से हम जरा चिन्तित रहते हैं।

श्रीयुत पट्टाभी सीतारामैया ने मद्रास से इस सम्बन्ध में जो वक्तव्य दिया है (नेशनल हेरल्ड, जून १५, १९४८) उससे मालूम होता है कि आन्ध्र के लोगों ने पंडितजी से कई बार कई जगहों पर इसके बारे में प्रश्न किए। अतः पंडितजी जो झुँझला उठे तो यह उनके लिए स्वाभाविक था और इसलिए "मैं क्या यहाँ भर आन्ध्रप्रान्त के बारे में बोलने के लिए आया हूँ ?" यह उत्तर भी कुछ अनुचित न था। प्रधान मंत्री के ऊपर आज 'शिशुराष्ट्र' (और यह भी सुना है बड़े भारी खतरे में) का कितना बड़ा बोझ है, उधर ऊटी कानफ्रेन्स में उसकी रक्षा के लिए 'नेहरू-योजना' की जब चर्चा हो रही थी, ऐसे समय पर इन छोटी-छोटी बातों को लेकर उन्हें तंग करने से वह झुँझलाएंगे भी नहीं तो क्या करेंगे! खैर, इससे हमें विशेष असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, हर समय आदमी का मिजाज ठीक नहीं रहता। परन्तु सीतारामैया जी के उक्त मन्तव्य से मालूम पड़ता है कि भाषानुसार प्रान्तों के पुनर्वि- भाजन के बारे में प्रधान मंत्री की यह चिढ़ क्षणिक और तात्कालिक नहीं है, ऊटी में इस प्रश्न पर बातचीत करते समय भी उन्होंने इसी प्रकार की झुँझलाहट दिखाई थी। श्रीयुत सीतारामैया ने उन बातों का जिक्र करते हुए कहा कि "....his feeling was not in favour of disturbing the tranquillity of the atmosphere by pressing the issue of linguistic redistribution...." इस समय देश के शान्त वातावरण को, भाषानुसार पुनर्विभाजन पर जोर डालकर नष्ट करने के पक्ष में नेहरूजी का दिल गवाही नहीं देता। ठीक ही है, शान्ति के पुजारी नेहरूजी अशान्ति फैलाना नहीं चाहते।

परन्तु दिल बड़ा अजीब होता है, उसमें प्रश्न उठते हैं, १४४ लगाने पर भी, इसीलिए मन में सवाल होता है, क्या अंग्रेजी शासन में शान्त वातावरण नहीं था और उन्होंने उस शान्त वातावरण को आन्दोलन की आंधी से विध्वस्त नहीं किया था? तो इससे मालूम होता है कि उन्हें किसी 'खास किस्म' के शान्त वातावरण की कामना है।

(२)

आज देश में एक विचित्र बात नजर आ रही है। आज चारों ओर से हमारे प्रिय नेतागण हमें शान्ति मंत्र का पाठ पढ़ा रहे हैं। उनका कहना है कि १५ अगस्त सन् ४७ के बाद भारतवर्ष में जो स्वतंत्रता आई है उसके सामने सबको साष्टांग प्रणाम करना चाहिए और ध्यानस्थ होकर प्रतीक्षा करनी चाहिए; अब देश में जरा भी

* "he was irritated, provoked and excited beyond all description"–Pattabhi Sitaramayya in his statement published in—National Herald. June 15, 1948.

प्रति आदर और आत्मीयता तथा सामाजिक
प्रतिष्ठा में तत्परता आवश्यक हैं। मानवीय
मानव-जीवन के सारतत्व हैं। पर जैसा कि
ने अपनी पुस्तक 'फेयरवेल' में लखा है "वर्ग-
और वर्ग-आधिपत्य के आधार पर स्थित समाज के
(जिसमें हम सब रहते हैं), आज हमारे पारस्परिक
में शुद्ध मानवीय भाव की सम्भावना बहुत ही
हो गई है।" वर्ग-समाज में मान-जावन पर वर्ग
की गहरी छाप है। स्वार्थ-प्रभावित सामाजिक
में स्वार्थ ही मनुष्य का स्वभाव बन गया है;
जीवन का वर्गीकरण हो गया है और मनुष्य के
और मानवीय प्रेरणाएं बहुत हद तक कुंठित
हो गई हैं। वर्गहीन समाज में ही मानवीय
पूरा विकास सम्भव है। वर्ग-समाज में तो
क्रान्ति भी शोषित के वर्ग-स्वार्थ, वर्ग-चेतन
संघर्ष पर आश्रित है। पर सामाजिक-क्रान्ति
मानवीय-भाव का भी बड़ा हाथ है। मानवीय-भाव
होकर ही मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन आदि बहुत
समाजवादियों ने अपने वैय्यक्तिक और वर्ग-स्वार्थ
ऊपर उठकर सामाजिक क्रान्ति का नेतृत्व किया
अब भी कर रहे हैं। सामाजिक-क्रान्ति की सफलता के
क्रान्ति के नेताओं और सेनानियों को उसके मान-
आदर्शों के ज्ञान तथा अन्याय के विरुद्ध मानवीय
की जरूरत है। वर्ग-समाज में तो सामाजिक
की प्रतिष्ठा में तत्परता ही मानवीय भाव के विकास
बाधक है। लोकतान्त्रिक मानवीय चरित्र के निमाण
शोषित वर्गों के सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा करना
है। वर्ग-समाज में शोषित वर्गकी सांस्कृतिक
उपेक्षा सदा की गई है। बहुत से देशों में
सांस्कृतिक शिक्षा पर धार्मिक प्रतिबन्ध भी
लगाए गये थे। उद्योग-धंधों का ज्ञान ही उनके
पर्याप्त समझा गया था। औद्योगिक जरूरतों
के आगे सिर झुका कर लोकतांत्रिक राज्यों

को उन्नीसवीं सदी में मजदूरों और किसानों की सांस्कृतिक शिक्षा का प्रबन्ध करना पड़ा। पर यह प्रबन्ध अब भी इतना सीमित है कि जिसके कारण मजदूर वर्ग के अधिकांश लोगों को प्रारम्भिक शिक्षा को छोड़ सांस्कृतिक ज्ञान प्राप्त करने की उचित सुविधाएं प्राप्त नहीं। श्रमिकों की सांस्कृतिक कमी को पूरा करने के लिए आर्थिक और राजनीतिक आंदोलन और संघटन के साथ साथ उनमें सांस्कृतिक आंदोलन की भी जरूरत है। इस सांस्कृतिक आन्दोलन का लक्ष्य उनके सांस्कृतिक तथा नैतिक स्तर को ऊँचा करना और उन्हें समाजवादी समाज के निर्माण में क्रियात्मक सहयोग के योग्य बनाना होगा। इस उद्देश से उन्हें संसार के ज्ञान की शिक्षा के साथ साथ लोकतान्त्रिक और मानवीय मूल्यों का ज्ञान और अभ्यास भी करना होगा। सामाजिक क्रान्ति के फौरन बाद ही लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज कायम करने के लिए ऐसा सांस्कृतिक आन्दोलन बड़ा ही उपयोगी होगा।

लोकतान्त्रिक समाजवाद ऐसे वर्गहीन मानवीय समाज की स्थापना करना चाहता है कि जिसमें आर्थिक साधनों पर समाज का आधिपत्य और लोकतान्त्रिक नियन्त्रण हो, जनहित ही पैदावार का ध्येय हो, सभी सार्वजनिक और राजनीतिक कार्यों का लोकतान्त्रिक प्रबन्ध हो, मानव व्यक्तित्व और समाजोपयोगी श्रम का आदर हो, निष्काम लोकसेवक का ही विशेष सत्कार हो; प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र सभ्य जीवन-निर्वाह तथा समाज-सेवा और नैतिक व. सांस्कृतिक उन्नति का अवसर प्राप्त हो; मानव-एकता, समता और बन्धुत्व ही राष्ट्रीय और अन्तः राष्ट्रीय नीति और विधान के आधार हों। ऐसे समाज में मानवता ही नैतिक व्यवस्था का आधार होगी और प्रत्येक व्यक्ति को अपने मानवीय भावों तथा व्यक्तित्व के पूरे-पूरे विकास का अवसर अवश्य प्राप्त होगा तथा सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व प्रतिष्ठित हो सकेगा।

भाषानुसार प्रान्तनिर्माण

श्री सत्यप्रकाश गुप्त

(१)

कुछ दिन पूर्व भारतीय यूनियन के प्रधान मन्त्री का एक वक्तव्य समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ था, जिससे ऐसा मालूम होता है कि आन्ध्र वालों ने भाषा के अनुसार यूनियन के प्रान्तों के पुनर्निर्माण की जो माँग की है उसपर वह बहुत क्रुद्ध हैं। * उनके शब्दों में काफी चिड़चिड़ापन है। हाँ, नेहरूजी की समय समय पर चिढ़ कर जवाब देने की आदत नई नहीं है। समय समय पर सभाओं और बैठकों में उनकी इस दुर्बलता को हमलोगों ने देखा है। दुर्बलता बड़े बड़े आदमियों में भी होती है, यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। परन्तु साथ ही यह भी हमलोगों को मालूम है कि एक साधारण व्यक्ति में जो दुर्बलता विशेष हानिकर नहीं है, एक जिम्मेदार व्यक्ति में वही दुर्बलता बहुत ही हानिकर साबित हो सकती है। इसीलिए अपने प्रधान मंत्री के चिड़चिड़ेपन से हम जरा चिन्तित रहते हैं।

श्रीयुत पट्टाभी सीतारामैया ने मद्रास से इस सम्बन्ध में जो वक्तव्य दिया है (नेशनल हेराल्ड, जून १५, १९४५) उससे मालूम होता है कि आन्ध्र के लोगों ने पंडितजी से कई बार कई जगहों पर इसके बारे में प्रश्न किए। अतः पंडितजी जो झुँझला उठे तो यह उनके लिए स्वाभाविक था और इसलिए, "मैं क्या यहाँ पर आन्ध्रप्रान्त के बारे में बोलने के लिए आया हूँ ?" यह उत्तर भी कुछ अनुचित न था। प्रधान मंत्री के ऊपर आज 'शिशुराष्ट्र' (और वह भी सुना है बड़े भारी खतरे में) का कितना बड़ा बोझ है, उधर ...कानफ्रेन्स में उसकी रक्षा के लिए 'नेहरू-योजना' की जब चर्चा हो रही थी, ऐसे समय पर इन छोटी-छोटी बातों को लेकर उन्हें तंग करने से वह झुँझलाएंगे भी नहीं तो क्या करेंगे! खैर, इससे हमें विशेष असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, हर समय आदमी का मिजाज ठीक नहीं रहता। परन्तु सीतारामैया जी के उक्त मन्तव्य से मालूम पड़ता है कि भाषानुसार प्रान्तों के पुनर्विभाजन के बारे में प्रधान मंत्री की यह चिढ़ क्षणिक और तात्कालिक नहीं है, ऊटी में इस प्रश्न पर बातचीत करते समय भी उन्होंने इसी प्रकार की झुँझलाहट दिखाई थी। श्रीयुत सीतारामैया ने उन बातों का जिक्र करते हुए कहा कि "....his feeling was not in favour of disturbing the tranquillity of the atmosphere by pressing the issue of linguistic redistribution····" इस समय देश के शान्त वातावरण को, भाषानुसार पुनर्विभाजन पर जोर डालकर नष्ट करने के पक्ष में नेहरूजी का दिल गवाही नहीं देता। ठीक ही है, शान्ति के पुजारी नेहरूजी अशान्ति फैलाना नहीं चाहते।

परन्तु दिल बड़ा अजीब होता है, उसमें प्रश्न उठते हैं, १४४ लगाने पर भी, इसीलिए मन में सवाल होता है, क्या अंग्रेजी शासन में शान्त वातावरण नहीं था और उन्होंने उस शान्त वातावरण को आन्दोलन की आँधी से विध्वस्त नहीं किया था? तो इससे मालूम होता है कि उन्हें किसी 'खास किस्म' के शान्त वातावरण की कामना है।

(२)

आज देश में एक विचित्र बात नजर आ रही है। आज चारों ओर से हमारे प्रिय नेतागण हमें शान्ति मंत्र का पाठ पढ़ा रहे हैं। उनका कहना है कि १५ अगस्त सन् ४७ के बाद भारतवर्ष में जो स्वतंत्रता आई है उसके सामने सबको साष्टांग प्रणाम करना चाहिए और ध्यानस्थ होकर प्रतीक्षा करनी चाहिए; अब देश में जरा भी

* "he was irritated, provoked and excited beyond all description"–Pattabhi Sitaramayya in his statement published in—National Herald. June 15, 1948.

अशान्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि उससे बेचारे 'शिशु-राष्ट्र' की तन्दुरुस्ती खतरे में पड़ जायगी। इसीलिए आज चारों ओर से केवल 'शान्ति! शान्ति!' के 'प्रवचन' सुनाई पड़ रहे हैं।

आज साल भर होने आया है, खाने पीने की चीजों का दाम तिगुना, चौगुना हो गया, कोयले का दाम तिगुना होने पर भी मिलता ही नहीं, चोर बाजार (अब 'चोरी' नहीं है, बल्कि खुली डकैती चल रही है) से पाँच रुपया मन कोयला खरीदिए, पाँच रुपये की धोती को आप बारह पन्द्रह पर खरीदिए। परेशानी से पागल होकर आप पूछिए कि सरकार क्या कर रही है? तुरन्त जवाब आवेगा, शान्त वातावरण को नष्ट मत करो, राष्ट्र 'संकट' में पड़ जायगा।

१५ अगस्त सन् ४७ को बड़ी भारी लड़ाई (दुनिया में जिसकी तुलना नहीं, बिना रक्तपात से) लड़कर कांग्रेस ने भारत को स्वतन्त्र किया। देश भर में खुशी की बाढ़ आई। काँग्रेस ने वादा किया था कि किसान मजदूर राज कायम होगा, उनका दुःख दूर करना ही उनका पहला काम होगा। रूस में जिस दिन अक्टूबर विप्लव के बाद बोलशेविक राष्ट्र कायम हुआ था, उसी दिन लेनिन ने किसान-मजदूरों के बारे में जो वादा था उसे पूरा किया, परन्तु यहाँ पर स्वतन्त्रता की घोषणा होते ही स्पष्ट रूप से किसी नीति की घोषणा नहीं की गई। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उत्सव का धूमधाम बहुत अधिक था, देश भर के लोगों के कानों तक रेडियो के द्वारा उस उत्सव का कोलाहल पहुँचाया गया। खैर, किसानों ने मजदूरों ने धीरज रखा। उन लोगों को निश्चय विश्वास हो गया कि महात्मा जी हैं, नेहरूजी हैं, अवश्य ही जल्दी से वे चुनाव के समय के वादों को पूरा करेंगे।

एक साल बीत रहा है। किसानों को खेत नहीं मिला, जमींदारों के शोषण और अत्याचार जरा भी ढीले नहीं हुए। शोषण से विवश होकर जब वे जमींदारों के विरुद्ध खड़े हुए तो उन लोगों के मन में यह आशा थी कि नेहरू सरकार किसानों का पक्ष लेगी। परन्तु किसान क्या देख रहे हैं? जगह जगह वे जमींदारों के गुण्डों और नेहरू सरकार की पुलिस के हाथ मार खा रहे हैं, जान दे रहे हैं; उनकी जो थोड़ी-सी सम्पत्ति है वह लूटी जा रही है। सरकार क्या कह रही है? कानून पर हस्तक्षेप करना भारी अपराध है। शान्त वातावरण को किसान नष्ट कर रहे हैं। शान्ति! शान्ति! लुट जाओ, लगान के बोझ से मर जाओ, पर आह मत करो, शान्त रहो। किसान आज सोच रहे हैं, निर्वाक नेत्रों से वह प्रश्न कर रहे हैं, यही है स्वतंत्रता और रामराज्य!

एक साल बीत रहा है। मजदूर पूँजीपतियों के शोषण और अत्याचारों के अन्त होने की राह देख रहे थे। पूँजीपति ३०० प्रतिशत लाभ उठा रहे हैं; इधर जीवन यात्रा का व्यय बढ़ता जा रहा है, परन्तु नेहरूजी मजदूरों से क्या कहते हैं? आप कहते हैं इस समय मजदूरी बढ़ाने की माँग ठीक नहीं है, शिशुराष्ट्र है, उत्पादन खूब बढ़ाते जाओ। पर असन्तोष प्रगट कर हड़ताल करने से उत्पादन घट जाता है, राष्ट्र को नुकसान होता है, इसलिए खाने को तुम्हें न मिले कुछ परवाह नहीं, पर काम किए जाओ और देश के शान्त वातावरण को नष्ट मत करो।

शान्त वातावरण में पूँजीपति करोड़ों का लाभ करते जाँय, जनता पर शोषण बढ़ता जाय, मजदूर भूखों मरते जाँय, नेहरूजी आज इसी शान्त वातावरण के लिए लोगों को डाँट रहे हैं।

मजदूर भी आज अवाक हो कर प्रश्न करता है, यही है भारत की स्वतंत्रता और मजदूर राज? वाहरे! 'शान्ति,' 'शान्ति'

सचमुच, यह एक गहरा प्रश्न है। डकैतों पर यह 'शान्ति' आप किस के लिए चाहते हैं। डकैतों की लूट शान्ति से, बिना रोक-टोक चले, बस यही? नहीं तो, अभाव से जब हम मर रहे हैं, तो शान्ति किस लिए?

(३)

खैर, जाने दीजिए। आज हमें उसकी चर्चा नहीं करनी है। यहाँ कहना था कि आज आप कोई भी प्रश्न उठाइए तो बस चारों ओर से नारा उठाया जायगा, 'शान्ति! शान्ति! परन्तु शान्ति की आड़ में जो शोषण और अत्याचार चल रहे हैं इसे हम बरदाश्त नहीं कर सकते। इस शोषण और अत्याचार के विरुद्ध जो आवाजें उठ रही हैं, उन्हें भी आज नागरिक अधिकारों को कुचलकर दबाने की कोशिश चल रही है।

ब्रिटिश सरकार की तरह मौजूदा सरकार भी यही सोच रही है कि दमन नीति से ही शान्ति रखी जा सकेगी, परन्तु यह तो पागल का स्वप्न है!

देश को स्वतंत्र हुए एक साल हो गया। आज देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग कांग्रेस के द्वारा स्वीकृत नीति के अनुसार भाषा की दृष्टि से प्रान्तों का नवनिर्माण चाहते हैं। इस पर भी नेहरूजी जैसे राष्ट्र नेता झुँझला उठते हैं और कहते हैं कि ऐसी माँगों के कारण देश का शान्त वातावरण नष्ट हो जाता है। खैर कांग्रेस आज बहुत से पुराने वादों को भूल रही है। फिर भी देश के लोगों को आज भी स्मरण रखना है कि किस आदर्श को सामने रख कर कांग्रेस ने लोगों को स्वाधीनता-संग्राम में बुलाया था और किस प्रकार की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने इतनी कुर्बानियाँ की हैं।

सभी लोग जानते हैं कि भारतवर्ष वास्तव में एक छोटा-मोटा महादेश है, इसकी भौगोलिक प्रकृति एक नहीं है, इसी कारण यहाँ के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों के रहन-सहन, रीति-रस्म, जीवन-प्रणाली में भिन्नता है। भारतवर्ष में इसीलिए संस्कृति भी एक नहीं है। एक एक भाषा के आधार पर एक एक संस्कृति का विकास हुआ है। धर्म के आधार पर यद्यपि हम संस्कृति को हिन्दू संस्कृति, मुसलिम संस्कृति इत्यादि कहा करते हैं, तो भी यथार्थ में देखा जाय तो सांस्कृतिक भेद का प्रधान कारण धर्म नहीं। भिन्न भिन्न प्रान्तों की प्राकृतिक और भौगोलिक विशेषता के कारण ही वहाँ के लोगों की जीवनप्रणाली में भिन्नता आती है और उसी से सांस्कृतिक विशेषताएँ बन जाती हैं, जो विशेष रूप से उस प्रान्त की भाषा में भी व्यक्त होती हैं और भाषा के जरिए से वह संस्कृति समाज में स्थायी रूप लेकर भविष्य की ओर बढ़ती जाती हैं। इसीलिए एक भाषा के बोलने वालों की संस्कृति एक होती है। भारतवर्ष की हिन्दू जनता की संस्कृति को हम एक अभिन्न संस्कृति मानते हैं, परन्तु यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। भारतवर्ष की सभी प्रान्तीय भाषाओं के मूल में एक ही भाषा होने के कारण उस भाषा से प्राप्त सांस्कृतिक विशेषताएँ सभी भाषाओं में थोड़ी बहुत विद्यमान हैं, पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रान्तीय भाषाएं ज्यों-ज्यों मूल भाषा से भिन्न होती जा रही हैं, त्यों-त्यों उन भाषाओं के बोलने वालों की संस्कृति में भिन्नता अवश्य ही आती जा रही है। बंगाल के लोगों की संस्कृति और महाराष्ट्र के लोगों की संस्कृति में इसीलिए स्पष्ट भेद है, क्यों कि इन दो देशों के प्राकृतिक स्वरूप में भिन्नता होने के कारण यहाँ के लोगों के रहन-सहन, चाल-चलन, आचार-विचार और संस्कारों में अर्थात् प्रान्तीय चरित्र और मानसिक बनावट में बहुत अन्तर हो गया है। इसीलिए बंगाल की संस्कृति और महाराष्ट्र की संस्कृति में बहुत ही अन्तर है। इसीलिए प्रत्येक भाषाभाषी प्रान्त के जीवन की विशेषता उसकी भाषा और साहित्य में प्रतिफलित होती है और उसी भाषा के जरिए से ही यह जातीय वैशिष्ट्य (national character) एक पुरखे से दूसरे पुरखे को प्राप्त होता है।

इसीलिए किसी जाति के विनाश के लिए उसकी संस्कृति का विनाश आवश्यक होता है। सांस्कृतिक विजय ही सबसे भारी विजय है। इसीलिए पृथ्वी के साम्राज्यवादियों की बराबर यही नीति रही है कि वे विभिन्न देशों की भाषाओं की उन्नति में कभी भी सहायक नहीं हुए। यही कारण है कि डेढ़ दो सौ साल के विदेशी शासन में अंग्रेजों ने हमारे देश में इतनी शिक्षा दी कि प्रतिशत सात आठ आदमी भी हस्ताक्षर करना नहीं जानते। अमरीका के अधीन फिलिपिन में भी यही दशा है। एक मात्र भाषा सम्बन्धी-नीति को देखकर ही हम कह सकते हैं कि यह शासक जाति हमारी भलाई करने वाली है अथवा बुराई करने वाली। खैर, हमारे कहने का मतलब यह था कि भारतवर्ष अनेक भाषाओं का, अतः भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का देश है। भारतवर्ष न एक जाति का देश है और न उसमें एक अभिन्न संस्कृति है, परन्तु विदेशी शासकों ने हमारे देश को सांस्कृतिक दृष्टि से, भाषा के आधार पर भिन्न भिन्न प्रान्तों में नहीं बाँटा था, क्योंकि उनकी तो हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रति कोई हमदर्दी नहीं थी। उन्हें तो हमारे देश के कच्चे माल को लूटना था, इसलिए प्रान्त विभाजन भी उसी दृष्टि से किया गया था।

फल यह हुआ था कि एक ही प्रान्त में भिन्न भिन्न भाषाओं के बोलने वाले सम्मिलित हुए, एक ही भाषा

के बोलने वाले लोगों को भिन्न-भिन्न प्रान्तों में विच्छिन्न और विभाजित कर दिया गया। पहले तो अंग्रेजों ने हमारी भाषा साहित्य और संस्कृति की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया। लेकिन बाध्य होकर अपने ही साम्राज्यवादी शोषण की गरज से देश के स्वल्प संख्यक लोगों को शासन विभाग में—पुलिस, फौज और सरकारी 'दफ्तरों में—लेना पड़ा, व्यापारिक दफ्तरों में भी काम देना पड़ा और इन कामों के योग्य बनाने के लिए उन्हें शिक्षित भी करना पड़ा। इसी सूत्र से धीरे धीरे देश में अंग्रेजी शिक्षा का कुछ प्रसार हुआ और देश मे पुनर्जागरण भी हुआ। इसी नव जागृति (रेनेसाँस) का फल था कि देश में पुरानी सभ्यता और संस्कृति की ओर लोगों का ध्यान गया और तब लोग अपनी संस्कृति और सभ्यता के ऊपर जो वैदेशिक प्रहार हो रहा था उस के बारे में भी कुछ सचेत होने लगे। इसी से भारत के प्रान्तीय साहित्य के विकास का प्रारंभ हुआ।

परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से प्रान्तों का विभाजन न रहने और देश के अन्दर टापुओं की तरह देशी रियासतों में भी विभिन्न भाषा वालों के बँट जाने के कारण विभिन्न भाषा और साहित्य का विकास सम्यक् रूप से नहीं हो पाता था, हिन्दी भाषी प्रान्त में मराठी बोलने वालों अथवा बंगला बोलने वालों की शिक्षा में अथवा मराठी प्रान्त में गुजराती बोलने वालों की शिक्षा में बहुत ही विघ्न हुआ करता था। इसी कारण बाध्य होकर बहुत से लोगों को अपनी भाषा और संस्कृति से वञ्चित रहना पड़ता था। भारत के दक्षिण में भी कई भाषाएँ बोली जाती हैं, परन्तु वहाँ भी प्रान्तीय विभाजन भाषा के आधार पर न होने के कारण वहाँ के लोगों को भी अपनी भाषा और संस्कृति से वञ्चित होना पड़ रहा है।

देश की जागृति के साथ ही साथ लोगों ने इन असुविधाओं को महसूस किया, किन्तु विदेशी शासकों से कुछ भी सुधार नहीं हुआ। अन्त में कांग्रेस ने इस नीति को मान लिया था कि यदि कभी कांग्रेस को शासन भार प्राप्त होगा तो वह अवश्य ही भाषा और संस्कृति की दृष्टि से देश को भिन्न भिन्न प्रान्तों में बाँट देगी। यह एक बहुत ही शुभ संकल्प था।

(४)

लेकिन विदेशी साम्राज्यवाद बहुत ही होशियार था, उसने तो कूटनीति का मानो विशेष अध्ययन किया था। जब कि सारा हिन्दुस्तान एक ही भारतीयता के नाम पर एकत्रित हो रहा था, जब बंगाली और पंजाबी दोनों 'हम भारतीय हैं' मराठी और मद्रासी 'हम भारतीय हैं' कह कर एक ही पताका के नीचे कंधे से कंधा मिला कर साम्राज्यवाद को यहाँ से जड़ से उखाड़ फेंकने की तैयारी करने लगे तब ब्रिटिश साम्राज्यवाद कुछ घबरा गया था। नैशनलिज्म की इस एक करने वाली शक्ति को नष्ट करने के लिए, वह एक ऐसा चाल चला जिसमें हमारे देश के नेता धोखा खा गए। वह नीति 'प्रादेशिक स्वायत्त शासन' (Provincial autonomy) की कूटनीति थी।

इस नीति के चालू होने के बाद से हर प्रान्त वाले अपने अपने प्रान्त को दूसरे प्रान्तों से बिलकुल अलग समझने लगे और पहले भारतीयता का जो भाव लोगों में बढ़ रहा था, वह खतम होकर अब प्रान्तीयता का भाव तेजी से बढ़ने लगा। सरकारी नौकरी के क्षेत्र में विशेष रूप से यह प्रान्तीयता का भाव दृढ़ होने लगा और इससे जो विद्वेष उत्पन्न होने लगा वह हमारी राजनीति और साहित्य-संस्कृति में भी दिखाई देने लगा।

उत्तर और उत्तर पूर्व भारत में यह विभेद विशेष रूप से बंगाली आसामी और हिन्दुस्तानियों के पारस्परिक विद्वेष के रूप में प्रकट हुआ। इसका एक अर्थनीतिक कारण भी था। अंग्रेजों ने जब पहले उत्तर भारत की ओर बढ़ना शुरू किया तो उन्होंने अपने साथ बंगालियों को भी ले लिया। इसका एक कारण यह था कि बंगालियों पर ही अंग्रेजी शासन और शिक्षा का प्रभाव पहले पड़ा था और इसलिए उत्तर भारत से ही आदमियों को योग्य बना कर काम में लेने के बजाय उन्होंने बंगाल से ही तैयार नौकरों को लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि उत्तर भारत में बंगाली ही अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार में अग्रणी हुए और उत्तर भारत में कुछ समय तक सरकारी नौकरी में—शिक्षा विभाग में, कचहरियों में, वकालत और डाक्टरी में बंगाल से आए हुए लोगों को प्रमुख स्थान मिलने लगा।

उत्तर भारत की जागृति में इस तरह से बंगालियों ने प्रमुख भाग तो लिया इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इसका और एक बुरा नतीजा भी हुआ। कुछ दिनों बाद जब उत्तर भारत के निवासी भी शिक्षित और योग्य होने लगे तो उन्होंने देखा कि बंगाली मुख्य मुख्य स्थानों पर बैठे हुए हैं। पहले तो उत्तर भारत के शिक्षा इत्यादि क्षेत्रों में बंगालियों ने जो सेवा की थी उसके लिए बंगालियों के प्रति उत्तर भारतीय लोगों की काफी श्रद्धा थी और वे बंगालियों को बहुत ही आदर की दृष्टि से भी देखते थे। परन्तु बाद को जब इस प्रान्त के लोगों ने देखा कि उनके पहले ही बंगाली यहाँ के मुख्य मुख्य सरकारी और गैर सरकारी कामों में प्रधानता प्राप्त किए हुए हैं तो उनके मन में स्वभावतः एक प्रकार का विद्वेष उत्पन्न होने लगा, क्योंकि उन्होंने यह समझा कि जिन पर स्वभावतः उनका अधिकर होना चाहिए बंगालियों ने उनपर अन्याय रूप से अधिकार जमा लिया है। जो बंगाली अब उत्तर भारत में बस गए थे और वहीं के निवासी भी बन गए थे उन्हें भी वह बाहरी विदेशी समझने लगे और अर्थनैतिक क्षेत्रों से उन्हें निकालने की इच्छा भी होने लगी। इस तरह कुछ अर्थनैतिक कारणों से ही बंगाली विद्वेष उत्पन्न हो गया। इस विद्वेष के बढ़ने के और भी कारण थे। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी बंगाली काफी आगे बढ़े हुए थे और इसके कारण बंगालियों के मन में भी कुछ ऐसी भावनाएँ बढ़ने लगी थीं कि वे उत्तर भारत के हिन्दी भाषा भाषियों से कुछ उन्नत हैं। स्वभावतः इसकी प्रतिक्रिया भी उत्तर भारत के कुछ लोगों में होने लगी और अन्त में उत्तर भारत के कुछ लोगों में बंगला साहित्य के अपकर्षों को दिखला कर अपने साहित्य की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की चेष्टा भी होने लगी।

पारस्परिक विद्वेष की उत्तेजना के लिए कुछ स्वाभाविक कारण इस प्रकार होने से प्रादेशिक स्वतंत्रता नीति का जो उद्देश्य था वह बहुत ही सफल हुआ। बिहार में जहाँ पर बंगालियों का प्रभाव बहुत ही अधिक था बंगालियों के प्रति विद्वेष अत्यन्त प्रबल हो उठा और संयुक्त प्रान्त में भी उसका थोड़ा बहुत असर होने लगा।

कई वर्षों के प्रान्तीय स्वतंत्रतामूलक शासन का जो प्रभाव होना था वह धीरे धीरे हो गया। भारतीयों के अन्दर तरह तरह से फूट डालने की जो नीति थी उसे इस प्रकार से भी मजबूत किया गया। इसी का एक भयानक फल यह है कि बिहार के कुछ जिलों में जहाँ के अधिक लोगों की मातृभाषा बंगला है उन्हें जबरदस्ती हिन्दी में शिक्षा देकर उनकी मातृभाषा और संस्कृति पर प्रहार करने में, बिहार के देशप्रेमी कांग्रेसी शासकों को भी 'कोई संकोच नहीं हुआ कांग्रेस के सभापति डा०. राजेन्द्रप्रसाद जी ने भी अबतक इस जनतंत्र विरोधी अनाचार का कोई विरोध नहीं किया।

प्रादेशिकता की वृद्धि के कारण भारत के हर प्रान्त में, हर प्रदेश के अधिक संख्यक लोगों की जो भाषा और संस्कृति है उसी को बिना विचार वहाँ के स्वल्प संख्यक लोगों पर लादने की चेष्टा हो रही है और यह कहा जा रहा है कि जब प्रदेश बन चुका है तो वहाँ पर भिन्न भिन्न भाषाओं के लिए स्वतंत्रता नहीं हो सकती है, जिनकी संख्या अधिक है उन्हीं की भाषा और संस्कृति को दूसरे लोगों को भी अपना लेना होगा। पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी भावना मानवता विरोधी, यथार्थ राष्ट्रीयता विघातक और जनतांत्रिकता पर कुठाराघात है।

(५)

'जियो और जीने दो' यही मानवता की मांग है। संसार भर में जो मनुष्य हैं उन सभी का दुनियाँ में रहने का और अपना अपना विकास करने का, फूलने और फलने का बराबर अधिकार है, यह एक सार्वजनिक सिद्धान्त है। इसलिए हम यही चाहते हैं कि दुनियाँ में प्रत्येक जाति अपनी अपनी विशेषताओं को लेकर विकसित हो और सब मिलकर एक विश्वभ्रातृत्व का संगठन करें। परन्तु जबतक दुनियाँ में पूँजीवाद—जो कि साम्राज्यवाद का ही विकसित विकट रूप है—रहेगा तब तक विश्व में इस प्रकार भ्रातृत्व की प्रतिष्ठा असंभव है। पूँजीवाद का विनाश कर यथार्थ सामाजतांत्रिक सामाजवाद की प्रतिष्ठा ही इसकी पहली और अनिवार्य शर्त है

हम यह स्वीकार करते हैं कि हमारे देश भिन्न भाषाएँ भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के आधार न संस्कृतियों के विकास के लिए यह आवश्यक ता है कि उन भाषाओं के विकास में भी हम मदद दें। इसलिए यह आवश्यक है कि भाषा के बोलने वाले लोगों को हम एक ही प्रान्त लित कर दें ताकि उन लोगों की शिक्षा में कोई न हो। इस मामले में निर्णय करने का पूर्णरूप से जनसाधारण के हाथ में छोड़ चाहिए। बनावटी कमेटियों की कृत्रिम राय से निर्णय नहीं होना चाहिए। इस समय जो ने हुए हैं, उनमें कोई जिला अगर दूसरे प्रान्त की दृष्टि से सम्मिलित होना चाहे तो वहाँ के राय से, उसे उसमें सम्मिलित होने का दे देना चाहिए। हमें स्मरण रखना चाहिए कि परिस्थिति को देखकर ही इस विषय का निर्णय गा। यह कहना कि ये लोग सौ वर्ष पहले करते थे और अब ये लोग बंगला बोल रहे इन्हें फिर हिन्दी बोलना होगा, यह तो बरदस्ती है। इसी तरह बंगाल के लोग भी सकते कि अमुक जिले के लोग पहले थे, आज वे आसामी भाषा बोलते हैं, लोगों को फिर बंगला बोलने के लिए । मराठी बोलने वाले कुछ लोग यदि आज में रहना पसन्द न करें तो उन्हें इसी तरह प्रान्त में सम्मिलित होने देना चाहिए। अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति की अपनी भाषा वाले प्रान्त में सम्मिलित ग्रह करे तो उसे 'विच्छिन्न होने की प्रवृत्ति' st tendency) कहना बहुत ही अनुचित प्रत्येक व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास चाहता ऐसा कहना असंभव है। नेहरू जी जैसे नी और जनतांत्रिक कहलाने वाले व्यक्ति भाषानुसार प्रदेशों के पुनर्गठन का विरोध यह कुछ समझ में नहीं आता।

श्री सीतारामैया ने १४ जून, सन् ४८ को व्यक्तव्य दिया है वह उल्लेखनीय है। "परन्तु मेरे जैसे व्यक्ति के लिए (भाषानुसार विभाजन का) प्रश्न अनुन्नत सम्प्रदाय अथवा पिछड़े हुए सम्प्रदाय सम्बन्धी आन्दोलन के पर्याय का नहीं है, बल्कि यह प्रान्तीय स्वायत्त शासन पर प्रतिष्ठित भारतीय जातीयता (नैशनलिज्म) का प्रारंभविन्दु और आधार है और इसका लक्ष्य अदालत, कौन्सिल और कालिजों में मातृभाषा के प्रयोग से गांवों द्वारा नेतृत्व करना है। मेरे लिए यह केवल आन्ध्र का सवाल नहीं है, बल्कि भाषा के आधार पर भारतीय प्रान्तों के पुनर्विभाजन का सवाल है और इस मामले में मैं प्रधान मन्त्री की उक्तियों को अद्भुत भ्रमपूर्ण पाता हूँ, क्योंकि आप ने इस प्रश्न के अन्दर भेदात्मक आन्दोलनों की निन्दा की है।" हम समझते हैं कि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति सीतारामैया जी की इन बातों की सत्यता को स्वीकार करेगा।

नेहरूजी जब अब की बार आन्ध्र की ओर गए तो लोगों ने बार बार इस प्रश्न की ओर उनकी दृष्टि आकर्षित की जिससे उनको क्रोध हो गया। प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध में मालूम होता है कि वह अपने को असहाय पाते हैं और हर बात में आजकल वह लोगों से केवल 'शान्त वातावरण' कायम रखने को कहते हैं। परन्तु यह भी देखा जाता है कि जब तक किसी विषय को लेकर शोर गुल न मचाया जाय तब तक कुछ भी हो नहीं रहा है। अगर देश भर के लोग अन्धे की तरह चुपचाप सरकार की ओर हाथ पसार कर बैठे रहेंगे तो सरकार अन्तर्यामी की तरह हमारी समस्याओं का हलकर देगी ऐसी कोई भी संभावना नहीं दिखाई देती। इसीलिए आन्ध्र के लोगों के आग्रह और अधीरता को देखकर पंडितजी को समझना चाहिए था कि यह देश के लोगों की मांग है और वह जब प्रायः भाषण में अपने को 'जनता का सेवक' बतलाते हैं तो उन्हें लोगों की राय को जान कर और भी हर्ष प्रगट करना चाहिए था।

देश के लोग जानते हैं कि शीघ्र ही विधान परिषद् में भारत का नया विधान बनने जा रहा है। इसलिए उपयुक्त रूप से प्रान्तों का पुनर्निर्माण होना भी एक जरूरी समस्या है और इसका समाधान भी जल्दी होना जरूरी है। सबसे पहले देश की शिक्षा-

व्यवस्था को ठीक करने की जरूरत है। स्वीकृत भाषा के द्वारा ही समाज और राष्ट्र में परिवर्तन लाए जायँगे, भाषा के द्वारा ही देश के ज्ञान, विज्ञान, सामाजिक और राष्ट्रीय विधिव्यवस्थाओं की उन्नति हो सकती है और जब तक देश की शिक्षा में उन्नति नहीं होगी तब तक भाषा की उन्नति भी असंभव है। और आज कल यह बात तो सभी ने मान ली है कि मातृभाषा में ही यथार्थ शिक्षा दी जा सकती है और प्रत्येक की मातृभाषा में ही उच्चतम शिक्षा को संभव करना यथार्थ लोकतंत्र का आदर्श होना चाहिए।

अतः यदि हम भारतवर्ष में यथाथ जनतंत्र की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, अथवा प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास के लिए बराबर सुविधा देना चाहते हैं तो हमें प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा का और उस शिक्षा को प्रत्येक व्यक्ति की अपनी मातृभाषा में देने का आयोजन करना होगा। जब तक एक ही प्रान्त में कई भाषाओं के बोलने वाले रहेंगे अथवा एक ही भाषा के बोलने वाले भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभाजित रहेंगे तब तक अपनी अपनी मातृभाषा में उनकी शिक्षा का उपयुक्त आयोजन करना संभव नहीं होगा। इसी-लिए भारतवर्ष में नवीन शिक्षा-योजना को चालू करने के पहले ही यह आवश्यक है कि हम राष्ट्र को भाषा के अनुसार प्रान्तों में विभाजित करें ताकि उनसे प्रत्येक भाषा को और उस भाषा के आधार पर जो संस्कृति और साहित्य है उसको विकास प्राप्त करने की सारी सुविधाएं मिल सकें।

श्रीयुत सीतारामैया ने India and World Affairs की जून १६४८ अंक में इस सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है उस पर प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान देना चाहिए। उसमें आपने लिखा है कि, "आखिरकार भारतवर्ष ने अपने अधिकार को प्राप्त किया है, उसे अब दुनियाँ की जातियों के योग्य साथी के रूप में प्रतिष्ठित होना है। इस उद्देश्य से उसे शिक्षाप्रणाली का पुनः संस्कार, अपने न्याय विभाग की पुनर्व्यवस्था और अपने शासन और विधान सम्बन्धी साधनों का पुनस्संगठन का कार्य शुरु कर देना चाहिए। इन तीनों सुधारों की बुनियाद में भाषा का प्रश्न है जो विचार का वाहन है और जिसके माध्यम से विद्यालयों में शिक्षा, अदालतों में बहस और विधान परिषदों (कौन्सिलों) में प्रतिनिधित्व किए जाते हैं।

एक ओर बहुभाषायुक्त प्रान्त और दूसरी ओर एक ही भाषा के कई प्रान्तों में फैले रहने के कारण आज यह सुधार संभव नहीं है। 'एक भाषा–एक प्रान्त' हमारा लक्ष्य है।" (जून १५, सन् ४८ के नेशनल हेरल्ड में उद्धृत)

(६)

भाषानुसार प्रान्त निर्माण की माँग के अन्दर नेहरू जी परस्पर से अलग होने की प्रवृत्ति को देख कर असन्तुष्ट और क्षुब्ध हो रहे हैं। परन्तु प्रान्तीय स्वायत्त शासन (Provincial Autonomy) मिलने के बाद से प्रान्तीयता के रूप में जो पारस्परिक विद्वेष और घृणा बढ़ती आ रही है उन्होंने उस पर कोई भी विचार नहीं किया है। वरन् इस प्रकार के प्रान्तीय विभाजन से ही जो भिन्न-भिन्न भाषा के बोलने वालों पर अव्यक्त रूप से अत्याचार हो रहा है, हमारा ख्याल है कि उससे कम घृणा और विद्वेष की सृष्टि नहीं हो रही है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि हम लोग भाषा के आधार पर लोगों को भिन्न-भिन्न प्रान्त बनाने का अधिकार देंगे तो उससे परस्पर की सभ्यता और संस्कृति के प्रति जिस आदर का प्रदर्शन होगा वह हमें और भी घनिष्ठ मित्र के रूप-परिणत करेगा। एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति के वैशिष्ट्य को कुचल कर नहीं, बल्कि प्रत्येक सभ्यता और संस्कृति को और भी विकसित होने का मौका देकर ही हम भारत की भिन्न भिन्न जातियों में गहरी मित्रता और स्थायी सम्बन्ध को स्थापित कर सकेंगे। इससे प्रान्तीय विद्वेष बढ़ेगा नहीं, बल्कि सभी को बराबर विकास की सुविधा मिलने से परस्पर में सहयोग और बन्धुत्व की ही वृद्धि होगी। भारतवर्ष की भिन्न भिन्न जातियों को सम्मिलित करने का यही एक उपाय है।

इसलिए भाषा के आधार पर भारत राष्ट्र को भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बाँटने की समस्या को जल्द से जल्द जनतांत्रिक उपाय से, अर्थात् जनता की राय से हल कर लेना चाहिए। जिन-जिन जिलों में भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले रहते हैं वहाँ पर उनकी भाषा के अनुसार

अलग अलग टुकड़ों में बाँट कर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सम्मिलित कर देना संभवतः कठिन न होगा। परन्तु जहाँ पर कई भाषाओं के बोलने वाले अलग अलग हिस्सों में न रह कर बिलकुल एक साथ मिश्रित रूप में रहते हैं वहाँ की समस्या को हमें दूसरे प्रकार से हल करनी होगी। संयुक्त प्रान्त की यही समस्या है।

हम जानते हैं कि संयुक्त प्रान्त की सरकार ने राष्ट्र भाषा को हिन्दी बना लिया है और प्रान्त भर के विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी हो गई है। इससे जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी है उनमें बेहद उल्लास है और उनकी संख्या भी अधिक है। परन्तु साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ रहा है कि इस व्यवस्था से जिन लोगों की मातृभाषा उर्दू है उन लोगों के दिल में गहरी चोट पहुँची है—केवल परिस्थिति के कारण वह असन्तोष और वेदना प्रबल रूप से प्रकट होने नहीं पा रही है।

नाना प्रकार की युक्ति और तर्क से लोग कितना भी इस बात को सिद्ध करने की कोशिश करें कि उर्दू कोई भाषा नहीं है, तथापि यह बात सत्य नहीं है। चाहे उस भाषा की आयु बहुत कम हो, चाहे उसकी परम्परा प्राचीन न हो और कुछ विदेशी भी हो तो भी आज यह कहना असत्य है कि उर्दू कोई भाषा ही नहीं है। और यह भी कहना सत्य नहीं है कि उर्दू हिन्दी ही की एक शैली है। यथार्थ में उर्दू एक भाषा है और इसके बोलने वाले हिन्दू मुसलमान सिक्ख सभी हैं। तब इस भाषा के विरुद्ध इतनी चिढ़ क्यों है?

असल में हिन्दी-उर्दू का झगड़ा भाषा के स्तर पर नहीं चल रहा है, इस झगड़े की आड़ में एक बड़ी साम्प्रदायिक लड़ाई चल रही है। उसे हमें समझना चाहिए।

(७)

परन्तु इस प्रश्न की विशद आलोचना करना इस निबन्ध का उद्देश्य नहीं है। संभव हुआ तो फिर इस विषय में आलोचना करने की इच्छा है। यहाँ पर संक्षेप में यही कहना है कि संयुक्त प्रान्त के पूर्वी हिस्सों में जो भाषा लोगों में बोली जाती है वह हिन्दी है, उसमें संस्कृत का प्रभाव अधिक है, परन्तु पश्चिमी हिस्सों में जो भाषा बोली जाती है वह उर्दू है, उसमें फारसी शब्दों की अधिकता है। लिखित रूप में, अर्थात् साहित्य में यह भिन्नता बहुत ही विकट है: एक ओर लिखित हिन्दी अनुस्वार विसर्ग रहित संस्कृत बनना चाहती है और दूसरी ओर उर्दू फारसी का ही एक भारतीय संस्करण हो गई है।

उर्दू भाषा में फारसी का प्रभाव अधिक होने के कारण और इस प्रान्त की मुसलिम जनता की साहित्यिक भाषा होने के कारण इसमें वैदेशिक मुसलिम संस्कृति का प्रभाव भी पर्याप्त है। भारतवर्ष में—अतः इस प्रान्त में भी—साम्प्रदायिक विद्वेष को बढ़ाने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कूटनीति ने क्या क्या किया, उसकी चर्चा करने में भी यहाँ स्थानाभाव है। परन्तु यहाँ पर इतना ही कहना काफी है कि धर्म-साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ने के कारण ही इस प्रान्त में साम्प्रदायवादी लोगों ने 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' का नारा उठाया और उर्दू भाषा को बिलकुल नष्ट करने के लिए कमर कस लिया। क्योंकि वह ऐसा समझते हैं कि यदि किसी तरह सब पर हिन्दी भाषा लाद दी जायगी तो उससे मुसलिम संस्कृति भी भाषा के आधार से च्युत होकर कुछ वर्षों बाद भारतवर्ष से लुप्त हो जायगी। सम्प्रदायवादियों का यही उद्देश्य है। कांग्रेसी अपने को साम्प्रदायवादी तो कहते नहीं, परन्तु कांग्रेस में भी साम्प्रदायिक भेदबुद्धि प्रबल होती गई है और इसीका नतीजा है कि भारतवर्ष को धर्म की दृष्टि से दो टुकड़ों में बाँटने की नीति को भी कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। और कांग्रेस के अन्दर इस प्रच्छन्न हिन्दुत्व बाहुल्य के कारण ही अन्त में हिन्दी को ही राष्ट्र भाषा बनाने की कोशिश है—हिन्दुस्तानी को नहीं।

इससे संयुक्तप्रान्त में भाषा की जो समस्या थी, उसका समाधान नहीं हुआ। एक भाषा का दमन कर, दूसरी भाषा को जबरदस्ती सबके ऊपर लाद कर युक्तप्रान्तीय सरकार ने यथार्थ जनतांत्रिकता के विरुद्ध काम किया है। इस प्रकार दमन से जिस पर दमन होता है, उसका तो कल्याण होता ही नहीं, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इससे दमनकारी का भी कल्याण नहीं होता। व्यक्त असन्तोष से अव्यक्त असन्तोष और भी भयंकर होता है। समय रहते अभी हमें सचेत होकर उर्दू पर इस अत्याचार का निवारण करना चाहिए।

उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं को स्वीकार कर ही हमें इस प्रान्त की शिक्षा व्यवस्था इत्यादि का रास्ता निकालना चाहिए। पर निश्चय ही हिन्दी-उर्दू दोनों के लिए एक नागरी लिपि के होने से ही राष्ट्र का कल्याण है। सुइजरलैन्ड में भी इस प्रकार की स्थिति है। वहाँ भी कई भाषाओं के लोग मिश्रित रूप से रहते हैं। उसका अध्ययन करने से संभवतः इस समस्या के हल करने में हमें कुछ मदद मिल सके।

(८)

हमने पहले ही बताया है कि प्रत्येक प्रान्त में उस प्रान्त की भाषा ही वहाँ की शिक्षा का माध्यम होगी। और उस प्रान्त में उसी भाषा से ही प्रान्तीय सरकार की सारी कार्रवाई भी की जायगी। अर्थात् उस प्रान्त के लिए प्रान्तीय भाषा ही राष्ट्रभाषा का काम करेगी।

परन्तु सारे भारतीय राष्ट्र के लिए, केन्द्रीय सरकार के लिए किसी एक भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाना होगा, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। लेकिन इस भाषा की सीमा और प्रसार कहाँ तक रहेगी, उसके बारे में लोगों के मन में अब भी स्पष्ट धारणा नहीं है। इतने दिनों तक साम्राज्यवादी सरकार ने हमारे ऊपर जिस राष्ट्रभाषा को लादा था, उसने तो हमारी अपनी भाषाओं के विकास को भी रोक रखा था क्योंकि इस राष्ट्रभाषा के द्वारा ही भारतवर्ष की उच्चतम शिक्षा दी जाती थी। फल यह हुआ कि आज जब अंग्रेज हमारे देश से चले गए तो अंग्रेजी के बिना उच्च शिक्षा देने के लिए हमारे पास कोई भी ग्रन्थ नहीं है, हमारे देश में जो भी थोड़े से वैज्ञानिक हुए हैं उनकी सारी बातें अंग्रेजी में ही लिखी गई हैं। हमारे इतिहास, दर्शन, विज्ञान के ग्रन्थागारों में भारतीय भाषा की पुस्तकें नहीं हैं। यही कारण है कि हाल ही में विश्वविद्यालयों में और भी पांच वर्ष तक अंग्रेजी में पढ़ाने का निश्चय हो रहा है।

अब हमें निर्णय करना है कि क्या अब उसी अंग्रेजी का स्थान किसी भारतीय भाषा को देने से ही समस्या का समाधान हो जायगा? कुछ लोगों की राय तो यही है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी में ही राष्ट्रभाषा होने की योग्यता सब से अधिक है, बहुत से पंडितों की राय यह है। अतएव भारत के सभी प्रान्तों में सर्वभारतीय राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की पढ़ाई का होना आवश्यक है। इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु यदि साथ ही साथ यह भी कहा जाने लगे कि सभी प्रान्तों की सेकेण्ड्री स्कूलों की शिक्षा भले ही प्रान्तीय भाषाओं में हो, लेकिन कालेजों की, विश्वविद्यालयों की जो शिक्षा है वह सर्वत्र केन्द्रीय राष्ट्रभाषा में ही होगी, तो हमारे विचार में वह नीति अन्य अन्य प्रान्तीय भाषा साहित्य और संस्कृतियों के लिए अत्यन्त घातक साबित होगी।

यदि हम यथार्थ मानवता के पुजारी हैं, यदि हम संकीर्ण प्रान्तीयता और आत्मप्राधान्य को ही अभीष्ट नहीं समझते हैं, यदि हम सभी मनुष्यों के अधिकारों को बराबर समझते हैं, यदि हम स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का सांस्कृतिक विकास केवल उसकी मातृभाषा में ही हो सकता है, तो हमें प्रत्येक मनुष्य को वह अधिकार देना होगा। इसीलिए यह भी आवश्यक होगा कि प्रत्येक प्रान्त में उसी प्रान्त की भाषा में उच्चतम शिक्षा देने की व्यवस्था की जाय। ऐसा न करने से भाषानुसार प्रान्तीय विभाजन करने पर भी वह किसी काम का नहीं होगा, प्रत्येक प्रान्त में राष्ट्रभाषा को अनिवार्य करना होगा, जिससे कोई चाहे तो राष्ट्रभाषा में भी केन्द्रीय प्रान्त में जाकर शिक्षा प्राप्त कर सकेगा। परन्तु साधारणतः हमें ऐसी व्यवस्था अवश्य ही करनी होगी, जिससे किसी भी प्रान्त में रह कर प्रत्येक व्यक्ति को उच्चतम शिक्षा मिल सके।

भाषा के अनुसार प्रान्तीय विभाजन करना और हर एक प्रान्त में उसी भाषा में उच्चतम शिक्षा का आयोजन करना पूर्णांग जनतांत्रिक राष्ट्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि इस नीति से हमारी सरकार भारत की सभी भाषाओं के विकास में सहायक होगी तो एक ओर से देश में शिक्षा का अधिकतम प्रचार होगा और दूसरी ओर विभिन्न प्रान्तों में सौहार्द्र और सद्भावना की वृद्धि होती जायगी और भारतीय राष्ट्र भी दुनिया के श्रेष्ठ राष्ट्रों में परिणत होगा।

३

रस और रूप

श्री महेन्द्रचन्द्र राय

साहित्य चाहे 'जीवन की समालोचना' हो अथवा 'जीवन का प्रतिविम्ब' हो जीवन के उपादानों को लेकर ही उसकी सृष्टि-कला है। इसीलिए साहित्य की आलोचना वैज्ञानिक, अर्थनीतिक, समाजनीतिक और दार्शनिक सभी करते हैं. ये सभी लोग साहित्य के सम्बन्ध में अपनी अपनी राय व्यक्त करते हैं। परन्तु हम एक बात भूल जाते हैं कि इनमें से कोई भी साहित्य को पूर्णरूप से नहीं देख सकते हैं। जीवन के साथ अर्थनीति का सम्बन्ध है. विज्ञान का भी सम्बन्ध है, दार्शनिक विचारों के साथ भी जीवन का घनिष्ठ सम्पर्क है, फिर भी इनमें से किसी में भी जीवन का पूर्ण प्रकाश नहीं होता। किसी विशेष विशेष पहलू से जीवन को ये लोग देख सकते हैं, लेकिन जीवन को पूर्णरूप से देखना अथवा उसका उपयोग करना उन लोगों के लिए संभव नहीं है।

इसका कारण यह है कि वस्तुसत्ता का विश्लेषण कर हम उसमें से अर्थनैतिक, वैज्ञानिक, समाजिक, धार्मिक और दार्शनिक नाना प्रकार के तत्व और मतवाद निकाल सकते हैं, परन्तु हम उस वस्तु की अखंड और पूर्णसत्ता को इस प्रकार कभी भी जान नहीं सकते। विश्लेषण के द्वारा भिन्न खंडों का आविष्कार हो सकता है, परन्तु सब खंडों को एकत्र करने से भी वस्तु का पूर्ण रूप मालूम नहीं हो सकता है. भावुक और रसिक की दृष्टि से वस्तु की अखंड सत्ता को जानना पड़ता है। एक गाय को लेकर अर्थनीतिक आलोचना हो सकती है, वैज्ञानिक आलोचना भी हो सकती है, उसकी दार्शनिक आलोचना भी असंभव नहीं है. परन्तु गाय के स्वरूप का ज्ञान इस तरह प्राप्त नहीं हो सकता। कलाकार साहित्यिक गाय को जिस दृष्टि से देखते हैं,वह विश्लेषणात्मक दृष्टि नहीं है। गाय का जो समग्र रूप है, जिस अखण्ड रूप को देखकर हम मुग्ध होते हैं, कलाकार साहित्यिक उस रूप को हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। जब हम किसी फूल को देखते हैं तो उसका वर्ण, गन्ध, आकार और जाति सभी हमारे ज्ञान के विषयीभूत होते हैं, पर फूल के जिस समग्र रूप का हम लोग उपयोग करते हैं, वह इन भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञानों के एकत्रीकरण से नहीं होता। फूल की जो अन्तर्निहित और अखण्ड सत्ता वर्ण गन्ध और आकृति में प्रकट होती है, वह सत्ता ही यथार्थ में उपयोग का विषय है। उसे छोड़ कर हम फूल के बारे में भिन्न-भिन्न पहलुओं से अनुसन्धान कर सकते हैं परन्तु उससे फूल का सम्यक् और सामाग्रिक ज्ञान नहीं प्राप्त होगा। साहित्य रूप कला है और इसीलिए इसका लक्ष्य वस्तुओं का जो अखंड रूप है उसे प्रकट करना है।

इस रूप की चर्चा करते समय अपने आप ही से रस की बात आ जाती है। आज कल साहित्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में नाना प्रकार के तर्क हो रहे हैं और इतने दिनों से जिसे हम रस कहते आ रहे हैं वही साहित्य का एकमात्र लक्ष्य है अथवा नहीं, इस विषय में भी मत-भेद हो रहा है। परन्तु रस एक ऐसी वस्तु है जिसकी कोई भी निर्दिष्ट परिभाषा देना सम्भव नहीं है। बहि-र्जगत् और जीवन की जो वास्तव सत्ता है,वह तो हमारी इन्द्रियों के सम्मुख प्रकट है, किन्तु साधारणतया उसे देखकर हमें कुछ भी आनन्द नहीं होता, न उसकी किसी विचित्रता से हम मुग्ध ही होते हैं। वस्तुओं को देखने की तीन प्रणालियाँ हैं। किसी वस्तु को हम उसके प्रयोजन की दृष्टि से देख सकते हैं और व्यावहारिक और सामाजिक हिताहित की दृष्टि से भी उसका विचार कर हम उसके प्रति आकर्षित अथवा विरक्त हो सकते हैं। फिर उसी वस्तु को हम वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक की निरासक्त दृष्टि से भी देख सकते हैं। परन्तु हम कभी कभी वस्तु को केवल सौन्दर्यात्मक दृष्टि से भी देख सकते हैं। जीवन और जगत् को लेकर जब हम सौंदर्य का उपभोग करने को प्रवृत्त होते हैं, तभी वह साहित्य हो उठता है। इसी दृष्टि को हम साहित्यिक दृष्टि कह

सकते हैं। इसी को कुछ लोग रसबोध का नाम देते हैं और कुछ सौन्दर्यबोध का। रस और सौन्दर्य के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में यहाँ केवल संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के रूप के देखने से सौन्दर्य का बोध होता है और उसकी भाव-सत्ता की उपलब्धि से रस का बोध होता है।

बहिर्जीवन में जो वस्तु हमारे लिए नीरस है, कवि के स्पर्श से वही वस्तु सरस और सुन्दर हो उठती है इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कवि की जो रूप दृष्टि और भावुकता है उसके स्पर्श से बाह्य वस्तु का रूप प्रत्यक्ष हो जाता है और उसकी जो भाव सत्ता है वह उज्ज्वल हो उठती है, तभी अतिसाधारण वस्तु और व्यापार भी अपरूप और विस्मयकर प्रतीत होता है। वस्तुओं का यह जो भावोज्ज्वल रूप है यही प्राचीनों का रस-रूप है, इसी के सम्बन्ध में कवि वर्ड्स्वर्थ ने कहा है—

"The gleam
The light thatnever was on sea or land,
The consecration, and the poet's dream"

जगत् की हर वस्तु और व्यापार की तथाकथित वास्तव सत्ता की आड़ में उसकी एक भाव सत्ता है, जिसे उसकी सामग्रिक सत्ता भी कह सकते हैं। केवल रसिक की दृष्टि में ही यह भाव-सत्ता दिखाई पड़ती है। यदि रसिक कलाकार और साहित्यिक अपने प्रकाश-नैपुण्य के द्वारा उसे व्यक्त कर सकते हैं तो वह भाव-सत्ता रस-रूप में परिणत होती है। जब तक कोई वस्तु भाववर्जित होकर हमारे सम्मुख उपस्थित रहती है, तब तक वह हमारे हृदय में किसी भी रस की अनुभूति उत्पन्न नहीं कर सकती। मधुर वस्तु को यदि हम शरीर पर लीप दें तो भी उसके माधुर्य का ज्ञान हमें कुछ भी नहीं हो सकता, उसके साथ जब हमारी रसना के रस का योग होता है तभी उस मधुर वस्तु की मधुरता की उपलब्धि हो सकती है। इसी प्रकार हमारे हृदय में जो भाव सत्ता है, रसिकता है, उसके साथ जब वस्तु का सम्बन्ध स्थापित होता है तभी हम किसी वस्तु के रस का अनुभव कर सकते हैं। तभी जीवन और जगत् के अन्दर जो रस है, उसके आस्वादन से हम मुग्ध होते हैं।

परन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि इस रस की उपलब्धि रूप के बिना बिलकुल असंभव है। 'रूप' शब्द को सुनते ही हमें दर्शनेन्द्रिय की बात याद आती है, इसका कारण यह है कि इन्द्रियों में इस इन्द्रिय का ज्ञान ही सबसे व्यापक है। लेकिन असल में वस्तु का रूप वही है जिसकी सहायता से वह वस्तु सुगोचर और सुनिर्दिष्ट हो उठती है। इस हिसाब से एक वृक्ष का जैसा रूप है, एक शब्द का भी वैसा ही रूप है. एक गन्ध का जैसा रूप है, वैसा ही स्पर्श का भी, और उसी प्रकार भावना और अनुभूति का भी। रूप इन्द्रियग्राह्य है—वह इन्द्रिय कान भी हो सकता है रसना भी हो सकती है और वह इन्द्रिय हमारा मन भी हो सकता है जिसके द्वारा भावना और अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष होती हैं।

साहित्य मुख्यतः 'रूपायन' की कला है। चाहे कोई सामाजिक समस्या हो अथवा कोई दार्शनिक जीवनतत्व हो अथवा कोई भावरस हो, साहित्य जब तक उसे हमारे बाह्य अथवा मानस इन्द्रिय के सम्मुख गोचर नहीं कर सकता तब तक वह साहित्य ही नहीं होता। पहले ही बताया गया है कि प्रत्येक वस्तु का एक बाह्यरूप होता है और एक उसका भावरूप होता है। केवल बाह्यरूप को भी शब्द अथवा वर्ण अथवा और किसी प्रकार से व्यक्त करना कोई साधारण बात नहीं है, रूपायन कला का वह भी एक परिचय है। किन्तु रसवादी साहित्यिक केवल इस बाह्यरूप से सन्तुष्ट नहीं हैं, वह जीवन और जगत् का जो सूक्ष्म भावमय रूप है उसका ध्यान करता है और उसी को रूपायित कर दिखाता है।

सुसंगत और सुस्पष्ट रूप ही हमारे हृदय में सौन्दर्यबोध को जाग्रत करता है। वह रूप बाहरी न होकर जितना ही सूक्ष्म और भावपूर्ण होता है उतना ही अधिक सुन्दर और सरस मालूम होता है क्योंकि भाव का प्रकाश ही रस है। लेकिन केवल भाव का ही रूपायन नहीं, किसी प्रकार के सत्य का भी रूपायन हो सकता है. एक वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक अथवा अर्थनीतिक सत्य को भी कलाकार रूप दे सकता है। जब कलाकार का रूपायन यथार्थ होता है तभी हमारे मन में रूप को देख कर सौन्दर्य की उपलब्धि होती है। रस की उपलब्धि उससे नहीं भी हो सकती है।

इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में केवल महान चरित्र ही सुन्दर नहीं हैं, वहाँ पर लेडी मैकबैथ, आयागो, कैलिबैन, रासबिहारी (शरत्चन्द्र की दत्ता में) ये अप-चरित्र भी सुन्दर हैं। साहित्य और कला में हम जिस सौन्दर्य की आलोचना करते हैं, वह केवल शकुन्तला और मिरान्डा में ही नहीं है शूर्पनखा और पल्ली समाज की 'रमा' की बुआ में भी है।

व्यावहारिक जगत् के सौन्दर्य और असौन्दर्य से कला के सौन्दर्य और असौन्दर्य भिन्न हैं यह भी स्मरण रखना चाहिए। व्यावहारिक जगत् में सुन्दर वही है जिस की व्यक्तिगत रूप से हम कामना करते हैं, जिस के प्रति हम आकर्षित होते हैं, और असुन्दर वही है जिस-का हम वर्जन करना चाहते हैं, जिसके स्पर्श से हमारा हृदय घृणा से संकुचित हो उठता है। परन्तु कला का जगत् इससे भिन्न है। इसीलिए उसे हमारे आलंकारिक 'अलौकिक' कहा करते हैं: क्यों कि लौकिक विचार वहाँ पर लागू नहीं होता। इस जगत् में जो कुत्सित और घृणित है वह भी कला के जगत् में सुन्दर हो उठता है, यदि उसका रूपायन ठीक-ठीक होता है। कला के क्षेत्र में सुन्दरता का अर्थ संगति, वास्तविकता और सामंजस्य है। कला के क्षेत्र में उसी चरित्र को हम सुन्दर समझते हैं, जिसका भावरूप, चाहे वह असल में बुरा हो, ठीक ठीक चित्रित हुआ है, जिसके स्वभाव के साथ उसके कार्यकलाप का कोई भी विरोध नहीं है। इसीलिए रामायण में रावण भी सुन्दर है।

पुराने समय के आलंकारिकों का ऐसा विचार है कि कलाकार का एकमात्र काम इस भावसत्ता का चित्रण करना। भावसत्ता को देखने से हम लोगों के हृदय में एक प्रकार का 'अलौकिक' आनन्द होता है। इसी भाव-सत्ता को लक्ष्य करके ही ऋषियों ने कहा था कि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'—इस विश्व में जो कुछ उत्पन्न हो रहा है, सभी आनन्द से उत्पन्न हो रहा है। इसी भाव सत्ता से ही मनुष्य के चित्त में रस का उद्बोधन होता है। परन्तु आधुनिक समय में कलाकार रस को ही एक मात्र लक्ष्य नहीं समझते हैं। आधुनिक साहित्य में जो लक्ष्यगत परिवर्तन हुआ है वह इसी में है।

हमारे देश के प्राचीन साहित्य में रस ही साहित्य का प्राण माना जाता था, परन्तु इस समय साहित्य का विषय केवल रस ही नहीं है, इसमें केवल भाव का रूपायन ही नहीं हो रहा है, बल्कि जीवन के सभी प्रकार के सत्य का भी रूपायन हो रहा है। इससे रस का जो आभिजात्य था वह तो नहीं है लेकिन साहित्य में सौन्दर्य का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। नाना प्रकार के सामाजिक, अर्थनैतिक और राष्ट्रीय भावना और आदर्शों का रूपायन हो रहा है, उनमें संभवतः भाव का रसायन उतना नहीं है, परन्तु सुसंगत रूप सृष्टि का सौन्दर्य अवश्य ही है। इस समय के साहित्य—कथा और काव्य—का लक्ष्य रसायन नहीं है; रूपायन ही उसका प्रधान लक्ष्य हो रहा है।

साहित्य के आदर्श में यह जो परिवर्तन हो रहा है, यह एक महान परिवर्तन है और इस परिवर्तन का कारण भी है। इतने दिनों तक—क्या इस देश के सामन्ततांत्रिक समाज में और क्या पूँजीवादी समाज में—व्यक्ति ही को समाज का केन्द्र माना गया है और वह कौन सा व्यक्ति? समाज के प्रत्येक व्यक्ति नहीं। हाँ कहते समय तो साधारण रूप से केवल व्यक्ति ही का नाम लिया जाता है, परन्तु वह व्यक्ति साधारण व्यक्ति नहीं। समाज में जिस वर्ग की प्रधानता थी उसी वर्ग का व्यक्ति ही काव्य और साहित्य का केन्द्र रहा है और उसी के सुख दुःख को केन्द्र मानकर ही जीवन का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार की व्यक्ति केन्द्रिकता के कारण साहित्य की गति सामाजिकता की ओर न होकर विशेष रूप से वह केवल व्यक्तिगत सुख दुःख, आशा निराशा, प्रेम विरह सम्भोग इत्यादि में ही लीन था और उसने प्रायः व्यक्तिगत भाव-विलास को ही चरम उद्देश्य बना लिया था; यहाँ तक की अन्त में उसकी परिणीत वैष्णवीय रस संभोग, अध्यात्म भावविलास, रहस्यवाद और छायावाद में हुई। व्यक्ति के क्रियाकलापों की जो सामाजिक क्रिया प्रतिक्रियाएँ हैं, और व्यक्ति का जो बृहत्तर सामाजिक उत्तरदायित्व है इस साहित्य में इसीलिए उसकी कोई चर्चा नहीं है। रस को व्यक्तिगत आधार पर स्थापित करने के कारण वह अन्त में असामाजिक और 'अलौकिक' हो उठा और उसी की चर्चा में व्यक्ति का जो सामाजिक बन्धन और उत्तर-दायित्व है, वह बिलकुल गौण हो गया।

सामन्तवादी और पूंजीवादी समाज में कुछ थोड़े से लोगों के लिए आत्मकेन्द्रिक होकर, विराट समाज

के मानव समुदाय के सुख दुःख, उसकी समस्याओं से मुँह मोड़ कर केवल अपने ही भावविलास में मगन रहना और उसी को जीवन की परम सार्थकता समझना विशेष कठिन नहीं था। इस प्रकार व्यक्तिकेन्द्रिकता की चर्चा से लाभ कुछ भी नहीं हुआ, यह कहना भी ठीक नहीं है। इस व्यक्तिगत कामना और अनुभूतियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन और विश्ले-षण हुआ है और व्यक्तिगत अनुभवों का अनुशीलन भी बहुत हुआ है। भारतीय मोक्षवाद, रसात्मक काव्य साहित्य, राग संगीत, आधुनिक गीतिकाव्य आदि इसी व्यक्ति केन्द्रिकता का फल है। लेकिन दूसरी ओर यही उसकी कमजोरी भी है। सामाजिक जीवन अर्थात् समाज के अधिकतम मनुष्यों के जीवन से विच्छिन्न होने के कारण समाज के सामन्त अथवा अभिजात वर्ग का जीवन दिनोंदिन कृत्रिम और अवास्तविक होता गया और उसमें काल्पनिक आदर्शवाद और भावविलास ही रह गया. जीवन की सतेज बलिष्ठता, सामाजिक व्यापकता और इसीलिए उसका यथार्थ नैतिक आधार नष्ट होता गया। सामाजिक जीवन से विच्छिन्न और विमुख होने के कारण वह प्रगति से भी विमुख होकर अन्ध परम्परा के प्रति अनुरक्त होकर प्रतिक्रियावादी भी बन गया।

आधुनिक काल एक महान परिवर्तन का काल है। विश्व में जिधर भी हम देखते हैं सर्वत्र सामन्तवाद और पूंजीवाद की विदाई का आयोजन ही दीख रहा है। व्यक्तिकेन्द्रिक भाव साधना जिस आधार पर खड़ी थी, उसी के पतनोन्मुख होने के कारण आज व्यक्ति केन्द्रिक साहित्य का आदर्श भी लड़खड़ा रहा है। विश्व में सर्वत्र आज समाजवाद का उत्थान अर्थात् समाज के बृहत्तम जनसमुदाय का उत्थान हो रहा है, आज यह बात छिपाए नहीं छिप सकती। यूरोप के पूर्वी हिस्से में—युगोस्लाविया, रूमानिया, बलगेरिया, चेको-स्लोवाकिया, हंगेरी, पोलैण्ड आदि देशों में समाजवाद का सार्थक अभियान शुरू हो गया है, एशिया और यूरोप में फैले हुए विशाल सोवियेत राष्ट्र में जो कि पृथ्वी का षष्ठांश है—समाजवाद प्रतिष्ठित हो गया है। पूर्वी यूरोप में पूंजीवाद लंगड़ा रहा है, इटली, फ्रान्स जर्मनी और ग्रीस में उसकी कमर टूटी हुई है, मार्शल योजना की मरहम पट्टी से वे राष्ट्र और भी घबरा रहे हैं। अमरीका में पूंजीवाद पर चरम संकट उपस्थित है, एशिया में जापानी पूँजीवाद की टाँग टूट गई है, अमरीका उसे अपने मतलब के लिए खड़ा करने की जी जान से कोशिश कर रहा है, चीन में तो अमरीका की कोशिश व्यर्थ ही होती जा रही है, चियांग-काईशेक पागल होकर 'और भी मदद' कह कर चिल्ला रहा है, उधर लाल चीन का समाजवाद प्रबल बाढ़ की तरह कुओमिनतांग को ग्रास करने के लिए उद्यत है। इधर इन्डो-चीन मलाया, बर्मा, सर्वत्र जनतांत्रिक विप्लव की आग सुलग रही है। भारतवर्ष में इस नकली स्वतंत्रता से जनता भौचक हो गई है।

यही कारण है कि साहित्य में भी इस वैप्लविक परिवर्तन की लहर आ लगी है। आज साहित्य में अभिजात वर्ग के कृत्रिम और निस्सार जीवन की रसायनी प्रवृत्ति को छोड़ कर सामाजिक जीवन की सामग्रिक अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। गणमानव जाग रहा है और आज वह साहित्य में, काव्य नाटक कहानियों में, अपने स्वरूप को, अपनी वास्तविकता को, काल्पनिक भावसत्ता को नहीं, बल्कि जो सत्ता प्राकृतिक और मानविक चक्रान्तों के विरुद्ध संग्रामशील है, उस रूपको प्रतिबिम्बित देखना चाहता है। आज अपने आरामकक्षों में सामन्तवादी और पूंजीवादी स्वार्थ पर आत्मकेन्द्रिक लोगों की तरह बैठे बैठे भावोन्मादक स्वप्नों को देखने का उसे न समय है और न उसमें उसका कल्याण ही है। युग युग के शोषण और अत्याचारों से पीड़ित, दलित गणमानव आज अपनी जंजीरों को—अशिक्षा, अज्ञान और दासता की जंजीरों को—तोड़ कर, अपने हक के लिए, मनुष्य मात्र के जन्मसिद्ध अधिकारों पर कब्जा करने की तैयारी कर रहा है, यही प्रोमीथियूस (Prometheus[1]) है, पूंजीवाद

---

१ यूनानी पुराण की कहानी है कि प्रोमीथियूस ने स्वर्ग से अग्नि चुरा कर मनुष्यों को दिया जिससे स्वर्गाधिपति जियस (इन्द्र) ने उस पर क्रुद्ध होकर उसे जंजीरों में बांध एक पर्वत के ऊपर रख दिया। एक ईगल (गिद्ध जैसा) पक्षी प्रतिदिन उसकी अंतड़ियों को खा जाता, लेकिन रात को वह फिर अच्छा हो जाता। जियसके अन्तिम पतन का रहस्य को प्रोमीथियूस जानता था। जियसने कहा कि अगर वह भेद बता दे तो मैं तुझे छोड़ दूँ। पर प्रोमीथियूस ने इस शर्त पर छूटना न चाहा। वह जियस का पतन चाहता था क्यों कि वह मनुष्यों का मित्र था। इसलिए उसने यातनाओं का सहना ही मंजूर कर लिया।—लेखक।

...अब इस महंगी के शिकार मजदूरों की दशा देखिए:—

हड़तालों की संख्या	हड़ताली मजदूरों की संख्या	काम के दिनों की क्षति	प्रति मजदूर क्षति
३९६	४०१०९५	....	२२.४ दिन
४०६	....,	....	१२.२ ,,
३२२	४५२५३६	७५७७२८१	१६.७ ,,
३५९	....	....	११.४ ,,
६९४	७३२६५३	५७७९९६५	७.५ ,,
७१६	....	२३४२०००	४.५ ,,
६५८	....	३४४७०००	६.३ ,,
८२०	७४७५३०	४०५४४९९	५.४ ,,
१६२९	१९६१९४८	१२७१७७६२	६.५ ,,
....	२२१५३१७	१५६८३४६४	७.२ ,,
...वरी से ...र्च तक } ४५४	....	३०००००० घन्टे	...

...देखिए :—

	१ दिन तक की हड़तालें	१ से ५ दिन तक की हड़तालें	१ से १० दिन तक की हड़तालें	२० दिन से अधिक की हड़तालें
...से सितम्बर तक	१६ प्रतिशत	....	४४ प्रतिशत	...
...से दिसम्बर तक	३०·४ ,,	३३·४ प्रतिशत	....	....
...सितम्बर तक	३७·२ ,,	....	४०·६ ,,	....
...से दिसम्बर तक	३६·२ ,,	३३·८	....	९ प्रतिशत

...का कुल पौण्ड-पावना करीब सवा अरब पौण्ड था। गत जुलाई के समझौते के अनुसार उसमें ...से भारत में ब्रिटेन की सैनिक सामग्री खरीदी गई; १६ करोड़ ७५ लाख पौण्ड अंग्रेजों की ...; १६ करोड़ पौण्ड विदेशी विनिमय के लिए मुक्त किया गया और शेष ८० करोड़ पर ३ ...र होगा। श्री जयप्रकाश नारायण ने सरकार के सामने सुझाव रखा था कि भारत में जो ...पौण्ड ब्रिटिश पूँजी लगी हुई है, उसे पौण्ड-पावने के हिसाब में ले लिया जाय। किन्तु ऐसा प्रतीत ...तो भारत के ऋण से मुक्त हो जायगा। किन्तु भारत को ब्रिटेन के आर्थिक शोषण से मुक्ति

× × ×

...ा है कि जब बिहार जमींदारी उन्मूलन बिल केन्द्रीय सरकार की स्वीकृत के लिए भेजा गया, ...र जान मथाई और श्री जगजीवनराम ने उसका समर्थन किया।

× × ×

...बाढ़ से युक्तप्रान्त में तीन हजार वर्गमील भूमि को क्षति पहुंची और करीब बीस लाख ...गए हैं। इसी प्रकार बिहार में भी हजारों गांव जलमग्न हो गए हैं।

———

सम्पादकीय—

खेत-मजदूरों और शूद्रों की समस्या

"समाज, धर्म और राज्य सभी से परित्यक्त समाज की रीढ़ खेतिहर-मजदूर आज अर्द्धदासता के बन्धन में पशुता के जीवन को बिता रहा है। संसार में जंजीरों को छोड़कर और क्या है, जिसे वह अपना कह सके? देवता का मन्दिर उसके लिए बन्द है। प्रकृति की जमीन गैरों की है। जिस टूटी झोपड़ी में वह रह सकता है, उससे भी जब चाहे निकाला जा सकता है। हिन्दू धर्म की गन्दी प्रथा उसे सबसे नीची सतह पर रखती है। वह भारतीय समाज का त्याज्य पुत्र है।"

—पं० रामनन्दन मिश्र।

"...असली खेत जोतने वाले या तो खेतिहर-मजदूर के दर्जे तक पहुंच गए हैं, या उनकी रक्षा करने के लिए कोई कानून नहीं है। इनके ऊपर कामचोर बिचवानियों की एक फौज है, जो इनकी कमाई से पलती है। इन सबके ऊपर मोटे जांगरचोर हैं और उनके भी ऊपर जमीन्दार हैं।"... "इस सिलसिले से हिन्दुस्तान के किसानों की तसवीर यह बनती है कि गाँवों में तेजी से वर्ग-भेद बढ़ रहा है। १९३१ की मर्दुमशुमारी में देहात के वर्गों का यह नक्शा दिया गया था।

ग़ैर-काश्तकार लगानखोर जमीन्दार	४१,५०,०००
काश्तकार जमींदार और काश्तकार किसान	६,५४,९०,०००
खेतिहार-मजदूर	३,३५,२३,०००

किन्तु इस नक्शा में कई तरह के भ्रम हैं। रजनी पामदत्त ने भी एक नक्शा प्रस्तुत किया है:—

	१९२१ ई०	१९३१ ई०
ग़ैर-काश्तकार जमीन्दार...	३७ लाख...	४१ लाख
काश्तकार (मालिक या लगान पर जोतने वाले)	७करोड़४६ लाख...	६ करोड़ ५५ लाख
...	...२ करोड़ ... लाख...	३ करोड़ ३५ लाख

१९४१ ई० की जन-गणना रिपोर्ट के अनुसार खेतिहर-मजदूरों की संख्या ३५३०५६५६ है। पर पामदत्त का मत यह है कि खेतिहर-मजदूरों की संख्या खेती पर गुजर करने वालों की पूरी संख्या की आधी है। पं० रामनन्दन मिश्र के अनुसार खेत-मजदूरों की संख्या १० करोड़ है।

१९४१ ई० की जन-गणना रिपोर्ट के अनुसार संयुक्त प्रान्त में १२४२१०८० खेतिहर-मजदूर हैं। ९५ लाख ऐसे किसान हैं, जिनके पास ५ एकड़ से कम भूमि है। इन किसानों की हालत भी खेतिहर-मजदूरों के समकक्ष है। "पिछले वर्षों बिहार में बिना खेतवालों की संख्या ३० फी सैकड़े से बढ़कर ४० और ४५ फ़ी सैकड़े के लगभग हो गई है।...बिहार के ३५फ़ी सैकड़े किसानों के पास १० एकड़ से भी कम जमीन है— (पं० कार्यानन्द शर्मा)। इन ३५ फ़ी सदी किसानों की हालत भी खेतिहर-मजदूरों की-सी है।

"आर्थिक जीवन में सबसे नीचे की सीढ़ी पर खेतिहर-मजदूर हैं। इन्हें पैसे के रूप में शायद ही कभी मजदूरी मिलती हो। इनकी दशा बिलकुल गुलामों जैसी है, या कहीं-कहीं उनसे जरा कम समझ लीजिए। हिन्दुस्तान के बहुत से हलकों में ऐसा रिवाज है कि जमींदार, मालगुजार या मामूली किसान भी अपने 'जन' (खेत मजदूरों) को कर्ज के जाल में फाँस लेता है। इस तरह वह उस पर ही नहीं, उसके नाती-पोतों तक की जिन्दगी पर हावी हो जाता है।"

"बम्बई सूबे में दुबला और कोली लोग हैं, जो बहुत कुछ अपने मालिकों के बँधुए हैं। उनके अधिकांश परिवार कई पीढ़ियों से अपने मालिकों के यहाँ टहल करते चले आए हैं।...

'दक्खिन-पच्छिम मद्रास में इजवा, चेरुमा, पुलैया और होलिया लोग हैं, जो असल में गुलाम

हैं। पूर्वी तट पर ज़मीन के मालिक ब्राह्मण हैं। इनके खेतिहर-मजदूर ज्यादातर अछूत हैं। इनमें बहुत से **पड़ियाल** भी होते हैं। पड़ियाल लोग एक तरह के गुलाम होते हैं, जो कर्ज की वजह से पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज़मींदारों की गुलामी करते आते हैं। इनका ऋण कभी चुकता नहीं होता। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कर्ज चला आता है और जमीन्दार अपनी जमीन जब बेचता है या मर जाता है, तो जमीन के साथ पड़ियाल भी नये मालिक के हवाले कर दिए जाते हैं।"

"बिहार में **कम्मी** सबसे नीचे दर्जे के गुलाम होते हैं। कर्ज लेने पर वे अपने मालिकों के बँधुए हो जाते हैं और व्याज के बदले मालिक की सभी तरह की टहल करते हैं।" (राधाकमल मुखर्जी "हिन्दुस्तान की भूमि समस्याएं" पृ० २२५-२९)

इसके अलावा खेतिहर-मजदूरों की ही श्रेणी में एक और किसान समुदाय है।—"खेत-मजदूरों और उठाए हुए खेतों को जोतने वाले किसानों के बीच में भेद करना बड़ा कठिन है। ऐसा बहुत कम होता है कि खेत रुपया लेकर उठाए जाँय। अक्सर खेत बंटाई पर उठाए जाते हैं जिसमें जमीन्दार को ४० से ६० फीसदी तक और कभी कभी ८० फी सदी तक पैदावार का हिस्सा मिल जाता है। बाकी हिस्सा किसान को मिलता है। इस तरह की शर्तों पर साल-दर-साल मेहनत करता हुआ किसान अपना पेट पालता रहता है। वह जमीन्दार से उधार लेता है, उसी से बिया-बेसार, हल-माची और बैल-बधिया पाता है। उधर खेतिहर-मजदूर की यह हालत होती है कि वह छोटी-मोटी जरूरतों के लिए जमीन्दार से पेशगी रुपये लेता है, और फसल काटने पर या तो कुछ गल्ला या लाँक का एक हिस्सा पा जाता है। बिया-बेसार, हल-माँची और बैल-बधिया वह भी जमीन्दार से लेता है। कहीं कहीं पर उसे थोड़ा पैसा और थोड़ा नाज, दोनों चीजें मिल जाती हैं! मजदूर अपनी चीजों से भी किसानी कर सकता है, लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जब जमीन्दार बाहर का होता है तो यह नहीं पता चलता कि जोतने-बोनेवाला आदमी खेत-मजदूर है या जमीन्दार ने उसे खेत उठाया है।"

अधिकांश खेतिहर-मजदूरों के पास आवास घर नहीं है। जिस जमीन पर उनका झोपड़ा होता है, वह जमीन उस जमीन्दार के नाम पर दर्ज होती है, जिसके यहाँ खेतिहर-मजदूर काम करता है। ऐसे खेतिहर-मजदूर गुलाम श्रेणी में होते हैं—और इनको भी कानूनी किताबों में समान अधिकार दिया गया है, पर इनकी असली हालत पशुओं की सी है। ये सम्पूर्ण अर्थों में सर्वहारा होते हैं। इन्हें कर्ज से नाम पर रुपया देकर इनको गुलाम बनाया जाता है।

"....युक्तप्रान्त में पाँच साला मजदूरी की जाँच से १९३४ ई० में पता लगा कि रोजाना मजदूरी की औसत ३ आने है, और ३२६ गाँव ऐसे थे जहाँ रोजाना मजदूरी का औसत ६ पैसा पड़ता था।" ..."जाति प्रथा की प्रवृत्ति मजदूरी को कम करने की है। यदि छोटी जाति का मजदूर है, तो मजदूरी कम दी जाती है। जहाँ मालिक जमीन्दार है अथवा महाजन है और मजदूर जमीन्दार या महाजन से बिना लगान के जमीन पाए हुए है या अगाऊ रुपया लिए हुए है, वहाँ मजदूरी कम मिलती है। (संयुक्त प्रान्त के) पूर्वी जिलों में इस प्रकार की मजदूरी का अधिक प्रचार है। इसके अलावा स्थान-भेद से मजदूरों की कार्य क्षमता में भेद होने से मजदूरी में थोड़ा फर्क पड़ता है।...पश्चिम से पूरब की ओर हम ज्यों ज्यों बढ़ते जाते हैं, मजदूरी कम होती जाती है।" श्री सत्यदेव शास्त्री का कहना है कि युक्तप्रान्त के पश्चिमोत्तर में इस मँहगी के जमाने में भी ॥) से १।) रोज की मजदूरी है। और पूर्वी इलाके में कहीं ।) कहीं ॥) रोज की मजदूरी है। बिहार में आज भी १ सेर से २ सेर के बीच मोटा अन्न मजदूरी में दिया जाता है। बिहार में "खेत-मजदूरों को ड्योढ़े-दूने सूद पर अनाज और रुपया लेने को मजबूर होना पड़ता है। बिहार में "खेत-मजदूरों पर चौकीदारी टैक्स दूसरों से ज्यादा लगाया जाता है। प्राचीन युग में "खेत-मजदूरों को जो तरह तरह की सुविधाएं मिलती थीं—जैसे परब-त्यौहार में खाना-पीना, शादी-विवाह तथा दूसरे अवसरों पर मिलने वाला कपड़ा-लत्ता, पशुओं के लिए घास-भूसा,. जलावन के लिए लकड़ी-गोंइठे,

शाक, फल-फूल, कन्द-मूल, घोंघा सितुआ, मछली आदि—अब इन सब चीजों का मिलना बन्द हो गया है।" सर्वत्र खेतिहर-मजदूरों का सब से बड़ा भाग शूद्र और उसमें भी अछूत है। इन्हें आधुनिक भारतीय उन्नत भाषा में प्रायः "हरिजन" कहते हैं। ये सभी सामाजिक सुविधाओं और न्याय से वंचित हैं। यदि ये लोग उच्च वर्ण के अपने मालिकों के निकट अ-दासजनोचित (स्वाधीन मनुष्योचित) व्यवहार करें तो उन मालिकों द्वारा उनका पानी बन्द किया जाता है, उनके रास्ते और पेशाब पैखाने में भी रुकावट पैदा की जाती है। मार जो उनपर पड़ती है सो तो अलग है। किन्तु फिर भी कानून की नजरों में उनको समान अधिकार है!

शूद्रों की दृष्टि से कसाईखाने की कानूनी किताब (या जेलमैनुअल कह लीजिए) और सवर्णों की दृष्टि से मानव-धर्म शास्त्र के अन्दर सात किस्म के दास गिनाए गए हैं (मनु० ४८--१५)। प्राचीन पंडितों के मत से "पूर्व काल में दास और शूद्रका एक ही अर्थ था। यद्यपि सभी शूद्र दास नहीं होते थे, परन्तु यह निश्चय है कि सभी दास शूद्र गिने जाते थे। मनुस्मृति में जो यह लिखा है कि शूद्रका निजका धन कुछ भी नहीं है, उसका मालिक उसके धन को खुशी से ले सकता है, सो-इस शूद्रका अर्थ दास ही है।" ("जैन साहित्य और इतिहास" पृ० ५५०) ऐसे दासों का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है (८—१९—१६)। और वही दास कम्मी, कमकर, दुबला, कोली, इजवा, चेरूमा, पुलैया, होलिया, पड़ियाल, और "हरिजन" (अर्थात्—अछूत शूद्र) आज खेतिहर मजदूर है। इन दासों (गुलामों) खेतिहर मजदूरों के हितों की ओर सब से पहले भगवान बुद्ध ने ध्यान दिया। उनके समय में भी दास खेतों में काम करते थे और उनके गांव बसे थे। बुद्ध ने अपने संघका द्वार सब के लिए खोल दिया था। फलतः दास मुक्त होने लगे—ऋण-बन्धन में बंधे दास भी मुक्त होने लगे। इससे उस समय के स्थापित स्वार्थी वर्ग में हल-चल मच गई। ऋण द्वारा दास बनाने वाले श्रेष्ठि (सेठ, व्यापारी, सूदखोर, महाजन) और राजपुत्र, क्षत्रिय, सामन्त बुद्ध के सहायक थे। अपने इन समर्थकों के दबाव से परम कारुणिक बुद्ध को लाचार होकर यह नियम बनाना पड़ा कि संघ में ऋणी और दास

को प्रव्रज्या नहीं दी जायगी। बुद्ध के इस नये निषेधात्मक नियम के बावजूद बौद्ध धर्म के अन्दर वर्ण-व्यवस्था के प्रति तीव्र विरोध था। श्री भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार एक समय में शूद्र श्रेणी ने राजसत्ता को भी हिला दिया था। किन्तु उसने समाज के अर्थनीतिक ढांचे को नहीं बदला। कालान्तर में श्रुति को अमान्य कर के चलने वाले वैष्णव धर्म ने शूद्र श्रेणी को कुछ सहारा दिया। किन्तु शीघ्र ही उच्च वर्ण के हिन्दुओं ने वैष्णव धर्म में प्रवेश करके वैष्णव धर्म के इस तत्व को नष्ट कर दिया ("वैष्णव साहित्ये समाज तत्व"—डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त)। फिर शूद्र श्रेणी के कबीर आदि सन्तों ने शूद्र श्रेणी में आत्म-चेतना का संचार किया। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद रीवां नरेश श्री विश्वनाथ सिंह जूदेव आदि सामन्तों ने कबीर-पन्थ में प्रवेश कर कबीर के मतों की वेदसम्मत व्याख्या की प्रवृत्ति पैदा की इन कारणों से कबीर पन्थ के क्रान्तिकारी तत्त्व नष्ट हो गए (अभी प्रकाशित "कबीर पन्थी साहित्य"—ले० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी)। १९०५ के आस पास से समाज-सुधार आन्दोलन की नई लहर उठी। जातीय सभाओं और संगठनों का उदय हुआ। अनेक शूद्र जातियां ने अपना नाता ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण से जोड़ना प्रारम्भ किया। इस सारे जातीय हलचल में एक बात महत्त्वपूर्ण है कि सभी शूद्र जातियों ने महाभारत काल से पूर्ववर्ती ब्राह्मण और क्षत्रियों से ही अपना नाता जोड़ना शुरू किया। जनेऊ पहनों, मांस मछली न खाओ, शराब-नशा का व्यवहार न करो, ब्राह्मण क्षत्रियों की नकल करो; यही सब इस आन्दोलन की कुछ प्रवृत्तियां थीं। ब्राह्मणवाद की वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर, ब्राह्मणों से ही प्रमाण-पत्र प्राप्त करके अपने शूद्रत्व को दूर करने की कोशिश शूद्र जातियों ने की! शूद्रत्व और द्विजत्व के पीछे जो अर्थनीतिक व्यवस्था है, उसे इन जातियों के नेताओं ने नहीं देखा, और उनके न देखने का कारण यह था कि वे नेता अपनी जाति में अपेक्षाकृत सम्पन्न थे तथा हिन्दू-समाज में अपनी सामान्य सामाजिक मर्यादा चाहते थे। वह युग भी मध्यम श्रेणी के उदय का था। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि अपेक्षाकृत अर्थ-नीतिक दृष्टि से सम्पन्न जातियों और ...

सामान्यतः अर्थनीतिक, दृष्टि से शूद्र जातियां रह गईं—हीन रह जाने के लिए हिन्दू समाज के द्वारा बाध्य थीं। इसलिए ऐसे आन्दोलनों से शूद्र ों का सामूहिक हित न हुआ। इसके बाद महात्मा ने "हरिजन" आन्दोलन चलाया। इस लन की मूल प्रेरणा थी—शूद्रों के प्रति सवर्णों दया-वृत्ति को उकसाना! इसका एक तो रिणाम हुआ कि अर्थनीति के कारणों से सवर्णों ति शूद्रों में जो घृणा, विद्वेषमय संघर्ष बढ़ या. वह धीमा पड़ गया। यह आन्दोलन बुद्ध, ीर और स्वामी रामानन्दजी से आगे जाने की ा नहीं रखता था। इस आन्दोलन से शूद्रों को मंदिरों में भरमने का आत्मसंतोष प्राप्त हुआ पर नीतिक व्यवस्था के बदलने से इन आन्दोलनों का भी सम्बन्ध नहीं था, इसलिए इतिहास के प्रारम्भ लेकर आज तक शूद्रों की अर्थनैतिक हालत ज्यों त्यों है—सामान्य समूह रूप से वे गुलाम के ाम ही हैं।

आज का कांग्रेसी राज्य शूद्रों की हालत को ारेगा, ऐसा सोचना मूर्खों के स्वर्ग में रहना है। ने आनुगत्य के आश्वासन के साथ जगजीवनराम र उनके कुछ साथियों के मुँह में अधिकारों के टुकड़े कर यह कांग्रेसी हुकूमत शूद्रों, खेत-मजदूरों का वैसे दलन करेगी, जैसा शुंग वंशके पुष्यमित्र ने किया, ों ने किया, मुगलों ने किया और अंग्रेजों ने किया। तः यदि शूद्रों के अन्दर जीने की आखिरी शर्त और ले की भावना से (कालिदास के शब्दों में) पुनः केत को विधवा होने से बचाना है, (युगपुराण के ब्दों में) पुनः पाटलिपुत्र को पुरुषरहित और ्त्रीमय होने से बचाना है, तो जमीन की व्यवस्था को बदलना होगा, खेतों की नये सिरे से व्यवस्था करनी होगी, खेतिहर मजदूरों को हालत को बदलना होगा, वर्तमान समाज की अर्थनैतिक व्यवस्था को पलटकर समाजवादी अर्थनीतिक व्यवस्था कायम करनी होगी।

किन्तु शूद्रों और खेत-मजदूरों को भी यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यदि जातिवाद के आधार पर उनकी समस्या का समाधान सम्भव होता, तो आज उनकी यह समस्या ही न होती। समाजशास्त्र का सिद्धान्त यह बताता है कि जातियों की उत्पत्ति विभिन्न टाइपों की सामन्ती अर्थनीतिक व्यवस्थाओं का परिणाम है। अतः खेत-मजदूरों और शूद्रों की समस्या का समाधान सामन्ती अर्थनैतिक-व्यवस्था के परिवर्तन और समाजवादी अर्थनैतिक व्यवस्था की स्थापना के साथ ही होगा—जिसका आवश्यक परिणाम जाति-व्यवस्था, (शूद्रत्व- ब्राह्मणत्व) का लोप भी होगा। इसलिए शूद्रों और खेतिहर-मजदूरों को जातीय सभाओं से अलग रहना चाहिए। खेतिहर-मजदूरों और शूद्रों के अन्दर काम करनेवालों का नैतिक कर्तव्य होना चाहिए कि वह खेत-मजदूरों और शूद्रों को साम्प्रदायिक जाति-सभाओं से अलग करके उनका सम्बन्ध ऐसी संस्थाओं से जोड़ें. जो अर्थनीतिक और क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन में विश्वास रखतं हों। अतः खेत-मजदूरों और शूद्रों को क्रान्तिकारी संस्थाओं के सम्पर्क में रहना चाहिए। शोषित संघ और त्रिवेणी संघ कुछ जगजीवन रामों को पैदा कर सकता है, जिससे शूद्रों, खेतिहर-मजदूरों की समस्या का समाधान इसलिए सम्भव नहीं कि इन संस्थाओं के पास परिवर्तित समाज-व्यवस्था की कोई भी परिकल्पना नहीं है, कोई भी अर्थनीतिक सिद्धान्त नहीं है। अतः इन संस्थाओं से भी खेतिहर मजदूरों और शूद्रों को बचना चाहिए। इन संस्थाओ का भी नैतिक कर्तव्य है कि समय को पहचान कर अपने को समाजवादी व्यवस्था के साथ मिला दें!

वर्तमान भूमि-व्यवस्था के रहते खेत-मजदूरों और शूद्रों की समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। इसलिए जमीन्दारी-प्रथा का नाश निहायत जरूरी है। जमीन्दारी-प्रथा को बिना मुआविजा के मिटाना चाहिए। जमीन्दारों के पास सीर आदि की जितनी जमीनें हों उन सबको सहकारी खेती के आधार पर खेत-मजदूरों में बाँट देना चाहिए। ऊसर जमीन को खेती लायक बना कर खेत-मजदूरों में उसी आधार पर वितरित कर देना चाहिए। इस तरह खेत-मजदूरी की प्रथा का अन्त कर देना सम्भव है। ऐसा होने से खेत-मजदूर यथार्थ किसान के रूप में परिणत हो जायंगे। प्रत्येक खेत-मजदूर परिवार को मकान बनाने के लिए कम से कम दो बिस्वा भूमि मुफ्त मिलनी चाहिए, जो निश्चित रूप-से उसी परिवार के नाम लिखी हो और कानून की ऐसी व्यवस्था हो कि पैतृक मकान पर से किसी भी परिवार की सन्तान को कर्ज़ आदि के लिए

बेदखल न किया जा सके। सरकारी घोषणा के द्वारा खेत-मजदूरों और शूद्रों पर महाजनों और जमीन्दारों के तमाम कर्जे को नाजायज घोषित किया जाय, जिससे खेत-मजदूरों की अर्द्धदासता का अन्त हो जाय। जब तक खेत-मजदूरों के लिए जमीन की व्यवस्था करके उनको यथार्थ अर्थों में किसान नहीं बना दिया जाता, तब तक उनके लिए जीने लायक मजदूरी की दर निश्चित की जाय। 'जीने लायक' से मतलब यह नहीं कि जैसे वह आज जीवित हैं। हमारे मत से इस समय खेत-मजदूरों को जीने लायक मजदूरी नहीं मिलती और वह मनुष्य की तरह जीवित भी नहीं हैं। संयुक्त प्रान्त की सरकार ने जो मजदूर जाँच कमेटी' बैटाई थी, उसने १९३९ में आधारभूत मजदूरी (Basic pay) की दर कम से कम ३०) माहवार निश्चित की है। पर उक्त कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में और जो कुछ कहा है, उसके मुताबिक मजदूरों की कम से कम माहवारी मजदूरी ३५) होनी चाहिए। हमारी राय में इसी को खेत-मजदूरों के लिए भी बेसिक मजदूरी स्वीकार करना चाहिए। सबको ताल, तालाब और पास की नदी से मछली प्राप्त करने का अधिकार हो। इसके साथ ही खेत-मजदूरों को रहने के मकान के लिए दो बिस्वा जमीन और ५ बीघा खेत मिलना चाहिए। यदि सरकार खेत-मजदूरों के लिए ऐसा नहीं करना चाहती, तो उसे खेत-मजदूरों के लिए एक जाँच कमेटी बैठानी चाहिए, जिसके अन्दर खेत मजदूरों में काम करने वालों को भी अपने प्रतिनिधि रखने का हक हो। हमें मालूम हुआ है कि केन्द्रीय और यू०पी० सरकार ने खेत-मजदूरों के लिए जाँच कमेटी नियुक्त किया है। पर यहाँ हम एक बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं:—हम को पता लगा है कि कांग्रेसी हुकूमत की जेबी संस्था आई० एन० टी० यू० सी० ने खेत मजदूरों की ढ़ाई लाख की फर्जी संख्या अपने कागजों में दर्ज की है। किन्तु पूर्वी संयुक्त प्रान्त और सम्पूर्ण बिहार की जानकारी के अधार पर हम कह सकते हैं कि सर्वहारा वर्ग की इस गद्दार संस्था का खेत-मजदूरों में कहीं भी अस्तित्व नहीं है। मण्डल कांग्रेस कमेटियों के आधार पर इसने अपना रजिस्टर भरा है। इसलिए हम स्पष्ट कहना चाहते हैं कि जाँच कमेटी के लिए खेत-मजदूरों का प्रतिनिधि उनमें से चुना जाय, जिन्होने खेत-मजदूरों के लिए संघर्ष किया हो, और संघर्ष का प्रमाण कांग्रेसी राज्य में उनको मिली तकलीफें मानी जायं। यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यदि सरकार इसको न माने तो उसकी जाँच कमेटी का वैसा ही बहिष्कार किया जाय, जैसा साईमन कमीशन का बहिष्कार किया गया था।

सिद्धान्ततः खेत-मजदूरों और शूद्रों की सम्पूर्ण समस्या का समाधान खेती की जमीन की नई और समाजवादी व्यवस्था से ही सम्भव है। खेत-मजदूरों और शूद्रों में मानवीयता की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है कि जितनी जमीन को ५ प्राणियों वाला एक किसान परिवार जोत-बो सके उतनी ही जमीन उसे मिले। ज्यादा या फालतू जमीन किसी के पास न रहे। राज्य द्वारा यह निश्चित कर दिया जाय कि एक परिवार के पास कितनी जमीन रहनी चाहिए। संयुक्त प्रान्तीय समाजवादी दल ने निश्चित किया है कि एक किसान परिवार के पास कम से कम २० बीघा जमीन का रहना आवश्यक है। हम भी एक किसान परिवार के पास जमीन के इस अनुपात को उचित समझते हैं। हमारा यह मत है कि इस सिद्धान्त को सख्ती से अमल में लाने से खेत-मजदूरी की प्रथा अतीत की वस्तु हो जायगी और शूद्रत्व की आर्थिक पृष्ठभूमि लुप्त हो जायगी। खेती के ऐसे बँटवारे के बाद जो लोग बच जाँय, उनको मानवीय व्यवस्था के साथ उद्योग-धन्धों में लगाना चाहिए।

इस वक्त भारतवर्ष में किसान-क्रान्ति की पूरी परिस्थिति तैयार है। खेत-मजदूरों और शूद्रों का जो सम्बन्ध प्राचीन समाज-व्यवस्था में था, वह सम्बन्ध औद्योगिक उन्नति और पूंजीवाद के कारण टूट गया है। जगह जगह खेत-मजदूरों का संघर्ष भी जारी है। २० बीघा से कम जमीन वाले किसानों और खेत-मजदूरों तथा शूद्रों की समस्या का आपस में निकट सम्बन्ध है। इन निकट सम्बन्धों को और भी घनिष्ट बनाकर जमीन की नई व्यवस्था के लिए तीव्र आन्दोलन उठ सकता है। यदि वर्ग-चेतना का आधार भूमि की समाजवादी योजना, लगन के कार्यकर्ता और क्रान्तिकारी नेतृत्व का योग आज की किसान परिस्थिति से हो जाय, तो निश्चित है कि या तो हुकूमत अपने को बदलेगी, अथवा जनता हुकूमत को बदल देगी।

बैजनाथसिंह "विनोद"

जनवाणी

सम्पादक-मण्डल

आचार्य नरेन्द्रदेव

रामवृक्ष 'बेनीपुरी' बैजनाथ सिंह 'विनोद'

(जनवरी १९४८ से दिसम्बर १९४८ तक)

अनुक्रमणिका